3249

संस्कृत साहित्य का इतिहास

[संस्कृत साहित्य का प्रामाणिक इतिहास]

(बी० ए० तथा एम० ए० का पाठ्यग्रन्थ)

लेखक

बलदेव उपाध्याय

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

१९६०

प्रकाशक
शारदा मन्दिर
बनारस

प्रथम संस्करण—१९४७
द्वितीय संस्करण—१९५०
तृतीय संस्करण—१९५३
परिवर्धित चतुर्थ संस्करण—१९५६
परिवर्धित पंचम संस्करण—१९५८
परिवर्धित षष्ठ संस्करण—१९६०
मूल्य ८) आठ रुपया

मुद्रक
महताब राय
नागरी मुद्रण, काशी

वक्तव्य

(तृतीय परिबृंहित संस्करण)

'संस्कृत साहित्य का इतिहास' आज अपने नवीन परिबृंहित संस्करण में पाठकों के सामने आ रहा है। यह ग्रंथ कुछ दिनों से अप्राप्य था और पाठकों को इसके प्रकाशन के लिए विशेष उतावली तथा उत्कण्ठा थी। इस संस्करण में ग्रंथ का कायाकल्प हो गया है। यह एक आमूल परिवर्धित नवीन ग्रंथ ही है। इसमें अनेक विशिष्टतायें आ गई हैं। अभी तक 'श्रीमद्भागवत' केवल धार्मिक ग्रंथ के ही रूप में प्रख्यात था, परन्तु यहाँ उसे उस संकीर्ण क्षेत्र से हटाकर काव्य के सार्वभौम क्षेत्र में लाया गया है और उस दृष्टि से उसकी उपजीव्यता दिखलाई गई है। 'उपजीव्य काव्य' का सामान्य अभिधान भी रामायण, महाभारत तथा भागवत की ग्रंथत्रयी के लिए नितान्त नवीन और उपादेय है। श्रव्य काव्य की मूल प्रवृत्ति, उत्थान और अभ्युदय के लिए उपयुक्त वातावरण तथा उत्तेजक सामग्री का अध्ययन यहाँ समुचित रीति से प्रथम बार किया गया है। संस्कृत काव्य जन-साधारण के हृदय की अभिव्यंजना है, इस मत का प्रौढ़ उपादान किया गया है। कवियों के ग्रंथ की समालोचना पर इस बार अधिक ध्यान दिया गया। दृश्य काव्य की भी विशिष्टता तथा उदय के साथ साथ प्राचीन रंगमंच का भी वर्णन विषय की पूर्ति के लिए दे दिया गया है, 'जवनिका' के ऊपर अपने विचारों को मैंने कुछ विस्तार के साथ इस बार प्रस्तुत किया है। 'वैदिक साहित्य' के वर्णन प्रसंग में 'वेदों का काल-निर्णय' नामक अंश एकदम नया है तथा उपादेयता की दृष्टि से इस बार जोड़ दिया गया है।

पूर्व संस्करण में पुराण, दर्शन तथा पुरुषार्थ साहित्य का भी इतिहास संनिविष्ट था, परन्तु इस बार इन्हें हटा दिया गया है और केवल ललित साहित्य ही का इतिहास कुछ विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। ग्रंथ में चार खण्ड हैं—(१) प्रवेश खण्ड में संस्कृत साहित्य का वैशिष्ट्य, वैदिक साहित्य

तथा उपजीव्य काव्यों का वर्णन है (२) द्वितीय खण्ड (श्रव्य काव्य) में महाकाव्य, गीतिकाव्य, गद्य काव्य तथा कथा साहित्य का वर्णन है। (३) तृतीय खण्ड (दृश्य काव्य) में रूपक की उत्पत्ति तथा उसके विविध प्रकारों का संक्षिप्त इतिहास है। (४) चतुर्थ खण्ड (आलोचना) में अलंकार-शास्त्र का संक्षिप्त इतिहास है जिसमें विशिष्ट सम्प्रदायों के स्वरूप तथा मत का भी प्रदर्शन किया गया है।

काशी
नवरात्र प्रतिपदा
सं० २०१०
८–१०–५३

—बलदेव उपाध्याय

(परिवर्धित चतुर्थ संस्करण)

इस संस्करण में अनेक स्थलों पर परिवर्धन किया गया है। श्रव्य काव्य के प्रसंग में नवीन ग्रंथ तथा ग्रंथकारों का समावेश कर दिया गया है। दृश्यकाव्य का वर्णन पूर्व संस्करण की अपेक्षा इस बार लगभग तिगुना बड़ा है। यह खण्ड फिर से नया लिखा गया है। नाटकों की विस्तृत सर्वाङ्गपूर्ण समीक्षा प्रस्तुत की गई है। संस्कृत नाटकों की आकृति तथा प्रकृति के ज्ञान के लिए तृतीय खण्ड के अंत में एतद्विषयक एक नवीन अंश जोड़ा गया है जिसमें संस्कृत के रूपकों की नवीन पद्धति पर सामूहिक समीक्षा एक ही स्थान पर उपलब्ध होगी। अनेक अध्यापकों के आग्रह से दार्शनिक सम्प्रदायों का वर्णन ग्रंथ के अन्त में जोड़ा गया है। अनेक इतिहास-ग्रंथ चतुर्दश शती तक के ही लेखकों के वर्णन से समाप्त हो जाते हैं जिससे पाठकों को यह धारणा बनी रहती है कि मध्ययुग में संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि नहीं हुई। इस धारणा को दूर करने के लिए मैंने 'उपसंहार' में इस युग के साहित्य तथा साहित्यकारों का संक्षिप्त परिचय दिया है जिससे पाठकों को संस्कृत की काव्यधारा के इस युग में भी प्रवाहित होने का पूर्ण ज्ञान होगा। इस प्रकार इस नवीन संस्करण में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के

संस्कृत साहित्य के गौरवमय ग्रंथों का परिचय जिज्ञासु पाठकों को एकत्र सुलभ हो जावेगा, यह मेरी पूरी आशा है।

काशी
मकरसंक्रान्ति, २०१२
१५-१-५६

—बलदेव उपाध्याय

(परिवर्धित पंचम संस्करण)

इस संस्करण में समग्र ग्रंथ के विभिन्न खण्डों में स्थान स्थान पर परिवर्तन और परिवृंहण किये गये हैं। संस्कृत कवियों तथा काव्यों के विषय में नवीन अन्वेषण से अनेक नई नई बातों का पता चलता रहता है। इनमें से मुख्य तथ्यों का संकलन उचित स्थानों पर किया गया है। पौर्वापर्य की दृष्टि से कतिपय अंश भी स्थानान्तरित किये गये हैं। रामायण तथा महाभारत के टीकाकारों का प्रामाणिक विवरण पहिली बार दिया जा रहा है (पृष्ठ ७३ तथा पृष्ठ ९६)। कविवर अभिनन्द के काव्य का (पृ० २३९) तथा रूपगोस्वामी के गीतिकाव्यों का वर्णन इस बार जोड़ा गया है (पृ० ३४७)। मेघदूत का व्यापक प्रभाव तथा उसके आधार पर निर्मित सन्देश-काव्यों की विस्तृत आलोचना इस संस्करण की विशिष्टता है। नाटककारों के विषय में भी अनेक स्थलों पर नई खोजों से उपलब्ध तथ्यों का संकलन किया गया है विशेषतः भास और विशाखदत्त के विषय में। प्राप्त सट्टकों का इतिहास एक नई चीज है। ग्रंथ के अन्त में 'बृहत्तर भारत' में संस्कृत काव्यों का सोदाहरण वर्णन इसका स्पष्ट प्रमाण है कि भारत के इन महनीय उपनिवेशों में संस्कृत भाषा का अध्ययन और संस्कृत काव्यों का निर्माण बड़े आदर तथा श्रद्धा के साथ किया जाता था। संस्कृत काव्यों के इतिहास में बृहत्तर भारत के इस योग को हम कथमपि भूल नहीं सकते।

विश्वास है कि इन परिवर्धनों के कारण यह ग्रंथ इस नवीन रूप में उच्चकक्षा के छात्रों के लिए और सामान्य पाठकों के लिए समान भाव से अधिक उपकारक, उपादेय और उपयोगी सिद्ध होगा ।

काशी
गुरुपूर्णिमा, सं० २०१५
१ जुलाई, १९५८

—बलदेव उपाध्याय

(परिवर्धित षष्ठ संस्करण)

इस संस्करण में ग्रंथ का संशोधन भलीभाँति किया गया है । स्थान स्थान पर नवीन सामग्री का भी समावेश किया गया है, परन्तु ग्रंथ का ढाँचा वैसा ही है जैसा यह पूर्व संस्करणों में था । विश्वास है कि संस्कृत साहित्य के उदय और अभ्युदय के जिज्ञासु पाठकों की जिज्ञासा की पूर्ति यह और भी अच्छे ढंग से करने में समर्थ होगा । तथास्तु ।

वाराणसी
धनुष् संक्रान्ति सं० २०१७
१५–१२–६०

—बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

प्रथम खण्ड—प्रवेश खण्ड

द्वितीय खण्ड—श्रव्य काव्य

संस्कृत साहित्य का इतिहास

प्रथम परिच्छेद

विषय-प्रवेश

संस्कृत साहित्य की मूल प्रवृत्ति

साहित्य समाज का दर्पण होतां है। समाज जिस प्रकार का होगा वह उसी भाँति साहित्य में प्रतिबिम्बित रहता है। समाज के रूप-रंग, ह्रास-वृद्धि, उत्थान-पतन, समृद्धि-दुरवस्था के निश्चित ज्ञान का प्रधान साधन तत्कालीन साहित्य होता है। इसी प्रकार साहित्य संस्कृति का प्रधान वाहन होता है। संस्कृति की आत्मा साहित्य के भीतर से अपनी मधुर झाँकी सदा दिखलाया करती है। संस्कृत के बहुल प्रसार तथा प्रचार का सर्वश्रेष्ठ साधन साहित्य ही है। संस्कृति का मूल स्तर यदि भौतिकवाद के ऊपर आश्रित रहता है तो वहाँ का साहित्य कदापि आध्यात्मिक नहीं हो सकता और यदि संस्कृति के भीतर आध्यात्मिकता की भव्य भावनायें हिलोरें मारती रहती हैं तो उस देश तथा जाति का साहित्य भी आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुए बिना नहीं रह सकता। साहित्य सामाजिक भावना तथा सामाजिक विचार की विशुद्ध अभिव्यक्ति होने के कारण यदि समाज का मुकुर है, तो सांस्कृतिक आचार तथा विचार के विपुल प्रचारक तथा प्रसारक होने के हेतु, संस्कृति के सन्देश को जनता के हृदय तक पहुँचाने के कारण, साहित्य संस्कृति का वाहन होता है।

संस्कृत साहित्य का इतिहास पूर्वोक्त सिद्धान्त का पूर्ण समर्थक है। संस्कृत साहित्य भारतीय समाज के भव्य विचारों का रुचिर दर्पण है। भारतवर्ष में सांसारिक जीवन के उपकरणों का सौलभ्य होने के कारण भारतीय समाज जीवन-संग्राम के विकट संघर्ष से अपने को पृथक् रखकर आनन्द की अनुभूति को, वास्तव शाश्वत आनन्द की उपलब्धि को, अपना लक्ष्य मानता है। इसलिए संस्कृत काव्य जीवन की विषम परिस्थितियों के भीतर से आनन्द की खोज में सदा संलग्न रहा है। आनन्द सच्चिदानन्द भगवान् का विशुद्ध पूर्ण रूप है। इसीलिए संस्कृत काव्य की आत्मा रस है। रस का उन्मीलन—श्रोता तथा पाठक के हृदय में आनन्द का उन्मेष—ही काव्य का अन्तिम लक्ष्य है। संस्कृत आलोचनाशास्त्र में औचित्य, रीति, गुण तथा अलंकार आदि काव्यांगों का विवेचन होने पर भी रसविवेचन ही मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय है। भारतीय समाज का मेरुदण्ड है गृहस्थाश्रम। अन्य आश्रमों की स्थिति गृहस्थाश्रम के ऊपर ही निर्भर है। फलतः भारतवर्ष का प्रवृत्तिमूलक समाज गृहस्थधर्म को पूर्ण महत्त्व प्रदान करता है और इसीलिए संस्कृत साहित्य में गार्हस्थ्य धर्म का चित्रण सांगोपांग पूर्ण तथा हृदयावर्जक रूप से उपलब्ध होता है। संस्कृत साहित्य का आद्य महाकाव्य वाल्मीकीय रामायण गार्हस्थ्यधर्म की धुरी पर घूमता है। दशरथ का आदर्श पितृत्व, कौशल्या का आदर्श मातृत्व, सीता का आदर्श सतीत्व, भरत का आदर्श भ्रातृत्व, सुग्रीव का आदर्श बन्धुत्व, और सबसे अधिक रामचन्द्र का आदर्श पुत्रत्व भारतीय गार्हस्थ्यधर्म के ही विभिन्न अंगों के आराधनीय आदर्शों की मधुमय मनोरम अभिव्यक्तियाँ हैं।

साहित्य और संस्कृति

संस्कृत साहित्य भारतीय संस्कृति का प्रधान वाहन रहा है। यदि संस्कृत के काव्यों में संस्कृति अपनी अनुपम गाथा सुनाती है, तो संस्कृत के नाटकों में वह अपनी कमनीय क्रीड़ा दिखाती है। भारतीय संस्कृति का प्राण आध्यात्मिक भावना है। त्याग से अनुप्राणित, तपस्या से पोषित तथा तपोवन में

संवर्धित भारतीय संस्कृति का रमणीय आध्यात्मिक रूप संस्कृत भाषा के ग्रंथों में अपनी सुंदर झाँकी दिखलाता हुआ सहृदयों के हृदय को बरबस खींचता है। महर्षि वाल्मीकि तथा व्यास, कालिदास तथा भवभूति, बाण तथा दंडी पाठकों की हृदयकली को विकसित करने वाले मनोरम काव्य की रचना के कारण जितने मान्य हैं, उतने ही वे भारतीय संस्कृति के विशुद्ध रूप के चित्रण करने के कारण भी आदरणीय हैं। संस्कृत कवि को राजा महाराजाओं के दरबार की हवा खानेवाला चापलूस जीव मानने की भ्रांत धारणा साहित्य के ऊपरी आलोचकों में भले फैली रहे, परंतु संस्कृत भाषा का कवि संकीर्ण विचारों का व्यक्ति न था जो अपने परिमित विचारों की कोठरी में अपना दिन बिताया करता था। वह समाज के विशुद्ध वातावरण में विचरण करता था, समाज के दुःख सुख की भावना उसके हृदय को स्पर्श करती थी; वह दीन-दुःखियों की दीनता पर चार आँसू बहाता था; वह सुखी जीवों के सुख के ऊपर रीझता था। वह भारतीय समाज का ही एक प्राणी था जिसका हृदय सहानुभूति की भावना से नितान्त स्निग्ध होता था। वह अपने काव्यों में जनता के हृदय की बातों का, प्रवृत्तियों का, जितना वर्णन करता था उतना ही वह अपने देश की संस्कृति के भी मूल्यवान् आध्यात्मिक विचारों को अपने काव्यों में अंकित करता था। भारतीय संस्कृति का निखरा रूप हमें संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। बृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति का प्रचार तलवार के सहारे नहीं हुआ; कलम के सहारे हुआ। आज भी उस देश की सभ्यता तथा संस्कृति के गठन में संस्कृत साहित्य का विशेष हाथ है। संस्कृत साहित्य ने इन देशों की मूक जनता को भावों के प्रकटन का माध्यम प्रदान किया, हृदय को सरस बनाने के लिए कोमल भावमय कविता को सिखलाया और समाज-व्यवस्था के नियमों को बतला कर उन्हें बर्बरता से उन्मुक्त किया और सभ्य-शिष्ट बनाया।

साहित्य और तत्वज्ञान

संस्कृत साहित्य के रूप निर्माण तथा विकास के ऊपर भारतीय तत्त्वज्ञान का विशेष प्रभाव पड़ा है। भारतीय दर्शन सर्वदा से आशावादी रहा है।

नैराश्य की कालिमा दर्शन के गगन-मण्डल को कतिपय क्षणों के लिए भले ही मलिन और अन्धकारपूर्ण बनाये, परन्तु आशावादिता का चन्द्रोदय उसे प्रकाश से पेशल तथा शान्ति से स्निग्ध सर्वदा बनाये रखता है। संस्कृत नाटकों के सुखान्त रूप की जानकारी के लिए भारतीय दार्शनिक विचारों से परिचय पाना नितान्त आवश्यक है। भारतीय तत्त्वज्ञान नैराश्य के भीतर से आशा का, विपत्ति के भीतर से सम्पत्ति का तथा दुःख के भीतर से सुख का उद्गम अवश्यम्भावी मानता है। संसार का पर्यवसान दुःख में नहीं है। यह जीवन व्यक्तित्व के विकास में अपना स्वतः मूल्य और महत्त्व रखता है। संघर्ष के भीतर से सौख्य की प्रभा छिटकती है; संग्राम के बीच में विजय का शंखनाद घोषित होता है। मानव की वैयक्तिक पूर्णता की अभिव्यक्ति में यह जीवन एक साधनमात्र है। निष्प्रपंच ब्रह्म की भी प्राप्ति प्रपंच के भीतर से ही होती है। फलतः संसार का व्यापक दुःख, परिदृश्यमान सन्ताप तथा वैषम्यमय क्लेश अन्ततोगत्वा सुख में, सौख्य में तथा आनन्द में परिणत होते हैं। इसी दार्शनिक विचारधारा के कारण जीवन के संघर्ष को प्रदर्शित करने पर भी नाटक का पर्यवसान सदा मंगलमय होता है। संस्कृत में दुःखान्त नाटकों के नितान्त अभाव का रहस्य इसी दार्शनिक सिद्धान्त में छिपा है। संस्कृत नाटककारों के ऊपर जीवन के केवल सौख्यपक्ष के प्रदर्शक होने से एकांगित्व का आरोप कथमपि न्याय्य नहीं माना जा सकता। काव्य जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति है। सच्चा कवि जीवन के सुखदुःखों में रमता है। वह जनता के जीवन का अनुभव कर उसके मार्मिक स्थलों को कमनीय भाषा में अभिव्यक्त करता है। उसके काव्यों में जनहृदय स्पन्दित होता है और जनता की मूक वेदना अपना पूर्ण तथा प्रभावशाली अभिव्यञ्जना पाती है उसकी कमनीय कृतियों में। सुख और दुःख, वृद्धि और ह्रास, राग और द्वेष, मैत्री और विरोध के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न नानात्मक स्थिति का ही एक छोटा अभिधान 'जीवन' है। । इसकी पूर्ण अभिव्यञ्जना दुःख का सर्वथा परिहार कर देने पर क्या कभी हो सकती है ? क्या संस्कृत का कवि जीवन के केवल सौख्यपक्ष के चित्रण में ही अपनी वाणी की चरितार्थता मानता है ? संस्कृति तथा जनजागरण का अग्रदूत संस्कृत कवि तात्त्विक रूप से जीवन के

अन्तस्तल को परखता है और उसका सच्चा वर्णन प्रस्तुत करता है, परन्तु जीवन का मंगलमय पर्यवसान तथा कल्याणमय उद्देश्य होने के कारण वह दुःखपर्यवसायी काव्यों तथा नाटकों की रचना से सर्वदा पराङ्मुख होता है। संस्कृत साहित्य का यही मौलिक वैशिष्ट्य है।

साहित्य और धर्म

भारतवर्ष धर्मप्राण देश है और भारतीय संस्कृति धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत है। भारतीय धर्म का आधारपीठ है आस्तिकता, सर्वशक्तिशाली भगवान् की जागरूक सत्ता में अटूट विश्वास। भारत भगवान् के चरणारविन्द में अपने आपको लुटा देने में ही जीवन की सार्थकता मानता है। संसार की क्लेशभावना जीवों को तभी तक कलुषित तथा सन्तप्त बनाती है, जब तक वह भगवान् का निजी सेवक जन न बन जाता। तभी तक रागादिक चोर के समान सन्तापदायक हैं, यह गृह कारागृह है और यह मोह तभी तक पैरों की बेड़ी है, जब तक जीव 'भवदीय' नहीं बनता। भगवज्जन होते ही मोह की बेड़ी खुल जाती है और जीव ज्ञान की मीठी स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगता है:—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः।

—भागवत १०।१४।३६

भगवान के प्रति भक्तिभाव के इस प्राचुर्य ने संस्कृत में एक विशाल साहित्य का जन्म दिया है जो 'स्तोत्रसाहित्य' के नाम से अभिहित किया जाता है। हृदय की दीनता, आत्मनिवेदन, अपराधस्वीकार—आदि कोमल भावों की विशाल राशि प्रस्तुत करने वाला यह मनोवैज्ञानिक साहित्य संसार के साहित्य में विरला ही है। संस्कृतभाषा के श्लाघनीय स्तोत्र कोमल भावों की अभिव्यंजना में अपनी समता नहीं रखते। संस्कृत काव्यों का यह वैशिष्ट्य भारतीय धर्म की भक्तिप्रवणता के ऊपर आधारित है। हमारी तो यह दृढ़ धारणा है कि संस्कृत साहित्य गीति काव्यों अथवा प्रगीत मुक्तकों का

जनक है। संस्कृत भाषा की मधुरता भी संस्कृत काव्यों की गेयरूपता का एक साधन है। यही कारण है कि संस्कृत काव्यों में कोमल-कान्त-पदावली का इतना बाहुल्य है तथा हृदयकली को खिलानेवाले मनोमुग्धकारी भक्तिमय काव्यों का प्राचुर्य है। ऋग्वेद के मन्त्रों से लेकर आज तक मनोमुग्धकारी स्तोत्रों का यह प्रवाह अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होता आ रहा है। जिस प्रकार वैदिक ऋषि वरुण से अपने अपराधों की क्षमा याचना करता है, उसी प्रकार पिछले युग का भक्तकवि भगवान् से अपराधों को क्षमा कर आत्मसात् कर लेने की प्रार्थना करता है—

अपराधसहस्र-भाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे।
अगतिं शरणागतं हर कृपया केवलमात्मसात् कुरु॥

—मुकुन्दमाला

साहित्य में कथा का उदय

मानव प्रकृति स्वभावतः कौतुक तथा विस्मय की ओर आकृष्ट होती है। नित्यप्रति व्यावहारिक जीवन से, परिचित कार्यकलाप से, जहाँ कुछ भी नवीनता तथा विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है, वहीं विस्मय की उद्गमभूमि है। भारतवर्ष के विविधरंगी वातावरण में विस्मय का स्थान तथा प्रसार बहुत ही अधिक है। प्राची क्षितिज पर सुनहली छटा छिटकाने वाली तथा प्रभापुंज को बिखेरने वाली उषा का दर्शन जैसा आश्चर्य दर्शक के हृदय में उत्पन्न करता है, वैसा ही विस्मय उत्पन्न करता है नैश नील नभोमण्डल में रजतरश्मियों को बिखेरनेवाले तथा नेत्र में शीतलतामयी छटा फैलानेवाले शीतरश्मि का उदय। दोनों ही कौतुकावह हैं, विस्मयवर्धक हैं। संस्कृत आलोचकों में 'आश्चर्य रस' को ही मूलभूत आदिम रस माननेवाले आचार्यों का भी एक विशिष्ट संप्रदाय है। मानव की इस कौतुकमयी प्रकृति की चरितार्थता के निमित्त भारतीय साहित्य में एक नवीन काव्यपरम्परा का उदय हुआ है, जो 'कथा' के नाम से अभिहित की गई है। सामान्यरूपेण कौतुकवर्धक कथाओं का उदय प्रत्येक देश के साहित्य में हुआ है और होता है। मानव की स्वाभाविक प्रकृति को

चरितार्थ करने का यह व्यापक साहित्यिक प्रयास है, परन्तु संस्कृत साहित्य के साथ 'कथा' का कुछ विशेष संबन्ध है। विश्व में कथा की उद्गम-भूमि है हमारा संस्कृत साहित्य, जहाँ से कथाओं ने पश्चिमी देशों की यात्रा कर वहाँ के साहित्य में घर कर लिया है और उन देशों के रहन-सहन, जन-जीवन, आचार-व्यवहार में घुल-मिल गई हैं। भारत में कथाएँ केवल कौतुकमयी प्रवृत्ति को चरितार्थ करने के अतिरिक्त धार्मिक शिक्षा के लिए भी प्रयुक्त की जाती थीं और यही कारण है कि ब्राह्मणों ने, जैनियों ने तथा बौद्धों ने समान भाव से साहित्य के इस अंग का परिवर्धन और उपबृंहण किया है। बौद्धों के जातकों का साहित्य के इतिहास में तथा बौद्धकला के संवर्धन में विशेष महत्व रहा है। कहानी लिखने में जैनियों को शायद ही कोई पराजित कर सके। उनके यहाँ इसका एक विशाल भव्य साहित्य है। पंचतंत्र स्वयं विस्मयावह कहानियों का एक सामान्य संग्रहमात्र न होकर साहित्य की दृष्टि से एक नितान्त उपादेय ग्रन्थ है जिसका प्रभाव भारत के ही कथा-साहित्य के ऊपर न पड़ कर पश्चिमी जगत् के साहित्य पर विशेष रूप से पड़ा है।

आरोप का निराकरण

संस्कृत साहित्य के ऊपर पश्चिमी आलोचकों ने विशेष दोषारोपण कर रखा है कि यह साहित्य नितान्त अलंकारपूर्ण तथा कृत्रिम है। वे संस्कृत काव्य की नैसर्गिकता, स्वाभाविकता तथा अलंकारविहीनता के स्वरूप से एकदम अपरिचित हैं; ऐसा तो सामान्यतः माना नहीं जा सकता। परन्तु उनका आरोप भारतीय आलोचकों के लिए वेदवाक्य के समान मान्य तथा ग्राह्य होने से बड़े अनर्थ की जड़ बना हुआ है। संस्कृत भाषा में निबद्ध काव्यों में भी हृदय के भावों की उतनी ही स्वाभाविक अभिव्यक्ति है जितनी किसी भी प्रौढ़ साहित्य के माननीय काव्यों में हो सकती है। प्राचीन कवियों के काव्यों में स्वाभाविकता का साम्राज्य है। ये कवि मानव-हृदय के सच्चे पारखी थे और अपनी सच्ची अनुभूतियों की अभिव्यंजना के लिए इन्होंने 'रसमयी पद्धति' का आश्रय लिया है। वाल्मीकि तथा व्यास पर, कालिदास तथा अश्वघोष पर

कृत्रिम कविता लिखने का दोष कोई भी समझदार आलोचक मढ़ नहीं सकता। अलंकारों की सजावट से चमत्कृत शैली का उदय सप्तम तथा अष्टम शताब्दी के अनन्तर की एक घटना है और इसका भी एक कारण है। सप्तम-अष्टम शतक भारतवर्ष के साहित्यिक इतिहास में पाण्डित्य का युग है। इस समय बौद्ध नैयायिकों तथा जैन दार्शनिकों के वेदविरोधी तर्कों का खण्डन ब्राह्मण पण्डितों ने बड़ी ही प्रौढ़, प्रामाणिक युक्तियों के बल पर किया। इस युग का वायुमंडल वाग्युद्धों के कर्कश तर्कों के द्वारा विताडित होता था। पाण्डित्य ही कवित्व की भी कसौटी माने जाने लगा। पाठकों के आदर्श में भी परिवर्तन हो गया। प्राचीन कवि जिन सामान्य विश्वास के भाजन पाठकों के हृदयावर्जन के लिए काव्य का प्रणयन करता था, इस युग का कवि अब तर्क-भावना से मण्डित पाठकों की रुचि के अनुरूप कविता का निर्माण करता था। काव्य के लक्ष्य में परिवर्तन न होने पर भी परिवर्तित स्थिति ने कवियों को 'अलंकृत शैली' में लिखने के लिए बाध्य किया। अन्यथा संस्कृत आलोचना-शास्त्र की मान्य शैलियों में अलंकार की भव्यभूषा के मण्डित ओजःप्रधान समास-बहुला शैली अन्यतम प्रकारमात्र है, वह काव्य का सर्वं-सर्वा नहीं है। इसीलिए संस्कृत के आद्य आलोचक भामह ने तर्कप्रधान शास्त्र से भावप्रधान काव्य का विभेद दिखलाते हुए काव्य को स्पष्टतः 'अविद्वदङ्गनाबाल-प्रसिद्धार्थ' लिखा है। काव्य केवल विद्वानों के पुष्ट दिमाग के लिए ही चीज नहीं है, प्रत्युत वह शास्त्र से अनभिज्ञ स्त्रियों तथा बच्चों के भी समझ में आने वाली चीज है। यदि किसी काव्य को विशिष्ट पाठक ने ही समझा, तो क्या समझा? यह काव्य होने पर भी 'अप्रतीतार्थ' दोष से दुष्ट काव्य ठहरा। काव्य का लक्ष्य सामान्य जन हैं; विशेष जन नहीं। प्रसन्न काव्य की यही निशानी है कि स्त्री तथा बच्चे भी उतनी ही आसानी से समझ जाँय, जितनी आसानी से कोई विशेष शिक्षित जन। माधुर्य तथा प्रसाद गुण काव्य का प्राण माना गया है। ऐसी स्थिति में इस दोष के आरोप का प्रसंग ही निराधार और निर्मूल है।

निष्कर्ष यह है कि हमारी संस्कृत भाषा संसार भर की भाषाओं में श्रेष्ठ है। हमारा संस्कृत साहित्य समग्र सभ्य साहित्यों से प्राचीनता, व्यापकता

तथा अभिरामता में बढ़कर है। यदि इस भूमि-वलय पर कोई भी भाषा सबसे प्राचीन होने की अधिकारिणी है तो यही हमारी संस्कृत भाषा ही है। आज कल अपनी ऊँची सभ्यता पर गर्व करने वाली जातियाँ जब जंगलों में घूम-घूम कर केवल संकेत मात्र से अपने मनोगत भावों को प्रकट किया करती थीं, उस समय अथवा उससे भी बहुत पहले हमारे पूजनीय पूर्वज आर्यलोग इसी देववाणी के द्वारा सरस्वती के किनारे भगवान् की विभूतियों की पूजा में रहस्यमयी ऋचाओं का उच्चारण तथा सरस सामों का गायन किया करते थे। उसी समय उन्होंने आध्यात्मिक जगत् की समस्याओं को सुलझाकर अपने उन्नत मस्तिष्क का परिचय दिया था। संसार में सबसे प्राचीन ग्रन्थ और हमारे धर्म-सर्वस्व वेद भगवान् इसी गौरवमयी गीर्वाण-वाणी में आराधनीय ऋषियों के द्वारा परमात्मा की आन्तरिक प्रेरणा 'दृष्ट' हुए हैं। अध्यात्म की गुत्थियों को सुलझानेवाले तथा मानव मस्तिष्क के चरम विकास को प्रकट करने वाले उपनिषद् भी इसी भाषा में अभिव्यक्त किये गए हैं। पृथिवी की उत्पत्ति से लेकर प्रलय तक का विस्तृत तथा विविध इतिहास प्रस्तुत करनेवाले पुराणों की रचना इसी सुन्दर भाषा में की गई है। आर्यों की प्राचीन रीतियों, रूढ़ियों और परम्पराओं का प्रशस्त तथा सर्वांगीण वर्णन उपस्थित करनेवाले धर्मशास्त्रों की निर्मिति भी इसी भाषा में हुई है। सारांश यह है कि लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस की सिद्धि के साधक जितने ज्ञान और विज्ञान हैं, जितने कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड हैं, जितने शास्त्र और पुराण हैं, उन सबको अवगत करने का उपाय यही संस्कृत भाषा है। एक वाक्य में हम-कह सकते हैं कि हमारा साहित्य 'परा' तथा 'अपरा' विद्याओं का मनोरम भाण्डागार है जिसके रहस्यों का पता संस्कृत भाषा के ज्ञान से ही किया जा सकता है। इन्हीं सब कारणों से हमारी संस्कृत भाषा परम महनीया, विद्वज्जनमाननीया तथा सौभाग्यशोभनीया है।

———

२

संस्कृत-साहित्य का महत्त्व

'साहित्य' शब्द और अर्थ के मञ्जुल सामञ्जस्य का सूचक है। इसकी व्युत्पत्ति है 'सहितयोः भावः साहित्यम्' अर्थात् सहित शब्द तथा अर्थ का भाव। इस मौलिक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हमारे काव्य ग्रन्थ तथा अलङ्कार ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर दीख पड़ता है। महाकवि भर्तृहरि ने संगीत तथा साहित्य से विहीन पुरुष को जब पशु कहा[१] तब उनका अभिप्राय 'साहित्य' के उन कोमल काव्यों से है जिसमें शब्द और अर्थ का अनुरूप सन्निवेश है। शास्त्र और साहित्य का अन्तर यही है कि शास्त्र में अर्थप्रतीति के लिए ही शब्द का प्रयोग किया जाता है, परन्तु काव्य में शब्द और अर्थ दोनों एक ही कोटि के होते हैं, न तो कोई घटकर रहता है, न बढ़कर[२]। इसी अर्थ को दृष्टि में रखकर राजशेखर ने साहित्य विद्या को 'पञ्चमी विद्या' कहा है जो मुख्य चार विद्याओं—पुराण, न्याय (दर्शन), मीमांसा, धर्मशास्त्र—का सारभूत[३] है। बिल्हण ने अपने विक्रमाङ्कदेवचरित में काव्यरूपी अमृत को साहित्य-समुद्र के मन्थन से उत्पन्न होने वाला बतलाया है।[४] इस प्रकार 'साहित्य' शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में काव्य, नाटक आदि के लिये होता है। परन्तु इधर साहित्य शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में भी होने

'साहित्य' का अर्थ

---

१ साहित्य-सङ्गीत-कलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।

२ न च काव्ये शास्त्रादिवत् अर्थ—प्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते। सहितयोः शब्दार्थयोः तत्र प्रयोगात्—साहित्यं तुल्यकक्षत्वेन अन्यूनानतिरिक्तत्वम्—व्यक्तिविवेकटीका (पृ० ३६)

३ पञ्चमी साहित्यविद्येति यायावरीयः। सा हि चतसृणां विद्यानामपि निष्यन्दः—काव्यमीमांसा (पृष्ठ ४)

४ साहित्य-पाथोनिधि-मन्थनोत्थं काव्यामृत रक्षत हे कवीन्द्राः। यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ॥—१।११

लगा है। 'साहित्य से अभिप्राय उन ग्रन्थों से है जो किसी भाषा-विशेष में निबद्ध किये गये हों। इस अर्थ में 'वाङ्मय' शब्द का प्रयोग उचित प्रतीत होता है। अँग्रेजी भाषा में प्रयुक्त 'लिटरेचर' शब्द के लिये ही साहित्य का प्रयोग इधर होने लगा है। इस ग्रन्थ में साहित्य का प्रयोग संकुचित अर्थ में ही किया गया है और अधिक लोकप्रिय होने के कारण काव्य के नाना रूपों का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया गया है।

संस्कृत साहित्य की महत्ता को प्रदर्शित करनेवाले अनेक कारण विद्यमान हैं। सर्वप्रथम प्राचीनता की दृष्टि में यह साहित्य बेजोड़ है। इतना प्राचीन साहित्य कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि में मिश्रदेश का साहित्य सबसे प्राचीन माना जाता है परन्तु वह भी कितना प्राचीन है? विक्रम से केवल चार हजार वर्ष पूर्व। हमारे यहाँ ऋग्वेद की रचना के समय के विषय में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वान् लोग ऋग्वेद की रचना हजारों वर्ष पूर्व मानते हैं। यदि इस मत का अत्युक्तिपूर्ण होने से हम मानने के लिये प्रस्तुत न भी हों, तो भी उस मत में तो हमें आस्था रखनी ही पड़ेगी जिसे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने गणित के अकाट्य प्रमाण के ऊपर निर्धारित किया है। उनका कहना है कि ऋग्वेद के अनेक सूक्तों की रचना विक्रम से कम से कम छः हजार वर्ष पूर्व अवश्य हुई थीं। यही मत आजकल का प्रामाणिक मत है। इसके अनुसार संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम ग्रन्थ का निर्माण आज से लगभग आठ हजार वर्ष पहले हुआ था। कोई भी साहित्य इतना प्राचीन नहीं है। तब से साहित्य की जो धारा प्रवाहित हुई वह आज तक अविच्छिन्न गति से चली आ रही है। अन्य साहित्यों का इतिहास देखने से प्रतीत होता है कि वह साहित्य अनुकूल परिस्थितियों में पनपता है, प्रवाह कुछ दिन तक अवश्य जारी रहता है; परन्तु विषम परिस्थिति के उपस्थित होते ही वह प्रवाह बिलकुल धीमा हो जाता है। परन्तु संस्कृत साहित्य में यह दोष नहीं दीख पड़ता। वेदों की मन्त्रसंहिताओं की रचना के अनन्तर उनकी व्याख्या का काल आता है। उस समय जो ग्रन्थ रचे गये उन्हें 'ब्राह्मण' नाम से पुकारते हैं। ब्राह्मणों के अनन्तर आरण्यकों की रचना हुई, तदनन्तर उपनिषदों

प्राचीनता

की; पीछे रामायण, महाभारत और पुराणों का युग आता है। इसके बाद काव्य, नाटक, गद्य, पद्य, कथा, आख्यायिका, स्मृति और तन्त्र के निर्माण का समय आता है जो मध्ययुग से पहले साहित्यप्रेमी भारतीय नरेशों की छत्रछाया में खूब ही पनपा। इस प्रकार संस्कृत साहित्य की अविच्छिन्न परम्परा आठ हजार वर्षों से निरन्तर चली आ रही है। प्राचीनता की दृष्टि से यदि विचार किया जाय अथवा अविच्छिन्नता की कसौटी पर इसे कसा जाय, तो यह साहित्य नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है।

संस्कृत साहित्य सर्वांङ्गीण है। यह सब अङ्गों से परिपूर्ण है। मानव जीवन के लिये चार ही पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। संस्कृत

व्यापकता

साहित्य में इन चारों पुरुषार्थों का विवेचन बड़े विस्तार तथा विचार के साथ किया गया है। साधारण लोगों की यह धारणा बनी हुई है कि संस्कृत साहित्य में केवल धर्मग्रन्थों का ही बाहुल्य है। परन्तु बात कुछ दूसरी है। प्राचीन ग्रन्थकारों ने भौतिक जगत् के साधनभूत अर्थशास्त्र और कामशास्त्र के वर्णन की ओर भी अपनी दृष्टि फेरी है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' तो प्रसिद्ध ही है। इस एक ग्रन्थ के ही अध्ययन से हम संस्कृत साहित्य में लिखे गये राजनीति शास्त्र से सर्वाङ्गीण परिचय प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इसके सिवाय एक विशाल साहित्य अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में है। 'कामशास्त्र' भी हमारी उपेक्षा का विषय कभी नहीं था। जिस विषय के ज्ञान के ऊपर मानव जीवन का सौख्य निर्भर है, भला उस विषय का चिन्तन कभी उपेक्षा का विषय हो सकता है? वात्स्यायन मुनि ने 'कामसूत्र' में गार्हस्थ्य जीवन के लिये उपादेय साधनों का वर्णन बड़े अच्छे ढंग से किया है। इसी सूत्र को आधार मानकर अनेक ग्रन्थों की रचना कालान्तर में की गई। विज्ञान, ज्यौतिष, वैद्यक, स्थापत्य, पशु-पक्ष-सम्बन्धी लक्षण-ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। धर्म और मोक्ष सम्बन्धी रचनाओं के विषय में चर्चा करना ही व्यर्थ है। सच तो यह है कि यहाँ 'प्रेयःशास्त्र' तथा 'श्रेयःशास्त्र' उभय शास्त्रों के अध्ययन की ओर प्राचीन काल से विद्वानों की प्रवृत्ति रही है। 'प्रेयःशास्त्र' वह है जिसमें संसार में सुख देनेवाली विद्याओं का वर्णन हो और 'श्रेयःशास्त्र'

वह है जिसमें इस प्रपंच के दुःखों को दूर करनेवाले मोक्षोपयोगी विषयों का विवेचन हो। इन दोनों प्रकार के शास्त्रों की रचना संस्कृत साहित्य में उपलब्ध हो रही है। अन्य साहित्यों की ऐसी दशा नहीं। मिश्र देश के साहित्य में है क्या? जीवन को सुखमय बनाने वाली विद्याओं का तो अत्यधिक वर्णन है, परन्तु हृदय को विकसित करनेवाली कला का न तो कहीं पता है और न अध्यात्मविषयक विवेचन की कहीं चर्चा है। जिस देश में ऊँचे-ऊँचे महलों के बनाने वाले तथा उसे सुसज्जित करने वाले इंजीनियर ही परम पूजा के आस्पद हैं, भला उस देश के साहित्य में सर्वांगीणता कहाँ से आ सकती है? पश्चिमी विद्वानों का कहना है कि संस्कृत साहित्य का जो अंश छपकर प्रकाशित हुआ है वह भी ग्रीक और लैटिन साहित्यों के समग्र ग्रन्थों से दुगुना है। जो अभी तक हस्तलिखित ग्रन्थ के रूप में पड़ा हुआ है या किसी प्रकार नष्ट हो गया है उसकी तो गणना ही अलग है।

धार्मिक दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य विशेष गौरव रखता है। जो व्यक्ति आर्यों के मूल धर्म के स्वरूप को जानने का इच्छुक हो उसे वेदों का पढ़ना बहुत जरूरी है। वेदों में आर्यधर्म का विशुद्ध रूप उपलब्ध होता है। भारतीय धर्म तथा दर्शन की भिन्न-भिन्न शाखाएँ कालान्तर में उत्पन्न हुई तथा नवीन मतों का भी प्रचार हुआ। परन्तु इनके यथार्थ रूप जानने के लिये वेदों का अध्ययन आवश्यक ही है। वेद वह मूल स्रोत है जहाँ से नाना प्रकार की धार्मिक धाराएँ निकल कर मानव हृदय तथा मस्तिष्क को सदा से आप्यायित करती आई हैं। हम भारतवासियों के लिये ही नहीं, प्रत्युत अन्य देशों के लिये भी, संस्कृत साहित्य का अनुशीलन धार्मिक दृष्टि को लक्ष्य में रखकर विशेष उपादेय है। वेदों के अनुशीलन का ही फल है कि पश्चिमी विद्वानों ने तुलनात्मक पुराण-शास्त्र (कम्पैरेटिव माइथोलाजी) जैसे नवीन शास्त्र को ढूँढ़ निकाला। इस शास्त्र से पता चलता है कि प्राचीन काल में देवताओं के सम्बन्ध में लोगों के क्या विचार थे तथा किन-किन उपासना के प्रकारों से वे उनकी कृपा प्राप्त करने में सफल होते थे।

धार्मिक दृष्टि

सांस्कृतिक दृष्टि से संस्कृत साहित्य का गौरव और भी विशेष रूप से दीख पड़ता है। इतिहास के पृष्ठों में वह प्रमाणित हो चुका है कि भारतीय लोग अन्य देशों में अपने प्रभुत्व को, अपनी सभ्यता को अपनी संस्कृति को फैलाने के लिये सदा से उद्योगशील रहे हैं। उन्होंने प्रशान्त महासागर के द्वीपपुंजों में जाकर अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। भारतवर्ष और चीन के बीच में जो विशाल प्रायद्वीप है उसे आज 'हिन्द चीन' (इण्डो चीन) कहते हैं। इससे सूचित होता है कि उसका आधा अंश चीन का है। परन्तु १३वीं और १४वीं शताब्दी से पहले इसमें चीन का कुछ भी अंश न था। यह बिलकुल 'हिन्द' ही था। बहुत पहले यहाँ जंगली जातियाँ रहती थीं परन्तु सुवर्ण की खान होने के कारण जिन भारतीय नाविकों ने इन स्थानों का पता लगाया उन्होंने इसे 'सुवर्ण भूमि' तथा द्वीपों को 'सुवर्णद्वीप' नाम दिया। अशोक के समय यहाँ भी बुद्ध का उपदेश पहुँचाया गया। विक्रम के आरंभ से लेकर १४वीं शताब्दी तक अनेक भारतीय राज्य यहाँ बने रहे जिनमें संस्कृत राज-भाषा के रूप में व्यवहृत होती थी। कम्बोज में मनु की धार्मिक व्यवस्था के अनुसार राज्य-प्रबन्ध किया जाता था। आर्यावर्ती वर्णमाला और वाङ्मय के संसर्ग से यहाँ की स्थानीय बोलियाँ लिखित भाषाएँ बन गईं और धीरे धीरे साहित्य का विकास होने लगा। यहाँ जो वाङ्मय विकसित हुआ वह पूर्ण रूप से भारतीय था। इस प्रकार कम्बोज की 'ख्मेर' भाषा, चम्पा की (आज-कल का फ्रांसीसी हिन्द-चीन) 'चम्म' भाषा तथा जावा की 'कवि' भाषा आर्यावर्त की वर्णमाला में लिखी गई जिनमें संस्कृत साहित्य से आवश्यक उपादान ग्रहण कर सुन्दर तथा कल्याणकारी साहित्य का निर्माण किया गया। जावा की 'कवि' भाषा में रामायण और महाभारत के व्याख्यान विद्यमान हैं। भारतवासियों के समान ही यहाँ के निवासी रामलीला तथा अर्जुनलीला देख कर आज भी अपना चित्तविनोद किया करते हैं। बाली द्वीप की सभ्यता तथा धर्म पूर्णरूपेण भारतीय हैं। यहाँ का धर्म तन्त्रप्रधान है। वैदिक मन्त्र का उच्चारण तथा संध्या-वन्दन आज भी यहाँ विकृत रूप में ही सही परन्तु विद्यमान तो हैं। मंगोलिया की मरुभूमि में भी संस्कृत साहित्य पहुँचा था।

सांस्कृतिक दृष्टि

वहाँ भारतीय ग्रंथ तो उपलब्ध हुए ही हैं, साथ ही साथ वहाँ की भाषा में महाभारत से सम्बद्ध अनेक नाटक उपलब्ध हुए हैं जिनमें 'हिडिम्बा-वध' मुख्य है।

इस प्रकार प्राचीनता, अविच्छिन्नता, व्यापकता, धार्मिकता तथा सभ्यता की दृष्टि से परीक्षा करने पर हमारा संस्कृत साहित्य नितान्त महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। प्रत्येक भारतीय का यह परम कर्तव्य है कि वह इस साहित्य का अध्ययन करे। इनके अतिरिक्त विशुद्ध कला की दृष्टि से भी यह साहित्य उपेक्षणीय नहीं है। जिस साहित्य में कालिदास जैसे कमनीय कविता लिखने वाले कवि हुए, भवभूति जैसे नाटककार हुए जिनकी वशवर्तिनी बनकर सरस्वती ने अपूर्व लास्य दिखलाया, बाणभट्ट जैसे गद्य-लेखक हुए जो अपने सरस-मसृण काव्य से त्रिलोकसुन्दरी कादम्बरी की कामनीय कथा सुना-सुनाकर श्रोताओं को मत्त बनाया; जयदेव जैसे गीतिकाव्य के लेखक विद्यमान थे जिन्होंने अपनी 'मधुर कोमल कान्त पदावली' के द्वारा विदग्धों के चित्त में मधुरस की वर्षा की; श्रीहर्ष जैसे पण्डितकवि हुए जिन्होंने काव्य और दर्शन का अपूर्व सम्मिलन प्रस्तुत किया उस साहित्य की महिमा का वर्णन समुचित शब्दों में कैसे किया जा सकता है ?

कलादृष्टि

३

संस्कृत भाषा का परिचय

यह साहित्य जिस भाषा में निबद्ध किया गया है उसका नाम है 'संस्कृत भाषा', या देववाणी या सुर भारती। संसार की समस्त परिष्कृत भाषाओं में संस्कृत ही प्राचीनतम है, इस विषय में विद्वानों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि में संसार की भाषाओं में दो ही भाषाएँ ऐसी हैं जिसके बोलने वालों ने संस्कृति तथा सभ्यता का निर्माण किया है एक है 'आर्यभाषा' और दूसरी है सामी या 'सेमेटिक भाषा'। आर्य भाषा के अन्तर्गत दो विशिष्ट शाखाएँ हैं—पश्चिमी और पूर्वी। पश्चिमी शाखा के

अन्तर्गत योरप की सभी प्राचीन तथा आधुनिक भाषाएँ सम्मिलित हैं—ग्रीक, लैटिन, ट्यूटानिक, फ्रेंच, जर्मन, इंग्लिश आदि। ये सब भाषाएँ मूल आर्य-भाषा से ही उत्पन्न हुई हैं। पूर्वी शाखा में दो प्रधान विभाग हैं—ईरानी और भारतीय। ईरानी भाषा का नाम 'जेन्द अवेस्ता' है जिसमें पारसियों के मूल धार्मिक ग्रंथ लिखे गये हैं। भारतीय-शाखा में संस्कृत ही सर्वस्व है। आर्यभाषाओं में यही सबसे प्राचीनतम है। आर्य-भाषा के मूलरूप को जानने के लिये जितना साधन यहाँ है उतना कहीं नहीं है। आजकल भारत की समस्त प्रान्तीय-भाषाएँ (द्राविड़ी भाषाओं को छोड़कर) संस्कृत भाषा से ही निकली हैं।

संस्कृत शब्द 'सम्' पूर्वक 'कृ' धातु से बना हुआ है जिसका मौलिक अर्थ है—संस्कार की गई भाषा। भाषा के अर्थ में 'संस्कृत' का प्रयोग वाल्मीकीय रामायण में पहले पहल मिलता है। सुन्दरकाण्ड में सीताजी से किस भाषा में वार्तालाप किया जाय ? इसका विचार करते हुए हनुमानजी ने कहा है कि यदि द्विज के समान मैं संस्कृतवाणी बोलूँगा तो सीता मुझे रावण समझकर डर जायगी[1]। यास्क और पाणिनि[2] के ग्रन्थों में लोक-व्यवहार में आनेवाली बोली का नाम केवल 'भाषा' है। 'संस्कृत' शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं मिलता। जब 'भाषा' का सर्वसाधारण में प्रचार कम होने लगा और पालि तथा प्राकृत भाषाएँ बोल-चाल की भाषाएँ बन गईं, तब जान पड़ता है विद्वानों ने प्राकृत भाषा से भेद दिखलाने के लिये इसका नाम संस्कृत भाषा दे दिया। महाकवि दण्डी के समर्थन से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। दण्डी (सप्तम शतक) ने प्राकृत भाषा से भेद दिखलाने के अवसर पर 'संस्कृत' का प्रयोग भाषा के लिए स्पष्टतः किया है—

संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।

—काव्यादर्श १।३३

---

१ यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥ सुन्दरकाण्ड ५।१४

२ भाषायामन्वध्यायञ्च। निरुक्त १।४।
'भाषायां सदवसश्रुवः'। अष्टा० ३।२।१०८

यह वाल्मीकि रामायण से चली आने वाली परम्परा का अनुसरण है, क्योंकि लोक-व्यवहार में प्रचलित भाषा के रूप में प्राकृत का उदय वाल्मीकि-युग की घटना है। इसका अनुमान हनुमानजी के पूर्वोक्त निर्देश से स्पष्टतः सिद्ध होता है।

संस्कृत भाषा के दो रूप हमारे सामने प्रस्तुत हैं—वैदिकी तथा लौकिकी; वेदभाषा तथा लोकभाषा। वैदिक भाषा में संहिता तथा ब्राह्मणों की रचना हुई है। लौकिक संस्कृत में वाल्मीकीय रामायण, महाभारत आदि की रचना है। इन दोनों भाषाओं के शब्दरूपों में पर्याप्त अन्तर है जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

लौकिक और वैदिक संस्कृत में अन्तर

(१) अकारांत पुलिंग शब्दों का प्रथमा बहुवचन रूप असस् और अस् दो प्रत्ययों के जोड़ने से बनता है। जैसे, ब्राह्मणासः तथा ब्राह्मणाः। लौकिक संस्कृत में केवल अन्तिम रूप ही ग्राह्य है।

(२) अकारान्त शब्दों का तृतीया बहुवचन दो प्रकार का होता है—देवेभिः तथा देवैः। लौकिक संस्कृत में अन्तिम रूप ग्राह्य है।

(३) अकारान्त शब्दों का प्रथमा द्विवचन 'आ' प्रत्य के योग से और ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का तृतीया एकवचन 'ई' प्रत्यय के योग से बनता है जैसे, अश्विना (अश्विनौ) सुष्टुती (सुष्टुत्या)।

(४) सप्तमी का एकवचनं अनेक जगहों में लुप्त हो जाता है जैसे परमे व्योमन्। लौकिक संस्कृत है—व्योम्नि या व्योमनि।

(५) अकारान्त नपुंसक शब्दों का बहुवचन 'आ' तथा 'आनि' दो प्रत्ययों के योग से बनता है, जैसे 'विश्वानि अद्भुता' (लौकिक संस्कृत में अद्भुतानि होगा)।

(६) क्रियापदों में उत्तम पुरुष बहुवचन (वर्तमान काल) 'मसि' प्रत्यय के योग से बनता है। मिनीमसि द्यवि द्यवि। लौकिक संस्कृत 'मिनीमः'।

(७) 'लोट्' लकार (आज्ञा) मध्यमपुरुष बहुवचन के प्रत्यय हैं—त, तन, थन, तात्। जैसे शृणोत, सुनोतन, यतिष्ठन, कृणुतात्।

(८) लौकिक संस्कृत में क्रियार्थक क्रिया के लिए 'तुमुन्' का प्रयोग होता है, जैसे—गन्तुम् (जाने के लिए) कर्तुम् (करने के लिये) आदि परन्तु वेद में इस अर्थ के लगभग ८ या १० प्रत्यय होते हैं। जैसे से, असे, कसे, वध्यै, शध्यै आदि। जैसे, जीवसे (जीवितुम्) पिवध्यै (पातुम्) दातवै, (दातुम्) कर्तवे (कर्तुम्)।

(९) वैदिक भाषा में आज्ञा तथा सम्भावना दिखाने के लिये एक नये लकार की ही योजना है जिसे लेट् लकार कहते हैं। परन्तु यह लौकिक संस्कृत में बिल्कुल ही नहीं है। इसके कुछ उदाहरण ये हैं—प्रण आयूंषि तारिषत् (हे वरुण, हमारे उम्र को बढ़ाओ), यहाँ 'तारिषत्' लेट् लकार है। लौकिक भाषा में इसकी जगह पर 'तारय कहेंगे।

'ब्राह्मणों' की भाषा लौकिक एवं वैदिक युग की मध्यकालीन भाषा है। उसमें कुछ प्रयोग तो संहिताओं के समान मिलते हैं और कुछ प्रयोग लौकिक संस्कृत के। निरुक्त की भाषा भी इसी काल की है। पाणिनि संस्कृत साहित्य के सबसे श्रेष्ठ वैयाकरण हैं। उन्होंने संस्कृत भाषा को विशुद्ध तथा व्यवस्थित बनाये रखने के लिये प्रसिद्ध व्याकरण बनाया है, जो आठ अध्यायों में विभक्त होने के कारण 'अष्टाध्यायी' कहलाता है। संस्कृत भाषा में जो एकरूपता और व्यवस्था दीख पड़ती है, वह सब पाणिनि की ही अनुकम्पा का फल है। कुछ लोग पाणिनि पर यह दोष लगाते हैं कि उन्होंने भाषा को जकड़ कर अस्वाभाविक बना दिया परन्तु बात ऐसी नहीं है। यदि पाणिनि का व्याकरण न रहता तो संस्कृत भाषा में देश-काल के वैशिष्ट्य से इतना रूपान्तर होता कि उसे हम पहचान भी नहीं सकते। अष्टाध्यायी के ऊपर 'कात्यायन' ने वार्तिक लिखा जिसमें उन्होंने नये प्रयुक्त शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई। विक्रम-पूर्व द्वितीय शतक में पतञ्जलि ने 'अष्टाध्यायी' के ऊपर 'भाष्य' लिखा जो इतना सुन्दर, उपादेय तथा प्रामाणिक है कि उसे 'महाभाष्य' के नाम से पुकारते हैं। लौकिक संस्कृत के कर्त्ता-धर्ता ये ही तीन मुनि हैं जिनके कारण व्याकरण 'त्रिमुनि' के नाम से विख्यात है। पिछले युग

में संस्कृत व्याकरण के ऊपर जो कुछ लिखा गया वह केवल इस 'मुनित्रय' के ग्रन्थों का व्याख्यानमात्र है। कुछ लोगों का कथन है इस 'मुनि-त्रय' के द्वारा व्याख्यात तथा विवृत होने के कारण से ही यह देववाणी 'संस्कृत' नाम से अभिहित की जाती है।

संस्कृत बोलचाल की भाषा

संस्कृत के स्वरूप का विचार करते समय यह जानना जरूरी है कि लोक-व्यवहार में उसका क्या रूप था। वह बोलचाल की भाषा थी या नहीं? इसके विषय में दो विरोधी मत हैं। कुछ लोगों का कहना है कि प्राकृत ही बोल चाल की भाषा थी। संस्कृत तो केवल साहित्यिक भाषा है जिसका प्रयोग ग्रन्थों में ही होता था, बोलचाल में नहीं। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि यह बोल-चाल की भी भाषा रही है। किसी समय में भारतीय जनता अपने भावों को इसी भाषा के द्वारा प्रकट किया करती थी। धीरे धीरे प्राकृत के उदय होने से इसका व्यवहार-क्षेत्र कम होने लगा परन्तु फिर भी इसका चलन तथा व्यवहार शिष्ट लोगों में बना ही रहा।

महर्षि यास्क ने निरुक्त नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है जिसमें कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है। इस ग्रन्थ का प्रमाण संस्कृत को बोलचाल की भाषा सिद्ध कर रहा है[1]। वैदिक संस्कृत से भिन्न साधारण जनता की जो बोली थी उसको यास्क ने स्थान स्थान पर 'भाषा' कहा है। उन्होंने वैदिक कृदंत शब्दों की व्युत्पत्ति उन धातुओं से बतलाई है जो लोकव्यवहार में आते थे। उस समय भिन्न भिन्न प्रान्तों में संस्कृत शब्दों के जो रूपान्तर तथा विशिष्ट प्रयोग काम में लाये जाते थे उन सबका उल्लेख यास्क ने किया है। उदाहरणार्थ 'शवति' क्रियापद का प्रयोग कम्बोज देश (वर्तमान पंजाब का पश्चिमोत्तर-प्रान्त) 'जाने' के अर्थ में किया जाता था, परन्तु इसका संज्ञा पद 'शव' (मुर्दा) का प्रयोग आर्य लोग भिन्न अर्थ में करते थे। पूर्वी प्रान्तों (प्राच्य) में 'दाति' क्रियापद का प्रयोग 'काटने' के अर्थ में होता था परन्तु उत्तर के लोगों में इसी से बने हुए 'दात्र'

---

१ भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमा कृतो भाष्यन्ते—निरुक्त २।२

संज्ञा—शब्द का प्रयोग हँसिया के अर्थ में होता था।[1] इससे स्पष्ट है कि यास्क के समय में (विक्रम से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व) संस्कृत बोलचाल की भाषा थी।

पाणिनि के समय में (विक्रम-पूर्व पाँच सौ) संस्कृत का यह रूप बना ही रहा। पाणिनि भी इस बोली को 'भाषा' ही के नाम से पुकारते हैं। दूर से पुकारने के समय तथा प्रत्यभिवादन के अवसर पर पाणिनि ने प्लुत स्वर का विधान बतलाया है। यदि दूर से कृष्ण को पुकारना होगा तो संस्कृत में 'आगच्छ कृष्ण ३' कहना पड़ेगा। यहाँ पाणिनि के अनुसार कृष्ण का अकार प्लुत होगा[2]। उसी प्रकार अभिवादन करने के अनन्तर जो आशीर्वाद दिया जायगा वहाँ पर भी प्लुत करना पड़ेगा। जैसे देवदत्त नामक कोई छात्र गुरु को इस प्रकार प्रणाम करे 'आचार्य देवदत्तोऽहं त्वामभिवादये (हे गुरु जी ! मैं देवदत्त आपको प्रणाम करता हूँ) तो गुरु यह कह कर आशीर्वाद देगा— 'आयुष्मान् एधि देवदत्त३' अर्थात् आयुष्मान् बनो, हे देवदत्त। इस आशीर्वादवाक्य में देवदत्त के अन्त का अकार प्लुत हो जायगा, यह पाणिनी की व्यवस्था[3] है। इन नियमों का प्रयोग तभी होगा जब भाषा वस्तुतः बोली जाती होगी। निरुक्तकार के समान पाणिनि ने संस्कृत के उन रूपान्तरों को भी दिखलाया है जो पूर्वी तथा उत्तरी लोगों में व्यवहृत किये जाते थे। बोलचाल के बहुत से मुहावरे पाणिनि ने अपने ग्रंथ में दिये हैं जैसे 'दण्डा-दण्डि' (डण्डा डण्डी, लाठा-लाठी) केशाकेशि (नोचा नोची, बालों को खैंचकर होने वाला युद्ध) हस्ताहस्ति (हाथा-हाथी या हाथां-पाई), उदरपूरं भुङ्क्ते (पेटभर खाता है) इत्यादि। इतना ही नहीं, पाणिनि ने शब्दों में स्वर-विधान के नियम को बड़े विस्तार के साथ दिया है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि की भाषा बोलचाल

---

१ शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते, विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु—निरुक्त, २।२।

२ दूराद्धूते च—अष्टाध्यायी ८।२।८४

३ प्रत्यभिवादेऽशूद्रे ८।२।८३

की भाषा थी। यदि ग्रंथ के लिखने में ही उसका उपयोग होता तो पूर्वोल्लिखित नियमों की उपयोगिता किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती।

पाणिनि के अनन्तर कात्यायन के समय (विक्रमपूर्व चतुर्थ शतक) में तथा पतंजलि के समय में (विक्रमपूर्व द्वितीय शतक) संस्कृत भाषा व्यवहार में बढ़ती चली गई। नये-नये शब्द आने लगे; नये-नये मुहावरों का प्रयोग होने लगा, इसी लिये कात्यायन ने वार्तिक लिखकर उनकी व्युत्पत्ति और व्यवस्था दिखला दी। पाणिनि ने 'हिमानी' तथा 'अरण्यानी' का प्रयोग केवल स्त्रीलिंग की कल्पना में माना है परन्तु कात्यायन के समय में विशिष्ट अर्थ में इनका प्रयोग होने लगा[1]। 'अरण्यानी' का अर्थ हुआ बड़ा जंगल। इसी प्रकार कात्यायन के समय 'यवनानी' का प्रयोग यवनों की लिपि के अर्थ में होने लगा[2]। पाणिनि के समय में तो यवन की स्त्री के लिए ही इसका प्रयोग होता था।

पतंजलि ने भी अपने महाभाष्य में नये प्रयोगों की प्रक्रिया दिखलाई है। संस्कृत शब्दों के प्रान्तीय रूपान्तरों का उल्लेख उन्होंने भी किया है। जैसे 'चलने' के अर्थ में सुराष्ट्र (काठियावाड़) देश में 'हम्मति' का प्रयोग करते हैं; पूरब देश में 'रंहति' का, आर्य लोगों में गच्छति का। पतंजलि ने ऐसे लोगों को 'शिष्ट' बतलाया है जो बिना किसी अध्ययन के ही संस्कृत भाषा का प्रयोग करते[3] थे। इनके जो प्रयोग होते थे वह सर्वसाधारण के लिये प्रमाणभूत माने जाते थे। महाभाष्य ने एक बड़ा रोचक संवाद दिया है जिसमें 'प्राजिता' (चलानेवाला) शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में वैयाकरण तथा सारथि में खूब वादविवाद हुआ है। वैयाकरण ने पूछा—इस रथ का 'प्रवेता' कौन है? सूत—आयुष्मन्,

---

१ हिमारण्ययोर्महत्त्वे—४।१।११४ पर वार्तिक।

२ यवनाल्लिप्याम्। ४।१।११४ पर वार्तिक।

३ एतस्मिन् आर्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमानकारणा किंचिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारंगताः तत्रभवन्तः शिष्टाः। शिष्टाः शब्देषु प्रमाणम्—६।३।१०९ सूत्र पर भाष्य।

मैं इस रथ का प्राजिता (चलानेवाला) हूँ। वैयाकरण—'प्राजिता' शब्द अपशब्द है। सूत—(देवानां प्रिय) महाशयजी, आप केवल प्राप्तिज्ञ हैं; इष्टिज्ञ (प्रयोग ज्ञाता) नहीं हैं। वैयाकरण—अहो, यह दुष्ट सूत (दुरुत) हमें कष्ट पहुँचा रहा है। सूत—आप का 'दुरुत' प्रयोग ठीक नहीं है। 'सूत' शब्द √सू (प्रसव, उत्पन्न करना) धातु से बना है, √'वेञ्' धातु (बिनना) से नहीं। अतः यदि आप निन्दा करना चाहते हैं तो 'दुःसूत' शब्द का प्रयोग करें। इस वार्तालाप[1] से प्रतीत होता है कि सूत का कथन अधिक उपयुक्त है। वैयाकरण तो केवल सूत्रों को ही जानता है, वास्तव में प्रयुक्त शब्दों की उसे जानकारी नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि जिस भाषा को रथ हाँकने वाला समझे और बोले उसे बोलचाल की भाषा न कहना महान् अपराध होगा। मुहावरों से तो महाभाष्य भरा पड़ा है—उन मुहावरों से, जिनका प्रयोग हमारी ग्रामीण बोलियों में आज भी विद्यमान है चाहे खड़ी बोली में भले न दीख पड़े। पतंजलि ने कृ धातु के निर्मलीकरण (साफ सुथरा करना) अर्थ में प्रयुक्त होने का उल्लेख किया है। यथा पादौ कुरु (=पैर साफ करो), पृष्ठं कुरु (=पीठ को मीसो)[2]। "पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु" की छाया हूबहू बनारसी बोली में इस प्रकार दीख पड़ती है—'गोड़ौ कइली मूड़ौ कइली तबु काम ना भइल।' अर्थ स्पष्ट है कि हर प्रकार की सेवा करने पर भी हमारा काम नहीं सरा। विक्रम के हजारों वर्ष पूर्व से लेकर विक्रम के उदय काल तक संस्कृत अवश्य बोलचाल की

---

१ एवं हि कश्चिद् वैयाकरण आह—'कोऽस्य रथस्य प्रवेता' इति। सूत आह—'अहमायुष्मन् अस्य रथस्य प्राजिता' इति। वैयाकरण आह अपशब्द इति। सूत आह—प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियः, न तु इष्टिज्ञः। इष्यत एतद् रूपमिति। वैयाकरण आह—अहो खल्वनेन दुरुतेन बाध्यामहे इति। सूत आह—न खलु वेञः सूतः सुवतेरेव सूतः। यदि सुवतेः कुत्सा प्रयोक्तव्या दुःसूतेनेति वक्तव्यम्। (२।४।५६ सूत्र पर भाष्य।)

२ करोतिरभूतप्रादुर्भावे दृष्टः निर्मलीकरणे चापि विद्यते। पृष्ठं कुरु पादौ कुरु उन्मृदानेति गम्यते। —१।३।१ पर भाष्य।

भाषा थी; इन प्रमाणों के आधार पर इसी परिणाम पर हम पहुँचते हैं। भारत के अनेक प्राचीन संस्कृत-प्रेमी राजाओं ने यह नियम बना रखा था कि उनके अन्तःपुर में संस्कृत का ही प्रयोग किया जाय। राजशेखर ने विक्रम का नाम इस प्रसंग में निर्दिष्ट किया है। उज्जयिनी के राजा साहसांक पदवीधारी विक्रमादित्य ने यह नियम बना रखा था कि उनके अन्तःपुर में संस्कृत भाषा ही बोली जाती थी (काव्यमीमांसा पृ० ५०)। धारानरेश राजा भोज (११ शतक) के समय में भी संस्कृत का बोलने तथा लिखने के लिए बहुत प्रयोग होता था। इन प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत ग्रन्थों में ही केवल प्रयुक्त होने वाली साहित्यिक भाषा न थी, प्रत्युत वह लोकभाषा थी, यद्यपि 'लोक' शब्द से हम साधारण जनता न समझ कर शिष्ट लोक ही मानते हैं।

इतिहास का कालविभाग

संस्कृत साहित्य का इतिहास अनेक काल-विभागों में बाँटा जा सकता है। पहला काल श्रुतिकाल है जिसमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् का निर्माण हुआ। इस काल में वाक्य रचना सरल, संक्षिप्त और क्रियाबहुल हुआ करती थी। दूसरा हुआ स्मृतिकाल जिसमें रामायण, महाभारत, पुराण तथा वेदांगों की रचना हुई। तीसरा वह है जिस समय पाणिनि के नियमों के द्वारा भाषा नितान्त संयत तथा सुव्यवस्थित की गई तथा काव्य-नाटकों की रचना होने लगी। इस काल को हम मोटे तौर से **'लौकिक संस्कृत का काल'** कह सकते हैं। इस अल्पकाय इतिहास में इन तीनों के विस्तृत विवेचन के लिए स्थान नहीं है। अतः तीसरे काल का ही विशेष वर्णन यहाँ रहेगा। विषय की पूर्ति के निमित्त पूर्वकाल के साहित्य का सामान्य परिचय देकर ही हमें सन्तोष करना पड़ रहा है।

—०—

द्वितीय परिच्छेद

वैदिक साहित्य

महत्त्व

वेद हिन्दू धर्म के सर्वस्व हैं। वे हमारे सबसे प्राचीन धर्म-ग्रन्थ हैं। भारत की धार्मिकता में जो कुछ निष्ठा देखी जाती है उसका मूल स्रोत वेद ही है। वेद महर्षियों के द्वारा अनुभव किये गये तत्त्वों के साक्षात् प्रतिपादक हैं। स्मृति तथा पुराण भी हमारे लिये मान्य हैं परन्तु वेद के अनुकूल होने के कारण से ही उनका इतना गौरव है। श्रुति और स्मृति में विरोध होने पर श्रुति को ही हम अधिक गौरव देते हैं। हमारे धर्म की परिभाषा भी यही है कि जो वस्तु वेद में विहित, इष्ट पदार्थों के उत्पन्न करने में साधक है वही धर्म है। अन्य दृष्टियों से भी वेदों की विशेष महत्ता है। ये संसार के सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। आर्यों की सभ्यता और संस्कृति, समाज तथा धर्म के जानने का एकमात्र साधन यहीं उपलब्ध होता है। धर्म के विकास का पूर्ण निरूपण वेदों के अध्ययन से ही किया जा सकता है। वेद की भाषा सर्वथा प्राचीनतम है। आर्यभाषा के मूल स्वरूप जानने में वैदिक भाषा ही हमारी सहायता करती है।

विभाग

वेद के प्रधानतया दो विभाग हैं—संहिता और ब्राह्मण। मन्त्रों के समुदाय का नाम 'संहिता' है। ब्राह्मण ग्रन्थ में इन्हीं मन्त्रों की एक प्रकार से विस्तृत व्याख्या है। परन्तु विशेषतः यज्ञयाग का सविस्तार वर्णन ही इसका मुख्य उद्देश्य है ब्राह्मण के तीन खण्ड हैं—(१) ब्राह्मण (२) आरण्यक (३) उपनिषद्। आरण्यक ग्रन्थ वे हैं जो जन साधारण से दूर जंगल में पढ़े जाते थे। इसमें यज्ञों के आध्यात्मिक रूप का विवेचन है। ब्राह्मण गृहस्थों के लिये उपादेय हैं, तो आरण्यक वानप्रस्थ आश्रम में जीवन बिताने वाले मनुष्यों

के लिये हितकर हैं। उपनिषदों से तात्पर्य ब्रह्म-विद्या से है जिसके अनुशीलन करने से प्राणी संसार के प्रपञ्चों से छुटकारा पाकर अनन्त सुख का अधिकारी बनता है। उपनिषद् वैदिक साहित्य का अन्तभाग है। इसलिये उसे 'वेदान्त' के नाम से भी पुकारते हैं। उपनिषदों का सारांश भगवद्गीता है। ब्रह्मसूत्र में बादरायण व्यास ने उपनिषदों के सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप से दिखलाया है। ये ही तीनों ग्रन्थ—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता—**प्रस्थानत्रयी** के नाम से प्रसिद्ध हैं। विषय की दृष्टि से वेद में दो विभाग हैं—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक में प्रधानतया कर्म की विवेचना है। अतः ये कर्मकाण्ड के अन्तर्गत माने जाते हैं। उपनिषदों का प्रधान विषय ज्ञान का विवेचन करना है। अतः वे ज्ञानकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं।

चार संहितायें

किसी देवताविशेष की स्तुति में प्रयुक्त होनेवाले अर्थ को स्मरण कराने वाले वाक्य को 'मन्त्र' कहते हैं। ऐसे मन्त्रों के समुदाय 'संहिता' कहलाते हैं। संहिताएँ चार हैं—(१) ऋक् संहिता (२) यजु संहिता (३) सामसंहिता (४) तथा अथर्व संहिता। इन संहिताओं का संकलन महर्षि वेदव्यास ने यज्ञ की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर किया। यज्ञ के लिये चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है—(१) होता (२) अध्वर्यु (३) उद्गाता (४) ब्रह्मा। 'होता' शब्द का अर्थ है पुकारने वाला। होता यज्ञ के अवसर पर विशिष्ट देवता के प्रशंसात्मक मंत्रों का उच्चारण कर उस देवता का आह्वान करता है। उसके लिये आवश्यक मंत्रों का संकलन जिस संहिता में किया गया है उसका नाम ऋक् संहिता या ऋग्वेद है। अध्वर्यु का काम यज्ञों का विधिवत् संपादन है। उसके लिये आवश्यक मन्त्रों का समुदाय यजुः-संहिता कहलाता है। 'उद्गाता' शब्द का अर्थ है उच्च स्वर से गानेवाला। उसका कार्य ऋचाओं के ऊपर स्वर लगाकर उन्हें मधुर स्वर में गाना होता है। इस कार्य के लिये **सामवेद** का संकलन किया गया। **'ब्रह्मा'** नामक ऋत्विज का काम यज्ञ का पूर्ण रूप से निरीक्षण करना है जिससे अनुष्ठान में

किसी प्रकार की त्रुटि न हो। ब्रह्मा को समग्र वेदों का ज्ञाता होना चाहिये पर उसका विशिष्ट वेद अथर्ववेद है।

वेद को 'त्रयी' के नाम से भी पुकारते हैं। इसका कारण यह है कि उसमें तीन वस्तुएँ प्रधानतया पाई जाती हैं—ऋक्, साम और यजुः। पाद से युक्त छन्दोबद्ध मन्त्रों को ऋक् या ऋचा कहते हैं। इन ऋचाओं के गायन को साम कहते हैं। इन दोनों से पृथक् गद्यात्मक वाक्यों को यजुः कहते हैं। वेद ऋक्, यजुः और साम के रूप में विभक्त है। इसीलिए वह 'त्रयी' के नाम से भी अभिहित होता है।

त्रयी

१

वैदिक संहितायें

इन चारों संहिताओं में ऋग्वेद संहिता सबसे प्राचीन मानी जाती है। अन्य संहिताओं में ऋग्वेद के अनेक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। सामवेद तो पूरा का पूरा ऋग्वेद के मन्त्रों से ही बना हुआ है। ऋग्वेद एक ग्रन्थ न होकर एक विशालकाय ग्रन्थसमूह है। भाषा तथा अर्थ की दृष्टि से वैदिक साहित्य में भी यह अनुपम माना जाता है। इसके दो प्रकार के विभाग उपलब्ध होते हैं:—(१) अष्टक, अध्याय और सूक्त (२) मण्डल, अनुवाक और सूक्त। पूरा ऋग्वेद आठ भागों में विभक्त है जिन्हें 'अष्टक' कहते हैं। प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं। इस प्रकार पूरे ऋग्वेद में आठ अष्टक अथवा चौसठ अध्याय हैं। यह विभाग पाठक्रम के सुभीते के लिये किया गया प्रतीत होता है। दूसरा विभाग इससे कहीं अधिक ऐतिहासिक तथा महत्त्वशाली है। इस विभाग में समग्र ऋग्वेद दश खण्डों में विभक्त है जिन्हें 'मण्डल' कहते हैं। मण्डल में संगृहीत मन्त्र-समूह को 'सूक्त' कहते हैं। इन सूक्तों के खण्डों को ऋचाएँ कहते हैं। ऋग्वेद में सूक्तों की संख्या 'खिल सूक्तों' को मिलाकर १०२८ है तथा मन्त्रों को संख्या ११ हजार के लगभग (अर्थात् १०,५८०) है।

ऋग्वेद

वेदों को हम लोग ऋषियों के द्वारा 'दृष्ट' मानते हैं। ऋषि शब्द का अर्थ ही देखने वाला है। यास्क ने ऋषियों को इसलिये मन्त्र का द्रष्टा माना है। ऋग्वेद के ऋषिगण भिन्न-भिन्न कुटुम्बों से सम्बद्ध हैं। एक कुल के ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों का संग्रह एक मण्डल में किया गया है। प्रथम मण्डल और दशम मण्डल में तो नाना कुटुम्बों के ऋषियों के मन्त्र हैं परन्तु द्वितीय से लेकर सप्तम तक प्रत्येक में एक ही कुटुम्ब के ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों का संकलन है। इन ऋषियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) गृत्समद (२) विश्वामित्र (३) वामदेव (४) अत्रि (५) भारद्वाज (६) वसिष्ठ-जो क्रमशः द्वितीय से लेकर सप्तम मण्डल तक से सम्बद्ध हैं। अष्टम मण्डल में कण्व वंश और अङ्गिरा गोत्र के ऋषियों के मन्त्र हैं। नवम मण्डल में सोम-विषयक मन्त्रों का ही संकलन है। सोम का नाम है 'पवमान' अर्थात् पवित्र करनेवाला। सोम विषयक होने से ही इस मण्डल का नाम 'पवमान मण्डल' है। दशम मण्डल के मन्त्र नाना ऋषिकुलों से सम्बद्ध हैं, इसमें केवल देवताओं की स्तुति नहीं है, अपितु अन्य विषयों का भी सन्निवेश है। दूसरे से लेकर सातवें मण्डल तक ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है। दशम मण्डल पूरे ऋग्वेद में अर्वाचीन माना जाता है।

कहा गया है कि सामवेद का संकलन उद्‌गाता ऋत्विक् के निमित्त किया गया है। यज्ञ के अवसर पर जिस देवता के लिए होम किया जाता था, उसे बुलाने के लिए उद्‌गाता उचित स्वर में उस देवता का स्तुति-मन्त्र गाता था। गायन को साम कहते हैं। ये ऋचाओं के ऊपर ही आश्रित हैं। ऋचायें ही गाई जाती हैं। इसलिये समग्र सामवेद में ऋचायें ही हैं। इनकी संख्या १५४९ है जिनमें केवल ७५ ऋचायें ही स्वतंत्र हैं जो ऋक्संहिता में उपलब्ध नहीं होतीं। इसलिए सामवेद की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जाती। साम संहिता के दो भाग हैं—(१) पूर्वार्चिक (२) उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक को छन्दः, छन्दसी अथवा छंदसिका कहते हैं। विषयानुसार इस खण्ड की ऋचायें ४ भागों में विभक्त की गई हैं—(क) आग्नेय पर्व (अग्नि के विषय में ऋचायें) (ख) ऐन्द्र; (ग) पवमान (सोम-विषयक मन्त्र), (घ) आरण्यक पर्व।

सामवेद

दूसरा खण्ड 'उत्तरार्चिक' के नाम से प्रख्यात है। इसमें विषय के अनुसार कई उपखण्ड हैं जिसमें इन अनुष्ठानों का निर्देश किया गया है—(१) दशरात्र, (२) संवत्सर, (३) ऐकाह, (४) अहीन, (५) सत्र, (६) प्रायश्चित्त और (७) क्षुद्र। साम के गायनों में सात स्वरों का प्रयोग किया जाता है। संगीत का मूल यहीं उपलब्ध होता है। उस प्राचीनकाल में संगीत की इतनी उन्नति भारतीय सभ्यता के उदात्त विकास की सूचना देती है।

यजुर्वेद

गद्य को 'यजु' कहते हैं। इस वेद में उन गद्य वाक्यों का समूह है जिनका उपयोग अध्वर्यु यज्ञ के अवसर पर किया करता है। यज्ञ का वास्तव क्रियात्मक अनुष्ठान 'अध्वर्यु' ही करता है। अतः इस वेद का सम्बन्ध यज्ञानुष्ठान के साथ सबसे अधिक है। इसके दो भेद हैं—कृष्ण यजुः और शुक्लयजुः। इस नामकरण के विषय में एक साम्प्रदायिक कथा पुराणों में दी गई है। वेदव्यास ने यजुर्वेद अपने शिष्य वैशम्पायन को सिखलाया जिन्होंने इसे याज्ञवल्क्य ऋषि को पढ़ाया। किसी कारण गुरु अपने शिष्य से रुष्ट हो गए और पठित विद्या को उनसे माँगने लगे। याज्ञवल्क्य ने पठित यजुषों को वमन कर दिया। तब अन्य शिष्यों ने तित्तिर का रूप धारण कर उन्हें चुँग लिया। यही कृष्णयजुः हुआ। उधर याज्ञवल्क्य ने सूर्य की आराधना कर नवीन यजुषों को उत्पन्न किया। वही हुआ शुक्ल यजुर्वेद। इन दोनों के रूप में महान अन्तर है। शुक्लयजुः में केवल मन्त्रों का ही संग्रह है जिसमें विनियोगवाक्य नहीं हैं। अतः ब्राह्मण से अमिश्रित होने के कारण यह 'शुक्ल' कहा जाता है। परन्तु कृष्णयजुर्वेद में छन्दोबद्ध मन्त्र तथा गद्यात्मक विनियोगों का मिश्रण है। इसी मिलावट के कारण इसे कृष्णयजुर्वेद कहते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद की संहिता **वाजसनेयी संहिता** कहलाती है क्योंकि सूर्य ने वाजी (घोडे) का रूप धारण कर इसका उपदेश दिया था। इसमें ४० अध्याय हैं जिनकी रचना विशिष्ट यज्ञों को ध्यान में रखकर की गई है। इस वेद की दो प्रधान शाखायें हैं—माध्यन्दिन और काण्व। पहली शाखा उत्तरीय भारत में उपलब्ध है और दूसरी शाखा महाराष्ट्र में मिलती है। इन शाखाओं की संहितायें भिन्न हैं; पर भिन्नता अधिक नहीं है।

कृष्ण यजुर्वेद की भी अनेक शाखायें थीं। आजकल केवल चार शाखायें प्राप्त है जिनके अनुसार इस वेद की संहितायें निम्न रूप से हैं—

(१) तैत्तिरीय संहिता—यही प्रधानतया प्रसिद्ध शाखा है। इसमें सात खण्ड हैं जिन्हें अष्टक या खण्ड कहते हैं। प्रत्येक काण्ड में कतिपय अध्याय हैं जिन्हे प्रश्न या प्रपाठक कहते हैं। ये प्रश्न अनेक अनुवाकों में विभक्त हैं।

(२) मैत्रायणी संहिता
(३) काठक संहिता } ये दोनों संहितायें तैत्तिरीय से मिलती हैं। क्रम में यत्र तत्र अन्तर हैं।

(४) कठ-कापिष्ठल संहिता—अभी तक केवल आधी ही उपलब्ध हुई है और उतनी ही प्रकाशित है (पंजाब से)।

कृष्ण यजुर्वेद में भी यज्ञों का ही वर्णन है। शुक्ल यजुः से अन्तर यही है कि इन यज्ञों का क्रम दोनों स्थानों पर भिन्न भिन्न रूप से है।

अथर्ववेद में यज्ञभागो का सम्बन्ध बहुत ही कम है। इसमें मारण, मोहन, उच्चाटन आदि अभिचार-क्रियाओं का विशेष वर्णन है। अथर्व ऋषि

अथर्ववेद

के द्वारा दृष्ट होने के कारण इसे अथर्व संहिता कहते हैं। यह संहिता बीस खण्डों में विभक्त है जिन्हें 'काण्ड' कहते हैं। काण्डों के भीतर प्रपाठक, अनुवाक, सूक्त तथा मन्त्र का सन्निवेश क्रमशः किया गया है। इस प्रकार अथर्ववेद में २० काण्ड, ३४ प्रपाठक, १११ अनुवाक ७३१ सूक्त तथा ५८४६ मन्त्र हैं। इनमें लगभग बारह सौ ऋचायें ऋग्वेद से ली गई हैं। इस वेद का लगभग छठाँ भाग गद्य में है। आदि के १३ काण्डों से मारण मोहनादि क्रियाओं का सम्बन्ध है। १४ वें काण्ड में विवाहविषयक मन्त्र हैं। १८ वाँ काण्ड श्राद्ध-विषयक है तथा २० वें काण्ड में सोमयाग का वर्णन है। इन काण्डों के प्रायः समस्त मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं।

ऋग्वेद में भिन्न भिन्न देवताओं के विषय में स्तुतियाँ है। निरुक्त के रचयिता महर्षि यास्क ने स्थान की दृष्टि से देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—पृथिवीस्थान, अन्तरिक्षस्थान तथा द्युस्थान। पृथ्वी

में रहने वाले देवताओं में अग्नि सबसे बढ़कर हैं। ऋग्वेद के सबसे अधिक मन्त्र इसी अग्नि के विषय में हैं। अन्तरिक्ष में रहने वाले देवताओं में इन्द्र का स्थान तथा आकाश में रहने वाले देवताओं में सूर्य, सविता या विष्णु आदि सौर देवताओं का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वरुण का स्थान इन देवताओं में बहुत बड़ा है। इस जगत् में जो नियम दिखलाई पड़ता है वह वरुण के कारण है। वे सर्वज्ञ हैं, प्राणियों के शुभ और अशुभ कर्मों के देखनेवाले हैं तथा अनुरूप फलों के दाता हैं। इन्द्र संग्राम में आर्य लागों को विजय प्रदान करने वाले देवता हैं। इन्द्र के हाथ में वज्र रहता है जिसकी सहायता से वे वृत्र आदि दानवों को मार भगाते हैं और शत्रुओं के नगरों को छिन्न भिन्न कर देते हैं। इन्द्र वृष्टि के देवता हैं। विष्णु उस सूर्य के प्रतिनिधि हैं जो सदा क्रियाशील रहता है। उन्होंने तीन पगों में इस विश्व को नाप डाला है। इसलिये वे 'विक्रम' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वैदिक देवियों में 'उषा' की कल्पना कवित्वपूर्ण है। ऋषियों ने सोने के रथ पर चढ़कर निकलने वाली चमकीली उषा के वर्णन में ऊँची प्रतिभा का परिचय दिया है। वेद के ये ही प्रधान देवता हैं।

देवता

प्राकृतिक दृश्यों को देखकर आर्य लोगों के हृदय में जो कल्पना जगी, वही देवता के रूप में वर्णित की गई है। इस प्रकार देवता प्राकृतिक दृश्यों के ही प्रतिनिधि हैं, परन्तु इतना ही नहीं है। वैदिक ऋषियों ने भिन्न आकार धारण करने वाले इस जगत् में सर्वत्र व्याप्त एक सत्ता का पता बहुत पहले लगाया था। उसी का नाम आत्मा या ईश्वर है। सब देवता लोग उसी सर्वव्यापी परमात्मा के भिन्न भिन्न प्रतीक हैं[1]।

—०—

१ निरुक्त (७।४।८)—माहाभाग्यात् देवतायाः एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

२

ब्राह्मण

संहिताओं के अनन्तर ब्राह्मण ग्रन्थों का समय आता है। इनका सम्बन्ध यज्ञ से है। यज्ञानुष्ठान का विस्तृत वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है। साथ ही साथ अनेक आख्यान, शब्दों की व्युत्पत्ति तथा प्राचीन राजाओं या ऋषियों की कथाएँ यहाँ मिलती है। इस प्रकार अनेक वेदाङ्गों के बीज इन ग्रन्थों में संनिहित हैं। प्रत्येक वेद की शाखा के अनुसार ब्राह्मण तथा आरण्यक भिन्न भिन्न हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं—(१) ऐतरेय और (२) कौषीतकि जिनमें ऐतरेय नितान्त प्रसिद्ध है। इसमें ४० अध्याय हैं। पाँच अध्यायों का एक समूह 'पञ्चिका' कहलाता है। इस प्रकार इसमें ८ पञ्चिकायें हैं। कौषीतकि ब्राह्मण में केवल ३० अध्याय हैं। ऋग्वेद के दो आरण्यक भी हैं—ऐतरेय आरण्यक तथा सांख्यायन आरण्यक। सामवेद से सम्बद्ध बहुत से ब्राह्मण हैं जिनमें 'ताण्ड्य' ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ है। यह २५ अध्यायों में विभक्त विपुलकाय ग्रंथ हैं और इसी लिये इसको 'पञ्चविंश' ब्राह्मण भी कहते हैं। कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक हैं। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण 'शतपथ ब्राह्मण' के नाम से विख्यात है, क्योंकि इसमें सौ अध्याय हैं। ऋग्वेद के अनन्तर यही ग्रंथ विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसमें यज्ञों का विस्तृत वर्णन तो है ही, साथ साथ अनेक प्राचीन आख्यान, व्युत्पत्ति तथा अनेक सामाजिक बातों का संग्रह है। अथर्ववेद का ब्राह्मण 'गोपथ ब्राह्मण' के नाम से विख्यात है। इसमें केवल दो खण्ड हैं जिनमें पहले में केवल पाँच अध्याय हैं, दूसरे में केवल छः। ब्राह्मण साहित्य में गोपथ ब्राह्मण कुछ अर्वाचीन माना जाता है।

३

उपनिषद्

उपनिषद् शब्द उप तथा नि उपसर्गक सद् धातु से बना हुआ है। 'सद्'

धातु के तीन अर्थ होते हैं—(१) विशरण=नाश होना (२) गति=प्राप्त होना (३) अवसादन = शिथिल करना। उपनिषद् का मुख्य अर्थ अध्यात्म विद्या है जिसके अध्ययन करने से मुमुक्षु लोगों की अविद्या नष्ट हो जाती है, जो विद्या उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है तथा जिसके अभ्यास से गर्भवास आदि नाना प्रकार के दुःख शिथिल हो जाते हैं। इस प्रकार उपनिषद् के इस अर्थ में सद्धातु के तीनों अर्थ सुसङ्गत होते हैं। उपनिषद् का गौण अर्थ ब्रह्म-विद्या के प्रतिपादक ग्रंथ है। वैदिक साहित्य में उपनिषदों का स्थान सबसे अन्त में आता है। इसी लिये उन्हें 'वेदान्त' भी कहते हैं। 'मुक्तिकोपनिषद्' में १०८ उपनिषदों के नाम दिये गये हैं जिनमें १० उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध हैं, १९ शुक्ल यजुर्वेद से, ३२ कृष्ण यजुर्वेद से, १६ सामवेद से तथा ३१ अथर्ववेद से। परन्तु उपनिषदों की संख्या इससे भी कहीं अधिक है। इनमें ११ उपनिषद् बहुत ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इन उपनिषदों के नाम हैं—(१) ईश (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तिरीय (८) ऐतरेय (९) छान्दोग्य (१०) बृहदारण्यक तथा (११) श्वेताश्वतर। वेदान्त के प्रसिद्ध आचार्यों ने इन सब उपनिषदों पर अपने मत को पुष्ट करने के लिये समय-समय पर भाष्यों की रचना की है। इन उपनिषदों की रचना शैली में भी भेद है। कुछ उपनिषद् गद्यात्मक हैं, कुछ पद्यात्मक तथा कतिपय गद्य-पद्यात्मक उभय रूप। इनके रचनाकाल के विषय में भी आलोचकों में बड़ा मतभेद है। इतना तो निश्चित ही है कि प्रधान उपनिषदों की रचना बुद्ध के अविर्भाव से बहुत पहले हो चुकी थी। छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक सब उपनिषदों से अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्राचीन स्वीकृत किये जाते हैं। विषय-वर्णन की दृष्टि से उपनिषदों का श्रेणी-विभाग किया जा सकता है। कुछ उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय वेदान्त है जिसमें ब्रह्म तथा आत्मा के स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध का विवेचन है। कुछ योग-विषयक हैं, परन्तु उपनिषदों की महती संख्या विष्णु, शिव तथा शक्ति की उपासना का प्रतिपादन करती है।

उपनिषद्

उपनिषद् भारतीय अध्यात्मशास्त्र के देदीप्यमान रत्न हैं जिनकी प्रभा पर

काल का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। ज्यों-ज्यों उनका सूक्ष्म अध्ययन किया जाता है, त्यों-त्यों उनका जौहर प्रकट होता जाता है।

महत्त्व भारतीय महर्षियों ने अपने प्रातिभ चक्षु से जिन आध्यात्मिक तत्त्वों का साक्षात्कार किया था उन्हीं का भाण्डार उपनिषदों में भरा हुआ है। भारतीय सभ्यता को आध्यात्मिकता की ओर झुकाने का सारा श्रेय इन्हीं ग्रन्थ-रत्नों को है। आज से बहुत पहले जिन विदेशी विद्वानों को भारतीय साहित्य के अध्ययन का अवसर मिला है उन्होंने उपनिषदों की शतमुख से प्रशंसा की है। १७ वीं शताब्दी में दाराशिकोह ने चुने हुए पचास उपनिषदों का फ़ारसी भाषा में अनुवाद किया था। इसी अनुवाद का लैटिन भाषा में अनुवाद फ्रेंच विद्वान् 'आँके त्वील दूपेराँ' ने किया था। वह अनुवाद टूटा-फूटा तथा अधूरा है। परन्तु इसी को पढ़कर प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहोवर ने कहा था कि उपनिषद् मानव मस्तिष्क की सबसे ऊँची एवं पूर्ण रचना है और मेरे जीवन में इन्हीं ग्रन्थों से वास्तव शान्ति मिली है। इसीलिये वह विद्वान् अपनी गुरुत्रयी में प्लेटो और कैण्ट के साथ उपनिषदों को भी स्थान देता है। आजकल तो पाश्चात्य जगत् पर उपनिषदों का बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा है। शायद ही कोई सभ्य भाषा होगी जिसमें उपनिषदों का अनुवाद न मिलता हो।

उपनिषद् किसी एक शताब्दी की रचना न होकर अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास के फल हैं। अतः उनमें भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का मिलना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। परन्तु यह विरोध केवल ऊपरी है। भीतर प्रवेश करने पर एक तात्त्विक व्यवस्था मिलती है जिसके अनुसार इस जगत् की पहेली को भलीभाँति सुलझाने का मार्ग निर्दिष्ट किया गया है। उपनिषद् के अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने इस नानात्मक तथा सदा परिवर्तनशील जगत् के मूल में विद्यमान रहनेवाले शाश्वत पदार्थ को ढूँढ़ निकाला है। इस तत्त्व का नाम ब्रह्म है। जीवात्मा एवं ब्रह्म के स्वरूप में किसी प्रकार का भेद नहीं है। दोनों एक ही तत्त्व हैं। इस अभेद के ऊपर उपनिषदों ने खूब जोर दिया है। आत्मा नित्य वस्तु है; न कभी वह मरता है, न कभी अवस्था

आदि के कारण किसी दोष या विकार को प्राप्त करता है। वह इन्द्रियों से भिन्न है और मन बुद्धि तथा प्राणों से भी पृथक् है। उपनिषद् की मञ्जुल कल्पना के अनुसार यह शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ विषयरूपी मार्ग पर ले चलने वाले घोड़े हैं और आत्मा इस रथ का स्वामी है[1]। यह आत्मा और ब्रह्म मूलतः एक ही तत्त्व हैं। ब्रह्म के दो स्वरूप हैं सगुण और निर्गुण। सगुण रूप में वह इस जगत् को उत्पन्न करता है, स्थितिकाल में इसका प्राण-धारण करता है और प्रलय में अपने में लीन कर लेता है। निर्गुण रूप ही उसका श्रेष्ठ रूप है। ब्रह्म का प्रतिपादन शब्दों के द्वारा नहीं हो सकता। इसीलिये उपनिषदों ने उसके लिये 'नेति नेति' शब्द का प्रयोग किया है। इस ब्रह्म का साक्षात्कार उपनिषदों का चरम लक्ष्य है।

उपनिषद् वास्तव में वह आध्यात्मिक मानसरोवर जिनसे भिन्न-भिन्न ज्ञान-सरिताएँ निकल कर इस पुण्यभूमि आर्यावर्त्त में मनुष्यमात्र के सांसारिक अभ्युदय तथा पारलौकिक कल्याण के लिए प्रवाहित होती हैं। हिन्दू दर्शन में तीन प्रस्थान ग्रन्थ हैं जो वैदिक धर्म के अनुसार मार्ग तथा उसके साधन के प्रतिपादक हैं। इस प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत उपनिषद् ही प्रथम प्रस्थान के रूप में ग्रहण किया गया है। द्वितीय प्रस्थान भगवद्गीता है जो समस्त उपनिषद् रूपी धेनुओं का वत्सरूपी पार्थ के लिये भगवान् गोपाल कृष्ण के द्वारा दुहा हुआ सुधा-सहोदर सारभूत दूध है[2]। तृतीय प्रस्थान बादरायण व्यास के द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र है जिसमें विरोधी प्रतीत होनेवाले उपनिषद् के वाक्यों का समन्वय और अभिप्राय ब्रह्म में दिखलाया गया है। इस प्रकार

---

१ आत्मानं रथिनं विद्धि शरीर रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयान् तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ कठ—२।३

२ सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

गीता और ब्रह्म उपनिषदों पर ही आश्रित हैं। अतः उपनिषद् ही भारतीय दर्शन के मूल स्रोत हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसीलिए नवीन मत के संस्थापक आचार्यों ने अपने मत को प्रामाणिक तथा अक्षुण्ण सिद्ध करने के लिये इन तीनों ग्रन्थ-रत्नों पर, विशेषतः उपनिषदों पर, अपने मत के अनुकूल व्याख्याग्रन्थों की रचना की है।

४

वेदाङ्ग-साहित्य

ब्राह्मणकाल के अनन्तर सूत्रकाल का आरम्भ होता है। अब इस काल में हम श्रुति से हटकर स्मृति में आते हैं। इन ग्रन्थों की रचना भी बड़ी विलक्षण है। छोटे-छोटे अल्प अक्षरों के द्वारा विपुल अर्थों के प्रदर्शन का उद्योग किया गया है। यज्ञयाग का इतना अधिक विस्तार हो गया था कि इसे याद करने के लिये ऐसे छोटे-छोटे ग्रन्थों की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस काल में जो ग्रन्थ रचे गये वे वेद के अर्थ तथा विषय को समझने के लिये नितान्त उपयोगी हैं। इसीलिये इन्हें वेद का अङ्ग या 'वेदाङ्ग' कहते हैं जो संख्या में छः हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्यौतिष। इसमें व्याकरण वेद का मुख है, ज्यौतिष नेत्र, निरुक्त श्रोत्र, कल्प हाथ, शिक्षा नासिका छन्द दोनों पाद[1]। इस प्रकार वेदांग का वेद से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(१) **शिक्षा**—उन ग्रंथों को कहते हैं जिनकी सहायता से वेदों के उच्चारण का भली-भाँति ज्ञान प्राप्त हो जाय। वेदपाठ में स्वरों का बड़ा महत्त्व है। स्वर में गलती होने के कारण से महान् अनर्थ हो जाता है।

---

१ छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

—पाणिनीय शिक्षा ४१-४२

अतः स्वर की शिक्षा के लिए एक अलग वेदाङ्ग की रचना की गई। प्रत्येक वेद की अलग-अलग शिक्षा है। याज्ञवल्क्य शिक्षा शुक्ल यजुर्वेद की है और नारद शिक्षा सामवेद की है। पाणिनि की बनाई हुई भी एक बहुत अच्छी शिक्षा है जो 'पाणिनीय शिक्षा' कहलाती है।

(२) छन्द—छन्द का बिना ज्ञान प्राप्त किये हुए वेदमन्त्रों का ठीक-ठीक उच्चारण नहीं हो सकता। मन्त्र छन्दोबद्ध हैं। अतः छन्द का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। शौनक विरचित 'ऋक्प्रातिशाख्य' के अन्त में छन्दों का पर्याप्त विवेचन है। परन्तु इस वेदांग का एकमात्र स्वतन्त्र ग्रंथ 'पिंगल' है जो किसी पिंगल नामक आचार्य के द्वारा रचा गया था। इस ग्रंथ में वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन मिलता है।

(३) निरुक्त—इस वेदांग में शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है। वेद के अर्थ जानने के लिए शब्द-व्युत्पत्ति की बड़ी आवश्यकता है। आजकल केवल एक ही निरुक्त उपलब्ध होता है और इसके रचयिता महर्षि यास्क हैं। बहुत प्राचीन काल से निघण्टु नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है जिसमें वेद के कठिन शब्दों की क्रमबद्ध तालिका है। इसी ग्रन्थ पर यास्क ने वह विस्तृत भाष्य बनाया जो 'निरुक्त' के नाम से प्रसिद्ध है। यास्क का मत है कि समस्त शब्द धातुओं से उत्पन्न हुए हैं। अतः उनकी व्युत्पत्ति दिखलाने का प्रयत्न भी इस ग्रन्थ में किया गया है। यास्क पाणिनि से पहले हुए। अतः इनका समय ईस्वी से पूर्व सात सौ वर्ष के लगभग होना चाहिए।

(४) व्याकरण—इस वेदांग का एकमात्र उद्देश्य वेदों के अर्थ को समझना तथा वेदार्थ की रक्षा करना है। आजकल पाणिनि व्याकरण ही इस वेदांग का एकमात्र प्रतिनिधि है। परन्तु व्याकरण पाणिनि से भी पुराना है। पाणिनि ने आठ अध्यायों में सूत्ररूप में व्याकरण लिखा है जो 'अष्टाध्यायी' के नाम से विख्यात है। उनके पहले भी गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भारद्वाज आदि अनेक आचार्य थे जिनका उल्लेख पाणिनि ने अष्टाध्यायी में किया है। इनसे भी पहले के 'प्रातिशाख्य' नामक ग्रंथ हैं जिनमें स्वर और छन्द के साथ व्याकरण का भी विशेष वर्णन है। ऐसे ग्रंथ प्रत्येक शाखा के

अलग अलग थे। आजकल ऋग्वेद से सम्बद्ध 'शौनक-प्रातिशाख्य' तथा शुक्ल यजुः का 'कात्यायन प्रातिशाख्य' विशेष प्रसिद्ध है। अन्य वेदों के भी प्रातिशाख्य मिलते हैं।

(५) ज्यौतिष—वेद के अंगों से इसका विशेष महत्व है। वेद यज्ञ के प्रतिपादन के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं और काल के उचित निवेश से यज्ञ का सम्बन्ध है। इसीलिए ज्यौतिष को काल का विधायक शास्त्र कहते हैं। जो व्यक्ति ज्यौतिष को जानता है यह यज्ञ को जानता है[1]। इसका प्रतिनिधि 'वेदाङ्ग ज्यौतिष' है। इसके रचयिता का नाम 'लगध' है। इसके दो संस्करण उपलब्ध हैं—एक यजुर्वेद से सम्बद्ध और दूसरा ऋग्वेद से सम्बद्ध। याजुष ज्योतिष में ४३ श्लोक हैं तथा आर्च में केवल ३६। सामान्यतः श्लोक एक ही प्रकार के हैं। इसके कतिपय श्लोकों का अर्थ अभी तक ठीक ठीक नहीं लगता। 'सोमाकर' की प्राचीन टीका तथा सुधाकर द्विवेदी का नया 'सुधाकर' भाष्य प्रसिद्ध है।

(६) कल्पसूत्र—ब्राह्मण-काल में यज्ञ-याग का इतना अधिक विस्तार हुआ कि उनके यथोचित ज्ञान के लिए कतिपय संक्षिप्त एवं पूर्ण परिचय देनेवाली रचनाओं की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी की पूर्ति कल्पसूत्रों द्वारा की गई। कल्पसूत्र दो प्रकार के हैं—श्रौतसूत्र तथा स्मार्तसूत्र। स्मार्त-सूत्रों के दो भेद हैं—गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र। श्रौत शब्द का अर्थ है श्रुति (वेद) से सम्बद्ध यज्ञ-याग। अतः श्रौतसूत्रों में तीन प्रकार के अग्नियों (आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि) के आधान, अग्निहोत्र, दर्श तथा पूर्ण-मास नामक इष्टियाँ, पशुयाग, विशेषतः भिन्न प्रकार के सोमयागों का वर्णन किया गया है। श्रौतसूत्रों में इस प्रकार भारतीय याग-पद्धति का मूलस्वरूप जानने के लिए सबसे प्राचीन तथा पर्याप्त सामग्री है। गृह्यसूत्रों में उन अनु-ष्ठान, आचार तथा यागों का वर्णन है जिसका करना प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ के

---

१ वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्यौतिषं वेद स वेद यज्ञान्॥
—आर्च ज्यौतिष श्लो० ३६।

लिए आवश्यक है। विशेषतः षोडश संस्कारों का वर्णन गृह्यसूत्रों में बड़े विस्तार से है जिनमें उपनयन तथा विवाह का वर्णन बड़े ही साङ्गोपाङ्ग रूप में किया गया है। इन ग्रन्थों के अध्ययन करने से प्राचीन भारतीय समाज के घरेलू आचार-विचार का, भिन्न भिन्न प्रान्तों के रीति-रिवाज का परिचय पूर्ण रूप से हो जाता है। पश्चिमी जातियों में से ग्रीक और रोमन लोग काफी पुराने हैं। उनका साहित्य भी कम विशाल या व्यापक नहीं है, परन्तु उनके यहाँ भी ऐसी रचना बहुत ही कम हैं जिनसे उनके रहन-सहन का प्रामाणिक परिचय प्राप्त हो सके। इस प्रकार गृहसूत्रों का उपयोग हमारे ही लिए नहीं है प्रत्युत समाजशास्त्र तथा जातिशास्त्र (एथ्नोलॉजी) के प्रत्येक विद्वान् के लिए है। गृह्यसूत्रों के साथ धर्मसूत्र भी सम्बद्ध हैं। इन सूत्रों में धार्मिक नियमों, प्रजा के तथा राजा के कर्तव्य और अधिकार का पूरा पूरा वर्णन मिलता है। साथ ही साथ चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) तथा चारों आश्रम (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास) के धर्म या कर्त्तव्यों का पूर्ण वर्णन किया गया है। इन्हीं धर्मसूत्रों से आगे चलकर स्मृतियों की उत्पत्ति हुई जिनकी व्यवस्था आज भी हमारे लिए मान्य है। शुल्वसूत्र भी कल्पसूत्र के ही अङ्ग हैं। उनका साक्षात् सम्बन्ध श्रौतसूत्रों से है। शुल्व का अर्थ है मापसूत्र अर्थात् नापने का डोरा। नाम के अनुरूप शुल्वसूत्रों में वेदियों का नापना, उनके लिए स्थान चुनना तथा उनकी रचना आदि विषयों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। ये सूत्र भारतीय ज्यामिति के प्राचीन ग्रन्थ हैं। इतना ही नहीं, जिस सिद्धान्त के आविष्कार करने का श्रेय पाश्चात्य विद्वान् ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक पाइथेगोरस को देते हैं उसकी स्थापना उनसे सैकड़ों वर्ष पहले इन शुल्बसूत्रों में प्रमाणपुरःसर की गई है।

ऋग्वेद के कल्पसूत्र हैं—आश्वलायन और सांख्यायन। दोनों कल्पसूत्रों में श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र दोनों सम्मिलित हैं। शुक्लयजुर्वेद के कल्पसूत्र हैं—कात्यायन श्रौतसूत्र, पारस्करगृह्यसूत्र और कात्यायन शुल्वसूत्र। कृष्ण यजुर्वेद की बौधायन और आपस्तम्ब शाखा में जो कल्पसूत्र उपलब्ध होते हैं उन्हें हम समग्र तथा महत्त्वपूर्ण कह सकते हैं क्योंकि उनमें श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्वसूत्र—चारों पूर्णरूप से पाये जाते हैं। इनमें परस्पर इतना अधिक

सम्बन्ध है कि यदि हम इन्हें एक ही ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न खण्ड कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

सामवेद से सम्बद्ध कल्पसूत्र हैं—लाट्यायन और द्राह्यायन के श्रौत-सूत्र तथा जैमिनि शाखा से सम्बद्ध जैमिनीय श्रौतसूत्र और जैमिनि गृह्यसूत्र, गोभिल और खादिर के गृह्यसूत्र। सामवेद के ही अन्तर्गत 'आर्षेय कल्प' की भी गणना की जाती है। इसका दूसरा नाम मशककल्पसूत्र है जिसमें साम के गायनों के भिन्न भिन्न रागों तथा लयों का वर्णन है। यह सूत्र पञ्चविंश ब्राह्मण के साथ सम्बद्ध है और लाट्यायन श्रौतसूत्र से भी प्राचीन प्रतीत होता है। अथर्ववेद के कल्पसूत्र के अन्तर्गत दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—(१) वैतान श्रौतसूत्र (जो विशेष प्राचीन नहीं माना जाता) तथा (२) कौशिक सूत्र (जो गृह्यसूत्र होते हुए भी अथर्ववेद में वर्णित अभिचारों से सम्बद्ध नाना प्रकार के अनुष्ठानों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है) प्राचीन भारत के अभिचारों को जानने के लिए इससे अधिक उपयोगी कोई अन्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

अनुक्रमणी—वेदांगसाहित्य के ही अंतर्गत उन अनुक्रमणियों का उल्लेख आवश्यक है जिनकी रचना वेदों की रक्षा तथा वेदार्थ की मीमांसा के लिए की गई है। आर्षानुक्रमणी में ऋग्वेद के मंत्रों के द्रष्टा ऋषियों के नाम मन्त्रक्रम से दिये गये हैं। छन्दोऽनुक्रमणी में ऋग्वेद में प्रयुक्त छन्दों का क्रमशः वर्णन है। देवतानुक्रमणी में ऋग्वेद के देवताओं का मंत्रक्रम से खूब विस्तृत विवेचन है। शौनक का 'बृहद्देवता' भी इस विषय का एक प्रामाणिक तथा उपादेय ग्रंथ है जिसमें ऋग्वेद के देवताओं का क्रमशः वर्णन तो है ही, साथ ही साथ उनसे सम्बद्ध अनेक प्राचीन आख्यानों तथा कथानकों का भी अत्यंत उपादेय और रोचक विवरण यहाँ मिलता है। कात्यायन की 'सर्वानु-क्रमणी' भी इस विषय की प्रसिद्ध पुस्तक है जिसपर 'षड्गुरुशिष्य' का भाष्य (द्वादश शतक) अत्यंत उपयोगी तथा प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ में अनेक अनु-क्रमणियों में आये हुए विषयों का संक्षिप्त विवेचन है। इस प्रकार वेद तथा वेदार्थ की रक्षा के लिए अनुक्रमणी-साहित्य की रचना पिछली शताब्दियों में की गई।

इस प्रसंग में हम उस विद्वान को नहीं भुला सकते जिनके भाष्यों की सहायता से ही हम वेद के विषम दुर्ग में प्रवेश पा सके हैं। वेद की भाषा, उसकी शब्दावली, उसकी नवीन रूपकमयी कल्पना आदि इतनी विचित्र है कि बिना सायण की व्याख्या का अध्ययन किये इन्हें जान लेना नितान्त दुष्कर है। ये सायणाचार्य[1] विजयनगर राज्य के संस्थापक महाराज बुक्क प्रथम (१३५०–७६ ई०) तथा उनके उत्तराधिकारी महाराज हरिहर (१३७९–९६ ई०) के राज्यकाल में दक्षिण भारत में उत्पन्न हुए थे। इन्हीं राजाओं की छत्रछाया में इन्होंने अपने भाष्यों की रचना की है। सायण के भाष्य ऋग्वेद, तैत्तिरीय संहिता, काण्व संहिता, साम संहिता, अथर्वसंहिता—अर्थात् माध्यन्दिन संहिता को छोड़कर समग्र संहिताओं पर है। ब्राह्मण साहित्य में ऐतरेय ब्राह्मण तथा ऐतरेय आरण्यक, तैत्तिरीय ब्राह्मण और आरण्यक, पंचविंश ब्राह्मण जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथों पर भी इनके भाष्य विद्यमान हैं।

५

वेदों का रचनाकाल

वेदों के निर्माणकाल का यथातथ्य निर्णय करना नितांत दुष्कर कार्य है। विद्वानों की गहरी छानबीन करने पर भी यह प्रश्न आज भी इदमित्थं रूप से निर्णीत नहीं हो पाया है और न भविष्य में ही निर्णय की कोई सम्भावना है। भारतीय दृष्टि से वेद अपौरुषेय हैं, नित्य हैं, कालातीत हैं और इसीलिए उनकी रचना के काल—निरूपण का अवसर ही नहीं आता, परन्तु पश्चिमी विद्वानों में इस प्रश्न की विवेचना में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है।

---

१ सायणाचार्य के विशेष विवरण के लिए देखिए—बलदेव उपाध्याय रचित 'आचार्य सायण और माधव' पृ० ८३–११४। प्र० साहित्य संमेलन, प्रयाग

डा० मैक्समूलर का मत—

सबसे पहिले १८५६ ई० में प्रोफेसर मैक्समूलर ने इस प्रश्न के निर्णय का प्रथम प्रयास किया। उनकी दृष्टि में ऋग्वेद की रचना १२०० विक्रमपूर्व में सम्पन्न हुई थी। बुद्ध-धर्म के उदय से पहिले ब्राह्मण ग्रंथों का निर्माण हो चुका था, क्योंकि ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में विस्तृत रूप से वर्णित याग-विधान बुद्ध की तीक्ष्ण आलोचनाओं का प्रधान विषय था और उपनिषदों में विवेचित अनेक अध्यात्मतत्व उनके लिए सर्वथा ग्राह्य थे। वैदिक साहित्य की बुद्ध-धर्म के उदय से पूर्वभाविता को दृढ़ आधार-शिला मानकर मैक्समूलर ने अपना सिद्धान्त निर्णीत तथा पुष्ट किया है। उन्होंने वैदिक युग को चार कालविभागों में विभक्त किया है—छन्दःकाल, मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल तथा सूत्रकाल और प्रत्येक युग की विचार धारा के उदय तथा ग्रंथ-निर्माण के लिए उन्होंने २०० वर्षों का काल माना है। अतः बुद्ध के प्रथम होने से सूत्रकाल का प्रारम्भ ६०० विक्रम-पूर्व माना गया है। इस काल में श्रौत (कात्यायन, आपस्तम्ब आदि) तथा गृह्यसूत्रों की निर्मिति प्रधानरूपेण अंगीकृत की जाती है। इसके पूर्व ब्राह्मणकाल था जिसमें भिन्न-भिन्न ब्राह्मण ग्रंथों की रचना, यागानुष्ठान का विपुलीकरण, उपनिषदों के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का विवेचन आदि सम्पन्न हुआ। इसके विकास के लिये ८०० वि. पू.—६०० वि. पू. तक दो सौ सालों का काल उन्होंने माना है। इससे पूर्ववर्ती मन्त्रयुग के लिए जिसमें मन्त्रों का याग-विधान की दृष्टि से चार विभिन्न संहिताओं में संकलन किया गया; १००० वि. पू. से लेकर ८०० वि. पू. का समय स्वीकृत किया गया है। इससे भी पूर्ववर्ती कल्पना तथा रचना की दृष्टि से नितान्त श्लाघनीय युग—छन्दःकाल—था जिसमें ऋषियों ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर अर्थगौरव से भरे हुए मन्त्रों की रचना की थी। मैक्समूलर के हिसाब से यही मौलिकता का युग था, कमनीय कल्पनाओं का यही काल था जिसके लिए १२००–१००० वि. पू. का काल उन्होंने माना है। ऋग्वेद का यही काल है। अतः बुद्ध के जन्म से पीछे हटते-हटते हम ऋग्वेद के काल तक सुगमता से पहुँच जाते हैं। इस मत के अनुसार ऋग्वेद की रचना आज से लगभग ३२०० वर्ष पूर्व की गई थी।

किसी प्रतिष्ठित विद्वान् की चलाई कल्पना, चाहे वह अत्यन्त निराधार ही क्यों न हो, जब एक बार चल निकलती है, तब विन्ध्य की बरसाती नदियों की धारा की तरह रोके नहीं रुकती। वह अपने सामने सब प्रकार की विघ्न-बाधाओं को, प्रबल विरोधों को, दूर हटाती सरकती हुई चली ही जाती है। ठीक यही घटना इस कल्पना के साथ भी घटी। मैक्समूलर ने जिसे एक सामान्य सम्भावना के रूप में अग्रसर किया था, उसे ही उनका सिक्का मानने वाले लोगों ने एक मान्य वैज्ञानिक तथ्य के रूप में ग्रहण कर लिया परन्तु तीस बरस पीछे १८८९ ई० भौतिक धर्म शीर्षक अपनी जिफोर्ड व्याख्यान-माला के अवसर पर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि इस भूतल पर कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है जो कभी निश्चय कर सके कि वैदिक मन्त्रों की रचना १००० या १५०० या २००० या ३००० वि. पू. में की गई हो। इसकी पुष्टि में इतना ही उन्होंने माना कि ऋग्वेद की यही पिछली सीमा है जिसके पीछे ऋग्वेद का काल कथमपि नहीं लाया जा सकता। परन्तु इसकी ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया कि भाषा तथा विचारों के विकास के लिए दो सौ वर्षों का काल नितान्त काल्पनिक, अपर्याप्त तथा अनुचित है।

वेद में ज्योतिष-तत्त्व

वेदों की संहिता तथा ब्राह्मणों में निर्दिष्ट ज्योतिष सम्बन्धी सूचनाओं का अनुशीलन कर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक तथा जर्मनी के विख्यात विद्वान् डा० याकोबी ने वेदों का काल विक्रमपूर्व चार सहस्र वर्ष निश्चित किया है। उनके प्रमाणों को समझने के लिए ज्योतिष-सम्बन्धी सामान्य तथ्यों से परिचय नितान्त आवश्यक है।

पाठक जानते हैं कि एक वर्ष के अन्दर ६ ऋतुयें होती हैं—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त तथा शिशिर। इन ऋतुओं का आविर्भाव सूर्य के संक्रमण पर निर्भर रहता है। यह बात सुविख्यात है कि प्राचीन काल से लेकर आजकल ऋतुयें पीछे हटती चली जा रही हैं अर्थात् प्राचीन काल में जिस नक्षत्र के साथ जिस ऋतु का उदय होता था, आज वही ऋतु उस नक्षत्र से पूर्ववर्ती नक्षत्र के समय आकर उपस्थित होती है। प्राचीन

काल में वसन्त से वर्ष का प्रारम्भ माना जाता था। इसीलिए वसन्त भगवान् की विभूति माना जाता है—'ऋतूनां कुसुमाकरः'—गीता। आजकल 'वसन्त सम्पात' (वर्नल इक्विनाक्स) मीन की संक्रान्ति से आरम्भ होता है और यह संक्रान्ति पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र के चतुर्थ चरण से आरम्भ होती हैं, परन्तु यह स्थिति धीरे धीरे नक्षत्रों के एक के बाद एक के पीछे हटने से हुई है। किसी समय वसन्त सम्पात उत्तरा भाद्रपद, रेवती, अश्विनी, भरणी कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा आदि नक्षत्रों में था जहाँ से यह क्रमशः पीछे हटता हुआ आज वर्तमान स्थिति पर पहुँच पाया है। नक्षत्रों के पीछे हटने से ऋतु-परिवर्तन तब लक्ष्य में भली भाँति आने लगता है जब वह एक मास पीछे हट जाता है। सूर्य के संक्रमण वृत्त को २७ नक्षत्रों में भारतीय ज्योतिषियों ने विभक्त कर रखा है। पूरा संक्रमण वृत्त ३६० अंशों का है। अतः प्रत्येक नक्षत्र (३६०÷२७)=१३$\frac{1}{3}$ अंशों का एक चाप बनाता है। संक्रमण बिंदु को एक अंश पीछे हटने में ७२ वर्ष लगते हैं। अतः पूरे एक नक्षत्र पीछे हटने के वास्ते (७२×१३$\frac{1}{3}$) ९६० वर्षों का महान् काल लगता है। आजकल वसन्त सम्पात पूर्वाभाद्रपद के चतुर्थ चरण में पड़ता है अर्थात् जब वह कृत्तिका नक्षत्र में पड़ता था, तब से लेकर आजतक वह लगभग साढ़े चार नक्षत्र पीछे हट आया है। अतः ज्योतिष गणना के आधार पर कृत्तिका नक्षत्र में वसन्त-सम्पात का काल आज से (९७२×४$\frac{1}{2}$= ४३३२) लगभग साढ़े चार हजार वर्ष पहले था अर्थात् २५०० वि० पू० के समय ज्योतिष की यह घटना सम्भवतः मोटे तौर पर घटी होगी।

वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मणों में अनेक स्थलों पर ऋतुसूचक तथा नक्षत्र-निर्देशक वर्णनों का प्राचुर्य पाया जाता है। महाराष्ट्र के विख्यात ज्योतिर्विद् पण्डित शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथ ब्राह्मण से एक महत्त्व-पूर्ण अंश खोज निकाला है जिससे उस ग्रंथ के रचनाकाल के विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस वाक्य में कृत्तिकाओं के ठीक पूर्वीय बिन्दु पर उदय लेने का वर्णन है जहाँ से वे तनिक भी च्युत नहीं होतीं :—

एकं द्वे त्रीणी चत्वारि वा अन्यानि नक्षत्राणि, अथैता एक भूयिष्ठा यत् कृत्तिकास्तद् भूमानमेव एतदुपैति तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत।

एता हवैप्राच्यै दिशो न च्यवन्ते, सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते (शतपथ २।१।२)।

आजकल ये पूर्वीयबिन्दु से कुछ उत्तर ओर हटकर उदय लेती हैं। अतः दीक्षित जी की गणना के अनुसार ऐसी ग्रहस्थिति ३००० वि० पू० में हुई होगी शतपथ का निर्माणकाल माना जा सकता है। तैत्तिरीय संहिता जिसमें कृत्तिका तथा अन्य नक्षत्रों का वर्णन है निश्चयपूर्वक शतपथ से प्राचीन है। ऋग्वेद तैत्तिरीय से भी पुराना है। अब यदि प्रत्येक के लिए २५० वर्ष का अन्तर मान लें तो ऋग्वेद का समय ३५०० वि० पू० में इधर का कभी नहीं हो सकता। अतः दीक्षितजी के मत में ऋग्वेद आज से लगभग ५५०० (साढ़े पाँच हजार) वर्ष नियमतः पुराना सिद्ध हो जाता है[1]।

लोकमान्य-तिलक का मत

लोकमान्य की विवेचना के अनुसार यह समय और भी पूर्ववर्ती होना चाहिए। ऋग्वेद का गाढ़ अनुशीलन कर उन्होंने मृगशिरा नक्षत्र में वसंत-सम्पात होने के अनेक निर्देशों को एकत्र किया। तैत्तिरीय संहिता का कहना है कि 'फाल्गुनी पूर्णिमा वर्ष का मुख है'। तिलकजी ने इस कथन का स्वारस्य दिखलाया है। यदि पूर्ण चन्द्रमा फाल्गुनी नक्षत्र में था, तो सूर्य अवश्यमेव मृगशिरा में रहेगा जब वसन्त सम्पात भी होगा। ऋग्वेद के भीतर ही अनेक आख्यायिकायें इस ग्रहस्थिति की सूचना देनेवाली हैं। मृगशिरा की आकाश-स्थिति का निर्देश अनेक मन्त्रों तथा आख्यानों में पूर्णतया अभिव्यक्त किया गया है जिसकी एक झलक कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल के आरम्भ में ही 'मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम्' में उपमा के द्वारा दे दी है। मृगशिरा में वसन्त का समय कृत्तिका वाले समय से लगभग २००० वर्ष पूर्व अवश्य होगा, क्योंकि मृगशिरा से कृत्तिका तक पीछे हटने में उसे दो नक्षत्रों को पार करना होगा (९७२×२=१९४४) अतः जिन मन्त्रों में

---

१ शंकर बालकृष्ण दीक्षित—ज्योतिष शास्त्र का इतिहास (मराठी तथा हिन्दी, लखनऊ १९५८)

मृगशिरा के वसंत-सम्पात का उल्लेख किया गया है, उनका मोटे तौर से (२५००+१९४४) ४५०० वि० पू० होना न्याय्य है। तिलकजी के अनुसार 'वसन्त सम्पात' के मृगशीर्ष से भी आगे पुनर्वसु नक्षत्र में होने का भी यथेष्ट संकेत ऋग्वेद में मिलते हैं।[1]

अदिति के देवमाता कहलाने का भी यही रहस्य है। पुनर्वसु नक्षत्र की देवता अदिति है[2]। अतः अदिति को देवजननी कहने का स्वारस्य यही है कि पुनर्वसु नक्षत्र में वसन्त—संपात होने से वर्ष तथा देवयान का आरंभ इसी काल से माना जाता था। पुनर्वसु ही उस समय नक्षत्र था। पुनर्वसु में सूर्य के संक्रमण होते ही देवताओं के पवित्र काल (उत्तरायण-देवयान) का आरम्भ होता था। यह काल दो नक्षत्र आगे हटकर होने के कारण मृगशिरा वाले समय से लगभग २००० वर्ष अवश्य पहले होगा अर्थात् तिलक जी के अनुसार यही अदिति-युग भारतीय संस्कृति का प्राचीनतम युग है। यह युग ६०००–४००० वि० पू० तक माना जा सकता है। इस काल की स्मृति किसी भी अन्य आर्य संस्कृति में उपलब्ध नहीं होती। न तो ग्रीक लोगों की ही सभ्यता में, न पारसियों के धर्मग्रन्थों में इस सुदूर अतीत की झलक दीख पड़ती है। डाक्टर याकोबी इतना दूर जाना उचित नहीं मानते। उन्होंने गृह्यसूत्रों में उल्लिखित ध्रुवदर्शन के आधार पर स्वतंत्र रूप से वेदों का समय विक्रमपूर्व चतुर्थ सहस्राब्दी माना है[3]।

इस प्रकार लोकमान्य ने समग्र वैदिककाल को चार युगों में विभक्त किया है:—

(१) अदिति काल (६०००–४००० वि० पू०) इस सुदूर

---

१ द्रष्टव्य तिलकजी का 'ओरायन' नामक ग्रन्थ।

२ दस्रो यमोऽनलो ब्रह्मा चन्द्रो रुद्रोऽदितिर्गुरुः।
... ...क्रमान्नक्षत्र—देवताः॥

लघुसंग्रह श्लो० ६१–६२

३ इनके मत के लिए द्रष्टव्य डा० विन्टरनित्स—हिस्टरी आफ इण्डियन लिटरेचर, प्रथम भाग, पृष्ठ २९६–२९७।

प्राचीन-काल में उपास्य देवताओं के नाम, गुण तथा मुख्य चरित के वर्णन करनेवाले निविदों (योगसम्बन्धी विधिवाक्यों) की रचना कुछ गद्य में और कुछ पद्य में की गई तथा अनुष्ठान के अवसर पर उनका प्रयोग किया जाता था।

(२) मृगशिरा काल (लगभग ४०००–२५०० वि० पू०) आर्य सभ्यता के इतिहास में नितान्त महत्त्वशाली युग यही था, जब ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों का निर्माण किया गया। रचना की दृष्टि से यह युग विशेषतः क्रियाशील था।

(३) कृत्तिका काल (लगभग २५००-१४०० वि० पू०) इस काल में तैत्तिरीय संहिता तथा शतपथ आदि अनेक प्राचीन ब्राह्मणों का निर्माण संपन्न हुआ। वेदांग ज्योतिष की रचना इस युग के अन्तिम भाग में की गई, क्योंकि इसमें सूर्य और चन्द्रमा के श्रविष्ठा के आदि में उत्तर ओर घूम जाने का वर्णन मिलता है[1] और यह घटना १४०० वि० पू० के आस पास गणित के आधार पर अंगीकृत की गई है।

(४) अन्तिमकाल (१४००–५०० वि० पू०) एक हजार वर्षों के अन्दर श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, दर्शन सूत्रों की रचना हुई और बुद्धधर्म का उदय वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में इसके अन्तिम भाग में हुआ।

नवीन अन्वेषणों से इस काल की पुष्टि भी हो रही है। सन् १९०७ ई० में डाक्टर हूगो विकलर ने एशिया माइनर (वर्तमान टर्की) के 'बोघाजकोइ' नामक स्थान में खुदाई कर एक प्राचीन शिलालेख की प्राप्ति की। यह हमारे विषय के समर्थन में एक नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रमाण माना जाता है। पश्चिमा एशिया के इस खण्ड में कभी दो प्राचीन जातियों का निवास था—एक का

---

१ प्रपद्यते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्
सार्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघ श्रावणयोः सदा। ६।

ऋग्वेद ज्यो०

इसकी मीमांसा के लिए द्रष्टव्य गीतारहस्य पृ० ५४६;
वैद्य—हिस्ट्री आफ वैदिक लिटरेचर, भाग १, पृ० ३५–३७

नाम था 'हिचिति' और दूसरे का 'मितानि'। ईंटों पर खुदे इन लेखों से पता चलता है कि इन दोनों जातियों के राजाओं ने अपने पारस्परिक कलह के निवारण के लिए आपस में संधि की जिसमें संधि के संरक्षक रूप में दोनों जातियों के देवताओं की अभ्यर्थना की गई है। इन संरक्षक देवों की सूची में अनेक बाबुल देशीय तथा हिचिति जाति के देवताओं के अतिरिक्त मितानि जाति के देवों में मित्र, वरुण, इंद्र तथा नासत्यौ (अश्विनौ) का नाम उपलब्ध होता है। मितानि नरेश का नाम 'मत्तिउजा' था और हिचिति राजा की विलक्षण संज्ञा थी 'सुब्बिलुलिउमा'। दोनों में कभी घनघोर युद्ध हुआ था जिसके विराम के अवसर पर मितानि नरेश ने अपने शत्रु राजा की पुत्री के साथ विवाह कर अपनी नवीन मैत्री के ऊपर मानो मुहर लगा दी। इसी समय की पूर्वोक्त संधि है जिसमें चार वैदिक देवताओं के नाम मिलते हैं। अब प्रश्न है कि मितानि जाति के देवताओं में वरुण इंद्र आदि देवों का नाम क्योंकर सम्मिलित किया जाता है ? उत्तर में यूरोपीय विद्वानों ने विलक्षण कल्पनाओं की लड़ी लगा दी है। इन प्रश्नों का न्याय्य उत्तर यही है कि मितानि जाति भारतीय वैदिक आर्यों की एक शाखा थी जो भारत से पश्चिमी एशिया में आकर बस गई थी या वैदिक धर्म को मानने वाली एक आर्य जाति थी। उस प्राचीन काल में पश्चिमी एशिया तथा भारत का परस्पर सम्बंध अवश्यमेव ऐतिहासिक प्रमाणों पर सिद्ध किया जा सकता है। वरुण, मित्र, आदि चारों देवताओं का जिस प्रकार एक साथ निर्देश किया गया है उससे इनके 'वैदिक देवता' होने में तनिक भी संदेह नहीं है। 'इन्द्र' को तो पाश्चात्य विद्वान् भी आर्यावर्त में ही उद्‌भावित आर्यों का प्रधान सहायक देवता मानते हैं।

इस शिलालेख का समय १४०७ विक्रमी पूर्व है। इसका अर्थ यह है कि इस समय से बहुत पहिले आर्यों ने आर्यावर्त में अपने वैदिक धर्म तथा वैदिक देवताओं की कल्पना पूर्ण कर रखी थी। आर्यों की कोई शाखा पश्चिमी एशिया में भारतवर्ष से आकर बस गई और यहीं पर उन्होंने अपने देवता तथा धर्म का प्रचुर प्रचार किया। बहुत सम्भव है कि वैदिक देवताओं को मान्य तथा पूज्य मानने वाली यह मितानि जाति भी वैदिक आर्यों की

इसी शाखा के अंतर्भुक्त थी। इस प्रकार आजकल पाश्चात्य विद्वान् भी वेदों का प्राचीनतम काल विक्रम पूर्व २०००–२५०० तक मानने लगे हैं, परंतु वेदों में उल्लिखित ज्योतिष सम्बंधी बातों की युक्तियुक्तता तथा उनके आधार पर निर्णीत काल-गणना में अब पाश्चात्य विद्वानों को भी विश्वास होने लगा है। अतः तिलकजी के पूर्वनिर्दिष्ट सिद्धांत को ही हम इस विषय में मान्य तथा प्रामाणिक मानते हैं। डा० अविनाशचंद्र दास ने वेदों में निर्दिष्ट अनेक 'भूगर्भ' शास्त्र सम्बंधी तथ्यों, विशेषतः आर्यावर्त के चारों ओर चतुः समुद्रों की स्थिति, के आधार पर वेदों का समय २५ हजार वर्ष पूर्व माना है। अत्यंत प्राचीनकाल के पोषक इस सिद्धांत पर विद्वानों की विशेष आस्था नहीं है।[1]

---

(६) पुराण

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

भारतीय साहित्य में पुराणों का विशेष महत्त्व है। भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को साधारण जनता में प्रचारित करने का श्रेय इन्हीं पुराणों को है। आज भी हिंदू धर्म के मूलाधार ये पुराण ही हैं। परंतु बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि आजकल पाश्चात्य शिक्षा में दीक्षित भारतीय विद्वानों की दृष्टि इन पुराणों के प्रति बड़ी उपेक्षापूर्ण है। वे ज्ञान के इन भंडार पुराणों को गप्प से अधिक महत्त्व नहीं देते। जब भारतीय विद्वानों की यह दशा है, तब पाश्चात्य विद्वानों का क्या पूछना? वे तो पुराणों को नितान्त कपोल-

---

१ द्रष्टव्य अविनाशचन्द्र दास—ऋग्वेदिक इंडिया, प्रथम भाग, कलकत्ता १९२१। डी० एन० मुखोपाध्याय—हिन्दू नक्षत्रज', कलकत्ता। बलदेव उपाध्याय—वैदिक साहित्य और संस्कृति, काशी, १९५६।

कल्पित ही समझते हैं। पुराणों में जो इतिहास वर्णित है, उसे वे पुरातन कथा (माइथोलाजी) मानते हैं तथा उन पर तनिक भी विश्वास नहीं करते। इन्हीं पश्चिमी विद्वानों के द्वारा फैलायी गई इस भ्रान्त धारणा के अनुसार पुराणों के प्रति लोगों की उपेक्षा की प्रवृत्ति चली आ रही थी। परन्तु हर्ष का विषय है कि अब भारतीय विद्वान् ही नहीं, पाश्चात्य मनीषी भी इसकी महत्ता समझने लगे हैं और भारतीय इतिहास के लिये इनको अमूल्य निधि मानने लगे हैं।

पुराण की कल्पना

'पुराण' शब्द का अर्थ 'पुराना आख्यान' है—'पुराणमाख्यानम्'। संस्कृत-साहित्य में 'पुराण' शब्द का अर्थ 'पुराना' है। सम्भवतः पुराणों की अत्यन्त प्राचीनता के कारण ही इनको यह नाम प्राप्त हुआ है। पुराणों में प्राचीन आख्यानों की ही विशेषता रही है। भारतीय साहित्य में पुराणों के साथ इतिहास का भी नाम आता है। इतिहास उन्हीं घटनाओं का वर्णन करता है, जो भूतकाल में हो गयी हैं; परन्तु पुराण का विषय इतिहास से अधिक व्यापक और विस्तृत है। इसी मौलिक पार्थक्य को लक्ष्य में रखकर इतिहास और पुराण का नामकरण अलग-अलग किया गया है।

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि हमारे शास्त्रों में पुराण की कैसी कल्पना की गयी है। मत्स्य, विष्णु तथा ब्रह्माण्ड आदि महापुराणों में पुराण का लक्षण बतलाते हुए लिखा है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

अर्थात् (१) सर्ग या सृष्टि, (२) प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय तथा पुनः सृष्टि, (३) सृष्टि की आदि की वंशावली, (४) मन्वन्तर अर्थात् किस-किस मनु का समय कब कब रहा और उस काल में कौन-सी महत्व की घटना हुई तथा (५) वंशानुचरित—सूर्य तथा चन्द्रवंशी राजाओं का वर्णन—यही पुराणों के पाँच विषय हैं। यही लक्षण साधारणतया पुराणों का है। परन्तु ध्यान से देखने पर पता चलता

है कि पुराणों में इतनी ही बातों का वर्णन नहीं है, प्रत्युत इनसे भी बहुत अधिक बातें हैं। उदाहरण के लिये अग्निपुराण को ले लीजिये, यदि इसे हम 'भारतीय ज्ञानकोष' कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी। कुछ ऐसे पुराण हैं, जिनमें इन पाँचों विषयों का यथावत् वर्णन नहीं मिलता। फिर भी पुराण की सामान्य कल्पना यही समझनी चाहिए। हम लोगों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हमारे पुराण ही सच्चे तथा आदर्श इतिहास हैं। किसी मानव समाज का इतिहास तभी पूर्ण समझा जायगा, जब उसकी कहानी सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमान काल तक क्रमबद्ध रूप से दी जाय। जब तक किसी देश की कथा सृष्टि के प्रारम्भ से न लिखी जाय, तबतक उसे अधूरा ही समझना चाहिये। इतिहास की इस वास्तविक कल्पना को पुराणों में हम पाते हैं। आधुनिक विद्वानों ने इतिहास-लेखन-शैली में इस प्रणाली की चिरकाल से उपेक्षा कर रखी थी; परन्तु हर्ष का विषय है कि इङ्गलैंड के सुप्रसिद्ध विचारशील विद्वान् एच० जी० वेल्स ने अपने इतिहास की रूपरेखा (आउटलाइन आफ हिस्ट्री) में इसी पौराणिक प्रणाली का अनुकरण किया है। उन्होंने अपने इस प्रसिद्ध इतिहास में मानव-समाज के इतिहास लिखने के पूर्व सृष्टि के प्रारम्भ से मनुष्य के विकास का इतिहास लिखा है। मनुष्य योनि को प्राप्त करने के पहले मानव को कौन-सा रूप धारण करना पड़ा था? तथा उसका क्रमिक विकास कैसे हुआ? इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन उन्होंने किया है। इस प्रकार यदि मनुष्य का इतिहास लिखना हो, तो सृष्टि के आरम्भ से ही उसके विकास की कथा लिखनी ठीक है। इतिहास लिखने का यही पौराणिक प्रकार आदर्श है।

पुराणों की दूसरी विशेषता उनकी 'वर्णन-शैली' है। कुछ लोग पुराणों में लिखी हुई किसी बात को लेकर उसे असम्भव मानकर कपोलकल्पित कहने का दुःसाहस कर बैठते हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हमारे शास्त्रों में वस्तु-कथन के तीन प्रकार बतलाये गये हैं—जिन्हें आलंकारिक भाषा में तथ्य-कथन, रूपक-कथन तथा अतिशयोक्ति—कथन कह सकते हैं। जो वस्तु जैसी हो, उसे ठीक वैसी ही कहना तथ्य-कथन है और यह कथन वैज्ञानिक लोगों के लिये उपयुक्त है। जहाँ रूपकालङ्कार का आश्रय

लेकर कुछ कहा जाय, उसे 'रूपक कथन' कहते हैं और यह कथन-प्रणाली वेदों में पायी जाती है, जहाँ सूर्य की किरणों को उनमें पाये जानेवाले सात रंगों के कारण घोड़ों का रूपक दिया गया है। पुराणों में वस्तु-वर्णन के लिए अतिशयोक्ति अलंकार का आश्रय सदा लिया गया है तथा जो कुछ बात कही गयी है, उसे बड़ा ही विस्तृत रूप दिया गया है; जैसे—इंद्र-वृत्र के युद्ध में वृत्र की राजा के रूप में विस्तृत कल्पना। इस प्रकार पुराणों में जहाँ कहीं कोई बात कही गयी है, वहाँ बड़े विस्तार से कही गयी है। अतः पौराणिक कथाओं के सम्बन्ध में इस कथन-प्रणाली पर ध्यान रख कर ही विचार करना चाहिये। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो पुराण शुद्ध तथा आदर्श इतिहास के रूप में ही हम लोगों को दिखायी पड़ेंगे।

पुराणों का काल

पुराणों के समय-निर्णय के लिए निम्नलिखित प्रमाणों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(१) शङ्कराचार्य तथा कुमारिलभट्ट ने अपने ग्रंथों में पुराणों से उद्धरण दिये हैं। बाणभट्ट (६२५ ई०) ने हर्षचरित में इस बात का उल्लेख किया है कि उन्होंने अपने जन्मस्थान में वायुपुराण के कथापारायण को सुना था। कादम्बरी में भी उन्होंने 'पुराणेषु वायुप्रलपितम्' कह कर वायु-पुराण के अस्तित्व की सूचना दी है।

(२) पुराणों में कलयुग के राजाओं का जो वर्णन किया गया है उसकी परीक्षा भी समयनिरूपण करने में विशेष सहायक है। विष्णु पुराण में मौर्य वंश का प्रामाणिक विवरण दिया गया है। मत्स्य पुराण दक्षिण के आन्ध्र राजाओं का (लगभग २२५ ई०) प्रामाणिक इतिवृत्त प्रस्तुत करता है। वायुपुराण गुप्त राजाओं के प्रारंभिक साम्राज्य से परिचित है। अतः पुराणों की रचना का काल गुप्तकाल के अनंतर कथमपि नहीं माना जा सकता।

(३) वर्तमान महाभारत और पुराणों का परस्पर सम्बन्ध एक विवेचनीय वस्तु है। महाभारत के यह वर्तमान रूप प्राप्त होने से भी पहले पुराणों का अस्तित्व था। महाभारत कथा के वक्ता उग्रश्रवा सूत लोमहर्षण

के पुत्र थे। वे पुराणों में पूर्ण रूप से निष्णात बतलाये गये हैं। लोमहर्षण भी पुराणों के विशेष ज्ञाता के रूप में प्रसिद्ध थे। हरिवंश में वायुपुराण के निर्देश ही नहीं मिलते, प्रत्युत वह वर्तमान वायुपुराण के साथ अनेक अंशों में पर्याप्त साम्य भी रखता है। बहुत से आख्यान तथा उपदेशात्मक श्लोक पुराणों तथा महाभारत में समान रूप में उपलब्ध होते हैं। डाक्टर लूडर्स ने इस बात को प्रमाणतः सिद्ध किया है ऋष्य शृंग का जो आख्यान पद्मपुराण में मिलता है वह महाभारत में उपलब्ध आख्यान की अपेक्षा प्राचीन है। इस परीक्षा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत के वर्तमान संस्करण होने से बहुत ही पहले पुराण वर्तमान थे। और जो पुराण इस समय उपलब्ध हो रहे हैं उनमें भी बहुत सी सामग्री महाभारत की अपेक्षा कहीं अधिक पुरानी है।

(४) कौटिल्य का अर्थशास्त्र पुराणों से अच्छी तरह परिचित है। कौटिल्य का कथन है कि उन्मार्ग पर चलने वाले राजकुमारों को पुराणों का उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाना चाहिए। इतना ही नहीं, कौटिल्य ने पौराणिक को राज के अधिकारियों में अन्यतम स्थान दिया है। अतः पुराणों को कौटिल्य से प्राचीन मानना उचित है। परन्तु कौटिल्य के विषय में भी विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। कुछ लोग अर्थशास्त्र को ईसा के तीसरी शताब्दी की रचना मानते हैं। परन्तु अधिकांश विद्वानों की सम्मति है कि अर्थशास्त्र में चन्द्रगुप्त मौर्य की ही शासन-पद्धति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अतः अर्थशास्त्र ईस्वी पूर्व तृतीय शतक की रचना है। अतः कहना पड़ेगा कि पुराणों की रचना ईस्वी—पूर्व तृतीय शतक से बहुत पहले ही हो चुकी थी।

(५) सूत्र-ग्रंथों के अवलोकन से पुराणों के अस्तित्व का कुछ परिचय मिलता है। उस समय पुराण ग्रन्थ रूप में निबद्ध हो चुके थे और उनका स्वरूप वही था जिस रूप में वे आजकल हमें उपलब्ध हो रहे हैं। गौतम तथा आपस्तम्ब के प्राचीनतम धर्म-सूत्रों में पुराणों का उल्लेख है। गौतम धर्मसूत्र (११।१९) में लिखा है कि राजा को अपनी शासन-व्यवस्था के लिए वेद, धर्मशास्त्र, वेदांग और पुराण को प्रमाण बनाना चाहिए। वेद समकक्ष

रखे जाने के कारण यहाँ पुराण से आख्यानविशेष का अर्थ निकाला जा सकता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में उपलब्ध निर्देश इससे कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण हैं। उसमें दो पद्य पुराण से उद्धृत किए गये हैं और तीसरा उद्धरण भविष्यत् पुराण से है। ये तीनों उद्धरण वर्तमान पुराणों में नहीं मिलते। परन्तु इन्हीं के समानार्थक श्लोक पुराणों में मिलते हैं। बहुत सम्भव है कि उस समय विरचित पुराणों का पुनः संस्करण पीछे किया गया हो। जो कुछ हो, सूत्रकाल में पुराणों की ग्रंथरूप में सत्ता निःसंदिग्ध सत्य है।

(६) उपनिषद् काल में भी पुराणों का उल्लेख हमें मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार और नारद के प्रसंग में तत्कालीन प्रचलित अनेक शास्त्रों का निर्देश उपलब्ध होता है। उसमें वेदों के अनन्तर पुराणों का भी उल्लेख किया गया है।[1]

(७) इससे भी महत्त्वपूर्ण उल्लेख स्वयं अथर्व संहिता का है[2]। अथर्व के एक मन्त्र के अनुसार उच्छिष्ट नाम से अभिहित परमपुरुष से चारों वेदों के अनन्तर पुराण की उत्पत्ति का निर्देश किया गया है। प्रसंग से प्रतीत होता है कि यहाँ पुराण शब्द से केवल पुराने आख्यान का अर्थ नहीं है, प्रत्युत ग्रन्थ–विशेष से है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पुराण का अस्तित्व वैदिक काल में भी था। ईस्वी से छः सौ वर्ष पूर्व वर्तमान काल में उपलब्ध होने वाले पुराणों के समान ही पुराण ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था। मूल पुराण उपलब्ध नहीं होता। पुराण किसी एक शताब्दी की रचना नहीं है। समय-समय पर उनमें नये-नये अध्याय जोड़े गये थे। गुप्तकाल तक वे अपने वर्तमान रूप को प्राप्त कर चुके थे।

---

१ ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्—छान्दोग्य ७।१।२

२ ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥—अथर्व ११।७।२४

महापुराण

पुराणों की संख्या के विषय में मतभेद नहीं है। उनकी संख्या अठारह है[1]। यथा, मकारादि दो पुराण (१) मत्स्य और (२) मार्कण्डेय, भकारादि दो (३) भविष्य और (४) भागवत। ब्रयुक्त तीन पुराण (५) ब्रह्माण्ड, (६) ब्रह्मवैवर्त, तथा (७) ब्राह्म। वकारादि चार, (८) वामन, (९) वराह, (१०) विष्णु, (११) वायु (शिव)। (१२) अग्नि, (१३) नारद, (१४) पद्म, (१५) लिंग, (१६) गरुड़, (१७) कूर्म तथा (१८) स्कंद। इन पुराणों में भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना तथा महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। 'पद्मपुराण' में इन पुराणों को सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के अनुसार विभक्त किया है। विष्णु-विषयक पुराण सात्विक माने गये हैं। ब्रह्मा-विषयक राजस तथा शिव-विषयक तामस। इन महापुराणों के अतिरिक्त अठारह उपपुराण भी मिलते हैं जिनके नाम गरुण पुराण के आधार पर ये हैं—(१) सनत्कुमार, (२) नारसिंह, (३) स्कान्द, (४) शिव धर्म, (५) आश्चर्य, (६) नारदीय, (७) कापिल, (८) वामन, (९) औशनस, (१०) ब्रह्माण्ड, (११) वारुण, (१२) कालिका, (१३) माहेश्वर, (१४) साम्ब (१५) सौर (१६) पाराशर (१७) मारीच (१८) भार्गव। इन नामों के विषय में पर्याप्त मतभेद है। देवी—भागवत के अनुसार उपर्युक्त स्कान्द, वामन, ब्रह्माण्ड, मारीच और भार्गव के स्थान पर क्रमशः शिव, मानव, आदित्य, भागवत और वासिष्ठ नाम मिलते हैं। कौन महापुराण है और कौन उपपुराण? इस विषय में भी पर्याप्त मतभेद है।

---

१ ये अठारह पुराण इस श्लोक में संकेतित हैं—

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।

अनापल्-लिंग-कूस्कानि पुराणानि प्रचक्षते।

महत्त्व

पुराणों का महत्व अनेक दृष्टियों से विशेष है। धार्मिक दृष्टि से पुराण वेदविहित धर्म का सरल सुबोध भाषा में वर्णन करता है। जब वेदों की भाषा सर्वसाधारण के समझने लायक न रह गई तब उनके तत्वों को जनता तक पहुँचाने के लिये पुराण बनाये गये। पुराणों का सामाजिक महत्व भी कम नहीं है। उस समय के भारतीय समाज का स्वरूप हमें पुराण के पृष्ठों में ही उपलब्ध होता है। पुराणों में प्राचीन इतिहास प्रामाणिक रूप से भरा हुआ है, ऐसी धारणा तो अब अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वानों की भी होने लगी है। पुराण में दिये गये इतिहास की पुष्टि शिलालेखों से, मुद्राओं से और विदेशियों के यात्रा विवरणों से, पर्याप्त मात्रा में होने लगी है। अतः विद्वान् ऐतिहासिकों का कथन है कि यह पूरी सामग्री प्रामाणिक तथा उपादेय है। प्राचीन राजाओं के समान यदि हमें प्राचीन ऋषियों के जीवन वृत्त का परिचय प्राप्त करना हो तो पुराणों ही की शरण में जाना पड़ेगा। पुराणों का भौगोलिक मूल्य भी कम नहीं है। पुराणों में समग्र भारतीय तीर्थों का बड़ा विस्तृत विवेचन है जिससे हम इन स्थानों के विस्तृत भूगोल का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। काशीखण्ड स्कन्द पुराण का एक खण्ड है। इसमें काशी के स्थानों का और शिवलिंगों का बड़ा विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है जिसकी सहायता से हम प्राचीन काशी के प्रसिद्ध भागों का ज्ञान भली-भाँति प्राप्त कर सकते हैं। पुराणों की अतिशयोक्तिपूर्ण शैली के कारण ही सर्वसाधारण में पुराणों के प्रति अनास्था का भाव बना हुआ है। परन्तु पुराणों के तुलनात्मक अध्ययन से तथा उनके अन्तस्तल में प्रवेश करने पर उनके सच्चे इतिहास तथा सामाजिक वृत्त का परिचय प्रत्येक विद्वान् पुरुष को लग सकता है।

तृतीय परिच्छेद

उपजीव्य काव्य

वैदिक साहित्य के अनन्तर लौकिक संस्कृत में निबद्ध साहित्य का उदय होता है। लौकिक संस्कृत में लिखा गया साहित्य विषय, भाषा, भाव आदि की दृष्टि में अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। वैदिक भाषा में जो साहित्य निबद्ध हुआ है उस साहित्य से इनकी तुलना करने पर अनेक नवीन बातें आलोचकों के सामने आती हैं। यह साहित्य वैदिक साहित्य से आकृति, भाषा, विषय तथा अन्तस्तत्त्व की दृष्टि में नितांत पार्थक्य रखता है।

१

वैदिक और लौकिक साहित्य का अन्तर

(क) विषय—वैदिक साहित्य मुख्यतया धर्मप्रधान साहित्य है। देवताओं को लक्ष्य कर यज्ञ-याग का विधान तथा उनकी कमनीय स्तुतियाँ इस साहित्य की विशेषताएँ हैं। परंतु लौकिक संस्कृतसाहित्य, जिसका प्रसार प्रत्येक दिशा में दीख पड़ता है, मुख्यतया लोकवृत्त-प्रधान है। पुरुषार्थ के चारो अंगों में अर्थ-काम की ओर इसकी प्रवृत्ति विशेष दीख पड़ती है। उपनिषदों के प्रभाव से इस साहित्य के भीतर नैतिक भावना का महान् साम्राज्य है। धर्म का वर्णन भी है परंतु यह धर्म वैदिक धर्म पर अवलम्बित होने पर भी कई बातों में कुछ नूतन भी है। ऋग्वेदकाल में जिन देवताओं की प्रमुखता थी अब वे गौणरूप में ही वर्णित पाये जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उपासना पर ही अधिक महत्त्व इस युग में दिया गया। नये देवताओं की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार प्रतिपाद्य विषय का अंतर इस साहित्य में स्पष्ट दीख पड़ता है।

(ख) आकृति—लौकिक साहित्य जिस रूप में हमारे सामने आता है वह वैदिक साहित्य के रूप से अनेक अंशों में भिन्नता रखता है। वैदिक साहित्य में गद्य की गरिमा स्वीकृत की गई है। तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता से ही वैदिक गद्य आरम्भ होता है। ब्राह्मणों में गद्य ही का साम्राज्य है। प्राचीन उपनिषदों में भी उदात्त गद्य का प्रयोग मिलता है। परन्तु लौकिक साहित्य के उदय होते ही गद्य का ह्रास आरम्भ हो जाता है। वैदिक गद्य में जो प्रसार, जो प्रसाद तथा जो सौन्दर्य दीख पड़ता है वह लौकिक संस्कृत के गद्य में दिखलाई नहीं पड़ता। अब तो गद्य का क्षेत्र केवल व्याकरण और दर्शन शास्त्र ही रह जाता है। परन्तु वह गद्य दुरुह, प्रसादविहीन तथा दुर्बोध ही है। पद्य की प्रभुता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि ज्योतिष और वैद्यक जैसे वैज्ञानिक विषयों का भी वर्णन छन्दोमयी वाणी में ही किया गया है। साहित्यिक गद्य केवल कथानक तथा गद्यकाव्यों में ही दीख पड़ता है। परन्तु क्षेत्र के सीमित होने के कारण यह गद्य वैदिक गद्य की अपेक्षा कई बातों में हीन तथा न्यून प्रतीत होता है। पद्य की रचना जिन छन्दों में की गई है, वे छन्द भी वैदिक छन्दों से भिन्न ही हैं। पुराणों में तथा रामायण महाभारत में विशुद्ध 'श्लोक' का ही विशाल सम्राज्य विराजमान है। परन्तु पिछले कवियों ने साहित्य में नाना प्रकार के छोटे बड़े छन्दों का प्रयोग विषय के अनुसार किया है। वेद में जहाँ गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती का प्रचलन है वहाँ उक्त संस्कृत में उपजाति, वंशस्थ और वसन्ततिलका विराजती है। लौकिक छन्द वैदिक छन्दों से ही निकले हुए हैं, परन्तु इनमें लघुगुरु के विन्यास को विशेष महत्त्व दिया गया है।

(ग) भाषा—भाषा की दृष्टि से भी यह साहित्य पूर्वयुग में लिखे गये साहित्य की अपेक्षा भिन्न है। इस युग की भाषा के नियामक तथा शोधक महर्षि पाणिनि हैं जिनकी अष्टाध्यायी ने लौकिक संस्कृत का विशुद्ध रूप प्रस्तुत किया। इस युग के आदिम काल में पाणिनि के नियमों की मान्यता उतनी आवश्यक नहीं थी। इसीलिये रामायण, महाभारत तथा पुराणों में बहुत से 'आर्ष' प्रयोग मिलते हैं जो पाणिनि के नियमों से ठीक नहीं उतरते।

पिछली शताब्दियों में तो पाणिनि तथा उसके अनुयायियों की प्रभुता इतनी जम जाती है कि 'अपाणिनीय' प्रयोग के आते ही भाषा अत्यधिक खटकने लगती है। 'च्युत-संस्कारता' के नित्यदोष माने जाने का यही तात्पर्य है। आशय यह है कि वैदिक काल में संस्कृत भाषा व्याकरण के नपे तुले नियमों से जकड़ी हुई नहीं थी, परन्तु इस युग में व्याकरण के नियमों से बँधकर वह विशेष रूप से संयत कर दी गई है।

(घ) **अन्तस्तत्त्व**—वैदिक साहित्य में रूपक की प्रधानता है। प्रतीक रूप से अनेक अमूर्त्त भावनाओं की मूर्त्त कल्पना प्रस्तुत की गई है। परन्तु लौकिक साहित्य में अतिशयोक्ति की ओर अधिक अभिरुचि दीख पड़ती है। पुराणों के वर्णन में जो अतिशयोक्ति दीख पड़ती है वह पौराणिक शैली की विशेषता है। वैदिक तथा पौराणिक तत्त्वों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है, भेद शैली का ही है। वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध इन्द्र-वृत्र युद्ध अकाल दानव के ऊपर वर्षा-विजय का प्रतिनिधि है। पुराणों में भी उसका यही अर्थ है परन्तु शैली-भेद होने से दोनों में पार्थक्य दीख पड़ता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस युग से वैदिक युग से विकसित होकर अत्यन्त आदरणीय माना जाने लगा। ऐसी अनेक कहानियाँ मिलेंगी जिसका नायक कभी तो पशुयोनि में जन्म लेता है और वही कभी पुण्य के अधिक संचय होने के कारण देवलोक में जा विराजने लगता है। साहित्य मानव समाज का प्रतिबिम्ब हुआ करता है। इस समय का परिचय लौकिक संस्कृत साहित्य के अध्ययन से भली भाँति मिलता है। मानवजीवन से सम्बद्ध तथा उसे सुखद बनानेवाला शायद ही कोई विषय होगा जो इस साहित्य से अछूता बच गया है। पूर्वकाल में जहाँ पर नैसर्गिकता का बोलबाला था, वहाँ अब अलंकृति की अभिरुचि विशेष बढ़ने लगी। अलंकारों की प्रधानता का यही कारण है।

२

इतिहास की कल्पना

लोगों में एक धारणा-सी फैली हुई है कि भारतवर्ष के साहित्य में ऐतिहासिक ग्रन्थों का अस्तित्व नहीं है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है

कि भारतीय लोग ऐतिहासिक भावना से परिचित ही न थे। परन्तु ये धारणायें नितान्त निराधार हैं। भारतीय साहित्य में पुराणों के साथ इतिहास वेद के समकक्ष माना जाता है। ऋक्-संहिता में ही इतिहास से युक्त मन्त्र हैं[1]। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार से ब्रह्मविद्या सीखने के समय अपनी अधीत विद्याओं में नारद मुनि ने 'इतिहास-पुराण' को पञ्चम वेद बतलाया है[2]। यास्क ने निरुक्त में ऋचाओं के विशदीकरण के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ तथा प्राचीन आचार्यों की कथाओं को 'इतिहास-माचक्षते' ऐसा कहकर उद्धृत किया है। वेदार्थ के निरूपण करनेवाले विभिन्न सम्प्रदायों में ऐतिहासिकों का भी एक अलग सम्प्रदाय था इसका स्पष्ट परिचय निरुक्त से चलता है—'इति ऐतिहासिकः'। इतना ही नहीं, वेद के यथार्थ अर्थ समझने के लिए इतिहास-पुराण का अध्ययन आवश्यक बतलाया गया है। व्यास का स्पष्ट कथन है कि वेद का उपबृंहण इतिहास और पुराण के द्वारा होना चाहिये, क्योंकि इतिहास-पुराण से अनभिज्ञ लोगों से वेद सदा भयभीत रहता है[3]। राजशेखर ने उपवेदों में इतिहास-वेद को अन्यतम माना है। कौटिल्य ने ही सबसे पहले 'इतिहास-वेद' की गणना अथर्ववेद के साथ की है तथा इसके अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का अन्तर्भाव माना है[4]। इतने पुष्ट प्रमाणों के रहते हुए भारतीयों को इतिहास की कल्पना से ही शून्य मानना नितान्त अनुचित है।

---

१ त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्—मिश्रं गाथामिश्रं भवति—निरुक्त ४।६।

२ ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणम् इतिहास-पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्—छान्दोग्य ७–१।

३ इतिहास-पुराणभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥—महाभारत

४ अथर्ववेद इतिहासवेदौ च वेदाः। पश्चिमं (अहर्भागं) इतिहासश्रवणे पुराणमितिवृत्तमाख्यायिको दाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः।
—अर्थशास्त्र।

हमारे प्राचीन साहित्य में इतिहास-विषयक ग्रन्थ थे जो धीरे-धीरे उपलब्ध हो रहे हैं। परन्तु पाश्चात्य इतिहास-कल्पना और हमारी इतिहास-कल्पना में एक अन्तर है जिसे समझ लेना आवश्यक है। पाश्चात्य इतिहास घटना-प्रधान है अर्थात् उसमें युद्ध आदि की घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करना ही मुख्य उद्देश्य रहता है। परन्तु भारतीय कल्पना के अनुसार घटना-वैचित्र्य विशेष महत्त्व नहीं रखता। हमारे जीवन-सुधार से उनका जहाँ तक लगाव है वहीं तक हम उन्हें उपादेय समझते आये हैं।

भारतीय साहित्य में इतिहास शब्द से प्रधानतया महाभारत का ही ग्रहण होता है और यह ग्रहण करना सर्वथा उचित है। महाभारत कौरवों और पाण्डवों के युगान्तरकारी युद्ध का ही सच्चा इतिहास नहीं है प्रत्युत उसे हमारी संस्कृति, समाज, राजनीति तथा धर्म के प्रतिपादक इतिहास होने का भी गौरव प्राप्त है। यहाँ इतिहास के अन्तर्गत हम वाल्मीकीय रामायण को भी रखना उचित समझते हैं। प्रचलित परिपाटी के अनुसार इसे 'आदि 'महाकाव्य' मानना ही न्याय संगत होगा परन्तु धार्मिक दृष्टि से उसका गौरव महाभारत से घटकर नहीं है। रामायण के द्वारा चित्रित भारतीय सभ्यता महाभारत से भी प्राचीन है। रामायण मर्यादा पुरुषोत्तम महाराज रामचन्द्र के जीवन चरित्र को चित्रित करने वाला अनुपम ग्रन्थ है। रामराज्य की कल्पना जो भारतीय राजनीति में आदर्श मानी जाती है महर्षि वाल्मीकि की ही देन है। यह जानना आवश्यक है कि रामायण और महाभारत की घटनायें ऐतिहासिक हैं। ये दोनों महत्वपूर्ण युद्ध इसी भारतवर्ष की सीमा के भीतर लड़े गये थे। उन्हें अन्तर्जगत् के धर्म और अधर्म के द्वन्द्व-युद्ध का प्रतीकमात्र मान लेना नितान्त अनुचित है। वैदिक साहित्य में हम जिस धर्म का सिद्धान्त रूप में दर्शन करते हैं उसी का व्यावहारिक रूप हमें इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। सच्ची बात तो यह है कि रामायण और महाभारत जीवित भारतीय संस्कृति के प्रकाशस्तम्भ हैं जिनके प्रकाश से हम अपने वैदिक धर्म के अनेक अन्धकार से आवृत तथ्यों के साक्षात् करने में समर्थ होते हैं। ये दोनों इतिहास ग्रन्थ हैं। परन्तु उस अर्थ में ये इतिहास ग्रंथ नहीं हैं जिस अर्थ में समझा जाता है। इतिहास शब्द यहाँ

अत्यंत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इतिहास का शब्दार्थ ही है=इति+ह+आस—जो इस तरह से था। इस प्रकार से हमारे प्राचीन धर्म तथा हमारी सभ्यता में जो कुछ था, उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन हमें इन दोनों ग्रंथों में उपलब्ध होता है। इतिहास के द्वारा वेद के अर्थ का उपबृंहण होता है, इसका भी यही रहस्य है। वेद का अर्थ तो स्वयं सूक्ष्म ठहरा, जिसे सूक्ष्म मतिवाले लोग ही भली भाँति समझ सकते हैं। परंतु इन इतिहास तथा पुराण ग्रन्थों में हम उसी सूक्ष्म अर्थ का प्रतिपादन जनसाधारण के लिए बोधगम्य, सरस तथा सरल भाषा में पाते हैं। इतिहास और पुराणों में जो सिद्धांत प्रतिपादित हैं वे सिद्धांत वेद के ही हैं; इसमें तनिक भी संदेह नहीं। परंतु हमारे समझने योग्य भाषा में लिखे जाने के कारण ये हमारे हृदय को अधिक स्पर्श करते हैं। इस तरह वैदिक सिद्धांतों के बहुल प्रचारक होने के कारण ही धार्मिक दृष्टि से इन ग्रंथों का महत्त्व है। व्यास ने इतिहास की महत्ता बतलाते हुए इसी बात की ओर संकेत किया है :—

इतिहास पुराणाभ्यां, वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मायं प्रहरिष्यति॥

इतिहास के जिस व्यापक अर्थ का हमने अभी निर्देश किया है उसका समर्थन राजशेखर की काव्यमीमांसा से भी होता है। राजशेखर का कहना है कि इतिहास दो प्रकार का है (१) **परिक्रिया** (२) **पुराकल्प**। 'परिक्रिया' से अभिप्राय उस इतिहास से जिसका नायक एक ही व्यक्ति होता है जैसे रामायण। 'पुराकल्प' अनेक नायक वाले इतिहास-ग्रंथ का सूचक है जैसे महाभारत। राजशेखर के अनुसार भी ये दोनों ग्रंथ-रत्न 'इतिहास' के ही अंतर्गत ठहरते हैं। राजशेखर का कथन है—

परिक्रिया पुराकल्पः इतिहास-गतिर्द्विधा।
स्यादेक-नायका पूर्वा, द्वितीया बहुनायका॥

भारतीय काव्य-साहित्य के आधार तथा उपजीव्य हैं ये ही इतिहास-पुराण। अतः उसके प्रकृत वर्णन प्रस्तुत करने से पहिले इन आधार-ग्रंथों का अनुशीलन यहाँ नितांत आवश्यक है।

३

उपजीव्य काव्य

प्रत्येक साहित्य में प्रतिभाशाली कवियों की लेखनी से प्रसूत कतिपय ऐसे मर्मस्पर्शी काव्य हुआ करते हैं जिनसे स्फूर्ति तथा प्रेरणा लेकर अवांतर कालीन कविगण अपने काव्यों को सजाया करते हैं। ऐसे काव्यों को हम व्यापक प्रभाव सम्पन्न होने के हेतु 'उपजीव्य काव्य' के नाम से पुकार सकते हैं। संस्कृत साहित्य में भी ऐसे उपजीव्य काव्य विद्यमान हैं जिनसे संस्कृत भाषा तथा अर्वाचीन प्रांतीय भाषाओं के कवियों ने अपने विषय के निर्देश के लिए तथा काव्यशैली के विमल विधान के निमित्त सन्तत उत्साह तथा अश्रान्त स्फूर्ति ग्रहण की है तथा आज भी वे कर रहे हैं। ऐसे उपजीव्य काव्य संख्या में तीन हैं—(१) रामायण, (२) महाभारत तथा (३) श्रीमद्‌भागवत। इन तीनों का अवांतर काव्य-साहित्य के ऊपर बड़ा ही विशाल, मार्मिक तथा आभ्यंतर प्रभाव पड़ा है।

आदि कवि की वाणी पुण्यसलिला भागीरथी है जिसमें अवगाहन कर पाठक तथा कवि अपने आपको पवित्र ही नहीं जानते, प्रत्युत् रसमयी काव्य-शैली के हृदयावर्जक स्वरूप के समझने में भी कृतकार्य होते हैं। काव्य तथा नाटकों को विषय-निर्देश देने में रामायण एक अक्षुण्ण स्रोत है। महाभारत तो वस्तुतः व्यासवाणी का विमल प्रसाद है। वह सचमुच विचाररत्नों का एक अगाध महार्णव है जिसमें गोते लगानेवाला कवि आज भी अपने काव्य को चमत्कृत तथा अलंकृत बनाने के लिए नवीन जगमगाते हीरों को खोज निकालता है। व्यास जी की वह उक्ति अतिशयोक्ति का साधन नहीं है जिसमें उन्होंने डंके की चोट इस ग्रंथ-रत्न की भव्यता का निर्देश करते हुए कहा है कि जो कुछ इस महाभारत में है वह दूसरे स्थलों पर है, परन्तु जो इसके भीतर नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

भागवत की महिमा

रामायण तथा महाभारत—ये दोनों काव्य-रत्न तो हमारे कविजनों के लिए उपजीव्य माने ही जाते हैं, परन्तु एक तीसरा भी ऐसा ही उपादेय विस्तृत प्रभावशाली ग्रंथ है जिसकी ओर काव्य के आलोचकों की दृष्टि नहीं गई है। वह ग्रंथ है पुराणों का मुकुटमणि श्रीमद्भागवत। भारतीय धर्म के विकास में भागवत का व्यापक प्रभाव किसी भी विज्ञ आलोचक से छिपा नहीं है, परंतु भारतीय काव्य के कोमल विलास तथा प्रचुर प्रसार में भी भागवत का नितांत महनीय प्रभाव आलोचकों की दृष्टि से ओझल नहीं हो सकता। यह तो निर्विवाद है कि भारतीय साहित्य में जो मधुरिमा, सरसता तथा हृदयावर्जकता है वह वैष्णव धर्म की देन है। 'रसो वै सः' के प्रत्यक्ष निदर्शनभूत रसिकशिरोमणि श्यामसुन्दर की ललित लीला तथा लावण्यमय विग्रह की भव्य झाँकी प्रस्तुत करनेवाला यह भागवत पुराण भारतीय साहित्य के गीति काव्यों तथा प्रगीत मुक्तकों का अक्षय स्रोत है जिसकी माधुर्य-भावना को ग्रहण कर कृष्ण-भक्त कवियों ने अपने काव्यों में लालित्य का, सरसता का तथा हृदयानुरञ्जकता का पुट देकर उन्हें शोभन तथा हृदयावर्जक बनाया है। संस्कृत कृष्ण-कवियों की मधुर सूक्तियों में भागवत की मधुरिमा झलकती है। जयदेव की कोमलकांत-पदावली का विन्यास भागवत की सरसता से ओतप्रोत है। मध्ययुगीन वैष्णव पदकारों के पदों में लालित्य का तथा रस-निर्भरता का विधान श्रीमद्भागवत के गाढ़ अनुशीलन का परिणत फल है। वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी हिंदी तथा गुजराती कवियों में भागवत का उतना ही रस-निस्यन्द है जितना गौडीय वैष्णवों की बँगला कविता में। ऐसे महनीय काव्य-ग्रंथ को उपजीव्य काव्य की श्रेणी में अंतर्भुक्त मानना नितांत उपयुक्त है।

रूप-भेद

इन ग्रंथों में उपजीव्यता तथा काव्य की दृष्टि से समानता होने पर भी स्वरूपगत तथा कालगत विषमता स्पष्ट है। रामायण महाकाव्य है; महभारत इतिहास है तथा श्रीमद्भागवत पुराण है। वाल्मीकि ने मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्र के आदर्श चरित्र का अंकन रसात्मिका शैली के द्वारा

किया है जिसमें केवल कर्णों को सुख लेनेवाले वर्णों का विन्यास न होकर सहृदयों के हृदयों को मुग्ध करनेवाले शब्दों का विलास ही अधिक है। महाभारत शान्तरस-प्रधान सुहृद्सम्मित काव्य है जिसमें व्यासदेव ने भारतीय संस्कृति के ग्राह्य आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक रूप का अंकन पांडव कौरव के संघर्ष के व्याज से किया है। इसी से यह मानवों के लिए सदाचार की सौम्य शिक्षा का एक विराट कोश है। श्रीमद्भागवत चरित-प्रधान होने से पुराण है जिसमें मानवों के कल्याण के निमित्त धराधाम पर अवतीर्ण होनेवाले भगवान् के नाना चरितों, अवतारों तथा तत्सम्बद्ध कथाओं का मुख्यतया विवरण विन्यस्त है। इस स्वरूपगत विभेद के अतिरिक्त एक और भी भेद दृष्टिगोचर होता है। वाल्मीकीय रामायण रामचंद्र के कार्यों का ही मुख्यतया प्रतिपादक होने से कर्मप्रधान है। महाभारत आचार, नीति तथा लोकव्यवहार का विशाल भांडार होने के कारण तथा श्रीमद्भगवतगीता जैसे अध्यात्म-प्रधान ग्रंथ के समावेश के हेतु स्फुटतया ज्ञान-प्रधान है। भागवत लोक में न्याय-अन्याय, राग-द्वेष मैत्री-कलह के समस्त जागरूक संघर्ष को मिटाने तथा सरस सामञ्जस्य को स्थापित करने वाले भगवान् की मधुर लीलाओं का आयत आगार होने के कारण नितांत भक्ति-प्रधान है। इस प्रकार रामायण, महाभारत तथा भागवत कर्मकालिन्दी, ज्ञान-सरस्वती तथा भक्ति-गंगा की भव्य त्रिवेणी है जिसका अवगाहन काव्य के साधकों को कर्म, ज्ञान तथा भक्ति की भावना को दृढ़ तथा शुद्ध बनाने के लिए नितांत आवश्यक है।

कालगत भेद

तीनों में कालगत भेद भी स्पष्ट है। कतिपय पश्चिमी आलोचक महाभारत के कथानक में अव्यवस्थित आदिकालीन समाज-व्यवस्था का निर्देश पाने के कारण उसे रामायण से प्राचीनतर मानने की भ्रांत धारणा बनाये हुए हैं, परंतु दोनों की रूपगत, अन्तरंग परीक्षा के अनंतर रामायण की प्राचीनता स्वतः प्रमाणसिद्ध हो जाती है। वाल्मीकीय रामायण में महाभारत के न तो पात्रों का ही कहीं उल्लेख है और न उसकी घटनाओं का ही,

अन्यस्थ पद्यों के उद्धरण तथा संकेत पाने की तो बात ही असंगत है। परन्तु महाभारत के वनपर्व में पूरा रामचरित 'रामोपाख्यान' के नाम से अनेक अध्यायों में केवल वर्णित नहीं है, प्रत्युत वाल्मीकि के स्पष्ट निर्देश के साथ रामायण के कतिपय श्लोक भी निर्दिष्ट किये गये हैं। इसका निष्कर्ष यही है कि महाभारत रामकथा से ही परिचित नहीं है, बल्कि वह वाल्मीकि के वर्तमान रामायण से भी पूर्णतया अभिज्ञ है। फलतः रामायण का महाभारत की अपेक्षा प्राचीनतर होना नितान्त सिद्ध है। भागवत की रचना महाभारत से अर्वाचीन है। भागवत के प्रथम स्कन्ध पञ्चम अध्याय में उसके निर्माण का बीज निर्दिष्ट किया गया है। आचार-व्यवहार के इतने विशाल कोशभूत महाभारत की रचना करने पर भी व्यासदेव की आन्तरिक शान्ति जब नहीं मिली तब महर्षि नारद जी के उपदेश से उन्होंने भक्तिप्रधान भागवत का निर्माण किया (भाग० १।७।८)। महाभारत में वीररस-प्रधान होने से चित्त में उद्वेग तथा क्षोभ उत्पन्न करने वाले भीषण कूट संग्रामों की ही चर्चा अधिक है, भगवान् के सरस, हृदयरंजक चरित्र का वर्णन नहीं के बराबर है। इसी त्रुटि को दूर करने के लिए भगवान् की मधुर चरितावली से सम्पन्न भागवत को लिखकर महर्षि व्यासदेव ने हृदय की दुर्लभ शान्ति तथा सान्त्वना प्राप्त की। अतः भागवत का महाभारत से अर्वाचीन होना अन्तरंग परीक्षण से स्वयं-सिद्ध है।

४

रामायण

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा॥

—त्रिविक्रमभट्ट

संस्कृत साहित्य में महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण 'आदि काव्य' समझा जाता है तथा वाल्मीकि 'आदिकवि' माने जाते हैं। कथा प्रसिद्ध है कि जब व्याध के बाण से बिंधे हुए क्रौञ्च के लिए विलाप करनेवाली क्रौञ्ची का

करुण शब्द ऋषि ने सुना, तो उनके मुँह से अकस्मात यह श्लोक निकल पड़ा जिसका आशय यह है कि हे निषाद ! तुमने काम से मोहित इस क्रौञ्च पक्षी को मारा है। अतः तुम सदा के लिये प्रतिष्ठा प्राप्त न करो।[1] महर्षि की कल्याणमयी वाणी सुनकर स्वयं ब्रह्मा उपस्थित हुए और उन्होंने रामचरित लिखने के लिये उनसे कहा। रामायण की रचना इसी प्रेरणा का फल है। वाल्मीकि अनुष्टुप् छन्द के आविष्कारक माने जाते हैं। उपनिषदों में भी अनुष्टुप् छन्द है, परन्तु लौकिक संस्कृत में व्यवहृत होने वाले सम अक्षर से युक्त अनुष्टुप् का प्रथम प्रयोग वाल्मीकि ने किया जिसमें लघुगुरु का निवेश नियमबद्ध था।

बहुत से विद्वान् लोग उत्तरकाण्ड को तथा बालकाण्ड के कतिपय अंश को एकदम प्रक्षिप्त बतलाते हैं। उनका कहना है कि बालकाण्ड के प्रथम और तृतीय सर्ग में जो विषय-सूची दी गई है उसमें उत्तरकाण्ड का निर्देश नहीं है। जर्मन विद्वान् याकोबी मूल रामायण में अयोध्या काण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक पाँच ही काण्ड मानते हैं। लङ्काकाण्ड के अन्त में ग्रन्थ के अन्त होने की सूचना सी प्रतीत होती है, इसलिये उत्तरकाण्ड को पीछे से जोड़ा गया माना जाता है। इस काण्ड में कुछ ऐसे आख्यानों की चर्चा है जिनका संकेत पहले के काण्डों में नहीं मिलता है। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि वह बहुत पीछे जोड़ा गया है। बौद्धों में एक प्रसिद्ध जातक है—'दशरथ जातक' जिसमें रामायण का वर्णन संक्षेप रूप में उपलब्ध होता है। इसमें पालि भाषा में रूपान्तरित उत्तरकाण्ड का एक श्लोक हूबहू मिलता है। इस जातक का समय विक्रमपूर्व तृतीय शतक माना जाता है। अतः मानना पड़ेगा कि उत्तर काण्ड की रचना उक्त शतक से पहले की है।

इस आदिकाव्य को 'चतुर्विंशति साहस्री संहिता' कहते हैं अर्थात् इसमें २४ हजार श्लोक हैं—ठीक उतने ही हजार जितने 'गायत्री' के अक्षर हैं। प्रत्येक हजार श्लोक का पहला अक्षर गायत्री मंत्र के ही अक्षर से क्रमशः

---

१ मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥ —बाल २।१५

आरम्भ होता है, यह विद्वानों का कहना है। अनुष्टुप् श्लोकों के अतिरिक्त अन्य छंदों में भी पद्य मिलते हैं। विद्वान् लोग इस ग्रंथ में स्थान-स्थान पर क्षेपक भी मानते हैं, परंतु काव्य में एकता का कहीं भी अभाव नहीं दीख पड़ता। ग्रन्थ में पाठभेद भी कम नहीं हैं। उत्तरी भारत, बङ्गाल तथा काश्मीर में रामायण के जो संस्करण उपलब्ध होते हैं उनमें पाठभेद बहुत ही अधिक हैं। उनमें एक दूसरे से श्लोकों का ही अंतर नहीं है, प्रत्युत कहीं-कहीं तो सर्ग के सर्ग भिन्न दिखाई पड़ते हैं। रामायण के अनेक संस्करण उपलब्ध होते हैं—(१) देवनागरी संस्करण[1]। उत्तरी भारत में इसी संस्करण का विशेष प्रचलन है। (२) बङ्गाल संस्करण (कलकत्ते से प्रकाशित) इस पर लोकनाथ की प्रसिद्ध टीका है। इस संस्करण का प्रकाशन डाक्टर गोरेशियो ने अनेक उपयोगी टिप्पणियों के साथ किया है[2]। (३) काश्मीर संस्करण जिसका प्रचलन उत्तर पश्चिमीय भारत में विशेष रूप से था[3]। (४) दक्षिण भारत संस्करण[4]। इसमें और देवनागरी संस्करण में विशेष भेद नहीं है। आरम्भ के तीनों संस्करणों में पर्याप्त भिन्नता है। वाल्मीकि का मूल रामायण कौन सा था? इसका निर्णय करना नितांत कठिन है। कुछ विद्वान बङ्गाल संस्करण को अधिक पुराना तथा विशुद्ध मानते हैं, तो कुछ देवनागरी संस्करणों को। इस विषय के लिए इन संस्करणों का विशेष मन्मथ तथा अनुशीलन अपेक्षित है।

---

१ निर्णय सागर बम्बई से प्रकाशित।

२ डा० गोरेशिओ (G. Gorresio) ने इस संस्करण को प्रकाशित किया है तथा इटैलियन भाषा में इसका अनुवाद भी किया है (१८८४-८७)।

३ डी० ए० वी० कालेज लाहौर के अनुसन्धान कार्यालय से प्रकाशित, १९१२।

४ मध्व विलास बुकडिपो, कुम्भकोणम् से प्रकाशित, १९२९–३०।

समय

वाल्मीकीय रामायण के निर्माण का समय बाहरी तथा भीतरी प्रमाणों के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। राम वैदिक, बौद्ध तथा जैन धर्मों में समभाव से मर्यादा-पुरुष माने जाते हैं। बौद्ध साहित्य में तथा जैन साहित्य में रामकथा का निर्देश स्पष्टतया किया गया है। बौद्ध कवि कुमारलात (१०० ई०) की 'कल्पना मण्डतिका' में रामायण के सर्वसाधारण में वाचन का उल्लेख है। जैन कवि विमलसूरि ने रामकथा को 'पउम चरिअ' नामक प्राकृत भाषा के महाकाव्य में निबद्ध किया है। विमलसूरि ने इस काव्य की रचना महावीर की मृत्यु से ५३० वर्ष के अंतर (लगभग ६२ ई०) में की है। यह काव्य वाल्मीकीय रामायण को आदर्श मानकर जैनधर्माव-लम्बियों को इस मर्यादापुरुष के चरित्र से परिचय प्राप्त कराने के लिये ही लिखा गया है। महाकवि अश्वघोष (७८ ई०) ने अपने बुद्धचरित में सुंदरकाण्ड की अनेक रमणीय उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं को निबद्ध किया है। बौद्धों के अनेक जातकों में रामकथा का स्पष्ट निर्देश है। 'दशरथ जातक' तो रामायण का पूरा आख्यान ही है जिसमें रामपण्डित बुद्ध के ही पूर्वकालीन प्रतिनिधि माने गए हैं। वाल्मीकि रामायण का एक श्लोक भी इस जातक में पालीरूप में उपलब्ध होता है। जातकों का समय-निरूपण झमेले का विषय है। यद्यपि उनकी कथाएँ इससे भी पूर्व इस देश में प्रच-लित थीं, तथापि उनका समय तृतीय शतक ई० पूर्व में साधारणतया माना जाता है। इन बाहरी प्रमाणों के आधार पर रामायण तृतीय शतक ई० पूर्व से भी पहले की रचना सिद्ध होता है।

वर्तमान महाभारत रामकथा से परिचित ही नहीं है, अपितु वह वाल्मीकि के रामायण से भी भली-भाँति अवगत है। रामायण में महाभारत पात्रों का कहीं भी उल्लेख नहीं है, परन्तु वनपर्व का रामोपाख्यान (अध्याय २७३-९३) वाल्मीकि में दी गई कथा का संक्षिप्त संस्करण है। रामचंद्र से सम्बद्ध स्थान महाभारत में तीर्थरूप से माने गये हैं। श्रृंगवेरपुर (सिगरौर, जि० प्रयाग, वनपर्व ८५।६५) तथा गोप्रतार (फैजाबाद में

गुसार घाट; वनपर्व ८४।७०) वनपर्व में तीर्थ माने गये हैं। अतः महाभारत के वर्तमान रूप प्राप्त होने से पहले ही रामायण अवान्तर अंशों के साथ प्राचीन तथा पुराना ग्रन्थ माना जाता था। दोनों ग्रंथों की तुलना आगे की जायेगी। महाभारत को वर्तमान रूप ईस्वी के आरम्भ में प्राप्त हुआ है। अतः रामायण की रचना इससे भी पहले ही अवश्य की गई होगी।

रामायण का अनुशीलन उसकी रचना के समय को भली भाँति प्रकट कर रहा है। रामायण के समय की राजनीतिक अवस्था का परिचय इस महाकाव्य के अध्ययन से भलीभाँति मिलता है:—

(१) पाटलिपुत्र नगर की स्थापना ५०० ई० पूर्व में मगध नरेश अजातशत्रु ने की। पहले यह एक साधारण ग्राम था जिसका नाम बौद्धग्रंथों में 'पाटलिग्राम' दिया है। अजातशत्रु ने शत्रु लोगों के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के निमित्त गंगा-सोन के संगम पर इस ग्राम में किला बनवाया[1]। इनके पिता बिम्बसार की राजधानी राजगृह या गिरिव्रज थी। रामायण में राम शोण और गंगा के संगम से होकर जाते हैं पर पाटलिपुत्र का उल्लेख यहाँ नहीं मिलता[2]। इससे स्पष्ट है कि रामायण ५०० ई० पूर्व से पहले लिखा गया।

(२) कोशल जनपद की राजधानी रामायण में अयोध्या बतलाई गई है,[3] परन्तु जैन और बौद्ध ग्रंथों में अयोध्या के स्थान पर वह 'साकेत' नाम' से ही प्रख्यात है। लव ने अपनी राजधानी 'श्रावस्ती' में स्थिर की[4]। रामायण की रचना उस समय की गई होगी, जब अयोध्या को छोड़कर श्रावस्ती में राजधानी नहीं लाई गई थी। बुद्ध के समय में कोशल के राजा

---

१ राय चौधरी—पोलिटिकल हिस्टरी आफ इंडिया, पृ० १४१।

२ बालकाण्ड सर्ग ३१।

३ अयोध्या नाम नगरी तत्रासीत् लोकविश्रुता। बाल ५।६।

४ श्रावस्तीति पुरी रम्याश्राविता च लवस्य च॥—उत्तर १०८।५।

प्रसेनजित् 'श्रावस्ती' में ही राज्य करते थे। अतः रामायण की रचना बुद्ध से पूर्वकाल में हुई।

(३) गंगा पार करने पर राम 'विशाला' में पहुँचे। इनके राजा का नाम 'सुमति' था जिसने इन लोगों की बड़ी अभ्यर्थना की—गङ्गाकूले निविष्टास्ते विशालां ददृशुः पुरीम्—बाल ४५।८। इक्ष्वाकु की 'अलम्बुसा' नामक रानी से उत्पन्न 'विशाल' नामक पुत्र ने इस नगरी को बसाया था। इसीलिए यह 'विशाला' के नाम से विख्यात थी। रामायण में विशाला[1] और मिथिला[2] दो स्वतन्त्र राजतंत्र राज्य थे, परन्तु बुद्ध के समय में ये दोनों राज्य पृथक् और स्वतन्त्र न होकर वैशाली राज्य के रूप में सम्मिलित कर दिये गये थे और शासनपद्धति भी गणतन्त्र राज्य के समान थी। अतः रामायण को बुद्ध से प्राचीन होना चाहिए।

(४) भारत का दक्षिण अंश एक विराट् अरण्यानी के रूप में अंकित किया गया है जिसमें बन्दर भालू आदि असभ्य या अर्धसभ्य जातियाँ निवास करती थीं। इन देशों में आर्य सभ्यता के प्रसार होने से पहले की यही अवस्था थी। अतः दक्षिण भारत को आर्य बनने से पहले रामायण का निर्माण हुआ।

(५) उत्तरी भारत आर्य अवश्य था, परन्तु बालकाण्ड से सिद्ध है कि कोशल, अंग, कान्यकुब्ज, मगध, मिथिला आदि अनेक छोटे छोटे राज्यों में यह बँटा था। यह राजनीतिक अवस्था बुद्ध-पूर्व भारत में ही दृष्टिगोचर होती है।

(६) सारे रामायण में केवल दो पद्यों में ही यवनों का नाम आता है। इसी सामान्य आधार पर जर्मन विद्वान् डाक्टर वेबर ने सिद्ध करने का

---

१ द्रष्टव्य बालकाण्ड, सर्ग ४७, श्लोक ११–२०।

२ मिथिला में जनकवंशी नरेशों का आधिपत्य था। उस समय मिथिला के राजा का नाम सीरध्वज जनक था—द्रष्टव्य बाल०, सर्ग ५०।

प्रयत्न किया था कि रामायण पर यूनानी सभ्यता का प्रभाव पड़ा है, पर डा० याकोबी ने इन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। अतः यूनानी आक्रमण के अनन्तर ये पद्य रामायण में मिला दिये गये होंगे।

इन प्रमाणों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामायण की रचना बुद्ध के जन्म से पहले ही हुई। अर्थात् रामायण को ५०० ई० पू० से पहले की रचना मानना न्यायसंगत है।

रामायण के टीकाकार

वाल्मीकिय रामायण का महत्त्व केवल काव्यदृष्टि से नहीं है, प्रत्युत वह नाना वैष्णव संप्रदायों में एक उपास्य धार्मिक ग्रंथ भी है इसलिए रामायण को आश्रय मानकर अनेक व्याख्याग्रंथों की रचना भिन्न-भिन्न युगों में की गई है। डा० औफ्रेक्ट के अनुसार टीकाओं की संख्या ३० है।

मध्ययुग में रामायण की लोकप्रियता इतनी अधिक थी कि पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में कम से कम दश टीकायें लिखी गईं जो व्याख्या की दृष्टि से बहुत ही असमान्य गुणों से सम्पन्न हैं। इन टीकाकारों का सामान्य परिचय नीचे दिया जाता है—

(१) प्राचीन व्याख्याओं में **रामानुज** की (जो कोण्डाडै रामानुज के नाम से विशेष प्रसिद्ध है) 'रामानुजीयम्' व्याख्या नितान्त प्रसिद्ध है। ये वाधूलगोत्रीय वरदार्य के पुत्र थे। इस टीका को वैद्यनाथ दीक्षित तथा गोविन्दराज ने उल्लिखित किया है। समय १४०० ईस्वी के आसपास।

(२) इससे पश्चाद्वर्ती है हारीतगोत्रीय **वेंकट कृष्णाध्वरी** (उपनाम वेंकटेशयज्वा) की 'सर्वार्थसार' नाम्नी टीका जिसे वैद्यनाथ दीक्षित ने निर्दिष्ट किया है। ये ही 'पितृमेघसार' नामक प्रख्यात धर्म निबन्ध के भी प्रणेता हैं। इनके गुरु थे आदि वन शठगोप (१४६०–१५२० ई०) और इसलिए वेंकटेश का समय १४७५ ई० के आसपास प्रतीत होता है।

(३) **वैद्यनाथ दीक्षित** (प्रख्यात धर्मग्रन्थ 'स्मृति मुक्ताफल' के रचयिता) की विख्यात व्याख्या का नाम 'रामायण दीपिका' है। ये

'सर्वार्थसार' को अपनी टीका में उद्धृत करते हैं और ईश्वर दीक्षित के द्वारा उल्लिखित किये गये हैं। इसलिए इनका समय १५वें शतक का अन्त माना जा सकता है (१५०० ई० लगभगं)।

(४) **ईश्वर दीक्षित** ने रामायण के ऊपर दो टीकाओं का प्रणयन किया जिनके नाम बृहद्विवरण और लघु विवरण हैं इनमें से प्रथम व्याख्या का रचनाकाल· १५१८ ईस्वीं है। फलतः इनका समय १६वीं शती का प्रथमार्ध है (१५२५ ई० लग०)।

(५) **तीर्थीय**—इस रामायणटीका का नाम तो वस्तुतः 'रामायण तत्त्वदीपिका है, परन्तु यह ग्रंथकर्ता **महेश्वरतीर्थ** के ही नाम पर 'तीर्थीय' आख्या से विशेष प्रसिद्ध है। पूरी टीका शायद अप्रकाशित है। इसके आवश्यक उद्धरण कुम्भकोणं संस्करण में दिये गये हैं।[1] इनके गुरु का नाम नारायण तीर्थ था जिसका उल्लेख टीका के आरम्भ में मिलता है। यह टीका पाठों के संशोधन में तथा पदों की व्याख्या में बड़ी प्रामाणिक मानी जाती है। गोविन्दराजीय में बहुशः उल्लिखित होने से यह निश्चय रूप से १५वीं शती से पूर्ववर्ती है।

(६) **रामायण भूषण**[2]—अपने रचयिता गोविन्दराज के नाम पर यह 'गोविन्दराजीय' के नाम से भी प्रख्यात है। प्रत्येक काण्ड में व्याख्यान के नाम ग्रन्थकार ने भिन्न भिन्न दिये हैं जो काण्ड-क्रम से इस प्रकार हैं—मणिमञ्जीर, पीताम्बर, रत्नमेखल, मुक्ताहार, शृंगारतिलक, मणिमुकुट, तथा रत्नकिरीट। गोविन्दराज श्री वैष्णव संप्रदाय के अनुयायी थे और इससे श्री वैष्णवों की मान्यता के अनुसार विरचित होने से उनमें यह व्याख्या मान्य तथा नितान्त प्रामाणिक मानी जाती है। गोविन्दराज काँची के निवासी

१—कृष्णाचार्य द्वारा सम्पादित सटीक रामायण, सन् १९११।

२—कृष्णाचार्य के द्वारा कुम्भकोणं से १९११ में तथा वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से भी प्रकाशित।

कौशिक गोत्रीय वरदराज के पुत्र थे। शठगोप देशिक के वे शिष्य थे।[1] युद्धकाण्ड की टीका के अन्तिम पद्य से पता चलता है कि ये भावनाचार्य के द्वारा रामायण टीका लिखने में प्रोत्साहित किये गए। भावनाचार्य का समय विजयनगर के राजा कृष्णराय के राज्यकाल से सम्बद्ध है। तिरुपति की यात्रा के समय श्रीवेंकटेश का स्वप्न में आदेश पाकर इन्होंने इस टीका की रचना की। यह टीका बहुत प्रामाणिक और पाण्डित्यपूर्ण है। वाल्मीकि रामायण के भीतर विद्यमान वैष्णव सिद्धान्तों के विशद विवरण के लिए तो यह व्याख्या सचमुच अनुपम है। गोविन्दराज के समय का निर्णय उनके द्वारा उद्धृत ग्रन्थकारों की सहायता से किया जा सकता है। इनके द्वारा उद्धृत वेदांतदेशिक का मृत्यु संवत् १३६६ ईस्वी है। 'साहित्यचिंतामणि' वेनभूपाल के द्वारा प्रणीत अलंकार ग्रंथ है। वेन ने १४०३ ई० से लेकर १४२० तक राज्य किया था। इन ग्रंथकारों के अनन्तर ही गोविन्दराज का समय है १५वीं शती का अन्तिमकाल। वैष्णव सिद्धान्तों की समीक्षा से प्रतीत होता है कि ये तेंगलइ कुल में पैदा हुए थे, परंतु उदारवृत्ति होने से ये वडगलइ मत की ओर आकृष्ट हुए और उस मत के मान्य आचार्य वेदांतदेशिक के प्रति इनकी अगाध श्रद्धा की भावना इसी उदारवृत्ति में अंतर्हित है।[2] ये तिरुपति में निवास करते थे और वहीं रामायण का व्याख्यान सुनाया करते थे।

(७) **अहोबिल आत्रेय**—तनिश्लोकी और वाल्मीकिहृदय के रचयिता। ये गोविन्दराज के मत को अपनी टीका में उद्धृत करते हैं। ये अपने गुरु शठगोप देशिक (उपनाम परांकुश) को, जो अहोबिल मठ के षष्ठ गुरु थे, प्रणाम करते हैं। फलतः इनका समय १७वें शतक का प्रथम चतुर्थांश मानना चाहिए (१६२५ ई० आसपास)।

१—इत्थं कौशिक-वंश-मौक्तिक-मणि गोविन्दराजाभिधो
वात्स्य श्री-शठकोपदेशिक-पदद्वन्द्वैक-सेवारतः ॥ टीका का अन्त।

२—द्रष्टव्य Annals of Bhandarkar Institute १९४२, पृ० ३०-५४। इस लेख में ग्रन्थकार के समय, ग्रन्थ और मत का सर्वांगीण प्रामाणिक विवेचन है।

(८) **कतक योगीन्द्र**—ये रामायण के ऊपर प्रख्यात 'अमृत कतक' या 'कतक' के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। गोविन्दराज को उद्धृत करते हैं तथा नागेशभट्ट के द्वारा बहुशः उद्धृत किये गये हैं। समय १७वें शतक का मध्यकाल (१६५० ई० आसपास)।

(९) **रामायण तिलक**—यह सर्वाधिक लोकप्रिय टीका है जिसका प्रकाशन निर्णयसागर आदि अनेक स्थानों से हुआ। इस टीका के अंतिम पद्यों के देखने से पता चलता है कि इसके रचयिता प्रख्यात वैयाकरण नागेशभट्ट या नागोजी भट्ट थे (१८वीं शती का प्रथम चरण), परन्तु इसकी रचना उन्होंने अपने आश्रयदाता शृंगवेरपुर के राजा राम के नाम से किया और इसी कारण यह 'रामीया व्याख्या' के नाम से प्रसिद्ध है। प्रायः प्रत्येक कठिन शब्द अथवा कठिन स्थल की यहाँ व्याख्या की गई है। मूल के समझने में पर्याप्त सहायक है। प्राचीन टीकाकारों में **कतक** तथा **तीर्थ** का नाम बड़े आदर के साथ लिया गया है और उनके पाठभेदों का भी उल्लेख स्थान स्थान पर किया गया है।

(१०) **रामायण शिरोमणि**—रामायण की यह व्याख्या वंशीधर तथा शिवसहाय की सम्मिलित रचना है। आरम्भ के पद्यों से पता चलता है कि वंशीधर तोडिराम के पौत्र तथा सीताराम के पुत्र थे। रचना त्रिवेणी के तट पर प्रयाग में की गई थी। रचना के काल १९२१ सं० (१८६५ ईस्वी) का उल्लेख टीका में किया गया है।[1] कालक्रम से आधुनिक होने पर व्याख्या के विषय में विशेष प्रौढ़, पाण्डित्यपूर्ण तथा विस्तृत है।[2]

(११) **मनोहरा**—इसके रचयिता बंगदेशीय **लोकनाथ चक्रवर्ती** हैं। ये मूलतः पूर्व बंग के जसोहर जिले के निवासी थे तथा चैतन्य देव के समकालीन थे। वैष्णव धर्म में दीक्षित होकर नदिया में आकर रहने लगे थे। अतः

---

१ चन्द्रद्व्यङ्क शशांक युक्तः शरणः शुक्लाश्विने दिक्तिथौ।

२ गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई से अनेक जिल्दों में तिलक तथा भूषण के साथ प्रकाशित।

इनका समय १६ वीं शती है। आज भी इनके वंशजों में पाण्डित्य की कमी नहीं है। इनकी टीका अल्पाक्षरा है जो वस्तुतः टिप्पणी ही कही जा सकती है, परन्तु पाठ-संशोधन इसकी महती विशेषता है। इन्होंने बंगदेशीय रामायण के पाठ पर अपनी टीका लिखी है। पश्चिमी पाठ अर्थात् देवनागरी पाठ से भी ये पूर्णतः परिचित हैं तथा उसे स्थान स्थान पर निर्दिष्ट किया है।[1] इनके समय में **विमलबोध** तथा **सर्वज्ञ** की टीकायें प्रसिद्ध थीं।[2] इनका उल्लेख आदरपूर्वक इन्होंने किया है।

(१२) **धर्माकूतम्**—रामायण की आलोचनात्मक व्याख्या है जिसमें ग्रन्थकार ने बड़े प्रमाणों को उपन्यस्त कर दिखलाया है कि रामायण वेद तथा धर्मशास्त्र की शिक्षा तथा उपदेशों का प्रतिपादक ग्रन्थरत्न है। पद-व्याख्या की अपेक्षा तात्पर्य-निर्देश की ही यहाँ महिमा विराजती है। ग्रन्थ का यह वैशिष्ट्य इस प्रकार उल्लिखित है—कृतिरियं सकलश्रुति-सम्मता स्मृतिपुराण वचोभिरलंकृता। इसके रचयिता हैं **त्र्यम्बक मखी** जो तंजोर के राज्यस्थापक एकोजी (१६७४ ई०–१६८७ ई०) के मन्त्री गदाधर के पुत्र तथा नरसिंह के भ्राता हैं। इनके पितामह त्र्यम्बकामात्य भी तंजोर के राजाओं के दरबार के धर्माध्यक्ष थे। इस प्रकार इस व्याख्या का रचनाकाल १७ वीं शती का उत्तरार्ध है।[3]

रामायण के तात्पर्य को वर्णन करने वाले ग्रन्थों की भी उपलब्धि हुई है। ऐसे ग्रन्थों में 'रामायण तात्पर्य दीपिका' तथा नारायणयति रचित 'रामायण तत्वदर्पण' का नामोल्लेख किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त

---

१ कलकत्ता से बंगाक्षर में प्रकाशित, १८५१ ई०।

२ आस्ते यदा विमलबोध सुबोधटीका सर्वज्ञ संज्ञरचिता च मनोज्ञ टीका।
तत्रापि सारपरमस्य विमत्सरस्य श्री लोकनाथ रचितैव मनो विधत्ते॥
—टीका का प्रारम्भ, श्लोक २।

३ श्रीवाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम से कतिपय भागों में अंशतः प्रकाशित। पूरा ग्रन्थ अप्रकाशित।

किसी ने रामायण के किसी प्रसंग पर टीका लिखी है, तो दूसरे ने रामायण के चुने हुए पद्यों पर व्याख्या लिखी है। एक अज्ञात नामा लेखक ने 'चतुरर्थी' व्याख्या में अनेक पद्यों के चार अर्थों का प्रदर्शन किया है जिसमें उनकी प्रतिभा तथा पाण्डित्य का विशेष परिचय मिलता है।[1] इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के व्याख्यानों तथा अनुशीलनों की लम्बी परम्परा ग्रन्थ के महत्त्व तथा प्रभाव की पूर्णतः निर्देशिका है।

समीक्षण

महर्षि वाल्मीकि आदि कवि हैं और उनका रामायण आदि काव्य है। कवि से सच्चे रूप की कल्पना हमने वाल्मीकि से सीखी और महाकाव्य के महत्त्व को हमने रामायण से ग्रहण किया। यदि वाल्मीकि न होते तो कवि के वास्तव स्वरूप और अभिराम आदर्श को हम कहाँ से सीखते ? और यदि उनकी प्रसन्न गम्भीर रामायण हमें नहीं मिलती तो हम महाकाव्य के महात्म्य तथा गौरव को कैसे पहचानते ? काव्य के विशुद्ध रूप की कसौटी है—आदि कवि का परम पावन, मननीय तथा माननीय आदिकाव्य रामायण। कवि का पद ऋषि के समान है। ऋषि का भी अर्थ है—द्रष्टा। वस्तुओं के विचित्र भाव, धर्म तथा तत्त्व को भलीभाँति अवगत करनेवाला व्यक्ति ही 'ऋषि' के महनीय पद का वाच्य है। कवि का भी अर्थ है क्रान्तदर्शी—'कवयः क्रान्तदर्शिनः'—अर्थात् नेत्रों के व्यापार से दूर रहनेवाले अतीत एवं भविष्य के पदार्थों को यथार्थ रूप से देखनेवाला पुण्यात्मा पुरुष। परन्तु दोनों में थोड़ा अन्तर है। वस्तुतत्त्व के दर्शन होने से ऋषित्व की प्राप्ति हो जाती है; परन्तु जब तक वह अपने अनुभूति वस्तुतत्त्व को शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं करता, तब तक वह 'कवि' नहीं कहला सकता। 'कवि' की कल्पना में 'दर्शन' के साथ 'वर्णन' का भी मनोरम सामञ्जस्य है और इस कल्पना के जनक स्वयं महर्षि वाल्मीकि ही हैं। उन्हें वस्तुओं का निर्मल दर्शन नित्यरूप से था, परन्तु जब तक 'वर्णन' का उदय नहीं हुआ, तबतक

---

१ इन टीकाकारों के विषय में द्रष्टव्य कृष्णमाचार्य-हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, मद्रास, १९३७; पृ० २२–२६।

उनकी 'कविता' का प्राकट्य नहीं हुआ। 'मा निषाद' पद्य के उच्चारण करते ही ब्रह्मा स्वयं ऋषि के सामने उपस्थित हुए और कहने लगे—महर्षे! तुम्हारी आर्ष चक्षु या प्रातिभ चक्षु का अब उन्मेष हो गया है। तुम आद्य कवि हो। भवभूति के स्मरणीय शब्दों में—

ऋषे प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि। तद् ब्रूहि रामचरितम्।
अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभाति। आद्यः कविरसि॥

कवि के यथार्थ रूप को वाल्मीकि के दृष्टान्त के द्वारा प्रसिद्ध समालोचक-शिरोमणि भट्ट तौत ने इस पद्य में सुन्दरता से समझाया है—

दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः।
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥

संस्कृत काव्यधारा की दिशा तो उसी अवसर पर निर्दिष्ट हो गयी, जब प्रेम-परायण सहचर के आकस्मिक वियोग से सन्तप्त क्रौञ्ची के करुण निनाद को सुनकर वाल्मीकि के हृदय का शोक श्लोक के रूप में छलक पड़ा था। काव्य का जीवन रस है, काव्य का आत्मा रस है—इसे साहित्य-संसार ने तभी सीख लिया, जब आदिकवि की आदि कविता के रसामृत का उसने पान किया। बारम्बार प्रीयमाण तथा नितान्त विस्मित शिष्यों ने आश्चर्य-भरे शब्दों में इस रहस्यभूत तत्व को पहचाना—

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

(रामायण १।२।४०)

महाकवि कालिदास ने भी इसी तथ्य की अभिव्यक्ति की है—(रघु० श्लोक १४।७०)। वे भी महर्षि को शोक के रूप में परिणत होना मानते हैं।

इन्हीं सूत्रों को पकड़कर आनन्दवर्धक ने 'प्रतीयमान' अर्थ के सामान्य-रूपेण काव्य में मुख्य होने पर भी रस को ही काव्य का आत्मा स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

(ध्वन्यालोक १।५)

आदिकवि का यह समग्र काव्य ही कविता के सच्चे रूप को प्रकट कर रहा है। वाल्मीकीय रामायण मनोरम उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं का एक विराट् भव्य प्रासाद है; परन्तु उसके बाह्य आवरणों में उसका विशुद्ध रसमय हृदय भली-भाँति झलक रहा है, इतने स्पष्ट रूप में कि उसकी सत्ता का परिचय हमें पद-पद पर प्राप्त होता है। रामायण का हृदय है—रस-पेशल-वर्णन और इस वर्णन में सर्वत्र विद्यमान है—समग्र-काव्यगत व्यापक औचित्य। महाकाव्य का प्रथम तथा भव्य निदर्शन है—यही वाल्मीकीय रामायण। रामायण का ही विश्लेषण कर आलङ्कारिकों ने 'महाकाव्य' का लक्षण प्रस्तुत किया है। 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' लक्षण का प्रथम तथा सबसे सुन्दर लक्ष्य है—रामायण। दण्डी की महाकाव्य-कल्पना 'रामायण' को ही आदर्श मानकर लिखी गयी।

रामायण में मुख्य रस

आनन्दवर्धन ने स्पष्टतः 'करुण' को ही रामायण का मुख्य रस कहा है। रामायण का आरम्भ 'करुण' से होता है तथा राम के सामने सीता के पृथ्वी के भीतर अन्तर्धान होने के दृश्य से रामायण का अन्त भी 'करुण' से ही होता है—

रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूचितः 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवंवादिना। निर्व्यूढश्च स एवं सीताऽत्यन्तवियोग-पर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता। (ध्वन्यालोक, उद्योत ४, पृ० २३७)

वाल्मीकि समग्र कविसमाज के उपजीव्य हैं—विशेषतः कालिदास तथा भवभूति के। इन दोनों महाकवियों ने रामायण का गाढ़ अनुशीलन किया था और इनकी कविता में हमें जो रस मिलता है, उसमें रामायण की भक्ति कम सहायक नहीं रही है। कालिदास का शृंगार रस सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, परन्तु उनका 'करुण' रस कम प्रभावशाली नहीं है। कालीदास ने

उभयविध 'करुण' को उपस्थित कर उसे साङ्गोपाङ्ग रूप से दिखलाया है। पत्नी के लिए पति की करुणा का रूप हम रघुवंश के 'अज-विलाप' में पाते हैं और पति के निमित्त पत्नी की करुण परिवेदना 'रति विलाप' के रूप में हमें रुलाती है। ताप से लोहा भी पिघल उठता है, तब कोमल मानव-चित्त सन्ताप से मृदु बन जायगा—क्या इस विषय में सन्देह के लिए स्थान है ? 'अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ?' कालिदास के इन करुण वर्णनों में मानव-हृदय को प्रभावित करने की क्षमता है, परन्तु भवभूति के उत्तर-चरित में तो यह अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया है। यह भवभूति का ही काम था कि उन्होंने सीता के वियोग में राम को रोते देखकर पत्थर को रुलाया है और वज्र के हृदय को भी विदीर्ण होते दिखलाया है—

'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम् ।'

भवभूति ने करुण को 'एको रसः'—मुख्य रस, अर्थात् समस्त रसों की प्रकृति माना है और अन्य रसों को उसकी विकृति माना है। 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्'—इस कथन के मूल को हमें वाल्मीकि के अन्दर खोजना चाहिये।

वाल्मीकी का यह महाकाव्य पृथ्वीतल को विदीर्ण कर उगनेवाले उस विराट् वटवृक्ष के समान है, जो अपनी शीतल छाया से भारत के समस्त मानवों को आश्रय देता हुआ प्रकृति की विशिष्ट विभूति के समान अपना मस्तक ऊपर उठाए हुए खड़ा है। महाकाव्य प्रधानतया वीर-रस प्रधान हुआ करते हैं, जिनमें युद्ध का घोष, विजय-दुन्दुभि का गर्जन तथा सैनिकों का तर्जन मानवों के हृदय में उत्साह तथा स्फूर्ति उत्पन्न किया करते हैं, परन्तु रामायण का माहात्म्य वीर-रस के प्रदर्शन में नहीं है। किसी देव-चरित के वर्णन में भी रामायण का गौरव नहीं है; क्योंकि महर्षि वाल्मीकि ने जब आदर्श गुणों से मण्डित किसी व्यक्ति का परिचय पूछा, तब नारद जी ने एक मानव को ही उन अनुपम गुणों का भाजन बतलाया—'तैर्युक्तः श्रूयतां नरः।' यह नर-चरित्र का ही कीर्तन है। भारतीय गार्हस्थ्य-जीवन का विस्तृत चित्रण रामायण का मुख्य उद्देश्य प्रतीत हो रहा है। आदर्श पिता,

आदर्श माता, आदर्श भ्राता, आदर्श पति, आदर्श पत्नी—आदि जितने आदर्शों को इस अनुपम महाकाव्य में आदि कवि की शब्द-तूलिका ने खींचा है वे सब गृहधर्म के पट पर ही चित्रित किये गये हैं। इतना ही क्यों, रामरावण का वह भयानक युद्ध भी इस काव्य का मुख्य उद्देश्य नहीं है। वह तो राम-जानकी—पति-पत्नी—की परस्पर विशुद्ध-प्रीति को पुष्ट करने का एक उपकरण-मात्र है और ऐसा होना स्वाभाविक ही है। रामायण को भारतीय सभ्यता ने अपनी अभिव्यक्ति के लिये प्रधान साधन बना रखा है और भारतीय सभ्यता की प्रतिष्ठा गृहस्थाश्रम है। अतः यदि इस गार्हस्थ्य धर्म की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये आदिकवि ने इस महाकाव्य का प्रणयन किया तो इसमें आश्चर्य क्या है? रामायण तो भारतीय सभ्यता का प्रतीक ठहरा, दोनों में परस्पर उपकार्योपकारक-भाव बना हुआ है। एक को हम दूसरी की सहायता से समझ सकते हैं।

रामचरित्र

आदिकवि ने अपने काव्य-मन्दिर की पीठ पर प्रतिष्ठित किया है—मर्यादा-पुरुषोत्तम महामानव महाराजा रामचन्द्र को। विभिन्न विकट परिस्थितियों के बीच में रहकर व्यक्ति अपने शील के सौन्दर्य की किस प्रकार रक्षा कर सकता है यह हमें वाल्मीकि ने ही सिखलाया है। यदि आदिकवि ने इस चरित्र का चित्रण न किया होता, तो हमें मंजुल गुणों के सामञ्जस्य का परिचय कहाँ से मिलता? भारतवासी किसी मानव के आदर्श चरित्र को सुनने के लिए लालायित थे। वाल्मीकि ने उसी चरित्र को उनके सामने प्रस्तुत किया। यही कारण है कि इस काव्य की मोहकता कभी कम नहीं होती, इसके शब्दों में इतनी माधुरी है, चित्रों में इतनी चमक है कि मानव के कान और नेत्र इसके परिशीलन से एक साथ ही आप्यायित हो उठते हैं। रामायण को जितनी बार पढ़ा जाय, उतनी ही बार उसमें नयी-नयी बातें सूझती हैं। इन सरल परिचित शब्दों में इतना रस-परिपाक हुआ है कि पढ़ने वालों का चित्त आनन्द से गद्‌गद हो उठता है। सच बात तो यह है कि रामायण के इन अनुष्टुपों को पढ़कर

शताब्दियों से भारत का हृदय स्पन्दित होता आ रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा।

राम के किन आदर्श गुणों के अंकन में यह लेखनी प्रवृत्त हो? उनकी 'कृतज्ञता' का वर्णन किन शब्दों में किया जाय? राम तो किसी तरह किये गये एक ही उपकार से सन्तुष्ट हो जाते हैं; और अपकार चाहे कोई सैकड़ों ही करे, उनमें से एक का भी स्मरण उन्हें नहीं रहता। अपकारों को भूलने वाला हो तो ऐसा हो—

कथञ्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥

(रामायण २।१।११)

उनका क्रोध तोथा प्रसाद दोनों ही अमघ है। अपने अपराधों के कारण हनन-योग्य व्यक्तियों को बिना मारे वे नहीं रहते और अवध्य के ऊपर क्रोध के कारण कभी उनकी आँख भी लाल नहीं होती—

नास्य क्रोधः प्रसादो वा निरर्थोऽस्ति कदाचन।
हन्त्येष नियमाद् वध्यानवध्येषु न कुप्यति॥

(रामायण २।२।४६)

राम का शील कितना मधुर है। वे सदा दान करते हैं, कभी दूसरे से प्रतिग्रह नहीं लेते। वे अप्रिय कभी नहीं बोलते। साधारण स्थिति की बात नहीं, प्राणसंकट उपस्थित होने की विषम दशा में भी सत्य पराक्रम वाले राम इन नियमों का उल्लंघन नहीं करते—

दद्यान्न प्रतिगृह्णीयान्न ब्रूयात् किञ्चिदप्रियम्।
अपि जीवितहेतोर्वा रामः सत्यपराक्रमः॥

(रामायण ५।३३।२६)

अपने कुटुम्बियों के प्रति उनका व्यवहार कितना कोमल तथा सहानुभूति-पूर्ण है! सीता के प्रति राम के प्रेम का वर्णन करते समय आदिकवि ने मानस तत्त्व का बड़ा ही सूक्ष्म निरीक्षण प्रस्तुत किया है। राम सीता के वियोग में चार कारणों से सन्तप्त हो रहे हैं—सीता के प्रति उनके परिताप का कारण

चतुर्मुखी है। धर्मशास्त्र आपत्ति में स्त्री की रक्षा करने का उपदेश देता है, परन्तु राम से यह न हो सका; अतः वह अबला स्त्री की रक्षा न कर सकने के कारण 'कारुण्य' से सन्तप्त हैं। वन में सीता राम की आश्रिता थीं, परन्तु राम ने अपने आश्रित की रक्षा नहीं की; अतः 'आनृशंस्य'—आश्रित जनों के संरक्षक-स्वभाव से सन्तप्त हैं। सीता उनकी पत्नी सहधर्मिणी ठहरीं। उनके नष्ट होने पर श्रीराम के धर्म का पालन क्योंकर हो सकेगा, अतः शोक से। वे उनकी प्रिया, प्रियतमा ठहरीं, परम सुख की साधिका ठहरीं। उस परम लावण्यमयी स्त्री के नाश ने उनके हृदय में अतीत के उस आनन्दमय जीवन की मधुर स्मृति जगा दी है—इस कारण 'प्रेम' से। इस नाना भावों के कारण सीता के वियोग में राम सन्तप्त हो रहे हैं—

स्त्री प्रणष्टेति कारुण्यादाश्रितेत्यानृशंस्यतः।
पत्नी नष्टेति शोकेन प्रियेति मदनेन च॥

(रामायण ५।१५।४६)

लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम ने भ्रातृप्रेम के विषय में जो उद्गार निकाले हैं, उनकी समता भला किसी अन्य सुशिक्षित कहलानेवाले देश के साहित्य में भी कभी मिल सकती है? यदि मनुष्य चाहे तो एक देश के बाद दूसरे देश में उसे विवाहयोग्य स्त्रियाँ मिल सकती हैं, प्रत्येक देश में मित्र भी मिल सकते हैं; परन्तु मैं उस देश को नहीं देखता, जहाँ सहोदर भ्राता मिल सकें। धन्य हैं भगवान् रामचन्द्र। केवल इस उक्ति के अनूठेपन पर समस्त साहित्य को न्योछावर कर देने का मन होता है। यह सूक्ति हृदय पर कितनी चोट कर रही है—

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥

रामचन्द्र की 'शरणागत-वत्सलता' का चरम दृष्टान्त है—अपने मायावी शत्रु के भाई विभीषण को आश्रय प्रदान करना। उनके औदार्य की झलक रावणवध के होने के बाद रावण दाह-संस्कार के समय मिलती है। राम का कहना है कि रावण जिस प्रकार विभीषण का सगा सम्बन्धी है,

उसी प्रकार उनका भी है। रावण की मृत्यु के साथ-साथ उनका उसके प्रति वैर-भाव भी शान्त हो गया है। अब वैर लेने की क्या आवश्यकयता रह गई ?

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥

सीता-चरित्र

भगवती जनक-नन्दिनी के शील-सौन्दर्य की ज्योत्स्ना किस व्यक्ति के हृदय को शीतलता तथा शान्ति नहीं प्रदान करती ? जानकी का चरित्र भारतीय ललना के महान् आदर्श का प्रतीक है। रावण के बारंबार प्रार्थना करने पर भी सीता ने जो अवहेलना-सूचक वचन कहा है, वह भारतीय नारी के गौरव को सदा उद्घोषित करता रहेगा। इस निशाचर रावण से प्रेम करने की बात तो दूर रही, मैं तो इसे अपने पैर से—नहीं-नहीं, बायें पैर से—भी नहीं छू सकती—

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्॥
(रामायण ५।२६।१०)

रावण की मृत्यु के अनन्तर राम ने सीता के चरित्र की विशुद्धि सामान्य जनता के सामने प्रकट करने के लिये अनेक कटुवचन कहे। उन वचनों के उत्तर में सीता के वचन इतने मर्मस्पर्शी हैं कि आलोचक का हृदय आनन्दातिरेक से गद्‌गद हो जाता है।

'मेरे चरित्र पर लांछन लगाना कथमपि उचित नहीं है। मेरे निर्बल अंश को आपने पकड़कर आगे किया है, परन्तु मेरे सबल अंश को पीछे ढकेल दिया है। नारी का दुर्बल अंश है–उसका स्त्रीत्व और उसका सबल अंश है–उसका पत्नीत्व तथा पातिव्रत। नर-शार्दूल ! आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं; परन्तु क्रोध के आवेश में आपका यह कहना साधारण मनुष्यों के समान है। आपने मेरे स्त्रीत्व को तो दोषारोपण करने के निमित्त आगे किया है, परन्तु

आपने इस बात पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया कि बालकपन में ही आपने मेरा पाणिग्रहण किया, आपकी मैं शास्त्रानुमोदित धर्मपत्नी हूँ। मैं आपकी भक्ति करती हूँ तथा मेरा स्वभाव निश्चल और पवित्र है। आश्चर्य है आप जैसे नर-शार्दूल ने मेरे स्वभाव को, भक्ति को तथा पाणिग्रहण को पीछे ढकेल दिया, केवल स्त्रीत्व को आगे रखा है—

त्वया तु नरशार्दूल ! क्रोधमेवानुवर्तता।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम् ॥
न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः।
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम् ॥

कितनी ओजस्विता भरी है इन सीधे-सादे निष्कपट शब्दों में ! अनादृता भारतीय ललना का यह हृदयोद्गार कितना हृदय-वेधक है ! सुनते ही सहृदय मनुष्य की आँखों में सहानुभूति के आँसू छलक पड़ते हैं।

राम और सीता का निर्मम चरित्र वाल्मीकि की कोमल काव्य—प्रतिभा का मनोरम निदर्शन है। रामायण हमारा जातीय महाकाव्य है। वह भारतीय हृदय का उच्छ्वास है। यह मानव-जीवन राम-दर्शन के बिना निरर्थक है—'राम-दर्शन' उभय अर्थ में—राम-कर्तृक दर्शन (राम के द्वारा देखा जाना) तथा राम-कर्मक दर्शन (राम को देखना)। राम जिसको नहीं देखते, वह लोक में निन्दित है। और जो व्यक्ति राम को नहीं देखता, उसक भी जीवन निन्दित है। उसका अन्तःकरण स्वयं उसकी निंदा करने लगता है—

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः स भवेल्लोके स्वात्माप्येनं विगर्हते ॥

मानवता की कसौटी

महर्षि वाल्मीकि की दृष्टि में 'चरित्र' ही मानवता की कसौटी है। चरित्र से युक्त मनुष्य की खोज तथा उसका विशद वर्णन ही रामायण का मुख्य उद्देश्य है। वाल्मीकि ने महर्षि नारद से यही जिज्ञासा की है—

चारित्रेण च को युक्तः ।

चरित्र ही मानव को देवता बनाता है । इस चरित्र का पूर्ण विकाश मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र में दृष्टिगोचर होता है । रामचरित्र ही आर्यचरित्र का आदर्श है और वह मानवता की चरम अभिव्यक्ति है । राम में मानसिक विकास की ही पूर्णता लक्षित नहीं होती; अपि तु शारीरिक सौंदर्य का भी मंजुल पर्यवसान उनमें उपलब्ध होता है (द्रष्टव्य सुन्दर काण्ड, अध्याय ३५) । राम में धैर्य का चूड़ान्त दृष्टान्त हमें मिलता है । साधारण मनुष्य जीवन के साफल्यभूत राज्य से बहिर्भूत होने पर कितना व्यथित तथा आर्त होता है, यह अनुभव से हमें भलीभाँति पता चलता है । परन्तु राम के ऊपर इस निर्मम घटना का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता । वे महनीय हिमालय के समान अडिग तथा अडोल खड़े होकर विपत्ति के दुर्दान्त तरंगों को अपने विशाल वक्षःस्थल के ऊपर सहते हैं, परन्तु उनके चित्त में किसी प्रकार का विकार लक्षित नहीं होताः—

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम् ।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥

—अयोध्या १९।३३

इसका कारण यह था कि उनमें समत्व बुद्धि का प्रकृष्ट विलास दृष्टिगोचर होता है । भगवद्गीता के अनुसार आदर्श मानव में जिन गुणों का सद्भाव रहता है रामचन्द्र उन समग्र गुणों की जीवन्त मूर्ति थे । विषमबुद्धि ही परिस्थिति के विपर्यय से परिताप का आश्रय बनता है, परन्तु समबुद्धि विषम विपर्यय में भी परिताप को अपने पास फटकने नहीं देता । समबुद्धि तथा समदर्शी राम परिताप करने से इसलिए कोसों दूर हैं ।

राम क्षात्र धर्म के साकार विग्रह हैं । भारतवर्ष का क्षत्रियत्व राम के नस-नस में व्याप्त हो रहा है । ऋषियों के विशेष आग्रह करने पर राम राक्षसों के मारने की विकट प्रतिज्ञा करते हैं । सीता क्षात्रधर्म के सेवन से बुद्धि के मलिन होने की बात सुनाकर उन्हें इस कार्य से विरत करना चाहती हैं:—

कदर्थं कलुषा बुद्धिर्जायते शस्त्र-सेवनात्
पुनर्गत्वा त्वयोध्यायां क्षात्रधर्मं चरिष्यसि ॥

अरण्य ६।२८

परन्तु राम इस प्रेममय उपालम्भ का तिरस्कार कर डंके की चोट क्षत्रियत्व के आदर्श को प्रकट करते हैं।

क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्त-शब्दो भवेदिति।

—अरण्य १०३

क्षत्रियों के द्वारा धनुष धारण करने की यही आवश्यकता है कि पीड़ितों का शब्द ही कहीं न हो। जगत् की रक्षा का भार धनुर्धारी क्षत्रियों के ऊपर सर्वदा रहता ही है।

राम सत्य तथा प्रतिज्ञा-पालन के महनीय व्रती हैं। सत्यनिष्ठा तथा प्रतिज्ञा निर्वाह के महनीय व्रत के कारण वे संसार में महिमा-सम्पन्न माने जाते हैं। जाबालि ने राम को अयोध्या लौट जाने तथा सिंहासन पर आसीन होने के लिए कम युक्तियों का व्यूह नहीं रचा। परन्तु राम अपने सत्य से, पिता के सामने की गई प्रतिज्ञा से, रंचक मात्र भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने बड़े आग्रह से कहा कि न तो लोभ से, न मोह से, न अज्ञान से मैं सत्य के सेतु को तोड़ूँगा। पिता के सामने प्रतिज्ञा का निर्वाह अवश्य करूँगा—

नैव लोभान्न मोहाद्वा न ह्यज्ञानात् तमोन्वितः।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः ॥

—अयोध्या १०६।१७

सीताजी के द्वारा बारम्बार क्षात्रधर्मानुकूल प्रतिज्ञा-पालन से पराङ्-मुख किये जाने पर राम का क्षत्रियत्व उबल उठता है। वे डंके की चोट पुकार उठते हैं—मैं अपने प्राणों को भी छोड़ सकता हूँ। हे सीते, लक्ष्मण के साथ तुम्हें भी छोड़ सकता हूँ, परन्तु प्रतिज्ञा कभी नहीं छोड़ सकता, विशेष कर ब्राह्मणों के साथ की गई प्रतिज्ञा तो मेरे लिए नितान्त अपरिहार्य है—

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः॥

—अरण्य १०।१९

राजा की महिमा

वाल्मीकि आर्यधर्म के रहस्य का उद्घाटन करते हैं जब वे कहते हैं कि आर्यजीवन धर्मबन्ध से बँधा हुआ है। मानव भारतीय संस्कृति के अनुसार स्वतन्त्र प्राणी तो अवश्य है, परन्तु समग्र मानव एक दूसरे से धर्मसम्बन्ध में बँधकर एक दूसरे के हित-चिन्तन तथा हिताचरण में संलग्न है तथा अपने निर्दिष्ट नैतिक मार्ग से एक पग भी नहीं डिगता। भरत अपने शुद्ध भावों की सफाई देते कह रहे हैं कि धर्मबन्धन के कारण ही मैं वध करने योग्य भी पापाचारिणी माता को मार नहीं डालता (अयोध्या १०६।८)

वाल्मीकि समग्र राष्ट्र के हितचिन्तक कवि हैं। राष्ट्र का केन्द्र है राजा। भारतीय राजा पाश्चात्य राजाओं के समान प्रजाओं की इच्छाओं का दलन करनेवाला स्वेच्छाचारी नरपति नहीं होता प्रत्युत वह प्रजाओं का रंजक (प्रकृतिरंजक), उनका हितचिन्तक तथा राष्ट्र का उन्नायक होता है। इस प्रसंग में 'अराजक जनपद' की दुरवस्था का वर्णन पढ़कर वाल्मीकि की मनोवृत्ति का हम अन्दाजा लगा सकते हैं। अयोध्याकांड के ६७ वें सर्ग का 'नाराजके जनपदे' वाला लोकगायन भारतीय राजनीति के सिद्धान्तों का प्रकाशक एक महनीय वस्तु है। राजा राष्ट्र के धर्म तथा सत्य का उद्भव स्थल है (अयोध्या ६७।३३, ३४) इसीलिए उसके अभाव में राष्ट्र का कोई भी मंगल न सम्पन्न हो सकता है, न कोई कल्याण कल्पित हो सकता है।

नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः।
शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्ष-जीविनः॥

—अयोध्या ६७।१९

इस प्रकार वाल्मीकि भारतीय साहित्य के हृदय के ही प्रकाशक आदि-कवि नहीं है, बल्कि, वे भारतीय संस्कृति के संस्कारक मनीषी हैं।

कमनीय काव्यकला उनके रामायण के पद्यों में स्वतः नाचती है और भारत की भव्य संस्कृति उनके पात्रों के द्वारा अपनी मनोरम झाँकी दिखाती है। इसीलिए कविता कल्पद्रुम के कमनीय कोकिल रूप वाल्मीकि का कूजन किसे आनंद-विभोर नहीं बनाता ?

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकि-कोकिलम् ॥

५

महाभारत

व्यासगिरां निर्यासं सारं विश्वस्य भारतं वन्दे।
भूषणतयैव संज्ञां यदङ्कितां भारती वहति ॥
—गोवर्धनाचार्य।

रामायण तथा महाभारत हमारे जातीय इतिहास हैं। भारतीय सभ्यता का भव्यरूप इन ग्रन्थों में जिस प्रकार से फूट निकलता है वैसा अन्यत्र नहीं। कौरवों और पांडवों का इतिहास-वर्णन ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है, अपि तु हमारे हिन्दू-धर्म का विस्तृत एवं पूर्ण चित्रण भी प्रयोजन है। महाभारत का शान्तिपर्व जीवन की समस्याओं को सुलझाने का कार्य हजारों वर्षों से करता आ रहा है। इसलिए इस इतिहास ग्रन्थ को हम अपना धर्मग्रन्थ मानते आये हैं जिसका पठन-पाठन, श्रवण-मनन, सब प्रकार से हमारा कल्याणकारक है। इस ग्रंथ का सांस्कृतिक मूल्य भी कम नहीं है। सच तो यह है कि केवल इसी ग्रन्थ के अध्ययन से हम अपनी संस्कृति के शुद्ध स्वरूप से परिचय पा सकते हैं। भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'भगवद्गीता' इसी महाभारत का एक अंश है। इसके अतिरिक्त 'विष्णुसहस्र-नाम', 'अनुगीता', 'भीष्मस्तवराज', 'गजेन्द्रमोक्ष' जैसे आध्यात्मिक तथा भक्तिपूर्ण ग्रंथ यहीं से उद्धृत किये गये हैं। इन्हीं पाँच ग्रन्थों को 'पंचरत्न' के नाम से पुकारते हैं। इन्हीं गुणों के कारण महाभारत 'पञ्चम वेद' के नाम

से विख्यात है। वाल्मीकि के समान व्यास जी भी संस्कृत कवियों के लिये उपजीव्य हैं। महाभारत के उपाख्यानों का अवलम्बन कर ही कलान्तर में हमारे कवियों ने काव्य, नाटक, गद्य, पद्य, चम्पू, कथा, आख्यायिका नाना-प्रकार के साहित्य की सृष्टि की है। इतना ही क्यों? जावा सुमित्रा के साहित्य में भी महाभारत विद्यमान है। वहाँ के लोग भी महाभारत के कथानक से उसी प्रकार शिक्षा ग्रहण करते हैं तथा पाण्डव-चरित के अभिनय से उसी प्रकार अपना मनोरंजन करते हैं जिस प्रकार यहाँ के लोग। महाभारत इतना विशाल है कि व्यास जी का यह कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है—'इस ग्रन्थ में जो कुछ है वह अन्यत्र है, परन्तु जो कुछ इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।'[1] प्राचीन राजनीतिक जानने के लिए हमें इसी ग्रंथ की शरण लेनी पड़ती है। विदुरनीति, जिसमें आचार तथा लोक-व्यवहार के नियमों का सुन्दर निरूपण है, महाभारत का ही एक अंश है। इस प्रकार ऐतिहासिक धार्मिक, राजनीतिक आदि अनेक दृष्टियों से महाभारत एक गौरवपूर्ण ग्रंथ है।

रचयिता

महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास का सम्बन्ध महाभारत के पात्रों के साथ बहुत ही घनिष्ठ है। उनकी माता का नाम सत्यवती था जो चेदिराज वसु उपरिचर के वीर्य से यमुना के किसी द्वीप में उत्पन्न हुई थी। मल्लाहों के राजा दासराज के द्वारा जन्मकाल से ही उनकी रक्षा तथा पोषण हुआ था। यमुना के किसी द्वीप में जन्म के कारण व्यास जी 'द्वैपायन' कहलाते थे, शरीर के रंग के कारण 'कृष्णमुनि' तथा एक वेद के यज्ञीय उपयोग के लिए चार संहिताओं में विभाग करने के कारण 'वेदव्यास' के नाम से विख्यात थे। वे धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर के जन्मदाता ही न थे, प्रत्युत पाण्डवों की विपत्ति के समय छाया के समान अनुगमन करनेवाले थे तथा अपने उपदेशों से उन्हें धैर्य, ढाढस तथा न्यायपथ पर आरूढ़ रहने की शिक्षा

---

१ धर्मे ह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भारतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥ —महाभारत।

दिया करते थे। कौरवों को युद्ध से विरत करने के लिए इन्होंने कोई भी प्रयत्न उठा नहीं रखा, परन्तु विषय-भोग के पुतले इन कौरवों ने इनके उपदेशों को लात मारकर अपनी करनी का फल खूब ही पाया। इनसे बढ़कर भारतीय युद्ध के वर्णन करने का अधिकारी कोई भी विद्वान् न था। इन्होंने तीन वर्षों तक सतत परिश्रम से—सदा उत्थान से—इस अनुपम ग्रन्थ की रचना की :—

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानदमुत्तमम्॥

(आदिपर्व—५६।३२)

ऐसे महनीय ग्रन्थ की तीन वर्षों के भीतर रचना का कार्य ग्रन्थकार की अनुपम काव्यप्रतिभा तथा अदम्य उत्साह का पर्याप्त सूचक है।

आजकल महाभारत में एक लाख श्लोक मिलते हैं। इसलिए इसे 'शतसाहस्री संहिता' कहते हैं। इसका यह स्वरूप कम से कम डेढ़ हजार वर्ष से अवश्य है, क्योंकि गुप्तकालीन शिलालेख में यह 'शतसाहस्री संहिता' के नाम से उल्लिखित हुआ है। विद्वानों का कहना है कि महाभारत का वह रूप अनेक शताब्दियों में विकसित हुआ है। बहुत प्राचीन काल से अनेक गाथाएँ तथा आख्यान इस देश में प्रचलित थे जिनमें कौरवों तथा पाण्डवों की वीरता का वर्णन किया गया था। अथर्ववेद में परीक्षित का आख्यान उपलब्ध होता है। अन्य वैदिक ग्रन्थों में यत्रतत्र महाभारत के वीर पुरुषों की बातें उल्लिखित मिलती हैं। इन्हीं सब गाथाओं तथा आख्यानों को एकत्र कर महर्षि वेदव्यास ने जिस काव्य का रूप दिया है वही आजकल का सुप्रसिद्ध महाभारत है। इसके विकास के तीन क्रमिक स्वरूप माने जाते हैं—(१) जय, (२) भारत, (३) महाभारत। इस ग्रन्थ का मौलिक रूप 'जय' नाम से प्रसिद्ध था। इस ग्रन्थ में नारायण[१], नर, सरस्वती देवी को

१ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

महाभारत—मंगल श्लोक।

नमस्कार कर जिस 'जय' नामक ग्रन्थ के पठन का विधान है वह 'महाभारत' का मूल प्रतीत होता है। वहीं स्वयं लिखा हुआ है कि इसका प्राचीन नाम जय था[1]। पाण्डवों के विजय वर्णन के कारण ही इस ग्रन्थ का ऐसा नामकरण किया गया है। (२) **भारत**—दूसरी अवस्था में इसका नाम 'भारत' पड़ा। इसमें उपाख्यानों का समावेश नहीं था। केवल युद्ध का वर्णन ही प्रधान विषय था। इसी भारत को वैशम्पायन ने पढ़कर जनमेजय को सुनाया था[2]।

(३) **महाभारत**—विक्रम से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व विरचित आश्वलायन गृह्यसूत्र में 'भारत' के साथ 'महाभारत' का नाम निर्दिष्ट है। अतः यह रूप भी दो हजार वर्ष से पुराना ही प्रतीत होता है। भारत के वर्तमान रूप में परिबृंहण का कार्य उपाख्यानों के जोड़ने से ही निष्पन्न हुआ है। इन उपाख्यानों में कुछ तो प्राचीन ऋषि तथा राजाओं के जीवन से सम्बद्ध होने के कारण घटना-प्रधान हैं, कतिपय ऐतिहासिक होने से प्राचीन इतिहास की अमूल्य निधि हैं, कतिपय तत्कालीन लोक-कथा के ही साहित्यिक संस्करण हैं और इस दृष्टि से इनकी तुलना जातकों के साथ की जा सकती है। अध्यात्म, धर्म तथा नीति की विशद विवेचना ने इस महाभारत को भारतीय धर्म तथा संस्कृति का विशाल 'विश्वकोष' बनाने में कुछ उठा नहीं रखा है। डाक्टर सुकथनकर का प्रमाणपुष्ट मत है[3] कि भृगुवंशी ब्राह्मणों के द्वारा किये गये सम्पादनों का ही फल है महाभारत का वर्तमान वृद्धिगत रूप। कुलपति शौनक स्वयं भार्गव थे, उनकी पहली जिज्ञासा भार्गववंश के कथा सुनने की थी—

तत्र वंशमहं पूर्व श्रोतुमिच्छामि भार्गवम्।

---

१ 'जय' नामेतिहासोऽयम्।

२ चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावत् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥ महाभारत।

३ भंडारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट की पत्रिका भाग १८, पृ० १, ७६ तथा नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ४५, पृ० १०५–१६२।

महाभारत के नाना उपाख्यानों का सम्बन्ध स्पष्टरूप से भार्गवों के साथ है। औवं (आदि), कार्तवीर्य (वन), अम्बोपाख्यान (उद्योग) विपुला (शान्ति), उत्तंक (अश्व०)—इन समग्र विख्यात आख्यानों का सीधा सम्बन्ध भार्गवों के साथ है। आदि पर्व के प्रथम ५३ अध्याय (पौलोम तथा पौष्यपर्व) भार्गववंशीय कथा से अपना सम्बन्ध रखते हैं। आजकल महाभारत की 'शतसाहस्री संहिता' के नाम से प्रख्याति का कारण इसके एक लक्ष परिमित श्लोकों की संख्या ही है। यह संख्या अठारहों पर्वों के श्लोकों के साथ हरिवंश के श्लोकों को मिलाने से ही सिद्ध होती है। इसी लिए 'हरिवंश' महाभारत का परिशिष्ट माना जाता है। महाभारत के दो प्रधान पाठ-सम्प्रदाय हैं, एक उत्तर भारत का, दूसरा दक्षिण भारत का। दोनों की श्लोक संख्या, अध्यायों के क्रम, आख्यानों का सन्निवेश—आदि विषयों में महान् अन्तर है। मूल महाभारत की खोज बहुत दिनों से ही रही है। आजकल भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना से एक संस्करण निकल रहा है जिसमें इस ग्रंथ के विशुद्ध रूप को निश्चित करने का सफल उद्योग है।

रचना-काल

४४५ ई० (५०२ वि०) के एक शिलालेख में महाभारत का निर्देश इस प्रकार है—'शतसाहस्र्यां संहितायां वेदव्यासेनोक्तम्'। इससे प्रतीत होता है कि इससे कम से कम २०० वर्ष पहले इसका अस्तित्व अवश्य होगा। कनिष्क के सभापण्डित अश्वघोष ने 'वज्रसूची' उपनिषद् में हरिवंश के श्लोक तथा स्वयं महाभारत के भी कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं।[1] अश्वघोष का समय ई० सन् की प्रथम शताब्दी है। अतः उस समय यह ग्रंथ हरिवंश के साथ लक्षश्लोकात्मक था, इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। आश्वलायन गृह्यसूत्र (३।४।४) में 'भारत' तथा 'महाभारत' का पृथक् पृथक् उल्लेख

१ सप्त व्याधा दशार्णेषु मृगाः कालञ्जरे गिरौ।

किया गया है[1]। बौधायन के गृहसूत्र में 'विष्णुसहस्रनाम' का स्पष्ट उल्लेख है तथा भगवद्गीता का एक श्लोक प्रमाण रूप से उद्धृत किया गया है।[2] इन दोनों ग्रंथकारों की स्थिति ईस्वी के लगभग चार सौ वर्ष पहले मानी जाती है। ये दोनों ग्रंथकार महाभारत के विस्तृत रूप से परिचित हैं। गीता को भगवान् के वचनरूप से जानते हैं। ययाति के उपाख्यान का निर्देश करते हैं। अतः स्पष्ट है कि मूल महाभारत की रचना इससे (४०० ई० पू०) कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व अवश्य हुई होगी। महाभारत बुद्ध के पहले की रचना है; परन्तु वर्तमान रूप उसे बुद्ध के पीछे प्राप्त हुआ, यही मानना न्याय-संगत है।

ग्रंथ परिचय

महाभारत के खण्डों को पर्व कहते हैं। ये संख्या में अठारह हैं (१) आदि (२) सभा (३) वन (४) विराट् (५) उद्योग (६) भीष्म (७) द्रोण (८) कर्ण (९) शल्य (१०) सौप्तिक (११) स्त्री (१२) शान्ति (१३) अनुशासन (१४) अश्वमेध (१५) आश्रमवासी (१६) मौसल (१७) महाप्रस्थानिक (१८) स्वर्गारोहण। आदि पर्व में चन्द्रवंश का विस्तृत इतिहास तथा कौरव पाण्डवों की उत्पत्ति का वर्णन है। सभा पर्व में है द्यूतक्रीड़ा, वन पर्व में पाण्डवों का बनवास, विराटपर्व में पाण्डवों का अज्ञातवास, उद्योग पर्व में श्री कृष्ण का दूत बनकर कौरवों की सभा में जाना तथा शान्ति का उद्योग करना, भीष्म पर्व में अर्जुन को गीता का उपदेश, युद्ध का आरम्भ, भीष्म का युद्ध और शरशय्या पर पड़ना; द्रोण पर्व में अभिमन्यु

---

१ सुमन्तुजैमिनिवैशम्पायनपैल-सूत्रभारतमहाभारतधर्माचार्याः।

—आश्वलायन गृह्य०, अध्याय ३, खण्ड ४।

२ देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुर्यात् मनसा वाचयेत् इति तदाह भगवान् :—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९।२६)

वध द्रोणाचार्य का युद्ध और वध; कर्ण पर्व में कर्ण का युद्ध और वध; शल्य पर्व में शल्य की अध्यक्षता में लड़ाई और अन्त में वध, सौतिक पर्व में पाण्डवों के सोये हुये पुत्रों का रात में अश्वत्थामा द्वारा वध, स्त्री पर्व में स्त्रियों का विलाप; शान्तिपर्व में भीष्म पितामह का युधिष्ठिर को मोक्षधर्म का उपदेश, अनुशासन पर्व में धर्म तथा नीति की कथाएँ, अश्वमेध में युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ करना, आश्रमवासी पर्व में धृतराष्ट्र गन्धारी आदि का वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना, मौसल पर्व में यादवों का मूसल के द्वारा नाश, महाप्रस्थानिक पर्व में पाण्डवों की हिमालय-यात्रा तथा स्वर्गारोहण पर्व में पाण्डवों का स्वर्ग में जाना वर्णित है।

इनके अतिरिक्त महाभारत में अनेक रोचक तथा शिक्षाप्रद उपाख्यान भी हैं जिनमें निम्नलिखित आख्यान विशेष प्रसिद्ध हैं—

(१) **शकुन्तलोपाख्यान**—यह उपाख्यान महाभारत के आदिपर्व में है जिसमें दुष्यन्त और शकुन्तला की मनोहर कथा है। महाकवि कालिदास के 'शकुन्तला' नाटक का आधार यही आख्यान है।

(२) **मत्स्योपाख्यान**—यह वनपर्व में है। इसमें मत्स्यावतार की कथा है जिसमें प्रलय उपस्थित होने पर मत्स्य के द्वारा मनु के बचाये जाने का विवरण है। यह कथा 'शतपथ' ब्राह्मण में भी उपलब्ध होती है तथा भारत से भिन्न देशों के इतिहास में भी इसका उल्लेख मिलता है।

(३) **रामोपाख्यान**—यह भी कथा वनपर्व में है। वाल्मीकीय रामायण की कथा का यह संक्षेपमात्र है। वाल्मीकि ने बालकाण्ड में गंगावतरण की जो कथा लिखी है, वह भी यहाँ उपलब्ध होती है। इससे स्पष्ट है कि वाल्मीकीय रामायण महाभारत से पहले लिखा गया।

(४) **शिवि उपाख्यान**—यह सुप्रसिद्ध कथानक वनपर्व में ही है जिसमें उशीनर के राजा शिवि ने अपना प्राण देकर शरण में आए कपोत की रक्षा बाज से की थी। यह कथा जातकों में भी आती है।

(५) **सावित्री उपाख्यान**—भारतीय ललनाओं के लिये आदर्शरूप सावित्री की कथा वनपर्व में मिलती है। महाराज द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान्

तथा सावित्री का उपाख्यान पतिव्रत धर्म की पराकाष्ठा है। ऐसी सुन्दर कथा शायद ही किसी अन्य साहित्य में प्राप्त हो।

(६) **नलोपाख्यान**—राजा नल और दमयन्ती की कमनीय कथा इसी पर्व में मिलती है। श्रीहर्ष के 'नैषधचरित' महाकाव्य का यही आधार है।

हरिवंश महाभारत का ही अंश समझा जाता है। इसमें सोलह हजार श्लोक हैं जिसमें यादवों की कथा बड़े विस्तार के साथ दी गई है। इसमें तीन पर्व हैं—(१) हरिवंशपर्व-जिसमें श्रीकृष्ण के पूर्वजों का वर्णन है; (२) विष्णुपर्व—जिसमें श्रीकृष्ण लीला का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है, (३) भविष्यपर्व—जिसमें कलियुग के प्रभाव का कथन है।

महाभारत के टीकाकार

महाभारत के टीकाकारों की एक दीर्घ परम्परा है जिसके अन्तर्गत बड़े विद्वान् तथा अध्यात्मवेत्ता संन्यासियों की गणना है। डा० सुखठणकर के अनुसार महाभारत के टीकाकारों के नाम निम्नलिखित हैं:—अनन्तभट्ट, अर्जुन मिश्र, आनंद, चतुर्भुज मिश्र, जगदीश चक्रवर्ती, देवबोध नीलकण्ठ, महानन्द पूर्ण, यज्ञनारायण, रत्नगर्भ, रामकिंकर, रामकृष्ण, रामानुज, लक्ष्मण, वरद, वादिराज, विद्यासागर, विमलबोध, शंकराचार्य, श्रीनिवास, सर्वज्ञनारायण, सृष्टिधर (२२)। इन बाइस टीकाकारों के अतिरिक्त अन्य टीकाकार ये हैं—गदानन्द ('भारत ज्ञान दीपक' नामक टीका के कर्ता, जिनकी टीका का हस्तलेख वंगीय साहित्य परिषद् में उपलब्ध है), जगद्धर, जनार्दन मुनि और विद्यानिधिभट्ट (जिन चारों का निर्देश आनन्दपूर्ण ने अपनी भारत-टीका में भारत टीकाकार के रूप में किया है), वैशम्पायन तथा शाण्डिल्य, माधव (३०) (जिनमें प्रथम का निर्देश विमलबोध ने तथा अन्तिम दो का अर्जुन मिश्र ने अपनी टीकाओं में किया है) किसी रामकृष्ण की विरोधार्थ भंजिनी व्याख्या तथा अज्ञातनामा लेखक का 'विषमपद विवरण' विराटपर्व के ऊपर प्रकाशित हैं। वादिराज के 'लक्षाभरण' की कुछ टिप्पणियाँ विराट तथा उद्योग पर्वों पर प्रकाशित हैं। आठ टीकाओं के साथ

विराट पर्व को १९१५ ई० में तथा पाँच टीकाओं के साथ उद्योग पर्व को १९२० में गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस ने प्रकाशित कर महाभारत के अनुशीलन कार्य में विशेष योग दान दिया है। 'निगूढ़पद बोधिनी' तथा 'भारतटिप्पणी' नामक अज्ञातनामा लेखकों की व्याख्या के अतिरिक्त उत्कल के कवीन्द्र (लगभग १६०० ई०) की 'भारत व्याख्या' मिलती है। वादिराज की व्याख्या का नाम 'लक्षश्लोकालंकार' भी है। श्रीधराचार्य ने मोक्षधर्म के ऊपर अपनी व्याख्या लिखी है। इस प्रकार महाभारत के ३६ टीकाकारों का पता पूर्णरूप से चलता है। इन टीकाकारों में से अनेक के तो नाम ही यत्र तत्र निर्दिष्ट हैं तथा कतिपय टीकाकारों की टीका एक पर्व पर अथवा अनेक पर्व पर मिलती है। ऐसे श्लाघ्य टीकाकार भी हैं जिनकी टीका भारत के १८ पर्वों पर उपलब्ध होती है। इनमें प्रख्यात कतिपय टीकाकारों का काल-क्रम से संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :—

(१) **देवबोध** या देवस्वामी। महाभारत के सर्वप्राचीन उपलब्ध टीकाकार हैं जिनका उल्लेख पिछले टीकाकारों ने बड़े आदर तथा सम्मान के साथ किया है। इनकी टीका आदि[1] सभा[1], भीष्मपर्व[1] तथा उद्योग[2] पर्व के ऊपर प्रकाशित भी हो चुकी है। टीका की पुष्पिका में ये परमहंस परि-व्राजकाचार्य कहे गये हैं। फलतः ये अद्वैतवादी संन्यासी थे। इनके गुरु का नाम **सत्यबोध** मिलता है। इनके व्यक्तित्व के विषय में इतना ही ज्ञात है। इनकी टीका नाम 'ज्ञानदीपिका' है। यह विस्तृत नहीं है; कठिन शब्दों का अर्थ देकर यह विषय स्थलों का तात्पर्य भी देती है। यह टीका अत्यन्त प्रामाणिक मानी जाती है। इसका प्रभाव पिछले टीकाकारों पर प्रचुर मात्रा में है। और मतभेद होने पर भी टीकाकारों ने इसका उल्लेख बड़े आदर तथा सम्मान के साथ किया है। अर्जुनमिश्र के द्वारा यह श्लाघ्य स्तुति टीका-कारों के हार्दिक भाव को प्रकट करती है—

---

१ भंडारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट पूना से प्रकाशित।

२ डा० डे के सम्पादकत्व में विद्याभवन, बंबई से प्रकाशित।

वेदव्यासमुखाम्भोजगलितं वाङ्मयामृतम्
संभोजयन्तं भुवनं देवबोधं भजामहे ॥

विमलबोध ने इनके मतका उल्लेख अपनी टीका में किया है। फलतः इनका समय ११५० ईस्वी से पूर्व होना चाहिए।

(२) वैशम्पायन—मोक्षधर्म अर्थात् शान्तिपर्व के ऊपर लिखी इनकी व्याख्या उपलब्ध है। विमलबोध ने अपनी 'विषम श्लोकी' नामक महाभारत व्याख्या में इनके नाम का उल्लेख किया है—

वैशम्पायन-टीकादि देवस्वामिमतानि च।
वीक्ष्य व्याख्या विरचिता दुर्घटार्थ प्रकाशिनी ॥

अतः इनका आविर्भावकाल ११५० ईस्वी से पूर्व होना चाहिए। देवबोध तथा विमलबोध के बीच की व्याख्याशृंखला वैशम्पायन के द्वारा निश्चितरूप से निर्मित की गई है।

(३) विमलबोध—इनकी व्याख्या अठारहों पर्वों के ऊपर उपलब्ध होती है। फलतः इनका महत्त्व प्रौढ़ टीकाकारों में समधिक वैशिष्ट्यपूर्ण है। इन्होंने अपनी टीका में धर्मनिबन्धकार के रूप में धारेश्वर (भोज) का, उनके प्रख्यात ग्रंथ 'सरस्वती कण्ठाभरण' का तथा उनके अज्ञातपूर्व ग्रन्थ 'व्यवहार-मञ्जरी' का सप्रमाण उल्लेख किया है। भोजराज का समय १०१० ई० से लेकर १०५५ तक साधारणतया माना जाता है। १०६२ ई० के पीछे उनका समय कथमपि नहीं है। इस उल्लेख के कारण विमलबोध का समय १०५० ई० के आसपास मानना उचित प्रतीत होता है। इस समय की सत्यता की पुष्टि आनन्दपूर्ण विद्यासागर (१३५० ई०) के द्वारा विद्यासागरी टीका में उल्लेख से भी होती है। विमलबोध का समय धारेश्वर भोज तथा आनंदपूर्ण के बीच में है। इनकी टीका का नाम है—विषमश्लोकी या दुर्घटार्थ-प्रकाशिनी या दुर्बोधपदभंजिनी है और यह विराट तथा उद्योगपर्व के ऊपर प्रकाशित हुई है (गुजराती प्रिंटिंग प्रेस)।

(४) नारायण सर्वज्ञ—यह टीकाकार कहीं सर्वज्ञनारायण या केवल नारायण नाम से भी निर्दिष्ट किया गया है। मनुस्मृति के टीकाकारों में भी 'सर्वज्ञ नारायण' अन्यतम है जिसका समय काणे के अनुसार ११३०—१२०० ई० है। मनु टीका का नाम मन्वर्थवृत्ति निबन्ध है जो मनु की प्रख्यात टीका मानी जाती है। ये दोनों सर्वज्ञ नारायण अभिन्न व्यक्ति माने जाते हैं। इनकी टीका के विस्तार का ठीक ठीक पता नहीं चलता कि वह कितने पर्वों के ऊपर है। विराट तथा उद्योग पर्व की टीका प्रकाशित है। इस टीका का प्रभाव टीकाकारों के ऊपर विशेष पड़ा। उद्योगपर्व की टीका के परिशिष्ट रूप में अर्जुन मिश्र ने इस कूट श्लोक का व्याख्यान सर्वज्ञ-नारायण के मतानुसार किया है।

विषं भुङ्क्ष्व सहामत्यै विंनाशं प्राप्नुहि ध्रुवम्।
विना केन विना नाभ्यां स्फीतं कृष्णाजिनं वरम्।

अतः अर्जुन मिश्र के ऊपर इनके प्रकृष्ट प्रभाव का संकेत इससे स्पष्ट है। इनकी टीका का नाम 'भारतार्थ प्रकाश' है।

(५) चतुर्भुज मिश्र—ये भी महाभारत के एक मान्य टीकाकार हैं। इनके समय का परिचय अनेक साधनों से मिलता है। इन्होंने अपनी टीका में मेदिनी कोष को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। मेदिनी का समय १२०० ई०–१२७५ ई० के वीच माना जाता है। उधर आनन्दपूर्ण विद्यासागर ने (१३५० ई०) अपनी विद्यासागरी टीका में चतुर्भुज मिश्र का निर्देश किया है। फलतः इनका समय दोनों के मध्य में कभी मानना होगा। १३०० ई० के आसपास सर्वज्ञ नारायण के अनन्तर इन्हें स्थान देना समुचित होगा। टीका का नाम भारतोपायप्रकाश है जो केवल विराट पर्व पर प्रकाशित है।

चतुर्भुज मिश्र के द्वारा रचित अमरुशतक की एक व्याख्या (भाव चिन्तामणि) का पता चलता है जिसमें ये अपने को 'काम्पिल्य' बतलाते हैं। फलतः ये कंपिल (उत्तर प्रदेश के फतेहगढ़ के पास) के निवासी थे।

अर्जुनवर्मदेव (१२११ ई०–१२१५ ई०) के द्वारा रचित अमरुशतक की व्याख्या से वे परिचय रखते हैं। फलतः इनका समय १२५० ई० के अनन्तर तथा १६६० ई० पूर्व (जब इनकी टीका का हस्तलेख मिलता है) होना चाहिये। मेरी दृष्टि में महाभारत के टीकाकार चतुर्भुज मिश्र ही अमरुशतक के भी टीकाकार हैं। और इनका समय १३ वीं के अन्तिम भाग में मानना कथमपि अनुचित न होगा।

(६) आनन्दपूर्ण 'विद्यासागर'—ये १४ वीं शती के मध्य में एक प्रख्यात संन्यासी थे। विद्यासागर इनका उपनाम था। इनके गुरु का नाम था परमहंस परिव्राजकाचार्य अभयानन्द। अद्वैत वेदान्त के इतिहास में आनन्द-पूर्ण एक महिमाशाली प्रौढ ग्रन्थकार हैं जिनकी दार्शनिक कृतियाँ ये हैं—(१) पंचपादिका टीका, (२)—न्यायकल्पलतिका (सुरेश्वराचार्य की वृहदारण्य-वार्तिक की टीका), (३) भावशुद्धि (मण्डन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि की टीका), (४) खण्डन खाद्यटीका (विद्यासागरी), (५) महाविद्या विडम्बन टीका (१२२५ ई० के आसपास लिखित वादीन्द्र के प्रौढ़ ग्रन्थ की व्याख्या), (६) समन्वय सूत्र विवृत्ति (ब्रह्मसूत्र १।१।४ की टीका), (७) न्यायचन्द्रिका (चार परिच्छेदों में न्याय, मीमांसा तथा वैशेषिक में मतों का खण्डन) (८) वेदान्त विद्यासागर (वेदान्त का मौलिक ग्रन्थ), (६) प्रक्रियामंजरी। इनकी महाभारत पर टीका बहुत ही विस्तृत तथा पाण्डित्यपूर्ण है जिसमें प्राचीन टीकाकारों के मतों का उल्लेख विस्तार के साथ है। चार पर्वों की टीका उपलब्ध है—आदि पर्व (जयकौमुदी), सभा, भीष्म, शान्ति तथा अनुशासन पर्व (व्याख्या रत्नावली)। इनके समय का निर्धारण किया जा सकता है। ऊपर के छठे ग्रन्थ का हस्तलेख १४०५ ई० का तथा दूसरे ग्रन्थ का हस्तलेख १४३४ ई० का है। फलत १४०० ईस्वी से इन्हें प्राचीन होना ही चाहिये। नौवें ग्रन्थ की रचना कामदेव[१] नामक राजा के समय की गई।

---

१ श्री कामदेवे जगतीं प्रशासति
श्रीशैलकन्यापतिभक्तिधारिणि।
विद्योदधेरुत्थितमेतदाराद्
टीकामृतं भूसुरहर्षवर्धनम्॥

ये कामदेव गोवा में राज्य करनेवाले कदम्बवंशी नरेश थे जिनका शिलालेख १३१५ ई० का उपलब्ध होता है। फलतः आनन्दपूर्ण का समय १३५० ई० में अर्थात् १४ शती का मध्यभाग मानना उचित होगा। इन्होंने आदिपर्व की टीका (संस्कृत साहित्य परिषद् में उपलब्ध) में सात नये महाभारत के टीकाकारों का उल्लेख किया है जिनमें से अनेक टीकाकार एकदम नये हैं। इन व्याख्याकारों के नाम हैं—अर्जुन, जगद्धर, जनार्दन, मुनि, लक्ष्मण (टीका का नाम 'विषमोद्धारिणी' जो सभा तथा विराट पर्व पर उपलब्ध है), विद्यानिधि भट्ट तथा सुष्टिधर। विद्यासागर के द्वारा उद्धृत होने से इन सभी का समय १४ शती के मध्यकाल से निश्चित रूप से प्राचीन है।

(७) अर्जुनमिश्र

इनकी टीका का नाम 'भारतार्थदीपिका' और 'भारतसंग्रह दीपिका' है। इसका केवल एक अंश (विराट तथा उद्योग की टीका) अब तक प्रकाशित हुआ है। टीका की पुष्पिका में ये अपने को 'भारताचार्य' की महनीय उपाधि से विभूषित करते हैं। इनके पिता का नाम था—ईशान जो भारत के पाठक या पाठकराज थे और अपने पुत्र के समान ही 'भारताचार्य' की उपाधि धारण करते थे। ये बंगाल के निवासी तथा गंगा के तीरस्थ किसी नगर या ग्राम के वासी थे। अपने कुल को 'चम्पाहेटीय' या 'चम्पाहेठि' के नाम से निर्दिष्ट किया है जिससे सूचित होता है कि इनका कुल या परिवार 'चम्पाहेटी' नामक स्थान का निवासी था। कलकत्ते से १५ मील दक्षिण पश्चिम में 'चम्पाहाटी' नामक एक स्थान है। सम्भव है कि अर्जुन मिश्र का कुल यहीं का मूल निवासी था। इन्होंने अपने से प्राचीन टीकाकारों में देवबोध, विमलबोध, शाण्डिल्य तथा सर्वनारायण का उल्लेख किया है और ये स्वयं नीलकण्ठ (१७ शती का उत्तरार्ध) के द्वारा उद्धृत हुए हैं। इनकी 'अर्थदीपिका' देवबोध की प्रख्यात टीका के आदर्श पर निर्मित है। इसका संकेत इन्होंने अपनी टीका (उद्योगपर्व की) में स्पष्टतः किया है। मोक्षधर्म पर इनकी टीका के हस्तलेख का समय १५३४ ईस्वी है। इन्होंने मेदिनी

कोष (१२०० ई०-१२७५) उद्धृत तथा सर्वज्ञ नारायण (१३ शती) का निर्देश किया है। फलतः इनका समय १४ शती का उत्तरार्ध (१३५० ई० — १५०० ई०) माना जा सकता है। इनकी टीका अल्पाक्षर होने पर भी सारगर्भित है। सनत्सुजातीय पर्व की व्याख्या में अध्यात्मशास्त्र के सिद्धान्तों का बड़ा ही प्रामाणिक और पाण्डित्यपूर्ण विवेचन है। ये हरिवंश को भी महाभारत का अविभाज्य अंग मानते हैं और इसी लिए इनकी टीका हरिवंश के ऊपर भी उपलब्ध है।

(८) नारायण

ये पूर्वनिर्दिष्ट सर्वज्ञ नारायण से अवान्तरकालीन भिन्न टीकाकार हैं क्योंकि इन्होंने स्पष्टतः नारायण सर्वज्ञ के मत की आलोचना कर अपनी व्याख्या की रचना की।[1] इन्होंने अर्जुन मिश्र का पूर्वटीकाकारों की गणना में उल्लेख किया है। फलतः इनका समय १४ शती का अनन्तर कभी होना चाहिये। इनकी टीका का नाम 'निगूढ़ार्थ पद बोधिनी' है।

(९) वादिराज

यह टीकाकार दक्षिण भारत के निवासी थे। परन्तु इनके पाठ दक्षिणीय कोश से पूर्णतया नहीं मिलते और न उत्तरीय कोश से मिलते हैं। इनके पाठ दोनों कोशों के बीच में कहीं हैं। विराट पर्व की टीका के अंत में अपने मध्वगुरु को इन्होंने प्रणाम अर्पित किया है। फलतः ये माध्वमतानुयायी थे। समय १४५०-१५०० ई० के बीच। टीका का नाम 'लक्षाभरण' जो विराट तथा उद्योग पर्व के ऊपर प्रकाशित है (गुजराती प्रेस)।

---

१ श्रीदेवबोध विमलबोध शाण्डिल्य माधवः
नारायणश्च सर्वज्ञोऽर्जुनमिश्रस्तथैव च।
एतेषां मतमालोच्य स्वमत्या च क्वचित् क्वचित्
कृता नारायणेनेयं निगूढ़-पद-बोधिनी॥
— मद्रास हस्तलेख

(१०) नीलकंठ

इनका पूरा नाम नीलकण्ठ चतुर्धर (चौधरी) है और इनके वंशज आज भी महाराष्ट्र में विद्यमान हैं। इनकी टीका 'भारत भावदीप' नितान्त प्रख्यात, बहुशः प्रकाशित हुई है।[१] यह महाभारत के १८ पर्वों पर उपलब्ध है। नीलकंठ के पूर्वज महाराष्ट्र के कूर्परग्राम (आजकल कोपर गाँव बम्बई प्रान्त का अहमद नगर जिला) के मूल निवासी थे, परंतु इस टीका की रचना काशी में की गई जहाँ वे आकर बस गये थे। नीलकंठ ने मन्त्ररामायण तथा मन्त्र भागवत नामक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है जिसमें रामायण और भागवत की कथा से संबद्ध मन्त्र ऋग्वेद से क्रमबद्ध संगृहीत हैं तथा नीलकंठ ने इनके ऊपर अपने सिद्धान्तानुसार टीका भी लिखी है। नीलकण्ठ चतुर्धर के पिता का नाम 'गोविन्द' था तथा पुत्र का भी नाम 'गोविन्द' था जिनके पुत्र (अर्थात् नीलकण्ठ के पौत्र) शिव ने पैठण में रहते हुए 'धर्मतत्त्व प्रकाश' ग्रन्थ का निर्माण १७४६ ईस्वी में किया। नीलकण्ठ की 'शिवताण्डव टीका' का रचनाकाल १६८० ई० तथा गणेश गीता की टीका का रचना काल १६९३ ईस्वी है। 'भारत भावदीय' के नाना हस्तलेखों का समय १६८७ ई० से लेकर १६९५ ई० है। अतः इनका समय १६५० ई० १७०० ई० मानना उचित प्रतीत होता है।[२]

समीक्षण

संस्कृत साहित्य में आदिकवि वाल्मीकि के अनन्तर महर्षि व्यास ही सर्वश्रेष्ठ कवि हुए। इनके लिखित काव्य 'आर्ष काव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। पिछली शताब्दियों में संस्कृत साहित्य की जो उन्नति हुई, जिन काव्य-नाटकों की रचना हो गई उसमें इन दो ग्रन्थों का प्रभाव मुख्य है। महा-

---

१ चित्रशाला प्रेस पूना से अनेक जिल्दों में प्रकाशित।

२ इन टीकाकारों की विशेष चर्चा के लिए द्रष्टव्य Sukthankar Memorial Edition, (पूना, १९४४) खण्ड १ पृष्ठ २६३-२७७ तथा Gode: Studies in Indian Literary History Vol I. (बम्बई १९५३) पृष्ठ ४१३-४२२।

कवि कालिदास ने रघुवंश में इन कवियों की ओर बड़े आदर के शब्दों में संकेत किया है। व्यास की प्रतिभा की परिचायक यही घटना है कि युद्धों के वर्णन में कहीं भी पुनरुक्ति नहीं दीख पड़ती है। व्यास जी का अभिप्राय महाभारत लिखकर केवल युद्धों का वर्णन नहीं है, अपितु इस भौतिक जीवन की निःसारता दिखला कर प्राणियों को मोक्ष के लिये उत्सुक बनाना है। इसीलिये महाभारत का मुख्य रस शान्त है। वीर तो अंगभूत है। इसमें प्राकृतिक वर्णन नितान्त अनूठे तथा नवीनता पूर्ण हैं। व्यास जी की यह कृति महाकाव्य न होकर इतिहास कही जाती है क्योंकि वह हमारे आदरणीय वीरों की पुण्यमयी गाथा है। यह वह धार्मिक ग्रंथ है जिसमें प्रत्येक श्रेणी का मनुष्य अपने जीवन के सुधार की सामग्री प्राप्त कर सकता है। राजनीति का तो वह सर्वस्व ही है। राजा और प्रजा के पृथक् पृथक् कर्तव्यों तथा अधिकारों का समुचित वर्णन इसकी महती विशेषता है। वाल्मीकि के साथ-साथ व्यास से भी हमारे कवियों को काव्यसृष्टि के लिये प्रेरणा तथा स्फूर्ति मिलती आई है और आगे भी मिलेगी। भगवद्‌गीता की महत्ता का प्रदर्शन करना अनावश्यक है। कर्म; ज्ञान और भक्ति का जैसा मंजुल समन्वय गीता में किया गया है वैसा अन्यत्र अप्राप्य है। व्यास जी का कथन है कि इस आख्यान को बिना जाने हुए जो पुरुष वेदांग तथा उपनिषदों को भले जानें, वह कभी विचक्षण नहीं कहा जा सकता[1] क्योंकि यह महाभारत एक साथ ही अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा कामशास्त्र है[2]। जिसने इस आख्यान का रसमय श्रवण किया है उसे अन्य कथानकों में किसी प्रकार का रस नहीं मिलता, ठीक उसी प्रकार, जैसे कोकिल की मधुर कूक के आगे कौए की बोली नितान्त रूखी प्रतीत होती

---

१ यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥ ८२॥

२ अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥ ८३॥

—महा० आदि० अ० २

है[1]। महाभारत की प्रशंसा में व्यास ने स्वयं इसे समस्त कविजनों के लिए उपजीव्य बतलाया है। इस ग्रन्थ के अभ्यास से कवियों की बुद्धि में स्फूर्ति उत्पन्न होती है। व्यास जी का यह कथन अक्षरशः सत्य है। बाद के कविजनों ने सचमुच महाभारत से बहुत कुछ लिया है:—

इतिहासोत्तमादस्माजायन्ते कवि-बुद्धयः।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः॥
× × ×
इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः॥

महाभारत के पात्रों में एक विचित्र सजीवता भरी हुई है। सब अपने अपने ढंग से निराले पात्र हैं। परन्तु धर्मराज में जो धार्मिकता दिखाई पड़ती है वह एक अद्भुत वस्तु है। महाभारत सदा से धर्मशास्त्र के रूप में ही गृहीत होता आया है वस्तुतः वह है भी धर्म का ही प्रतिपादक ग्रन्थ। व्यास ने अपना सन्देश मनुष्यों के लिए सुन्दर श्लोक में निबद्ध कर दिया है[2]। यदि मनुष्य सच्चा सुख का अभिलाषी है तो उसका परम कर्तव्य धर्म का सेवन ही है।

महाभारत का वैशिष्ट्य

महर्षि वेदव्यास ने भारतीय अर्थनीति, राजनीति तथा अध्यात्म शास्त्र के सिद्धान्तों का सारांश इतनी सुन्दरता से इस ग्रन्थरत्न में प्रस्तुत किया है कि यह वास्तव में भारत के धर्म तथा तत्वज्ञान का विश्वकोष है। धर्म ही भारतीय संस्कृति का प्राण है और इसीलिए व्यासजी ने अधर्म से देश का

---

१ श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते।
पुंस्कोकिलगिरं श्रुत्वा रूक्षा ध्वांक्षस्य वागिव॥ ८४॥
—महाभारत आदिपर्व, अध्याय २

२ ऊर्द्ध्वबाहुर्विरौम्येष, न च कश्चित् शृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स, किमर्थं न सेव्यते॥
—महाभारत।

नाश तथा धर्म से राष्ट्र के अभ्युत्थान की बात बड़े ही सुन्दर आख्यानों के द्वारा हमें सिखलाई है। 'भारत सावित्री' (जो महाभारत की भव्य शिक्षा का सार संकलन माना जाता है) में व्यास की स्पष्ट उक्ति है कि धर्म का परित्याग किसी भी दशा में भय से या लोभ से कभी न करना चाहिए। धर्म शाश्वत है, चिरस्थायी है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्,
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुख-दुःखे त्वनित्ये,
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

व्यास कर्मवादी आचार्य हैं। कर्म ही मनुष्य का पक्का लक्षण है, कर्म से पराङ्मुख मानव मानव की पदवी से सदा वंचित रहता है।

प्रकाश-लक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणा।
(अश्वमेध ४३।२०)

इसीलिए यह भव्य भारतभूमि कर्मभूमि है। फल भोगने का स्थान तो स्वर्ग है जो इस भूमि के छोड़ने के अनन्तर प्राप्त होता है। इस विशाल ब्रह्मांड में मनुष्य ही सबसे श्रेष्ठ वस्तु है जिसके कल्याण के लिए पदार्थों की सृष्टि होती है तथा समाज की व्यवस्था की जाती है। आज के समाज-शास्त्रियों का यह सिद्धान्त कि मनुष्य ही इस विश्व का केन्द्र है व्यास के इस कथन पर आश्रित है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि।
नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्॥
(शान्ति १८०।१२)

मानवता का उन्नायक तत्त्व पुरुषार्थ ही है। व्यास के शब्दों में यह सिद्धान्त 'पाणिवाद' के नाम से विख्यात है। जगत् में जिन लोगों के पास 'हाथ' है—जो कर्म में दक्ष तथा उत्साही हैं—उनके सब अर्थ सिद्ध होते हैं। संसार में पाणिलाभ से बढ़कर लाभ ही कोई दूसरा नहीं है। मानव जीवन की कृतकार्यता हाथ रखने तथा हस्त-संचालन में ही तो है। हाथ रहते भी हाथ पर हाथ रखकर जीवन बिताना पशुत्व का व्यञ्जक चिह्न है। इसमें मानव की सिद्धार्थता नहीं है—

अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः ।
अतीव स्पृहये तेषां येषां सन्तीह पाणयः ॥
न पाणिलाभाधिको लाभः कश्चन विद्यते ॥
(शान्ति १८०।११, १२)

राष्ट्रभावना

व्यासजी की राष्ट्रभावना बड़ी ही उदात्त, विशुद्ध तथा ओजस्विनी है। राजा राष्ट्र का केन्द्र होता है। भारतीय राजा प्रजातन्त्र युग के अधिनायकों के दुर्गुणों से सर्वथा मुक्त होता है तथा स्वेच्छाचारी राजाओं के दोषों से भी विहीन होता है। वह होता है प्रजा का सर्वभावेन हितचिन्तक तथा मंगल-साधक। भारतीय धर्म ही राजमूलक होता है अर्थात् धर्म की व्यवस्था तथा संचलन का उत्तरदायित्व राजा के ही ऊपर एकमात्र रहता है। यदि राजा प्रजा का पालन नहीं करे, तो प्रजा ही एक दूसरे को न खा डालेगी, प्रत्युत वेदत्रयी का भी अस्तित्व लोप हो जायेगा और विश्व को धारण करने वाला धर्म ही रसातल में डूब जावेगा।[1] राजधर्म के बिगड़ने पर समाज तथा राष्ट्र का सर्वनाश हो जाता है। राजनीतिक नेता के लिए महाभारत एक विलक्षण आदर्श उपस्थित करता है जो आज भी उतने ही सुन्दर रूप से अनुकरणीय है तथा ग्राह्य है। भारत कृषि-प्रधान राष्ट्र है। अतः व्यासजी का आग्रह है कि जो नेता स्वयं अपने हाथों कृषि नहीं करता, खेत नहीं जोतता बोता, उसे नेता बनाकर राष्ट्र की समिति में जाने का अधिकार नहीं होता।

न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत् कृषिम् ।
(उद्योग ३६।३१)

---

१ राजमूलो महाप्राज्ञ ! धर्मो लोकस्य लक्ष्यते ।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ।
मज्जेद् धर्मःत्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत् ॥
(शान्ति ६८ अ०)

ठीक ही है, किसानों का नेता किसान ही हो सकता है। कृषि से अनभिज्ञ, कुर्सीतोड, बकवादी नेता किसानों का कौन-सा मंगल कर सकता है?

अध्यात्मतत्त्व

व्यासजी अध्यात्म शास्त्र की सूक्ष्म बारीकियों में न पड़कर हमें सुखद तथा नियमित जीवन बिताने की शिक्षा देने पर आग्रह करते हैं। मानव का आध्यात्मिक कल्याण इन्द्रिय-निग्रह से ही होता है।[1] मनुष्य इन्द्रियों का दास बनकर पशुभाव को प्राप्त होता है और इन्द्रियों का स्वामी बनकर अपने जीवन को सफल बनाने में समर्थ होता है। एक स्थान पर व्यास की यह सारगर्भित उक्ति है कि वेद का उपनिषद् अर्थात् रहस्य है—सत्य। सत्य का भी उपनिषत् है—दम और इसी दम—इन्द्रिय-दमन का—रहस्य है मोक्ष। समग्र अध्यात्म शास्त्र का यही निचोड़ है—

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषत् मोक्षः एतत् सर्वानुशासनम् ॥

(शान्ति २६६।१३)

'करनी बड़ी है कथनी से'—व्यासजी की यही मान्य शिक्षा है मानवों के लिए। महाभारत में किसी बोध्य ऋषि के द्वारा कही गई यह प्राचीन गाथा इसी तथ्य पर जोर देती है—

उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कञ्चन।

(शान्ति १७८।६)

भारतीय संस्कृति आर्जव—ऋजुभाव—स्पष्ट कथन तथा सीधे आचरण को ही मानव जीवन में नितान्त महत्त्व देती है। वह जिह्म मार्ग—टेढ़ा रास्ता—मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् को मृत्यु का रूप बतलाती है तथा प्राणियों को उसके मानने से सदा दूर भागने का उपदेश देती है—

---

१ आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रिय-निग्रहात्। उद्योग ६६।१७

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥

(आश्व० ११।४)

काल के चक्र से कोई बच नहीं सकता। पाण्डवों की विषम तथा समृद्ध दशाओं के आलोचक की दृष्टि में काल की महिमा अपरिमेय है। काल ही कभी बलवान् बनता है और कभी दुर्बल। वही जगत् को अपनी इच्छा से ग्रसता है। इसी चक्र के भीतर यह समग्र विश्व अपनी सत्ता धारण किये हुए है। यह देव-निर्मित मार्ग है जिसे लाख चेष्टा करने पर भी कोई पलट नहीं सकता। मानव जीवन का श्रेयस्कर मार्ग है धर्म का आश्रय लेकर आत्मविजय करना। व्यास जी ने आत्म-साक्षात् के लिए बड़ी सुन्दर उपमा दी है। जिस प्रकार मूँज से सींक को अलग किया जाता है, उसी प्रकार पंचकोशों में अन्तर्निहित चैतन्यरूप आत्मा को भी साधक पृथक् कर साक्षात्कार करता है। आनन्दवर्धन की तो यह स्पष्ट सम्मति है कि महाभारत का मुख्य रस शान्त रस है। नाना विकट प्रपंचों में न लिप्त होकर मानव आत्मस्वरूप का परिचय पाकर मोक्ष का सम्पादन करे, महाभारत की यही अमूल्य शिक्षा है।

६

तुलना

रामायण और महाभारत की तुलना करने से अनेक आवश्यक तथ्यों का पता चलता है। मुख्य तुलना दो विषयों में की जा सकती है। प्रथम तो उनके वर्णनीय विषय को लेकर और दूसरा उनके रचना-काल को लेकर। रामायण आदिकाव्य माना जाता है और महाभारत इतिहास गिना जाता है। इस साम्प्रदायिक भेद का यह अभिप्राय है कि रामायण में काव्यगत चमत्कार महत्त्व की वस्तु है। महाभारत में प्राचीनकाल के अनेक प्रसिद्ध राजाओं

के इतिवृत्त का वर्णन करना ही ग्रंथकार का उद्देश्य है। इसीलिए रामायण में राम-रावण युद्ध की घटना ही सर्वतोभावेन मुख्य है। अन्य छोटे-मोटे कथानक भी हैं, परन्तु वे प्रधान वृत्त को पुष्ट करने के लिए ही रचित हैं। उधर महाभारत में प्रधान घटना कौरवों तथा पाण्डवों का युद्ध है, पर इसके साथ-साथ प्राचीन काल की अनेक कथायें अवान्तर रूप से दी हुई हैं जो मुख्य घटना से कम महत्त्व नहीं रखतीं।

दोनों का भौगोलिक विस्तार भिन्न भिन्न है। रामायण में जिस भारतवर्ष की चर्चा है उसकी दक्षिणी सीमा विन्ध्य और दण्डक है, पूर्वी सीमा विदेह है तथा पश्चिमी सीमा सुराष्ट्र है। परन्तु महाभारत के समय आर्य्यावर्त का विशेष विस्तार दीख पड़ता है। पूर्वी सीमा गङ्गासागर का सङ्गम है, दक्षिण में चोल तथा मालावार प्रान्तों की सत्ता है। इतना ही नहीं, लङ्का के भी अधिपति उपहार लेकर युधिष्ठिर के राजसूय में उपस्थित होते हैं।

दोनों के स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर है। रामायण में एक ही कवि की कोमल लेखनी ने अपना चमत्कार दिखलाया है। कविता में समरसता, शब्द और अर्थ का मंजुल सामञ्जस्य है जिससे यह स्पष्ट है कि इसके रचना का श्रेय किसी एक ही व्यक्ति को है। परन्तु महाभारत के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह तो अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयासों का फल है। धीरे-धीरे अपने अल्पकलेवर से बढ़ता हुआ वह लक्षश्लोक विशालकाय ग्रंथ के रूप में आ गया है। रामायण के लेखक की चर्चा कहीं नहीं है, प्रत्युत लव तथा कुश के द्वारा उसके गाये जाने की बात से हम परिचित हैं[1]। परंतु महाभारत लिपिबद्ध किया गया ग्रंथरत्न है, जिसके प्रथम लिपिबद्ध करने का श्रेय स्वयं गणेशजी को प्राप्त है। व्यासजी बोलते जाते थे और गणेशजी उसे लिखते जाते थे।

---

१ ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे।
यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुस्तौ समाहितौ ॥ १२ ॥

—बालकाण्ड, ४ सर्ग

रचना काल की तुलना

रामायण और महाभारत में किसकी रचना पहले हुई ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। गत शताब्दी के प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डाक्टर वेबर ने पहले पहल यह कहना प्रारम्भ किया था कि रामायण की अपेक्षा महाभारत की रचना पहले हुई थी। रामायण में सुन्दर पदविन्यास तथा सुबोध रचना को वे अर्वाचीनता का परिचायक मानते थे। भारत के भी कतिपय विद्वानों ने इसी मत की घोषणा की, परन्तु भारतीय परम्परा उक्त मत के अत्यन्त विरुद्ध है। वाल्मीकि आदिकवि हैं और महाभारत के रचयिता व्यास उनके पश्चाद्वर्ती द्वितीय कवि हैं। युग के हिसाब से भी अन्तर पड़ता है। वाल्मीकि त्रेता युग में होनेवाले रामचन्द्र के समकालिक हैं और व्यास द्वापर युग में उत्पन्न होनेवाले पाण्डवों के समसामयिक हैं। इतना ही नहीं, दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट पता चलता है कि कालक्रम में वाल्मीकि-रामायण महाभारत से पहले की रचना है। इसके पोषक प्रमाण मुख्यतः नीचे दिये जाते हैं—

(१) महाभारत के पात्रों के चरित्र में तथा घटनाओं में व्यावहारिकता का पुट है। जुआ खेलना, खेल में हार जाना, राज्य का न मिलना और उसके लिए युद्ध करना आदि घटनायें व्यवहार तथा विश्वास के क्षेत्र से बाहर नहीं हैं। पर रामायण में ऐसी घटनाएँ हैं जिन पर साधारण मनुष्य अपना विश्वास नहीं जमा पाता। सन्तान के लिये पुत्रेष्टि याग करना, रीछ और वानरों की सहायता से लड़ना, समुद्र के ऊपर पत्थर का विराट पुल बाँधना, रावण का दश सिर होना आदि घटनाएँ मानव संस्कृति की उस प्राथमिक दशा की ओर संकेत करती हैं जब आश्चर्यजनक घटनाओं में विश्वास करना कोई अस्वाभाविक बात न थी।

(२) रामायण में आर्य सभ्यता अपने विशुद्ध रूप में चित्रित की गई है। उसमें म्लेच्छों का, जो सम्भवतः भिन्न वर्ग तथा संस्कृत के अनुयायी थे, तनिक भी सम्पर्क नहीं दीख पड़ता। परन्तु महाभारत में म्लेच्छों का सम्पर्क पर्याप्त रूप से विद्यमान है। दुर्योधन की आज्ञा से जिस पुरोचन

नामक मन्त्री ने लाख (लाक्षा) का घर बनाया था वह म्लेच्छ ही था। महाभारत के युद्ध में दोनों ओर से लड़ने वाले अनेक म्लेच्छ राजाओं के भी नाम मिलते हैं। इतना ही नहीं, विद्वान् लोग म्लेच्छों की भाषा से भी परिचित थे। विदुर ने इसी म्लेच्छ भाषा में युधिष्ठिर को लाख के घर की घटना की सूचना पहले ही सभा में दे रखी थी। उक्त भाषा का प्रयोग इसलिये किया गया कि अन्य सभासद् इसको समझ न सकें।[1]

(३) भौगोलिक दृष्टि से विचार करने पर भी महाभारत पीछे लिखा गया मालूम होता है। रामायण की रचना के समय में दक्षिण भारत में अनार्य जंगली जातियों का ही निवास था। आर्यों की सभ्यता विन्ध्य पर्वत तक ही सीमित थी। परन्तु महाभारत के समय में दक्षिण भारत राजनीतिक दृष्टि से व्यवस्थित, सुशासित तथा सभ्य दीख पड़ता है। भीष्मपर्व में दक्षिण भारत के राजाओं के प्रतिनिधि राजसूय यज्ञ में उपहार लेकर उपस्थित होते हैं। दक्षिण भारत का यह राजनीतिक परिवर्तन सूचित करता है कि महाभारत की रचना पीछे हुई।

(४) महाभारत युद्ध में युद्धकला की विशेष उन्नति दिखाई पड़ती है। द्रौपदी के स्वयंवर में सीता-स्वयंवर के समान केवल एक धनुष को तोड़ देना ही वीरत्व का मापदण्ड नहीं है, प्रत्युत एक विशिष्ट प्रकार से लक्ष्य भेद करना वीरता की कसौटी है। लंकायुद्ध में योद्धागण परस्पर केवल पत्थरों और वृक्षों से प्रहार करते हैं, परन्तु महाभारत युद्ध में सैनिक लोग विशिष्ट सेनापति की देख रेख में लड़ते हैं। व्यूह की रचना इस युद्ध की महती विशेषता है जिसमें अल्पसंख्यक सैनिक बहुसंख्यक

---

१ इस भाषा का उल्लेख निम्नलिखित श्लोक में किया गया है जिसके अर्थ को समझने के लिये नीलकण्ठ की टीका देखना आवश्यक है:—

प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं वचोऽब्रवीत् ॥ १४५ ॥

आदिपर्व, अ० २०

सेना के आक्रमण को रोकने से असमर्थ होते हैं। युद्धकला का यह महाभारत-कालीन विकास इस बात को प्रमाणित कर रहा है कि महाभारत बाद की रचना है।

(५) दोनों की सामाजिक दशा में विशेष अन्तर है। रामायण का समाज आदर्शवाद पर प्रतिष्ठित है। पिता कुटुम्ब का नेता तथा पोषक है। राम आदर्श पुत्र हैं, भरत भ्रातृत्व के गुणों के आगार हैं, सुग्रीव मित्रता की कसौटी हैं। उधर महाभारत की सामाजिक दशा में आदर्शवाद के लिए स्थान नहीं है। भरत के समान भीम अपने पितृतुल्य जेठे भाई के आदेश का पालन करना अपना कर्तव्य नहीं मानते। यदि धर्मराज संधि करने के इच्छुक हैं, तो वे उनका घोर विरोध करने पर तुले हैं। विजय की सिद्धि के लिए चोरी करना या असत्य भाषण किसी प्रकार का पाप नहीं माना जाता था।

(६) रामायण में नैतिक भावना अपने ऊँचे आदर्श पर प्रतिष्ठित है, परन्तु महाभारत में यह भावना ह्रास को पाकर नीचे खिसकने लगी है। मैथिली तथा द्रौपदी के चरित्र की तुलना इसे स्पष्ट करती है। सुन्दरकाण्ड में हनुमान सीता को अपनी पीठ पर बैठाकर राम के पास चलने का प्रस्ताव करते हैं, परन्तु सीता पर-पुरुष के शरीर का स्पर्श नहीं कर सकती हैं। अतः वह इसे तिरस्कार कर देती हैं। रावणवध के अनन्तर सीता कठिन अग्नि-परीक्षा में तप्त होकर अपने पावन चरित्र को सिद्ध करती हैं। महाभारत की द्रौपदी काम्यक वन में जयद्रथ के द्वारा हरण की जाती है परन्तु उसका पुनर्ग्रहण बिना किसी रोक टोक के धीरे से कर लिया जाता है।

(७) रामायण में महाभारत की घटनाओं तथा पात्रों का उल्लेख तक नहीं है, परन्तु महाभारत रामायण की कथा तथा पात्रों से पूरी तरह परिचित है। वनपर्व के तीर्थ यात्रा प्रसंग में शृंगवेरपुर[1] (प्रयाग जिले का सिंगरामऊ)

---

१ वनपर्व ८५।६५

तथा गोप्रतार[1] (फैजाबाद में सरयू का गुतार घाट) तीर्थ में गिने गये हैं, क्योंकि पहले स्थान पर राम ने गंगा पार किया और दूसरे पर वे अपनी प्रजाओं के साथ भूलोक से स्वर्ग में चले गये। वनपर्व के अध्यायों में (अ० १७३-९३) रामोपाख्यान पर्व है जिसमें रामचन्द्र की कथा विस्तार से वर्णित है। इस उपाख्यान में वाल्मीकीय रामायण के श्लोक ज्यों के त्यों रखे गये हैं। उपमायें तथा कल्पनायें वाल्मीकि से ली गई हैं।

रामायण के श्लोकों की समता केवल रामोपाख्यान में ही उपलब्ध नहीं होती, प्रत्युत महाभारत के अन्य पर्वों में भी यह समता तथा निर्देश नितान्त सुस्पष्ट हैं। उदाहरणार्थ माया सीता के मारते समय इन्द्रजीत ने हनुमानजी से जो वचन कहे थे, वे ही वचन द्रोणपर्व में भी अक्षरशः प्राप्त होते हैं।

न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवंगम।
पीडाकरममित्राणां यच्च कर्तव्यमेव तत्॥—युद्ध ८१।२८
अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि।
न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवंगम॥
सर्वकालं मनुष्येण व्यवसायवता सदा।
पीडाकरममित्राणां यत् स्यात् कर्तव्यमेव तत्॥—द्रोणपर्व

इन प्रमाणों के अनुशीलन से किसी भी निष्पक्ष आलोचक को भारतीय परम्परा की सत्यता पर अविश्वास नहीं हो सकता कि रामायण कालक्रम से महाभारत से पूर्व की रचना है।

७

श्रीमद्-भागवत

पुराणों के रचनाकाल का निर्णय एक झमेले की चीज है। पश्चिमी शिक्षा के दूषित वातावरण में पुराण के रूप को ठीक ठीक न समझना कोई

---

१ वनपर्व ८५।७०।

नई बात नहीं है। पुराणों की कथाओं, घटनाओं तथा कालनिर्देशों के वास्तव महत्त्व से अपरिचित आलोचकों की दृष्टि में पुराण एक बड़ा बीहड़ बखेड़ा खड़ा करता है। वे लोग इसे लेखकों की अश्रान्त कल्पना का एक विभ्राट् मानने के अतिरिक्त विशेष महत्त्व नहीं देते। इसका मुख्य कारण दूषित भावना के अतिरिक्त पुराणों के गाढ़ अनुशीलन का अभाव भी है। अब तक इसी भावना के कारण न तो पुराणों का कोई प्रामाणिक संस्करण ही उपलब्ध है जिसका पाठ अनेक प्रतियों की तुलना के द्वारा निश्चित किया गया हो और न पुराणों के विविध विषय की सहानुभूतिपूर्ण गहरी छानबीन ही की गई है। परन्तु इधर विद्वानों की रुचि कुछ बदली है। अब वे समझने लगे हैं कि पुराणों की अपनी एक स्वतंत्र शैली है जिसमें वर्णित विषय के बाह्य रूप को हटाकर भीतर पैठने पर उसकी प्रामाणिकता स्वयं झलकने लगती है। प्राचीन इतिहास प्रस्तुत करने में भी 'पञ्चलक्षण'[1] पुराणों की अपनी एक शिशिष्ट दिशा है। वे कतिपय देशों के ही एकाङ्गी वृत्त के वर्णन करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं मानते, बल्कि ब्रह्माण्ड की सृष्टि से लेकर प्रलय तक महनीय घटनाओं के अंकन में निमग्न रहते हैं। राजवंशों में भी प्रधान का ही उल्लेख किया गया है तथा उन्हीं राजाओं का भी चरित्र चित्रित किया गया है जो उपदेशप्रद होते हैं तथा जिनका चरित्र किसी आदर्श को अग्रसर करने के लिए प्रस्तुत किया गया है। भागवत में इस बात का विशद निर्देश है कि यहाँ उन्हीं राजाओं के चरित्र का वर्णन है, जो स्वयं आदर्श-चरित्र, यशस्वी तथा सदाचार सम्पन्न थे। 'जायस्व म्रियस्व' की कोटि में आने वाले ऐरे-गैरे राजाओं का वर्णन करने में पुराणकार अपने परिश्रम तथा काव्यशक्ति का दुरुपयोग करना नहीं चाहता। विशेष ज्ञान तथा वैराग्य का वर्णन ही ग्रंथ का प्रधान उद्देश्य है, राजाओं के चरित्र चित्रण का वर्णन नहीं :—

कथा इमास्ते कथिता महीयसां
विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्।

---

१ सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पंचलक्षणम्॥

विज्ञान-वैराग्य-विवक्षया विभो
वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् ॥

—भाग० १२।३।१४

परन्तु आजकल के खोजी विद्वान् पुराणों के इस रहस्य को न समझ कर उनमें आपाततो दृश्यमान विरोध तथा घटनावैषम्य के कारण उन्हें सर्वथा निर्मूल, निराधार तथा अप्रामाणिक बतलाने की धृष्ट घोषणा करते हैं।

रचनाकाल

श्रीमदभागवत् के विषय में भी ऐसी ही बेसिर-पैर की बातें विद्वान् लोग करते आये हैं। उसके रचना-काल के निर्णय से पहिले उसके पुराणत्व के ऊपर ही बहुतों को शंका बनी हुई है। 'देवी भागवत' को भी भागवत् नाम से सामान्यतः अभिहित होने के कारण यह शंका और भी बढ़ गई है। प्रश्न यह कि देवी भागवत अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत है अथवा श्रीमद्भागवत् ? पुराणों के वर्णित ग्रन्थ-विस्तार तथा रूप-निर्देश का अध्ययन करने पर श्रीमद्भागवत् के महापुराणत्व में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता है। यह गायत्री से आरम्भ होता है[1] तथा गायत्री से ही अन्त होता है।[2] षष्ठ स्कन्ध में वृत्रासुर के वध की कथा विस्तार से दी गई है। ऐसी दशा में श्रीमद्भागवत को महापुराण मानना ही उचित प्रतीत होता है।

श्रीमद्भागवत के निर्माण का श्रेय त्रयोदश शतक में उत्पन्न बोपदेव को प्रदान कर यह मामला और भी बेतुका बना दिया गया है। डाक्टर भंडारकर के मतानुसार भागवत के ११ वें स्कन्ध (५।३७-४०) में तामिल देश के वैष्णव सन्तों—अळवारों—का स्पष्ट निर्देश होने से यह नवम शताब्दी से पूर्ववर्ती नहीं हो सकता।[3] परन्तु ये दोनों मत भ्रान्त हैं। भागवत

---

१ धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि। भाग० १।१।१

२ तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि। भाग० १२।१३।१६

३ भंडारकर—वैष्णविज़्म नामक ग्रन्थ में।

बोपदेव तथा अळवार दोनों से प्राचीनतर है। देवगिरि के यादव राजा महादेव (१२६०–१२७१ ई०) तथा रामचन्द्र (१२७१—१३०८ ई०) के महामन्त्री हेमाद्रि पण्डित के तुष्ट्यर्थ इनके सभासद बोपदेव ने 'हरिलीलामृत' तथा 'मुक्ताफल' की रचना भागवत पुराण के विषय में की थी। 'हरिलीलामृत' में भागवत के स्कन्धों तथा अध्यायों की विशिष्ट सूची है और एतदर्थ यह 'भागवतानुक्रमणी' के नाम से भी अभिहित किया जाता है[1]। 'मुक्ताफल' भागवत के नाना रसात्मक कमनीय पद्यों का एक सुललित संग्रह है[2]। हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' में प्रमाण देने के निमित्त भागवत के श्लोकों को उद्धृत किया है। यदि बोपदेव ही इसके सच्चे रचयिता होते तो मुक्ताफल जैसे संग्रह की न तो कोई आवश्यकता होती और न हेमाद्रि के द्वारा प्रमाणार्थं उद्धरण का कोई स्वारस्य होता। तथ्य यह है कि भागवत त्रयोदश शतक में विद्यमान इन ग्रन्थकारों से बहुत प्राचीन है।

द्वैतमत के संस्थापक मध्वाचार्य (जन्मकाल ११९९ ई०) ने भागवत के मूल तात्पर्य के प्रकटन के निमित्त 'भागवत तात्पर्य निर्णय' नामक स्वतंत्र ग्रन्थ का प्रणयन किया है। श्री रामानुजाचार्य (११ शतक) ने अपने 'वेदान्त तत्त्वसार' में भागवत की वेदस्तुति (१०।८७ अ०) से अनेक पद्यों को उद्धृत किया है। अद्वैतवेदान्त के आचार्य चित्सुख (नवम शतक) के द्वारा निर्मित भागवत-व्याख्या का निर्देश मध्वाचार्य, श्रीधर स्वामी तथा विजयध्वज ने अपने ग्रन्थों में किया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मान्य आचार्य अभिनवगुप्त (१० शतक) ने अपनी गीता टीका (१४।८) में भागवत के द्वितीय तथा एकादश स्कन्ध से कतिपय पद्यों को उद्धृत किया है। माठर ने सांख्यकारिका की माठरवृत्ति में (जिसका चीनी अनुवाद ५५७ ई०—५६९ ई० के बीच में कभी हुआ था) भागवत से दो श्लोकों को प्रमाण रूपेण उपन्यस्त किया है (भाग० १।६।३५, तथा १।८।५२)। शंकराचार्य

१ चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशी से १९३२ में मुद्रित।

२ कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज में प्रकाशित।

ने (सप्तम शतक) अपने 'गोविन्दाष्टक' तथा 'प्रबोधसुधाकर' में श्रीकृष्ण के स्तुति-प्रसङ्ग में ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया है जो भागवत में ही उपलब्ध होती हैं (जैसे मट्टी खाने के बाद मुख के भीतर अखिल ब्रह्माण्ड का दर्शन आदि) इतना ही नहीं, शंकराचार्य के दादागुरु गौडपादाचार्य ने 'पञ्चीकरण-व्याख्या' में जगृहे पौरुषं रूपम्' (भाग १।३।१) को तथा उत्तरगीता की टीका में 'श्रेयः श्रुति भक्तिमुदस्य ते विभो' (भाग १०। १४।४) का भागवत के नाम के साथ उद्धृत किया है। गौडपाद का काल आधुनिक गणना के अनुसार भी षष्ठ शतक से अर्वाचीन नहीं हो सकता। ऐसी दशा में गौडपाद के निःसन्दिग्ध उद्धरण के कारण भागवत षष्ठ शतक से कतिपय शताब्दी प्राचीनतर ही सिद्ध होता है। पद्मपुराण के भागवत-माहात्म्य के अनुसार तो श्रीकृष्ण के इस धराधाम के ३० वर्ष छोड़ने के बाद भाद्र शुक्ल नवमी को शुकदेव जी ने महाराज परीक्षित को यह कथा सुनाई थी। फलतः भागवत की रचना कलियुग आरम्भ होने के तीस वर्ष के भीतर ही हुई थी। इस प्रकार भारतीय परम्परा के अनुसार इसे पाँच हजार वर्ष पुराना होना चाहिए।

टीका-सम्पत्ति

श्रीमद्भागवत पाण्डित्य की कसोटी माना जाता है। यह समस्त श्रुतियों का सार है, महाभारत का तात्पर्य निर्णायक है तथा ब्रह्मसूत्रों का भाष्य है। अनेक स्थलों पर श्रुतियों के प्रसिद्ध मन्त्र स्वल्प शब्दान्तर के साथ यहाँ संग्रहीत किये गये हैं। 'ब्रह्मात्मैकत्व' का प्रतिपादन प्रधान विषय तथा कैवल्य ही इसके निर्माण का एकमात्र प्रयोजन होने से श्रीमद्भागवत नितान्त वैदुष्य-पूर्ण, तर्कबहुल तथा शेमुषीगम्य है। 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' की लोकोक्ति तथ्यवाद है, अर्थवाद नहीं। इन दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए ही मध्ययुगीन प्रत्येक वैष्णव संप्रदाय के आचार्यों ने इसके ऊपर टीका तथा व्याख्या का प्रणयन कर इसे सुबोध तथा लोकप्रिय बनाने का श्लाघ्य प्रयास किया। टीका-सम्पत्ति की दृष्टि से भी यह ग्रन्थरत्न अनुपमेय है। चित्सुखाचार्य निर्मित आद्य टीका केवल निर्देशमात्र है, उपलब्ध नहीं। सबसे

अधिक प्राचीन तथा प्रामाणिक टीका श्रीधरस्वामी की है जो नृसिंह भगवान् के प्रसाद से भागवत के रहस्यवेत्ता माने जाते हैं। लघुकाय होने पर भी श्रीधरी निःसंदेह निष्पक्ष तथा सर्वश्रेष्ठ भागवत-व्याख्या है। विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के मान्य टीकाकर सुदर्शन सूरि (१४ शतक) की 'शुकपक्षीया' तथा वीरराघवाचार्य (१४ श०) की 'भागवत-चन्द्र चन्द्रिका' दोनों श्रीवैष्णवों में आदरणीय तथा उपादेय व्याख्यायें हैं। विजयध्वजतीर्थ रचित "पद-रत्नावली' माध्व सम्प्रदाय के अनुकूल भागवत की प्रौढ टीका है जिसमें श्रीधरी की अपेक्षा भागवत के पाठों तथा अध्यायों में भी पर्याप्त पार्थक्य है। चैतन्य सम्प्रभाय में श्रीधरी की मान्यता अक्षुण्ण है परन्तु इसके अतिरिक्त भी सनातन गोस्वामी की दशमस्कन्ध पर 'वृहद् वैष्णवतोषिणी'; जीव गोस्वामी की समग्र भागवत पर 'क्रमसन्दर्भ' तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती की 'सारार्थदर्शिनी' व्याख्यायें नितान्त प्रौढ़ तथा सार-दर्शिनी हैं। जीवगोस्वामी का 'षट्सन्दर्भ' तो भागवत् के आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का नितान्त प्रामाणिक विवेचन है। वल्लभाचार्य की 'सुबोधिनी' भागवत के अन्तरंग भाव तथा अधिकार-विवेचन के हेतु अपनी निजी विशेषता से मण्डित है। श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायी शुकदेवाचार्य का 'सिद्धान्त प्रदीप' संक्षिप्त होने पर भी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का भव्य प्रदर्शन है। इन प्राचीन प्रधान टीकाओं के अतिरिक्त अनेक आधुनिक टीकायें भी उपलब्ध हैं। श्रीहरि की 'हरिभक्ति रसायन' नामक पद्यात्मक टीका (रचनाकाल १७५६ शक सं०) भागवत के मधुर भावों के प्रदर्शन में नितान्त कृतकार्य तथा सफल है। भागवत की यह विशाल व्याख्यासम्पत्ति भक्तिशास्त्र के सिद्धान्तों को समझने के लिये एक भव्य ग्रन्थ-राशि प्रस्तुत करती है।

काव्य-सौन्दर्य

श्रीमद्भागवत की कविता में अद्भुत चमत्कार है जो सैकड़ों वर्षों से सहृदय पाठकों को अपनी शब्दमाधुरी तथा अर्थचातुरी से हठात् आकृष्ट करता आ रहा है। नवीन साहित्यिक परिस्थिति के उदय ने भी इस आकर्षण में किसी प्रकार की न्यूनता उत्पन्न नहीं की है। भागवत रस तथा माधुर्य का

अगाध स्रोत है। नाना परिस्थितियों के परिवर्तन से उत्पन्न होनेवाले मानव हृदय को उद्वेलित करनेवाले भावों के चित्रण में भागवत अद्वितीय काव्य है इसमें हृदय पक्ष का प्राधान्य होने पर भी कलापक्ष का अभाव नहीं है। मथुरा का (भाग १०।४१) तथा द्वारिका का वर्णन (भाग० १०।६७) जितना कलात्मक है, उतना ही स्वाभाविक तथा यथार्थ है नाना भयानक युद्धों का चित्रण। केशी नामक असुर अश्व का विकराल रूप धारण कर श्री कृष्ण को मारने के निमित्त आया था। कृष्ण ने केशी के साथ युद्ध करने में जिस युद्ध-कौशल का परिचय दिया है, यह वर्णन की यथार्थता के कारण पाठकों के सामने झूलने लगता है (भाग० १०।३७)। इसी प्रकार मगधनरेश जरासन्ध तथा भीमसेन के प्रलयंकर गदायुद्ध का सातिशय रोमांचकारी चित्रण भागवत में फड़कती भाषा में किया गया है (भाग० १०।५०)। द्वारिकापुरी के वर्णनप्रसंग में झरोखों से निकलनेवाले अगुरु धूप को देखकर श्याम मेघ की भावना से वलभी-निवासी मत्त मयूरों का यह नर्तन कितना सुखद तथा मनोहर प्रतीत होता है—

रत्न-प्रदीपनिकर-द्युतिभिर्निरस्त—
ध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग।
नृत्यन्ति यत्र विहिताशुरुधूपमर्त्तै-
र्नियान्तमीक्ष्य घन-बुद्धय उन्नदन्तः॥

(भाग० १०।६९।१२)

उतना ही स्वाभाविक है मधुपुरी में कृष्णचंद्र के आगमन की वार्ता सुनकर उतावली में अपनी शृंगार-भूषा को बिना समाप्त किये ही झरोखों से झाँकनेवाली ललित ललनाओं का ललाम वर्णन (भाग० १०।४१।२५–२७)। आलोचकों की दृष्टि में भगवान की ऋतुवर्णन भी आध्यात्मिक दृष्टि को प्रस्तुत करने के लिए नितान्त प्रख्यात है। दशमस्कंध के एक समग्र अध्याय (२० वाँ अध्याय) में प्रवृट् शरद् ऋतु का यह आध्यात्मिकतामण्डित वर्णन वस्तुतः अनुपम तथा चमत्कारी है। वर्षा की धाराओं से ताड़ित होने पर भी किंचिन्मात्र भी व्यथित न होनेवाले पर्वतों को समझा उन भगवन्निष्ठ

भक्तजनों के साथ दी गई है जो विपत्तियों के द्वारा प्रताड़ित होने पर भी किसी प्रकार क्षुब्ध नहीं होते[1]। पवन से ऊँची उठती हुई तरंगमाला से युक्त समुद्र नदियों के समागम से उसी प्रकार क्षुब्ध होता है जिस प्रकार कच्चे योगी का वासनापूर्ण चित्त विषयों के सम्पर्क में पड़कर क्षुब्ध हो उठता है[2]। शरद् भी उतनी ही चारुता के साथ वर्षा के अनन्तर आती है और अपनी रुचिरता की भव्य झाँकी पृथ्वीतल पर दिखलाती है। रात के समय चंद्रमा प्राणियों के सूर्य की किरणों से उत्पन्न ताप को दूर करता है। विमल तारात्रों से मण्डित मेघहीन गगनमण्डल उसी तरह चमकता है जिस प्रकार शब्दब्रह्म के द्वारा अर्थ का दर्शन प्राप्त कर योगियों का सात्त्विक चित्त विकसित हो उठता है:—

खमशोभत निर्मेघं शरद्—विमलतारकम्।
सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम्॥
(भाग० १०।२०।४३)

गोसाईं तुलसीदास का सुप्रसिद्ध वर्षा तथा शरद् वर्णन भागवत के इसी वर्णन के आधार पर है; इसे विशेष रूप से बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

परन्तु भागवत का सबसे अधिक मधुर तथा सुन्दर अंश वह है जहाँ गोपियों की कृष्णचंद्र के प्रति ललित प्रेमलीला का रुचिर चित्रण है। गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों पर अपने जीवन को समर्पण करनेवाली भगवन्निष्ठ प्रेमिकायें ठहरीं। उनकी संयोग तथा वियोग उभय

---

१ गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः॥
—भाग० १०।२०।१५

२ सरिद्भिः संगतः सिन्धुः चक्षुभे श्वसनोर्मिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा॥
—भाग० १०।२०।१४

प्रकार की भावनाओं के चित्रण में कवि ने अपनी गहरी अनुभूति तथा गम्भीर मनोवैज्ञानिक भाव-विश्लेषण का पूर्ण परिचय दिया है। ऐसे प्रसंग जहाँ वक्ता अपने हृदय की अन्तरतम गुहा में कल्लोलित भावों की अभिव्यक्ति करता है 'गीत' के नाम से अभिहित किये गये हैं। इन गीतों का प्राचुर्य दशम स्कन्ध में उपलब्ध होता है। वेणु गीत (१०।२१), गोपी गीत (१०।३१), युगल गीत (१०।३५), महिषी गीत (१०।६०), आदि भागवत के ऐसे ललित प्रसंग हैं जिनमें कवि की वाणी अपनी भव्य माधुरी प्रदर्शित कर रसिकों के हृदय में उस मनोरम रस की सृष्टि करती है जिसे आलोचक 'भागवत रस' के महनीय नाम से पुकारते हैं। कृष्ण के विरह में व्याकुल महिषी जनों का यह उपालम्भ कितना मीठा तथा तलस्पर्शी है—

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः।
वयमिव सखि कच्चित् गाढनिर्भिन्नचेता
नलिन-नयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥

(भाग० १०।६०।१५)

हे कुररि! संसार में सब ओर सन्नाटा छाया हुआ है। इस समय स्वयं भगवान् अपना अखण्ड बोध छिपा कर सो रहे हैं। परन्तु तुझे नींद नहीं? सखी, कहीं कमलनयन भगवान् के मधुर हास्य और लीलाभरी उदार चितवन से तेरा हृदय भी हमारी ही तरह बिंध तो नहीं गया है?

वेणु-गीत में कृष्ण के मुरलीवादन के विश्वव्यापी प्रभाव का वर्णन इतनी सूक्ष्मता तथा इतनी मधुरता से किया गया है कि पाठक के हृदय में एक अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। मुरली का प्रभाव केवल जंगम प्राणियों के ऊपर ही नहीं है, प्रत्युत स्थावर जगत् में भी वह उतना ही जागरूक तथा क्रियाशील है। नदियों का वेणुगीत को आकर्णन कर यह आचरण जितना मधुर है उतना ही स्वाभाविक है—

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत—
मावर्त — लक्षित-मनोभवभग्नवेगाः।
आलिङ्गन—स्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे -
गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः॥
(भाग० १०।२१।१५)

नदियाँ भी मुकुन्द के गीत को सुनकर भँवरों के द्वारा अपने हृदय में श्यामसुन्दर से मिलने की तीव्र आकांक्षा को प्रकट कर रही हैं। उसके कारण इनका प्रवाह रुक गया है। ये अपने तरंगों के हाथों से उनका चरण पकड़ कर कमल के फूलों का उपहार चढ़ा रही हैं और उनका आलिङ्गन कर रही हैं; मानों उसके चरणों पर अपना हृदय ही निछावर कर रही हैं।

रासपञ्चाध्यायी—भागवत का हृदय है जिसमें व्यासजी ने कृष्ण और गोपियों के बीच रासलीला का सुमधुर वर्णन किया है। इसका आध्यात्मिक महत्त्व जितना अधिक है साहित्यिक गौरव भी उतना ही विपुल है। गोपियों ने कृष्ण के अन्तर्धान होने पर अपने भावों की अभिव्यक्ति जिन कोमल शब्दों में की है वह नितान्त रुचिर तथा सरस है। गोपी-गीत का यह पद्य कितना सरल तथा सरस है:—

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥

अर्थात् आप की कथा अमृत है क्योंकि वह संतप्त प्राणियों को जीवन देती है। ब्रह्मज्ञानियों ने भी देवभोग्य अमृत को तुच्छ समझकर उसकी प्रशंसा की है। वह सब पापों को हरनेवाली है अर्थात् काम्य कर्म का निरास करनेवाली है। श्रवणमात्र से मंगलकारिणी और अत्यन्त शान्त है। ऐसे तुम्हारे कथामृत को विस्तार के साथ जो पुरुष गाते हैं उन्होंने पूर्व जन्म में बहुत दान किये हैं। वे बड़े पुण्यात्मा हैं।

इसी शब्दमाधुरी तथा भावमाधुरी के कारण भागवत शताब्दियों से भक्ति-प्रवण भक्तों तथा कवियों को समभावेन उत्साह, स्फूर्ति तथा प्रेरणा

देता चला आ रहा है। आज भी उसकी उपजीव्यता किसी भी अंश में घटकर नहीं है।

कृष्णभक्त कवि का वर्ण्य विषय है—बालकृष्ण की माधुर्यगर्भित ललित लीलाएँ। फलतः उसकी दृष्टि कृष्ण के लोकरंजक रूप के ऊपर ही टिकी रहती है। मानव की कोमल रागात्मिका वृत्तियों की अभिव्यक्ति में कृष्णभक्त कवि सर्वथा कृतकार्य तथा समर्थ होता है। वैष्णव धर्म के उत्कृष्ट प्रभाव से भारतीय साहित्य सौन्दर्य तथा माधुर्य का उत्स है; जीवन की कोमल तथा ललित भावनाओं का अक्षय स्रोत है। जीवन सरिता को सरस मार्ग पर प्रवाहित करनेवाला मानसरोवर है। हमारे साहित्य में प्रगीत मुक्तकों के प्राचुर्य का रहस्य इसी व्यापक प्रभाव के भीतर छिपा हुआ है। वात्सल्य तथा शृङ्गार की नाना अभिव्यक्तियों के चारु-चित्रण से हमारा साहित्य जितना सरस तथा रस-स्निग्ध है, उतना ही वह कोमल तथा हृदयावर्जक है। भक्त हृदय की नम्रता, सहानुभूति और आत्मसमर्पण की भावना से। इन्हीं कृष्ण-काव्यों की रचना करने के लिए कवियों को उत्साहित करने का श्रेय श्रीमद्भागवत को देना चाहिये।

———

१ विशेष के लिए द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय : भागवत सम्प्रदाय (प्र० नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१२)।

द्वितीय खण्ड

श्रव्य काव्य

(१) संस्कृत काव्य
(२) कालिदास
(३) कालिदासोत्तर काव्य
(४) गीति काव्य
(५) गद्य काव्य
(६) कथा साहित्य

सत्कवि-रसना-सूर्पी-
निष्तुषतरशब्दशालिपाकेन ।
तृप्तो दयिताधरमपि
नाद्रियते का सुधादासी ॥
—गोवर्धनाचार्य

चतुर्थ परिच्छेद

संस्कृत काव्य

(क)

संस्कृत काव्य की पृष्ठभूमि

(१) राजसी वातावरण

संस्कृत काव्य का प्रथम अवतार सात्त्विक भावना से नितान्त अनुप्राणित आश्रम के वातावरण में होता है, परन्तु उसका अभ्युदय सरस्वती के वरद पुत्रों को आश्रय देकर कवि-कला को प्रोत्साहन देने वाले राजाओं के दरबार में होता है। संस्कृत के मान्य कवियों का सम्बन्ध वैभवशाली महीपालों के साथ सर्वदा स्थापित था। विक्रमादित्य के बिना न कालिदास का उदय सम्भव था, न हर्षवर्धन के बिना बाणभट्ट का। राजशेखर के द्वारा 'काव्य-मीमांसा' में निर्दिष्ट राजाओं के द्वारा कवि-सभा तथा कवि-समादर की घटना में थोड़ी-सी अत्युक्ति का पुट किसी आलोचक को भले ही प्रतीत हो, परन्तु काश्मीर के कवि मंख ने अपने 'श्रीकण्ठ चरित' महाकाव्य (१६ सर्ग) में महाराज जयसिंह के प्रधानामात्य गुणग्राही 'अलंकार' की सभा में तत्कालीन कविजनों के आदर-सत्कार की जो भव्य झाँकी प्रस्तुत की है वह ऐतिहासिक तथ्य है और इसका स्पष्ट प्रमाण है कि गुणग्राही राजा कविजनों की अभ्यर्थना करने में कुछ उठा नहीं रखते थे। राजाओं के ही आश्रय में कविजनों की वाणी को फूटने का अवसर मिलता है; उसकी ही रंगशाला में कविजनों की नाट्यकला अपना रमणीय प्रदर्शन करती है। राजाओं के दरबार वस्तुतः कला तथा कौशल, संस्कृति तथा सभ्यता के प्रधान केन्द्र थे। अतः कवियों की नैसर्गिक प्रतिभा के पनपने का वहाँ पूर्ण उपकरण प्रस्तुत रहता था। सरस्वती तथा लक्ष्मी के आश्रयभूत महीपाल कविजनों के महाकाव्यों के नायक भी बनते थे। ऐसी दशा में राजसी वातावरण में अभ्युदय तथा प्रसार पाने से संस्कृत काव्य नितान्त सुश्लिष्ट, संस्कृत तथा प्रभावशाली हो गया है।

तत्कालीन शिष्ट समाज की रुचि तथा प्रवृत्ति का मनोरम रूप आलोचक को संस्कृत काव्यों के पृष्ठों में उपलब्ध होता है। उस समय की शिष्टता तथा संस्कृति का भव्य प्रतीक होता था नागरक जिसका जीवन ही कला की पूर्ण उपासना में व्यतीत होता था। नागरक के दैनन्दिन जीवन का चटकीला वर्णन वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में हमें उपलब्ध होता है। नागरक का जीवन प्रातःकाल से लेकर रात के पिछले पहरों तक कला-उपासना की एक दीर्घ परम्परा होता था। सुखमय जीवन बिताना ही उसका परम लक्ष्य था और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह सुखमयी सामग्रियों को एकत्र कर जीवन को सरस, मधुर तथा मधुमय बनाता था। उसके प्रत्येक कार्य में कला तथा भव्यता, सौन्दर्य तथा माधुर्य का दर्शन हमें प्राप्त होता है। उद्यान के भीतर उसका रुचिर निवास, स्वच्छ सुथरे सामान, पुस्तकों का चयन, नागदन्त के ऊपर लटकने वाले सफेद धुले हुए रेशमी वस्त्र, कर्णों में स्वरलहरी को घोलने वाली वीणा—नागरक के ये सहज परिकर उसके सरस हृदय तथा कलाप्रेम के भव्य निदर्शन थे। संस्कृत के कविजनों ने नागरक के जीवन को चित्रित करने का प्रयास अपने काव्यों तथा नाटकों में किया। एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि संस्कृत काव्य का श्रोता तथा नाटक का दर्शक कोई सामान्य कलाहीन अरसिक व्यक्ति नहीं होता था, प्रत्युत वह नितान्त सभ्य, शिष्ट, सुरुचिपूर्ण, कलाप्रवीण नागरक होता था जिसका कोमल हृदय करुणोत्पादक दृश्य के अवलोकन से सद्यः पिघल जाता था और आँसुओं के रूप में बह निकलता था। ऐसे 'सहृदय' को लक्ष्य में रखकर निर्मित होने के कारण संस्कृत के काव्यों में भावों की नागरिकता, भाषा का सौष्ठव, ग्राम्यता का अभाव, भावुकता का सद्भाव आदि गुणों का दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक ही है।

(२) जन-जीवन की झाँकी

संस्कृत काव्य की यह भूयसी विशिष्टता है कि वह जन-साधारण के मनोभावों का, हृदय की वृत्तियों का, विभिन्न दशाओं में उत्पन्न होनेवाले मानसिक विकारों का चित्रण बड़ी ही कमनीय भाषा में प्रस्तुत करता है।

वह मानव की कोमल वृत्तियों के वर्णन में जितना कृतकार्य है उतना ही वह उसकी उग्र वृत्तियों के अंकन में समर्थ है। राग और द्वेष, हर्ष और विषाद, प्रेम और करुणा, उत्साह और अवसाद आदि जितने भाव मानव-हृदय को अपना रंग-स्थल बनाया करते हैं उनका चित्रण संस्कृत कवियों की ललित लेखनी ने इतनी सुंदरता से किया है कि पाठक उसी भावसरिता में अपने आपको गोते लगाता हुआ पाता है। राजा-महाराजाओं के वैभव-सम्पन्न दरबारों में अपना जीवन बिताने वाले भी संस्कृत के कविगण जन-सामान्य के जीवन से, उनके हृदय में उत्पन्न होने वाली भावनाओं से तथा आकांक्षाओं को कुचलनेवाली उनकी दरिद्रता से घनिष्ठ रूप से परिचय रखते हैं और अपने काव्यों में उनकी अभिव्यक्ति का उन्होंने जन-जीवन के प्रति अपनी सहानुभूति का प्रकाशन भले प्रकार किया है। नव्य आलोचकों की यह धारणा है कि संस्कृत कविगण लक्ष्मी के वरद पुत्रों की गुण गरिमा गाने में ही अपनी सरस्वती को चरितार्थ समझते थे नितान्त भ्रामक है तथा तथ्य से कोसों दूर है। प्राचीन हिन्दू राजाओं का दरबार संस्कृत विद्या का केन्द्र था, भव्य भारतीयता का सांस्कृतिक स्थल था। अतः अपनी कला के विकास के हेतु तथा अपनी जीविका के निमित्त कलाप्रेमी राजाओं का आश्रय लेना संस्कृत कवियों के लिए अनिवार्य था, परन्तु वहाँ रहकर वे दरबारी कवि बन जाते तथा अपने आश्रयदाता के रिझाने के निमित्त जीवन के उच्च स्तर से ही सम्बद्ध कविता के प्रणयन में अपने को लगाते थे; यह मानना एक भारी भूल होगी।

सम्राट् विक्रमादित्य के आश्रय में रहने वाले जो कालिदास विक्रमोर्वशीय में महाराजा पुरुरवा तथा उर्वशी के अलौकिक प्रेम का चित्रण करते हैं, वहीं कालिदास 'मेघदूत में' धनपति के शापभाजन एक सामान्य यक्ष की विरह-वेदना की अभिव्यक्ति करने से पराङ्मुख नहीं होते। राजा दिलीप के वसिष्ठाश्रम के प्रति यात्राप्रसंग में वे उन ग्वालाओं के मुखिया लोगों को नहीं भूलते जो राजा के सत्कार करने के लिए मक्खन लेकर उपस्थित होते हैं[1]।

---

१ हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्। (रघु० १।४५)

जिस तूलिका से वे राजाओं के चाकचिक्य-चर्चित अतुलवैभव-मण्डित प्रासादों के चित्रण में कृतकार्य होते हैं उसी से वे ऋषियों के अग्निहोमधूमिल मृग-शावकसम्पन्न आश्रमों के स्निग्ध वर्णन से पराङ्मुख नहीं होते। राजाश्रय पाने पर भी वे राजाओं के शारीरिक तथा मानसिक त्रुटियों से अनभिज्ञ नहीं हैं। सायंकाल जंगल से आश्रम को लौटती हुई दूध-भरे थनों से धीरे धीरे चलने वाली गाय के पीछे उसी प्रकार भारी भरकम देह वाले दिलीप के गमन का वर्णन करने वाले कालिदास राजाओं के शारीरिक दोषों के प्रति कभी स्पृहयालु नहीं प्रतीत होते[१]।

'मेघदूत' किसी धनकुबेर महाराजाधिराज के हृदय की भावनाओं का चित्रण नहीं है, प्रत्युत ऐश्वर्यमद से मत्त धनपति के क्रूर कोप का भाजन बनने वाले दीन-हीन सेवक-जन की विरह-वेदना का मनोरम अंकन है। कालिदास की दृष्टि में लक्ष्मी के ललित निकेतन राजभवनों का उतना मूल्य नहीं है जितना कौपीनधारी तपस्वियों के निसर्ग सुन्दर आश्रमों का। वे आश्रम की मधुरिमा पर मुग्ध होते हैं। आश्रमों का सायंकालीन दृश्य कवि के हृदय में रागात्मिका वृत्ति के उदय में सहायक बनता है। कालिदास के हृदय में तपोवन के प्रति स्वाभाविक आकर्षण है। वृक्षों के आलवाल से जल पीने के इच्छुक पक्षियों को विश्वास उत्पन्न करने के लिए मुनिकन्यकायें पौधों को जल से सींचने का व्यापार बन्द कर देती हैं। कुटियों के आँगन में—जहाँ ग्रीष्म के बीत जाने पर ऋषियों ने नीवार काट कर इकट्ठा कर दिया है—जुगाली करते हुए मृग बैठे आनंद मना रहे हैं (रघुवंश १।५१-५२)। आश्रम के इन दृश्यों में जिस कवि का हृदय रमता है उसे जनजीवन से हम पराङ्मुख कैसे मान सकते हैं? 'ऋतुसंहार' का अनुशीलनकर्ता कालिदास को राजसी वैभव के चकाचौंध से चमत्कृत तथा प्रभावित कभी नहीं मान सकता।

---

१ आपीन-भारोद्वहन प्रयत्नाद् गृष्टिर्गुरुत्वाद् वपुषो नरेन्द्रः।
उभावलं चक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम्॥
—रघु० २।१८

भारवि को पल्लववंशीय राजा का आश्रय प्राप्त था। वे राजनीतिक उद्भट विद्वान् थे, इसका प्रमाण उनके महाकाव्य किरातार्जुनीय के आरम्भिक सर्ग ही हैं। राजनीति में पटुता से मण्डित होनेवाला राजाश्रयी कवि शरद् के वर्णनप्रसंग में उन दीन-हीन गोपों को नहीं भूलता जो गायों की नित्य सेवा करते रहने से ऋजुता में उनके प्रवीण प्रतीक बने हुए हैं। वह उनके दुःखों तथा सुखों से परिचित है। वह सायंकाल गोचरभूमि से घर लौटने वाली, थनों से दूध चुलानेवाली (प्रस्नुतपीवरौधसः) गायों को देखकर प्रसन्न होता है। ये प्रातःकाल होने से पहिले ही पिछली रात को जंगल में चरने के लिए चली गई थीं। दिन भर घास चर कर सायंकाल अपने बछड़ों से मिलने के लिए व्याकुल होकर घर लौट रही हैं परन्तु दूध-भरे थनों के भारी भार से वे तेजी से चलने में असमर्थ हैं। ऐसा शोभन दृश्य किस सरस कवि के चित्त को अपनी ओर नहीं खींच लेगा? भारवि को गोप और गोपियों के सरल जीवन से गहरी सहानुभूति है। गायों के पीछे चलने वाले पशुओं के साथ भाईचारा रखनेवाले, जंगल को ही अपना घर समझने वाले तथा पशुओं के द्वारा सरलता के विषय में अनुकरण किये जाने वाले गोप गण हमारे कवि के हृदय पर गहरी छाप डालते हैं।[1] इसी प्रकार प्रातःकाल अपने गोठ के आँगन में मथनी से दही मथनेवाली ग्वालिनें दर्शकों के मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं जब उनके दही के भरे घड़े घरघों घरघों की आवाज से मृदंग के समान गम्भीर आवाज करते हैं तथा मयूरियों को मेघ के गर्जन की शंका उत्पन्न करते हैं (किरात ४।१३)

भारवि का कोमल सरस हृदय मानवता तथा मैत्री के सच्चे दुग्ध से भरा हुआ है। वे प्रेम-भरे नयनों से धान के खेत की रखवाली करने वाली स्त्रियों को देखते हैं। इनका ग्रामीण अलंकरण इनकी सरल शोभा को दूना दमका रहा है। इन्होंने केसर के छोटे पराग से अपने भौंहों के बीच में तिलक लगा रखा है तथा बन्धुजीव का लाल फूल लगाकर आलता से

१ गताः पशूना सहजन्मबन्धुतां गृहाश्रयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः।
दर्दर्श गोपानुपधेनु पाण्डवः कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे॥
—किरात ४।१२

रंगे हुए अपने होठों की समानता बना रखी है। उनके कानों में पहिरा हुआ कमल का एयरिंग गालों पर लटककर अजीव छवि दिखला रहा है तथा मोटे स्तनों के चारों ओर लपेटा गया कमल की धूलि का पाउडर मेहनत करने से बहने वाले पसीने से मिलकर अद्भुत शोभा प्रदर्शित कर रहा है।[1] कवि की दृष्टि धान की पकी हुई पीली बालियों को देखकर प्रसन्न होती है क्योंकि इन सुभग रंगों का योग इन्द्रधनुष की शोभा की याद दिलाता है[2] पकी बालियों को झुकी देखकर उसका कवि-हृदय कह उठता है कि ये धान के पौदे खेत के पानी में खिलने वाले नील कमलों को सूँघने के लिए ही अपने सिर को झुकाये हुए खड़े हैं।[3] इस प्रकार राजाश्रय में अपना जीवन बिताने वाले भारवि का हृदय जनसाधारण की भावनाओं से सहानुभूति रखता है और उनकी लेखनी इस सहानुभूति की चारु अभिव्यक्ति करने में अपनी चरितार्थता समझती है।

महाकवि **माघ** के महनीय काव्य का परिशीलन भी हमें इसी परिणाम पर पहुँचाता है। उनके पितामह सुप्रभदेव वलभी-मण्डल के अधिपति वर्मलात राजा के दीवान थे। पिता भी अपनी दानशीलता के लिए नितान्त विख्यात थे तथा उनका कुटुम्ब धनी-मानी वदान्य तथा उदार था। माघ के हृदय में जनजीवन के लिए असाधारण प्रेम था। उनकी पैनी दृष्टि से साधारण मानव के रागद्वेष, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद की भावनायें परोक्ष नहीं थीं। माघ का प्रगल्भ प्रभात वर्णन इस तथ्य का विषद उदाहरण है।

प्रभात के वर्णन में माघ की दृष्टि बड़ी व्यापक और विशाल है। वह राजा से लेकर प्रजा तक, अग्निहोत्र करनेवाले ब्राह्मणों से लेकर पहरा बदलने वाले सिपाहियों तक, पशु-पक्षियों से लेकर ग्वालबालों तक एक ही व्यापार में घूम जाती है और सच्चे हृदय की रागात्मिका वृत्ति का अखिल सृष्टि से सामञ्जस्यपूर्ण विवरण प्रस्तुत करती है। कवि ब्राह्ममुहूर्त में जगकर दुरूह राजनीतिक गुत्थियों के सुलझाने में व्यग्र राजाओं के चित्रण में जितना पटु है, वह सवेरे ही सवेरे विशाल भाण्ड में बड़ी मथनियों से दूध महकर मक्खन

१ किरात ४।८; २ किरात ४।३६; ३ वही, श्लोक २९।

निकालने वाले ग्वालों के रूप अंकन में भी उतना ही समर्थ है (शिशुपाल-बध ११।८)। पहरा बदलने वाला सिपाही कवि की दृष्टि से नहीं बचता। रात के समय पहरा बदलने वाला चौकीदार अपना समय बिताकर सोना चाहता है और इसलिए वह दूसरे पहरेदार को 'जागो' 'जागो' कहकर पद पद पर जगा रहा है। वह पहरेदार जागते हुए भी मीठी झपकी ले रहा है। नींद के झोके में वह अवश्य ही अनर्थक आयँ बायँ शब्द कहता है, फिर भी वह सो जाता है। जागने की बात कहकर भी वह जागता नहीं—सो जाता है (शिशु० ११।४)।

पाठक अच्छी तरह टाँक लें कि कवि की सहानुभूति केवल मानव तक ही सीमित नहीं रहती, प्रत्युत वह पशुपक्षियों के आचरण तथा व्यवहार के निरीक्षण में भी पटु तथा समर्थ है। इन्हीं पशुपक्षियों के आचरण के कारण बेहद तंग होने वाली धान की रखवालिनों की यह व्याकुलता किस सहृदय को व्याकुल नहीं बनाती ? ये गोपिकाएँ धान के खेतों की रक्षा करने में लगी हैं। खेतों के ऊपर दोहरा आक्रमण होता है—एक ओर से सुग्गों का और दूसरी ओर से मृगों का। सुग्गों को हाँकने के लिए ज्योंही वे दौड़कर एक ओर जाती हैं कि दूसरी ओर से मृग लोग खेत को रौंदने लगते हैं और धान खाने लगते हैं। ऐसी विचित्र स्थिति में इन धान रखवालिनों की यह दौड़-धूप कवि के हृदय में हँसी की गुदगुदी पैदा कर रही है—

स व्रीहिणां यावदपासितुं गता
शुकान् मृगैस्तावदुपद्रुतश्रियाम्।
कैदारिकाणामभितः समाकुलाः
सहासमालोकयति स्मगोपिकाः ॥ (शिशु० १२।४२)

गायों के दूध दुहने का दृश्य माघ की पैनी दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। ग्वाले लोगों ने गायों के बछड़ों को उनके बायें पैर में बाँध रखा है जिन्हें वे प्रेमपूर्वक चाट रही हैं। इधर वे लोग अपने दोनों घुटनों के ऊपर दोहनी (दूहने का बर्तन) रख कर दूध दुह रहे हैं और इस अवसर पर घरघों की आवाज बढ़ती जाती है—

प्रीत्या नियुक्तान् लिहतीः स्तनन्धयान्
निगृह्य पारीमुभयेन जानुनोः।
वर्धिष्णुधाराध्वनि रोहिणीः पय-
श्चिरं निदध्यौ दुहतः स गोदुहः॥ (शिशु० १२।४०)

माघ हमारे ग्रामीण जीवन के अन्तस्तल तक पहुँचते हैं तथा अपनी सूक्ष्म दृष्टि से उसके नानात्मक रूपों को देखकर उसकी सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करने में कृतकार्य होते हैं। लज्जा के मारे सीधे न देखकर बगीचों की ओट से कृष्ण को देखनेवाली लज्जालु ग्रामीण वधू[1], गोणी के बड़े भार से बलबलानेवाला ऊँट[2], तेज भागनेवाली साँड़िनियों के कारण तितर बितर होनेवाला जनसमूह, नाना प्रकार की वस्तुओं से सज्जित बाजार[3], गाँव की सीमापर गोलाकार मण्डली में आसन मार छक कर शराब पीने वाले गवैये लोग[4]—इन सबका रमणीय वर्णन प्रस्तुत करनेवाले कवि के ऊपर जनजीवन के प्रति उपेक्षा रखने का दोष कभी आरोपित नहीं किया जा सकता।

(३) संस्कृत काव्य की माधुरी

मानव के अन्तस्थल में क्षण क्षण में उत्पन्न होनेवाले भावों के निरीक्षण तथा अभिव्यंजन में जिस कवि की वाणी रमती है वही सच्चा कवि होता है। बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा भीतरी सौन्दर्य के वर्णन में कवि के कवित्व का सच्चा परिचय मिलता है। बाहरी सौन्दर्य भीतरी सौन्दर्य की तुलना में स्थिर, निष्प्राण और अपरिवर्तनीय है। आकाश चिरकाल से जैसा नीला है वैसा ही नीला है। बीच बीच में वर्षा आदि के अवसर पर उसका वर्ण धूसर या कृष्ण हो जाता है, तथापि उसका स्वाभाविक रंग नीला ही है। समुद्र तथा नदियों का साधारण आकार तरंगों से परिपूर्ण होने पर भी एक ही प्रकार का है। परन्तु मनुष्य का हृदय नितान्त परिवर्तनशील वस्तु है। उसमें घृणा भक्ति का रूप धारण कर लेती है; अनुकम्पा से प्रेम की उत्पत्ति हो जाती है

---

१ शिशुपाल वध १२।३७
२ वही १२।३४
३ वही १२।२६
४ वही १२।२८

और प्रतिहिंसा के कृतज्ञता का जन्म होता है। जो कवि इस अन्तर्जगत् की विचित्रता के रहस्य को खोलकर दिखाता है, वही यथार्थ में कवि के नाम से पुकारा जा सकता है।

संस्कृत भाषा में इस कोटि में आनेवाले यथार्थ कवियों की संख्या पर्याप्त है। संस्कृत काव्य में हृदयपक्ष तथा कलापक्ष दोनों का यथावसर अपूर्व मिश्रण दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन काव्यों में हृदयपक्ष का प्राधान्य है, परन्तु अवान्तर कवियों में हृदय की उतनी सच्ची परख न होने से वे केवल कलापक्ष के समाश्रयण से अपनी कविता कामिनी को सुसज्जित तथा तुन्दिल बनाते हैं। संस्कृत आलोचनाशास्त्र 'विदग्ध' तथा 'विद्वान्' में पर्याप्त पार्थक्य स्वीकार करता है। 'विद्वान्' की दृष्टि काव्य के केवल बाहरी चाकचिक्य अलंकारों की सज्जा पर ही जमती है, परन्तु 'विदग्ध' काव्य के अन्तस्तल को परखता है और वह रसपेशल कविता के मर्म को पहचानता है। प्राचीन काल में विदग्धता का प्राधान्य था, परन्तु कालक्रम से विद्वत्ता का ही मान तथा आदर बढ़ने लगा। फलतः कविजन इन्हीं को ही काव्य का एकमात्र साधन मानने लगे। रस के उन्मीलन के स्थान पर अलंकार द्वारा सुसज्जित करना ही कविकर्म की प्रधान कसौटी बन गया। आलंकारिकों ने इस परिवर्तित मनोवृत्ति को और भी विकृत तथा विपर्यस्त बना दिया। मम्मट ने 'अनलंकृती पुनः क्वापि' के द्वारा काव्य में अलंकार को रस तथा गुण की अपेक्षा गौण स्थान ही दिया, परन्तु अलंकार की वह किंचित् अवहेलना पीयूषवर्ष जयदेव की दृष्टि में असह्य हो उठी और उष्णता से हीन अग्नि के समान अलंकार से हीन काव्य की कल्पना को वे असम्भव तथा अप्रामाणिक मान बैठे[1]।

प्राचीन युग के कवि भावों में तीव्रता तथा प्रभावशीलता लाने के लिए काव्यों में अप्रस्तुत का विधान तथा अलंकारों का समावेश किया करते थे। आनन्दवर्धन ने रसमय काव्य में उसी अलंकार के संविधान को मान्य

---

१ अंगीकरोति यह काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥—चन्द्रालोक

ठहराया है जिसकी रचना के लिए कवि को किसी भी विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं होती, रस से आक्षिप्त होकर जिनका बंधान काव्य में स्वतः ही सम्पन्न हो जाय[1]। परन्तु पिछले कैंड़े के कवियों ने इस उचित उपदेश पर ध्यान न देकर अलंकार विन्यास को ही काव्य का सर्वस्व मान लिया। फलतः उन्होंने सर्वतोभद्र, गोमूत्रिका बन्ध, तुरगबन्ध आदि चित्रकाव्यों के निर्माण में ही अपनी शक्ति को खर्च किया जिसके समझने के लिए पाठक को दिमागी कसरत करनी पड़ती है। अतः अलंकारशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रभाव काव्य के अभ्युदय के ऊपर उतना शोभन तथा स्वास्थ्यकर नहीं हुआ जितनी आशा की जा सकती है।

संस्कृत भाषा निसर्गतः बड़ी ही कोमल तथा मधुर है। प्रतिभा सम्पन्न कवि के हाथ में पड़कर उसमें भावप्रकाशन की अद्भुत क्षमता उत्पन्न हो जाती है। भावों की सूक्ष्मता, मनोविकारों की अन्तरंग व्यापकता के प्रकाशन में संस्कृत भाषा नितान्त समर्थ तथा सक्षम है। शब्द का सौष्ठव तथा पदावली का मधुमय विन्यास, पदों की कोमल शय्या—संस्कृत जैसी संश्लिष्ट भाषा में जितनी सुन्दरता के साथ निबद्ध किये जा सकते हैं उतनी रुचिरता से किसी भी विश्लेष प्रधान भाषा में नहीं/ संस्कृत की 'कोमल कान्त पदावली' के अवलोकन के निमित्त महाकवि जयदेव का 'गीत गोविन्द' एक कमनीय निदर्शन प्रस्तुत करता है। सत्कवि के द्वारा व्यवहृत अलंकार में भी एक विलक्षण सुषमा झलकती है। विपुल अर्थ को कम से कम थोड़े शब्दों में प्रकाशन की योग्यता रखने में 'श्लेष' अलंकार का चमत्कार अलंकारों में सर्वोपरि है और इसीलिए श्लेष की सारगर्भिता की प्रशंसा आलोचकों ने मुक्तकंठ से की है[2]। श्लेष के विन्यास में भी एक कमनीय कौशल है। श्लेष को प्रसन्न होना आवश्यक है। श्लेष वहीं तक शोभादायक होता है जहाँ तक द्वितीय अर्थ के समझने में पाठक को विशेष प्रयास नहीं करना

---

१ रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग् यत्न निर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥—ध्वन्यालोक

२ श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।—दण्डी

पड़ता। इसीलिये 'प्रत्यक्षर श्लेषमय प्रबन्ध' रचना की डींग हाँकनेवाले सुबन्धु के श्लेष प्रसादहीन तथा कर्कश होने से एकदम अग्राह्य प्रतीत होते हैं परन्तु त्रिविक्रम भट्ट के प्रसन्न श्लेषों में भावप्रकाशन तथा अर्थविन्यास की अद्भुत क्षमता आलोचकों का हृदयावर्जन करती है। हृदय के क्षण क्षण परिवर्तनशील भावों का काव्य में विन्यास होने से संस्कृत का एक ही पद्य उस मनोरम चित्र के समान प्रतीत होता है जिसके अल्प कलेवर में समग्र अंगों का विन्यास बड़ी बारीकी के साथ किया गया रहता है कि उसके पठनमात्र से पूरे अर्थों की झलक एक साथ ही पाठकों के मानसपटल के ऊपर अंकित हो जाती है। इस प्रकार संस्कृत के कवियों ने गम्भीर तथा सूक्ष्म भावों को कोमल पदावली के द्वारा अभिव्यक्त करने में आश्चर्यजनक सामर्थ्य दिखलाया है, परन्तु प्राकृत तथा लोकभाषा के साहित्य के उदय के साथ साथ जब संस्कृत व्यवहारक्षेत्र से हटकर केवल पंडित-समाज के भीतर ही सीमित रह गई तब संस्कृत काव्यों में कृत्रिमता तथा बनावटीपन ने घर कर लिया। कवियों की दृष्टि अन्तरंग से हटकर बहिरंग के ऊपर ही जम गई। इस अवनतिकालीन कविता में वह प्रसादमयी भावना, वह अद्भुत प्रतिभा का विलास, वह सरस हृदयावर्जक पदावली का विन्यास देखने को भी नहीं मिलता जो संस्कृत काव्य के उत्कर्षकाल में सदा ही उसके साथ सम्बद्ध रहते थे।

(ख)

काव्य का उदय तथा स्रोत

भारतीय काव्य के निर्माण की पूर्ण प्रेरणा कवियों की रामायण तथा महाभारत जैसे महनीय राष्ट्रीय महाकाव्यों के अध्ययन से प्राप्त हुई है; इसमें संशय करने का स्थान नहीं है। रामायण तथा महाभारत पाश्चात्य पद्धति से एपिक के अन्तर्गत होने पर भी उनकी रचना, शैली तथा विषय की विवेचना में नितान्त पार्थक्य है जिसका संकेत पिछले अध्याय में विशेष रूप से दिया गया है। भारतीय महाकाव्य के विकास में वेद से भी परम्परया स्फूर्ति-प्राप्ति का संकेत हमें यत्र तत्र उपलब्ध होता है। वेदों में देवस्तुति के

अतिरिक्त तत्कालीन दानशील उदार-राजाओं की श्लाघनीय स्तुतियाँ भी उपलब्ध होती हैं जिन्हें 'नाराशंसी' के नाम से अभिहित करते हैं। प्रभूत दान के कारण प्रत्युपकार की भव्य भावना से प्रेरित मन्त्रों को 'दानस्तुति' की संज्ञा प्राप्त है। ऋग्वेद में (५।६१) श्यावाश्य ऋषि ने अपने आश्रयदाता राजा तरन्त तथा उनकी विदुषी महिषी शशीयसी के दान की खूब प्रशंसा की है। अथर्ववेद राजा परीक्षित के राज्यकाल में अनुभूयमान सौख्य की विपुल प्रशंसा में कतिपय मन्त्रों का उल्लेख करता है[1]। संहिता, विशेषतः ब्राह्मणों में, प्राचीन कीर्ति-सम्पन्न राजाओं के विषय में अनेक ग्राह्य गाथायें भी उद्धृत की गई हैं जिनमें प्राचीन ऐतिहासिक राजाओं के जीवन की किसी विशिष्ट घटना का साहित्यिक उल्लेख हमें प्राप्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के शुनः-शेष तथा ऐन्द्रमहाभिषेक वाले अंशों में भी ऐसी मान्य गाथायें भूरिशः उद्धृत की गई हैं। इस प्रकार के उपकरणों की सत्ता होने पर भी कविजनों ने इनका विशेष उपयोग अपने काव्यों में नहीं किया। केवल कवि-मूर्धन्य कालिदास ने अपने विक्रमोर्वशीय नाटक में ऋग्वेदीय उर्वशी-पुरुरवा के संवाद को साहित्यिक काया प्रदान कर स्वीकृत किया है। परन्तु मुख्यतया रामायण तथा महाभारत ही संस्कृत श्रव्य तथा दृश्य काव्यों के अक्षय स्रोत हैं तथा संस्कृत गीतिकाव्यों का मूल आधार श्रीमद्भागवत काव्य की मनोरम गीतियाँ है। अत; इन तीनों को हमने उपजीव्य काव्य की कोटि में सम्मिलित किया है।

कतिपय पाश्चात्य विद्वानों की धारणा है कि प्राकृत-काव्य संस्कृत काव्य को उत्तेजना देनेवाला प्राचीनतर काव्य है जिसका अनुवाद करके ही संस्कृतभाषा में काव्यों का जन्म हुआ, परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रामक है और इन विद्वानों के केवल प्राकृतभाषा के पक्षपात का ही एकमात्र द्योतक है। साहित्य-जगत् में प्राकृत काव्यों का उदय न तो इतना प्राचीन ही है और न उसके संस्कृत में अनुवाद की बात का अब तक कोई निःसन्दिग्ध प्रमाण या पुष्ट आधार ही प्राप्त हुआ है कि पूर्वोक्त कथन को किसी प्रकार की सत्यता

---

१ अथर्ववेद, कांड २०, सूक्त १२७

प्राप्त हो सके। अतएव यह मत अब त्याज्य कोटि में ही अपना उल्लेख पा सकता है।

काव्य का पुनर्जागरण

संस्कृत काव्य के उत्थान तथा विकास के प्रसंग में मैक्समूलर का 'काव्य के पुनर्जागरण' (रिनेसाँ) का सिद्धान्त सर्वथा खण्डित तथा त्याज्य होने पर भी ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। विक्रम की आरम्भिक चार शताब्दियों में विदेशी शकों के प्रबल आक्रमणों के कारण भारत की अन्तरंग दशा नितान्त अशान्त थी, राजनीतिक वातावरण एकदम क्षुब्ध था जिसके कारण काव्य पनप नहीं सका। साहित्य रचना के लिए आवश्यक शान्त वातावरण की छाया भी इस युग में दृष्टिगोचर नहीं होती। फलतः यह अन्धकारमय युग संस्कृत काव्य की घोर निशा का काल है और इस निद्रा का भंग तथा कल्पना का मंगलमय प्रभात तब उदित हुआ, जब गुप्त साम्राज्य के वैभव का सूचक शंखनाद उद्घोषित हुआ। अतः गुप्तकाल में ललितकला का अभ्युदय सम्पन्न होने से संस्कृत काव्य का पुनर्जागरण मानकर मैक्समूलर ने विक्रम की आदिम शताब्दियों को कविता के अभाव का युग माना था।

परन्तु प्रकाशित शिलालेखों के गहरे अध्ययन से यह सिद्धान्त पूर्णतया भ्रान्त, निराधार तथा त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। डाक्टर ब्यूलर ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि इस युग में भी कमनीय स्तुतिकाव्यों की रचना होती थी; दानी राजाओं की कीर्तियाँ प्रशस्त प्रशस्ति-काव्यों में अंकित की गई हैं। यह युग गद्य तथा पद्य उभयविध काव्यों के प्रणयन का काल था। शक क्षत्रप रुद्रदामन् का गिरनार शिलालेख (समय १५० ईस्वी) अपनी शैली की रोचकता, भावप्रवणता तथा हृदयावर्जन के हेतु एक लघुकाय गद्य-काव्य का आनन्द देता है। आलोचनाविषयक ग्रंथों की रचना तथा इस शास्त्र के सिद्धान्तों का स्थिरीकरण किसी न किसी प्रकार किया गया था। यहाँ रुद्रदामन् स्फुट, लघु, मधुर, चित्र, कान्त, शब्द-समय-सम्पन्न, उदार तथा अलंकृत गद्यपद्य की रचना में प्रवीण बतलाया गया है। गद्यपद्य के गुण-बोधक ये शब्द नितान्त पारिभाषिक हैं और किसी मान्य आलोचना-सिद्धान्त

की ओर स्पष्ट संकेत कर रहे हैं। कविवर हरिषेण की प्रयागवली समुद्रगुप्त प्रशस्ति (समय ३५० ई०) समुद्रगुप्त के दिग्विजय का वर्णन गद्य पद्य-मिश्रित फड़कती भाषा में करती है। वत्सभट्टि द्वारा निर्मित मन्दसोर की प्रशस्ति (समय ५२९ मालव संवत्=४७३ ई०) वैदर्भी रीति का आश्रय लेकर सरस काव्य के विरचन में सिद्धहस्त कवि की कमनीय कृति है।

कवि वत्सभट्टि कविवर कालिदास के मेघदूत से अवश्य परिचित हैं क्योंकि उसके इस श्लोक में—

चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि ।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूट-तुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥१०॥

उत्तर मेघदूत के प्रथम श्लोक की स्पष्ट छाया है—

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः ।
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगंभीर-घोषम् ॥

यह प्रशस्ति नाना छन्दों में निबद्ध ४४ पद्यों में है। दशपुर का वर्णन कवित्वपूर्ण है और काव्यकला के विकास का पर्याप्त बोधक है। इस प्रकार ईस्वी सन् की आदिम पाँच शताब्दियों की काव्यरचना में वही शैली मिलती है वही वर्णनपद्धति अपनी झाँकी दिखलाती है, वही रसमय पदविन्यास अपना मंजुल रूप दर्शाता है जिसे हम संस्कृत के माननीय काव्यों में देखने के अभ्यस्त हैं। सूर्य का यह वर्णन नितान्त भव्य है—

यः प्रत्यहं प्रतिविभात्युदयाचलेन्द्र—
विस्तीर्णतुङ्गशिखरस्खलितांशुजालः ।
क्षीबाङ्गनाजनकपोलतलाभिताम्रः
पायात् स वः सुकिरणाभरणो विवस्वान् ॥

अधिक वृष्टि के कारण जब नदियाँ अपने किनारों से ऊपर होकर बहने लगीं तब कवि को प्रतीत होता है कि पर्वत मानों अपने मित्र समुद्र की ओर अपना नदीमय हाथ फैला रहा था—

अनेकतीरान्तजपुष्पशोभितो
नदीमयो हस्त इव प्रसारितः

हरिषेण के शब्दों में समुद्रगुप्त की विजय-प्रशस्ति से मण्डित यह स्तम्भ भूमि का बाहु प्रतीत होता है जो देवताओं से राजा की विमल कीर्ति के भ्रमण की सुन्दर कहानी कहने के लिए ऊपर उठा हुआ है—

कीर्तिमितस्त्रिदशपतिभवनगमनावाप्त—ललितसुखविचरणमाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः।

जिस युग में इतनी कोमल कल्पना का प्रश्रय देनेवाली कविता की रचना होती हो, इसे 'कविता की निशा' बतलाना कहाँ तक औचित्यपूर्ण है ? इसकी विशेष मीमांसा अपेक्षित नहीं।

इस प्रकार मैक्समूलर ने ईस्वी की आरम्भिक दो शताब्दियों में शकों के आक्रमण के कारण संस्कृत के साहित्यिक प्रयत्नों में ह्रास की कल्पना की थी, परन्तु इतिहास के साक्ष्य के आधार पर पश्चिमी शक संस्कृत के उन्नायक सिद्ध होते हैं, न कि विध्वंसक। शकों ने भारतीयत्व को स्वीकार कर अपने नामों को ही भारतीय नहीं बनाया, प्रत्युत भारतीय कला तथा धर्म को आश्रय दिया तथा १५० ईस्वी में ही संस्कृत भाषा को राष्ट्रभाषा को पद पर प्रतिष्ठित किया। बौद्ध कवि अश्वघोष ने इसी युग में धर्म-प्रचार की बुद्धि से संस्कृत में अपने दो महाकाव्यों की रचना की। लोगों के हृदय के कोमल काव्यकला के द्वारा बौद्ध धर्म के प्रति आवर्जित तथा आसक्त बनाने की अश्वघोषिय घोषणा क्या इस बात की समर्थ सूचिका नहीं है कि काव्य की लोकप्रियता, प्रचार तथा प्रसार उनसे काल से ही होता आया था ? उन्होंने नवीन धारा की सृष्टि न कर केवल प्राचीन धारा की परम्परा से लाभ उठाने का ही प्रयास किया है। ऐसी दशा में नवीन ग्रन्थों के अन्वेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि विक्रम की आरम्भिक शताब्दियाँ संस्कृत काव्य-प्रणयन की दृष्टि से कम आदरणीय नहीं हैं।

पाणिनि

पाणिनि के नाम से सूक्तिसंग्रहों में निर्दिष्ट पद्यों की सत्यता सिद्ध होने पर संस्कृत काव्य के उद्गम का युग अत्यन्त प्राचीन सिद्ध हो जाता है तथा मैक्समूलर की यह धारणा भी नितान्त निराधार प्रमाणित

हो जाती है। पाणिनि के नाम से कमनीय पद्य केवल सूक्तिग्रन्थों में ही संगृहीत नहीं है, प्रत्युत कोश ग्रन्थों में तथा अलंकार-शास्त्रीय पुस्तकों में भी उद्धृत किये गये हैं। कई लेखकों ने तो पाणिनि के पद्यों में दोष दिखला कर अपने ही नियमों के उल्लंघन का दोष भी वैयाकरण के मत्थे मढ़ा है। इन पद्यों को लेकर पाश्चात्य पण्डितों में तीव्र मतभेद है।

पुरातत्त्व-वेत्ताओं में इस विषय में बड़ा मतभेद है कि ये कवितायें वैयाकरण पाणिनि की हैं या अन्य किसी 'पाणिनि' नामधारी कवि की? दोनों में व्यक्तिगत अभिन्नता है या भेद? डाक्टर भाण्डारकर, पीटर्सन आदि विद्वान् पाणिनि की शुष्क तथा वेदतुल्य भाषा और इन पद्यों की सरस तथा अलंकृत भाषा में विभिन्नता स्वीकार करते हुए यही कहते हैं कि इन श्लोकों का रचयिता वैयाकरण पाणिनि नहीं हो सकता। प्रौढ़ालंकृत काव्यों का उद्गम वैयाकरण पाणिनि से बहुत इधर का है। उस समय में तो सरल सुभग भाषा का ही साम्राज्य था। साहित्यिक अलंकारों से विभूषित भाषा का प्रचार उस सूत्रकाल से कई शताब्दी उतर कर हुआ है। इस मत के विपरीत डाक्टर औफ्रेक्ट तथा डाक्टर पिशेल की सम्मति है पाणिनि को केवल एक खूसठ वैयाकरण मानना बड़ी भारी भूल करना है, वह स्वयं अच्छे कवि थे। उसका मस्तिष्क नीरस व्याकरण के नियमों का भंडार भले हो, परन्तु उसका हृदय तो कमनीय काव्यकला का सुकुमार आकर था। रहीं अलंकृत भाषा की बात। तो वेद में भी क्या सरस कविता के भव्य निदर्शन नहीं पाये जाते? अवलोकनीय अलंकारों की अनुपम छटा वेद में भी क्या रसिक हृदय को मुग्ध नहीं बना डालती? जब वेद में ही अलंकृत भाषा के सुभग दर्शन होते हैं तब पाणिनि के पद्यों में अलंकार के साक्षात्कार से हमें घबड़ाना नहीं चाहिये न वैयाकरण तथा कवि पाणिनि की अभिन्नता के विषय में चीं-चपड़ करने के लिये उतारू होना चाहिये। जो कुछ हो, यह प्रश्न है बड़ा विकट और यह अपने निर्णय के लिये अधिक सामग्री चाहता है।

आधुनिक विद्वानों को छोड़कर जब हम संस्कृत साहित्य की परम्परागत प्रसिद्धि पर दृष्टि डालते हैं तो ज्ञात होता है कि पाणिनि ही इन पद्यों के

निःसन्दिग्ध रचयिता माने गये हैं। सूक्तिग्रन्थों में राजशेखर ने पाणिनि की प्रशंसा करते हुये लिखा है :—

नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं, काव्यमनु जाम्बुवतीजयम्॥

अर्थात् पहिले व्याकरण अनन्तर 'जाम्बवतीजय' काव्य के पैदा करनेवाले पाणिनि को नमस्कार है।

सदुक्तिकर्णामृत में विशिष्ट कवि-प्रशंसा के विषय में उद्धृत एक पद्य[1] में भी सुबन्धु, रघुकार (कालिदास), हरिश्चन्द्र (गद्य-काव्य लेखक), शूर, भारवि तथा भवभूति जैसे उत्कृष्ट कवियों के साथ साथ दाक्षीपुत्र का भी नाम उल्लिखित है। जहाँ तक हम जानते हैं 'दाक्षीपुत्र' से वैयाकरण पाणिनि का ही संकेत है। क्योंकि महाभाष्य के अनेक स्थलों[2] पर यह विशेषण पाणिनि के लिये प्रयुक्त किया गया है। इस उल्लेख से भी दोनों की अभिन्नता सिद्ध होती है।

क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' नामक छान्दोग्रन्थ में पाणिनि के उपजाति छन्द को चमत्कार का सार बतलाया है :—

स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः॥

अब तक उद्धृत प्रमाणों से पाणिनि के कवि होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। परन्तु यह बात बड़े महत्त्व की है कि पाणिनि यदा-कदा फुटकर पद्य लिखनेवाले साधारण कवि नहीं थे, प्रत्युत संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम महाकाव्य के लिखने का श्रेय उन्हीं को ही प्राप्त है।

---

१ सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे, हरति हरिश्चन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्तिः शूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिर-
स्तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते॥

२ सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। [महाभाष्य १।१।२० पर]

इस महाकाव्य का नाम कहीं तो 'पाताल विजय' पाया जाता है और कहीं पर 'जाम्बवती जय'।

रुद्रट कृत काव्यालंकार के टीकाकार 'नमि साधु' ने 'महाकवि भी अप-शब्दों का प्रयोग करते हैं' इसे बतलाने के लिये पाणिनि के 'पाताल विजय' से 'सन्ध्यावधू' गृह्य करेण भानुः' को उद्धृत किया है जिसमें 'गृह्य' शब्द पाणीनीय व्याकरण से अशुद्ध है। अमरकोश के टीकाकार राय मुकुट ने निम्नलिखित पद्य-खण्ड को इकारान्त 'पृषन्ति' (जलबुन्द) शब्द के उदाहरण के लिए उद्धृत करते समय इसे 'जाम्बवती विजय' का बतलाया है:—

पयः पृषन्तिभिः स्पृष्टाः वान्ति वाताः शनैः शनैः ।

राजशेखर के ऊपर उद्धृत पद्य में, पुरुषोत्तम देव की भाषावृत्ति में तथा शरणदेव की दुर्घट-वृत्ति में पाणिनि के पद्यों को उद्धृत करते समय उनके काव्य का नाम **'जाम्बवती जय'** या **'जाम्बवती विजय'** बतलाया गया है। जाम्बवती कों लाने के लिये कृष्ण भगवान् को पाताल में जाकर विजय प्राप्त करना पड़ा था। अतः 'पातालविजय' 'जाम्बवती विजय' का नामान्तर मात्र है, कोई विभिन्न ग्रंथ नहीं। शरणदेव की पुस्तक में अठारहवें सर्ग से एक पद्य उद्धृत किया[1] गया है जिससे जान पड़ता है कि यह महाकाव्य कम से कम अठारह सर्गों का अवश्य था। अतः भारतीय परम्परा से विरुद्ध कोई प्रबल प्रमाण न मिलने तक वैयाकरण पाणिनि तथा कवि पाणिनि की एकता में अविश्वास के लिए कोई स्थान नहीं है।

जीवनी तथा काल

जिस प्रकार पाणिनि का आविर्भाव-काल अभी तक ठीक नहीं हो सका, उसी प्रकार उनके जीवनचरित का ज्ञान भी हमें बहुत ही कम है। पाणिनि

---

१ त्वया सहार्जितं यच्च सख्यं पुरातनम् ।
चिराय चेतसि पुरस्तरुणीकृतयच्च मे ।
—जाम्बवती विजये पाणिनिनोक्तम्''.......

इत्यष्टादशे (सर्गे)

ने स्वयं कहीं भी अपने विषय में (जहाँ तक ज्ञात है) कुछ लिखा ही नहीं। परवर्ती ग्रन्थकारों ने पाणिनि की सम्मति उद्धृत करते समय उनके लिये कतिपय विशेषणों का प्रयोग किया है जिनसे पाणिनि के विषय में कुछ ज्ञात होता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पाणिनि को कई स्थानों पर 'दाक्षिपुत्र' तथा 'शालातुरीय' कहा है जिससे केवल इतना पता लगता है कि पाणिनि की माता का नाम 'दाक्षी' तथा जन्म स्थान का नाम 'शालातुर' था। जेनरल कनिंघम ने अनेक प्रबल प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि 'शालातुर' का वर्तमान नाम 'लाहुर' है जो पेशावर के आस-पास आज एक छोटा-सा गाँव है। अष्टाध्यायी में उत्तरी भारत—खासकर अफगानिस्तान तथा सीमान्त-प्रदेश के सच्चे भौगोलिक उल्लेखों से भी यही जान पड़ता है कि पाणिनि का जन्म अवश्य ही भारत में पश्चिमोत्तरीय प्रदेश में हुआ था। विद्वानों का अनुमान है कि पाणिनि ने उसी स्थान पर विद्याध्ययन किया था जो बौद्धकाल में 'तक्षशिला' के नाम से सर्वप्रसिद्ध विद्यापीठ हुआ। भट्ट सोमेश्वर[1] ने लिखा है कि पाटलिपुत्र में रहनेवाले 'उपाध्याय वर्ष' के पास पाणिनि विद्याध्ययन करते थे। आरम्भ में पाणिनि की बुद्धि बड़ी मोटी थी, कितने समझाने पर भी कोई विषय उन्हें हृदयंगम नहीं होता था। मानसिक व्यथा से पीड़ित होकर पाणिनि ने हिमालय में जाकर अखण्ड तपस्या की तथा शिवजी के प्रसाद से न केवल अपने सहपाठियों को—विशेषतः वररुचि को—ही परास्त किया, बल्कि एक नये व्याकरण की सृष्टि की। इस कथानक से पाणिनि का पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) में शिक्षा पाना सिद्ध होता है। राजशेखर ने भी एक किम्वदन्ती का उल्लेख किया है[2] जिससे निश्चय रूप

---

१ कथासरित्सागर, ४ था तरंग, पृष्ठ ८ (निर्णयसागर प्रेस का संस्करण)

२ श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—

अत्रोपवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः।
वररुचिपतंजली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः।

—काव्यमीमांसा, पृ० ५५

से जाना जाता है कि पाटलिपुत्र में पाणिनि की परीक्षा ली गई थी और इसमें उत्तीर्ण होने पर उनकी ख्याति चारों ओर फैल गई। पंचतंत्र के एक आकस्मिक उल्लेख के आधार पर कहा जाता है कि व्याघ्र से पाणिनि की मृत्यु हुई थी।

यूरोपीय लेखक इन्हें ईसा से पूर्व चौथी सदी का बतलाते हैं परन्तु डाक्टर गोल्डस्टुकर[1] तथा डाक्टर भाण्डारकर[2] ने सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि पाणिनि बुद्ध के पहिले हो गये हैं और इनका समय कम से कम ईसा से ७०० वर्ष पूर्व है।

पाणिनि की कविता मधुर तथा सरस है। अलंकारों की छटा रसिक मन को अतीव आनन्दित कर रही है। ऐसी अनोखी उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग किया गया है कि हृदय-सागर में बलात् आनन्द-लहरी उठने लगती है। श्रृंगार रस का ही विशेष वर्णन है। प्राकृतिक दृश्यों का अतिशय अलंकृत भाषा में वर्णन बड़ा ही सजीव तथा मनोहर है।

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः।
धारानिपातैः सह किन्तु वान्तश्चन्द्रोऽयमित्यार्ततरं ररास॥

वर्षा काल में मेघों की प्रचण्ड गर्जना हो रही है। पाणिनि की सम्मति में यह नीरस गर्जना नहीं है; बल्कि उनका करुण क्रन्दन है। बात यह है कि रात के समय अभिसारिका के मुख को बिजुली रूपी आँखों से देखकर मेघों को यह सन्देह हो रहा है कि कहीं हमारे धारा-सम्पात के साथ साथ चन्द्रमा जमीन के ऊपर तो नहीं गिर पड़ा? यदि ऐसा नहीं है, तो गाढ़ान्धकार में अभिसारिका का इतना चमकीला चेहरा कहाँ से आया? नायिका के परम कान्तिमय मुख को देखकर उन्हें चन्द्रमा का सन्देह हो रहा है। इस सन्देह में विभोर होकर वे इतना करुण-क्रन्दन कर रहे हैं।

---

१ गोल्डस्टुकर 'पाणिनि तथा उनका संस्कृत साहित्य में स्थान' नामक ग्रन्थ में।

२ भांडारकर दक्षिण का प्राचीन इतिहास' नामक ग्रन्थ में।

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती स-कलंकमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार॥

शरत्काल में चन्द्रबिम्ब विमल हो जाता है, परन्तु आकाश में मेघों के न होने से सूर्य की गर्मी पहिले से और भी अधिक बढ़ जाती है। इस प्राकृतिक घटना पर पाणिनि ने विलक्षण कल्पना की सृष्टि की है। उनकी सम्मति में शरद् का व्यवहार नायिका के समान प्रतीत होता है। नायिका के समान शरद् शुभ्र पयोधरों (मेघ तथा स्तन) पर नखक्षत के समान रंगबिरंगे इन्द्र धनुष को धारण करती हुई कलंकी चन्द्रमा (मानो उपनायक) को प्रसन्न (निर्मल) कर रही है और साथ ही साथ सूर्य (नायक) के ताप (मानसिक दुःख तथा गर्मी) को भी अधिक बढ़ा रही है।

वररुचि

सूक्ति-संग्रहों में 'वररुचि' के नाम से बहुत से श्लोक उद्धृत किये गये हैं। न केवल 'सुभाषितावलि' तथा 'शारंगधरपद्धति' में ही इनके पद्य पाये जाते हैं बल्कि इनसे भी प्राचीन 'सदुक्तिकर्णामृत' में वररुचि-कृत श्लोकों की उपलब्धि होती है। यह वररुचि कौन थे? इसे ठीक ठीक कहना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। पाणिनीय व्याकरण पर वार्तिक लिखनेवाले कात्यायन मुनि का भी नाम 'वररुचि' था, उधर 'प्राकृत प्रकाश' नामक प्राकृत के अति प्राचीन व्याकरण बनानेवाले भी कोई 'वररुचि' हो गये हैं। कवि वररुचि—जिनके पद्य सूक्तिग्रंथों में संरक्षित हैं—इन दोनों से भिन्न थे या अभिन्न? इसे निश्चयपूर्वक सिद्धान्त रूप से बतलाना कठिन काम है। लेखक का अनुमान है कि कवि वररुचि तथा वार्तिककार कात्यायन दोनों एक ही व्यक्ति हैं। पतंजलि ने वररुचि के बनाये हुए किसी काव्य-ग्रंथ (वाररुचं काव्यं) का उल्लेख महाभाष्य में किया है। यह काव्य-ग्रंथ आजकल उपलब्ध नहीं, परन्तु सम्भवतः इसका नाम 'कण्ठाभरण' था जिसका उल्लेख राजशेखर ने निम्नलिखित पद्य में किया है:—

यथार्थता कथं नाम्नि मा भूद् वररुचेरिह ।
व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः ॥

—सूक्तिमुक्तावलि

यदि वार्तिककार कात्यायन ही इन श्लोकों के रचयिता मान लिये जायँ, तो वररुचि का समय ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी में होना चाहिये । कथासरित्सागर से साफ तौर से जाना जाता है कि वररुचि कात्यायन पाटलिपुत्र के प्रसिद्ध राजा नन्द के महामन्त्री थे । इन्होंने वहीं के 'वर्ष उपाध्याय' से सब विद्यायें पढ़ी थीं । व्याकरण के तो आप आचार्य ही हैं । डाक्टर भण्डारकर ने कथासरित्सागर में उल्लिखित कथा को प्रामाणिक मानकर वररुचि (जिनका गोत्रज नाम 'कात्यायन' था) का समय ईसा से पूर्व चौथी सदी में माना है । इनकी कविता बड़ी मनोहारिणी है । माधुर्य तथा प्रसाद तो इसमें कूट-कूटकर भरा हुआ है । ऋतुओं के वर्णन में ही इनके अधिकतर श्लोक पाये जाते हैं । वर्णन सरल होने पर भी सजीव हैं तथा अलंकार से सुसज्जित हैं । वररुचि वास्तव में प्रकृति के प्रेमी पुरोहित थे । इनकी निरीक्षण-शक्ति बड़ी पैनी थी । अलङ्कारों की भी छटा खूब निराली है । छोटे-छोटे चुस्त अनुष्टुप् छन्दों में उपमा तथा उत्प्रेक्षा का ऐसा सुन्दर विन्यास देखकर सहृदय पुरुष मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते ।

पतञ्जलि

पतञ्जलि (१५० ई० पूर्व) ने अपने महाभाष्य में दृष्टांत के ढंग पर बहुत से श्लोकों या श्लोकखण्डों को उद्धृत किया है जिनके अनुशीलन से संस्कृत काव्यधारा की प्राचीनता स्वतः सिद्ध होती है । पद्य के साथ गद्य काव्य की भी प्राचीनता का पता पतंजलि स्पष्ट रूप से देते हैं । 'लुब्-आख्यायिकाभ्यो बहुलम्' वार्तिक की व्याख्या-प्रसंग में उन्होंने वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी नामक अनुपलब्ध आख्यायिका-ग्रंथों का नाम निर्देश किया है जिससे गद्य-काव्य की प्रचुर लोकप्रियता का परिचय हमें मिलता है । इसके अतिरिक्त महाभाष्य में निर्दिष्ट काव्यग्रन्थ काव्य-रचना की लोकप्रियता तथा व्यापकता की ओर संकेत करते हैं । 'वाररुच

काव्यं' पतंजलि के द्वारा निर्दिष्ट अद्यापि अनुपलब्ध एक ऐसा ही ग्रन्थ है। उस युग में नाटकों की रचना तथा अभिनय जनसाधारण के मनोरंजन का एक सामान्य साधन माना जाता था। पतंजलि ने कंसवध तथा बलिबन्धन से सम्बद्ध नाटकों का ही उल्लेख नहीं किया है, प्रत्युत उनके प्रत्यक्ष अभिनय के प्रकार का भी स्पष्ट निर्देश किया है। अतः ईस्वी पूर्व द्वितीय शतक में काव्य के नाना प्रकारों की रचनायें की जाती थीं। जनता में उनकी पर्याप्त लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि थी।

छन्दःशास्त्र के अनुशीलन से भी काव्य की प्राचीनता विशदरूपेण प्रमाणित होती है। पिंगल मुनि के 'छन्दः सूत्र' में नाना प्रकार के लौकिक तथा गीतिकाव्योचित छन्दों का विवरण उपन्यस्त है। वैदिक छन्दों से लौकिक छन्दों का विकास तथा अभ्युदय गवेषणा का एक स्वतन्त्र विषय है, परन्तु नाना नवीन छन्दों की कल्पना अवश्यमेव तत्सम्बद्ध प्रचुर काव्य के निर्माण की ओर संकेत कर रही है। नवीन लौकिक छन्दों का नामकरण भी भिन्न भिन्न साधनों के आधार पर आश्रित था। कतिपय नाम तो छन्दों की स्वतः प्रवृत्ति, गति तथा लय के कारण प्रतीत होते हैं जैसे मन्दाक्रान्ता (धीरे आक्रमण या गति वाली) द्रुत विलम्बित (शीघ्र तथा विलम्ब से चलनेवाला छन्द), वेगवती, त्वरितगति आदि। कतिपय पुष्प तथा पौधों के नाम पर है जैसे माला और मंजरी। कतिपय पशुओं के शब्द तथा आचरण के आधार पर हैं जैसे शार्दूलविक्रीडित (सिंह जैसी क्रीडा), अश्वललित (घोड़ों का खेल) हरिणीप्लुता (मृगी की कूद), हंसरुता (हंसों की बोली), भ्रमर विलासित, तथा गजगति। परन्तु अधिकांश छन्दों का नाम सुन्दरियों के नाम पर है—तन्वी, रुचिरा, प्रमदा, प्रमिताक्षरा (परमित शब्दावली), मंजुभाषिणी, शशिवदना, चित्रलेखा, विद्युन्माला, स्रग्धरा (माला धारण करने वाली)। इन नामों के आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि इन छन्दों का नाम शृंगारात्मक विषयों में प्रथम प्रयोग के आधार पर है। डाक्टर याकोबी का कथन है कि इन छन्दों का निर्माण तथा संस्कृत काव्यों में प्रयोग विक्रमपूर्व शताब्दियों से सम्बन्ध रखता है

और महाराष्ट्री प्राकृत में लिखित शृंगारात्मिका गीतिकाओं की रचना की स्फूर्ति तथा उत्तेजना संस्कृत गीतिकाव्यों से प्राप्त हुई है।

इस प्रकार संस्कृत भाषा में काव्य का उदय विक्रमपूर्व शताब्दियों की एक महत्त्वशाली घटना है। पतंजलि से आरम्भ कर अश्वघोष (प्रथम शतक) तक के काव्यों की अप्राप्ति होने से इस पूर्व-अश्वघोष काव्यों का पर्याप्त परिचय हमें प्राप्त नहीं है। मेरी दृष्टि में संस्कृत काव्य का पूर्ण उदय विक्रम संवत् के प्रतिष्ठापक विक्रमादित्य के समय में (विक्रम संवत् के आरम्भ काल से) हुआ। काव्य अपने रुचिकर निर्माण तथा रचना के निमित्त शान्त वातावरण, आर्थिक समृद्धि तथा सामाजिक शान्ति की जितनी अपेक्षा रखता है उतनी वह किसी गुणग्राही आश्रयदाता की प्रेरणा की भी। फलतः सामाजिक सौख्यपूर्ण व्यवस्था के साथ किसी गुणग्राही नरपति की छत्रछाया की भी वह कामना करता है। प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास में वह युग विदेशी शकों के भयंकर आक्रमणों से भारतीय जनता, धर्म तथा संस्कृत के रक्षक, मालव संवत् के ऐतिहासिक संस्थापक शकारि मालव-गणाध्यक्ष विक्रमादित्य का समय है। इसी युग में भारतीय संस्कृत के उपासक हमारे राष्ट्रीय महाकवि कालिदास की भारती ने अपना अलौकिक चमत्कार दिखलाकर जनहृदय को आवर्जित किया था। पाश्चात्य आलोचकों की दृष्टि में संस्कृत के प्रथम कवि अश्वघोष थे जिनके प्रभाव से प्रभावित होकर कालिदास ने गुप्त काल में अपने महनीय काव्यों की रचना की थी। परन्तु इतिहास के अचूक प्रमाणों के द्वारा प्रथम शतक में विक्रमादित्य का अस्तित्व सिद्ध होने पर कालिदास को उनका सभा-कवि मानना नितान्त औचित्यपूर्ण तथा प्रामाणिक है। यूरोपीय इतिहास में इसी समय रोम साम्राज्य के संस्थापक आगस्टस सीजर के राजकवि वर्जिल ने अपने अमर महाकाव्य 'इनीड' की रचना कर रोम साम्राज्य को प्राचीन गौरव से तथा लैटिन साहित्य को मान्य आद्य महाकाव्य से मण्डित किया था। मेरी दृष्टि में कालिदास वर्जिल के समकालीन थे और इस प्रकार संस्कृत तथा लैटिन उभय भाषाओं में महाकाव्य की प्रतिष्ठा एक ही युग में मानना तुलनात्मक ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त समीचीन, शोभन तथा सुन्दर है।

३

महाकाव्य का विकास

लौकिक संस्कृत में कविता लिखने का उदय वाल्मिकि से हुआ। रामायण हमारा आदिकाल है। वाल्मिकि हमारे आदि कवि हैं। क्रौञ्चवध की जो घटना साधारण दर्शकों के हृदय में थोड़ी सी सहानुभूति उत्पन्न करने में ही समर्थ होती वही वाल्मीकि के रससिक्त हृदय में शोकतरङ्गिणी के प्रवाहित होने का कारण बनती है और रसावेश में महर्षि का शोक श्लोक के रूप में परिणत हो जाता है। जिस अवसर पर 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं' के रूप में वाल्मीकि की करुण रसाप्लुत वैखरी स्खलित हुई उसी समय भारतीय काव्य की दिशा का परिचय सहृदयों को मिल गया। काव्यतरङ्गिणी रसकूल का आश्रय ले कर ही प्रवाहित होती रहेगी, इसकी पर्याप्त सूचना उसी समय मिल गयी। वाल्मीकि का आदिकाव्य संस्कृत भारती का नितान्त अभिराम निकेतन है। सरसता और स्वाभाविकता ही इसका सर्वस्व है नाना रसों का मंजुल समन्वय, वर्णन में नितांत स्वाभाविकता, छोटे छोटे मनोरम पदों के द्वारा भावपूर्ण मधुर अर्थों की अभिव्यक्ति—इस काव्य की विशिष्टता है। स्थान स्थान पर वाल्मीकि ने अपने काव्य को अलंकारों से भूषित करने का भी उद्योग किया है, पर इन अलंकारों से वस्तु का सौन्दर्य और भी अधिकता से फूटता है और रसिकों के हृदय को हठात् मुग्ध बना देता है। अलंकारों के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है, शोभा का विकास होता है, गुण की गरिमा बढ़ती है। वाल्मीकि के काव्य में अलंकार की छटा कम सुहावनी नहीं है। गरुड़ की यह उपमा रामचन्द्र की उदात्तता के अनुरूप ही है—

राक्षसेन्द्रमहासर्पान् स रामगरुडो महान्।
उद्धरिष्यति वेगेन वैनतेय इवोरगान्॥ (राम० ५।२१।२७)

सीता के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का यह प्रकार कितना अनूठा है—

त्वां कृत्वोपरतो मन्ये रूपकर्ता स विश्वकृत्।
नहि रूपोपमा ह्यन्या तवास्ति शुभदर्शने॥ (५।२०।१३)

"मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारे जैसे रूप को बनाने वाला ब्रह्मा तुम्हें बनाकर बनाने के काम से हमेशा के लिए छुट्टी ले ली। हे शुभदर्शने! तुम्हारे रूप की तुलना जगत् में कहीं अन्यत्र नहीं है"। इस कथन में हृदय के स्वाभाविक भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति है।

यह समासोक्ति भी सरसता का भव्य निदर्शन है—

चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्श—हर्षोन्मीलिततारका।
अहो रागवती सन्ध्या जहाति स्वयमम्बरम्॥ (४।२०।४५)

इस कथन में सन्ध्या के ऊपर नायिका का तथा चन्द्र के ऊपर नायक का आरोप कितना सुन्दर है। 'अम्बरं' का श्लिष्ट प्रयोग कितना सरस और सुबोध है। उत्प्रेक्षा का प्रयोग भी वाल्मीकि ने बड़ी सुन्दरता के साथ किया है। हनुमान् जी के लंकादाह के अनन्तर लौट आने पर उनके स्वागत के अवसर पर कवि ने उत्प्रेक्षा की लड़ी लगा दी है। मूर्त पदार्थ के लिए अमूर्त वस्तु का उपमान प्रस्तुत करना वाल्मीकि की प्रतिभा का वैशिष्ट्य है। अशोक वटिका में उदास बैठी हुई जानकी के लिए वाल्मीकि ने पचीसों नई उपमायें प्रयुक्त की हैं जिनमें सर्वत्र यही विलक्षणता है (सुन्दरकाण्ड, १५ अध्याय)।

वाल्मीकि ने बाह्य प्रकृति का बड़ा ही मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है। इनके प्राकृतिक वर्णनों में सर्वत्र बिम्बग्रहण का प्राधान्य है। बिम्बग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण आकृति तथा उसके आसपास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट वर्णन देता है। यह तभी सम्भव है जब कवि के हृदय में प्रकृति के लिए सच्चा अनुराग रहता है। वाल्मीकि का यह हेमन्त वर्णन (अरण्य, अ० १६) अनुपम है—

अवश्यायनिपातेन किञ्चित् प्रक्लिन्न-शाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा॥
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥

वन की भूमि जिसकी हरी हरी घास ओस गिरने से कुछ गीली सी बन गई है, तरुण धूप के पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यन्त प्यासा हुआ

भी जंगली हाथी अधिक शीत जल के स्पर्शमात्र से ही अपनी सूँड़ को सिकोड़ लेता है। वाल्मीकि की 'रसमय पद्धति' को हम 'सुकुमार मार्ग' कह सकते हैं। रस ही उसका जीवन है। स्वाभाविकता उसका भूषण है। कालिदास ने इस शैली को अपना कर इतना यश अर्जन किया है। इस पद्धति के मुख्यतया दो श्रेष्ठ कवि हैं—वाल्मीकि और कालिदास।

कालिदास में वाल्मीकीय शैली का उदात्त उत्कर्ष मिलता है। कालिदास ने अपने आप को वाल्मीकि की कविता में सिक्त कर दिया था। उनसे बढ़कर रामायण का भक्त शायद ही कोई दूसरा कवि मिले। इसीलिए उनके काव्य में वाल्मीकि की मनोरम पदावली तथा मंजुल भाव पूर्णतया भरे पड़े हैं। वाल्मीकि को बिना समझे कालिदास का अध्ययन पूरा नहीं हो सकता। रघुवंश (२।४) में कालिदास ने 'पूर्वसूरिभिः' के द्वारा वाल्मीकि की ओर संकेत किया है। रघु० (१५।३३) में रामायण को 'कविप्रथमपद्धति' कहा गया है। कालिदास को अपनी काव्यकला को पुष्ट करने में वाल्मीकि से स्फूर्ति तथा प्रेरणा मिली है, यह सिद्धांत सन्देहहीन है। कालिदास प्रकृति के प्रवीण पुरोहित थे। उनको दृष्टि में प्रकृति तथा मानव का परस्पर सम्बन्ध विश्व में विराजने वाली भगवद्‌विभूति की एक विस्पष्ट अभिव्यक्ति है। प्रकृति मानव पर प्रभाव डालती है। वह मनुष्य के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होती है। मानव भी प्रकृति को अपनी चिरसंगिनी समझता है।

इस निसर्ग-भावना के समान ही कालिदास की कविता की कमनीयता है। अलंकारों की झंकार का वह युग न था। रसीली बोली पर ही रसिक समाज अपने को निछावर करता था। कालिदास की कविता में अलंकारों का भव्य विन्यास है—परन्तु वह विन्यास इतना भड़कीला नहीं है कि पाठकों का हृदय वर्ण्य वस्तु को छोड़कर अलंकारों की छटा की ओर ही आकृष्ट हो जाय। उस अलंकार से वस्तु का सौन्दर्य निखरता है, उसका सलोनापन अधिक बढ़ता है। वह रसिकों के हृदय में बरबस घर कर देती है।

कालिदास की शैली को परवर्ती कुछ कवियों ने बड़ी सफलता के साथ अपनाया है। अश्वघोष के ऊपर कालिदास की स्पष्ट छाप है। गुप्तकाल के

प्रशस्ति-लेखक हरिषेण और वत्सभट्टि ने कालिदास के काव्यों का गहरा अनुशीलन कर उसी के आदर्श पर अपनी कविता लिखी थी। इतना ही नहीं, कालिदास के काव्यों की ख्याति भारतवर्ष के बाहर भी कम्बोज देश (आजकल का इण्डोचीन) तक फैली थी। भारतीय विद्वान् जिन जिन उपनिवेशों में धर्म और सभ्यता के प्रचार के लिये गये वहाँ उन्होंने कालिदास के काव्यों का प्रचार किया। इसलिये सुवर्णद्वीप (सुमात्रा), कम्बोज, जावा आदि देशों में उपलब्ध संस्कृत शिलालेखों में कालिदास की कविता का पर्याप्त अनुकरण पाया जाता है—उदाहरण के लिये कम्बोज के राजा भववर्मा के ६०० ई० के शिलालेख की कुछ पंक्तियाँ तथा कालिदास के श्लोक साथ ही दिये जाते हैं जिससे इस महाकवि का विपुल प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है[1]।

विचित्र-मार्ग

साहित्य शैली के विकास के ऊपर युगों की सामाजिक चेतना का विशेष प्रभाव पड़ता है। काल की साहित्यिक मान्यता, युग का वातावरण तथा सामाजिक रूढ़ियाँ, उस युग के साहित्य को एक विशिष्ट शैली का आश्रय लेने को बाध्य करती हैं। विक्रम के सप्तम अष्टम-शतक साहित्य के इतिहास में परिवर्तन युग माना जा सकता है। काव्य का लक्ष्य नवीन परिस्थितियों में विशेष रूप से परिवर्तित होने लगा। अबतक संस्कृत काव्य का लक्ष्य जनसाधारण का अनुरंजन था और इसीलिए इस युग के संस्कृत कवि साधारणजन

१—(क) शरत्कालाभियातस्य परानावृततेजसः।
द्विषामसह्यो यस्यैव प्रतापो न रवेरपि॥ (शिलालेख ६)
दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे॥ (रघुवंश ४।४९)

(ख) यस्य सेनारजो धूतमुज्झितालंकृतिष्वपि।
रिपुस्त्रीगण्डदेशेषु चूर्णभावमुपागतम्॥ (शिलालेख ७)
भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम्।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधिः कृतः॥ (रघु० ४।५४)

के हृदय को स्पर्श करने वाली कविता के निर्माण में दक्ष दिखलाई पड़ते हैं। कालिदास तथा अश्वघोष का काल इसीलिए संस्कृत काव्य के इतिहास में अपनी सरलता, सरसता तथा सुबोधता से सम्पन्न काव्य की रचना में प्रख्यात माना जाता है, परन्तु गुप्त युग के सामूहिक शिक्षण तथा व्यापक सांस्कृतिक प्रसार के कारण भारतवर्ष का साहित्यिक वातावरण ही बदल जाता है। प्राकृत भाषाओं के उदय के हेतु भी संस्कृत भाषा का क्षेत्र सीमित हो जाता है। जनता प्राकृत भाषा की कविता के द्वारा अपना मनोरंजन करने लगती है। प्राकृत लोकभाषा होने के कारण जनता के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट करती है। अतएव संस्कृत काव्य का अब लक्ष्य साधारणजन न होकर पण्डित-जन ही हो जाता है। इसी युग में बौद्ध न्याय का उदय तथा विकास सम्पन्न होता है जिसके मतों को ध्वस्त करने के लिए ब्राह्मण नैयायिक अपने युक्ति-कौशल का प्रदर्शन करते हैं। दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध पण्डितों का और वात्स्यायन तथा उद्योतकर जैसे ब्राह्मण नैयायिकों के उदय का यही युग है। फलतः इस युग का वातावरण ही पाण्डित्यमय है। अब ऐसे ही पंडित पाठकों का हृदयावर्जन काव्य का लक्ष्य बन जाता है। राजदरबारों को ऐसे ही पाण्डित्यमण्डित विद्वान् सुशोभित करते थे। इन्हीं को लक्ष्य कर संस्कृत का कवि अपने प्रबन्ध-काव्यों की रचना करता था।

इसीलिए इस युग के साहित्यिक आग्रह, पाण्डित्यमय वातावरण तथा वैदुषी-मण्डित पाठकों का आवर्जन संस्कृत कवियों को नई प्रेरणा देने लगे। युग की विशिष्टता और साहित्यिक चेतना के कारण कविजनों को प्राचीन रसमयी पद्धति को छोड़कर एक नवीन शैली का ग्रहण आवश्यक हो गया जिसमें विषय की अपेक्षा वर्णन-प्रकार पर तथा सारल्य के स्थान पर पाण्डित्य पर ही विशेष लक्ष्य था तथा काव्य को सुसज्जित बनाने के लिए कामशास्त्र जैसे प्रौढ़ शास्त्रों का उपयोग आवश्यक हो गया। ऐसे ही नवीन युग के प्रतीक थे महाकवि भारवि तथा माघ। अतएव भारवि तथा माघ को अपने काव्यों के संक्षिप्त वर्णन को पुष्ट, अलंकृत तथा पाण्डित्य पूर्ण बनाते हुए देखकर हमें कुछ आश्चर्य नहीं होता। यह उस पांडित्यमय युग की माँग थी जिसकी अवहेलना कथमपि नहीं की जा सकती थी। अतएव युगधर्म का इन

कवियों के काव्यों में प्रतिबिम्बित होना नैसर्गिक घटना है, कोई आकस्मिक घटना नहीं।

संस्कृत साहित्य के विकास में महाकवि भारवि का नाम विशेष उल्लेखनीय रहेगा, क्योंकि उन्होंने महाकाव्य लिखने की एक नयी शैली को जन्म दिया। आचार्य कुन्तक इस अलंकार-बहुल पद्धति को 'विचित्र-मार्ग' की संज्ञा देते हैं। इस अलंकृत शैली की दो विशेषतायें हैं—(१) विषय-संबंधी और (२) भाषा-सम्बन्धी। भारवि के पहले वाल्मीकि तथा कालिदास ने अपने महाकाव्य का जो विषय चुना था वह अत्यन्त विस्तृत तथा परिमाण में विपुल है। कालिदास ने अपने रघुवंश में, केवल १६ सर्गों के भीतर दिलीप से प्रारम्भ कर अग्निवर्ण तक रघुवंश की अनेक पीढ़ियों का वर्णन बड़ी सफलता के साथ किया है परन्तु भारवि ने अर्जुन का किरात के पास जाना और उनसे युद्ध कर अस्त्र प्राप्त करने की स्वल्प कथा को २० सर्गों में कह डाला है। इन्होंने अपने काव्य में पर्वत, नदी, सन्ध्या, प्रातः ऋतु तथा अनेक प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में अनेक सर्ग व्यय कर दिये हैं और इस प्रकार इस छोटे से कथानक को इतना अधिक विस्तार प्रदान किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारवि के पहले काव्य का विषय विस्तृत होता था और प्राकृतिक वर्णन कम। परन्तु भारवि के बाद काव्य में कथावस्तु अत्यन्त कम होने लगी और प्रकृति-वर्णन अधिक। यही बात शिशुपालवध और नैषध जैसे महाकाव्यों में भी पाई जाती है।

दूसरी बात भाषा तथा शैली सम्बन्धी है। वाल्मीकि तथा कालिदास ने महाकाव्यों में सीधी, सादी, चलती और प्रवाहपूर्ण भाषा का प्रयोग किया है। उनकी कविता प्रसाद गुण से युक्त है। न तो उनमें कहीं क्लिष्ट कल्पना मिलती है और न अलंकार की वेसुरी झनकार। इनकी कविता में अलंकार के लाने का बल-पूर्वक प्रयास नहीं किया गया है और न चित्रकाव्य लिखकर गोमूत्र और कमल का ही प्रदर्शन किया गया है। इनकी कविता में जहाँ कहीं भी अलंकार आये हैं वे स्वाभाविक रीति से अनायास प्रयुक्त हैं। उनसे कविता के समझने में कष्ट नहीं होता, बल्कि उसका सौष्ठव और अधिक बढ़

जाता है। परन्तु भारवि ने एक ऐसी शैली का जन्म दिया, एक ऐसी रीति का काव्य में प्रयोग किया जो अलंकार के भार से लदी है, श्लेष के प्रयोग से अत्यन्त दुरूह बन गयी है तथा चित्रकाव्य से प्रदर्शन करने की बलवती इच्छा से पहेली के समान कठिन हो गयी है। अलंकारों की प्रधानता होने के कारण ही इसे 'अलंकृत शैली' नाम प्रदान किया गया है[1]।

इस अलंकृत शैली का उत्कर्ष माघ का प्रसाद है। अतः इस शैली की उद्भावना में भारवि और माघ का नाम संश्लिष्ट रहेगा। अब कवियों के सामने दो प्रकार की शैलियाँ विद्यमान थीं—(१) वाल्मीक कालिदास की रसमयी शैली और (२) भारवि-माघ की अलंकृत शैली। पिछले कवियों ने अपनी रुचि के अनुसार इन शैलियों में से अन्यतम को अपनाया है। पद्म॰ गुप्त परिमल ने 'नवसाहसांकचरित' में तथा श्री हर्ष ने 'नैषध' में प्रथम शैली को अपनाया है, परन्तु अपने काव्य को अलंकृत करने की प्रवृत्ति भी इनमें है। 'अलंकृत शैली' का भव्य निदर्शन रत्नाकर का 'हरविजय' है। इस परवर्ती युग के कवियों की दृष्टि में नैसर्गिकता के स्थान पर 'अलंकारिता' का विशेष मूल्य है। बाह्य प्रकृति के वर्णन में भी भिन्नता आ गई है। ये कवि-लोग प्रकृति के मार्मिक रूप के विश्लेषण में नितान्त असमर्थ हैं क्योंकि उनमें निरीक्षण का वस्तुतः अभाव है। श्रीहर्ष जैसे विदग्ध कवि की दृष्टि में सायं-काल में पश्चिम दिशा शबरालय में प्रहर के अन्त की सूचना देनेवाले कुक्कुटों (मुर्गों) की कलँगी के कारण लाल रंग की दिखलाई पड़ती है !!! (नैषध चरित २२ सर्ग। ५ श्लोक)

कालिदास ने अनेक साहित्यिक रूढ़ियों को जन्म दिया है जिनमें एक रूढ़ि है—द्रुतविलम्बित छन्द में यमकमय ऋतुवर्णन। द्रुतविलम्बित के चतुर्थ चरण में उन्होंने यमक का बड़ा ही सरस विन्यास कर वसन्तशोभा का वर्णन रघुवंश के नवम सर्ग में किया है। पिछले कवियों ने इस रूढ़ि को अपना लिया, पर यमक का इतना अधिक प्रयोग किया कि रसवत्ता जाती

---

१ द्रष्टव्य—मेरा ग्रंथ 'भारतीय साहित्य शास्त्र' दूसरा खण्ड पृष्ठ १८६–१३६।

रही। कालिदास के यमक की स्वाभाविकता तथा मनोरमता के सामने माघ का ऋतुवर्णन—सम्बन्धी (६ सर्ग) कोई भी श्लोक खड़ा नहीं हो सकता। अलंकृत शैली का विकटरूप तब प्रगट होता है, जब कवि एक ही प्रबन्ध में राम की तथा अर्जुन की कथा सुनाने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। कभी कभी तो तीन-तीन अर्थ एक ही श्लोक से आदि से लेकर अन्त तक निकलते हैं। ऐसी द्व्यर्थी महाकाव्यों में धनञ्जय का 'द्विसन्धान' विद्यामाधव का 'पार्वतीरुक्मिणीय', हरिदत्तसूरि का 'राघवनैषधीय', कविराजसूरि का 'राघव पाण्डवीय' मुख्य हैं। त्र्यर्थी काव्यों में राजचूड़ामणि दीक्षित का 'राघव यादवपाण्डवीय' तथा चिदम्बरसुमति का 'राघव पाण्डवयादवीय' मुख्य हैं। कहना व्यर्थ है कि इन काव्यों में पाण्डित्य का प्रदर्शन ही मुख्य है, हृदय को विकसित करनेवाली कला की अभिव्यक्ति नितरां न्यून है।

इस प्रकार महाकाव्य के विकास पर दृष्टिपात करने से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि आरम्भिक युग में नैसर्गिकता तथा स्वाभाविकता का ही काव्य में मूल्य था। वही गुण आदर की दृष्टि से देखा जाता था। परन्तु आगे चलकर पाण्डित्य का जोर बढ़ा। न्याय तथा वेदान्त के गम्भीर अध्ययन के कारण पाण्डित्य का एक नवीन युग ही आ खड़ा हुआ। ऐसे युग में शास्त्रों से परिचित पाठकों का अनुरंजन ही कवियों का लक्ष्य बन गया। फलतः कवियों ने अपने काव्यों में अक्षरडम्बर तथा अलंकार-विन्यास की ओर अपना दृष्टिपात किया, उन्हें ही काव्य का जीवन मानने लगे और इसीलिए पिछले युग में सुकुमार मार्ग के स्थान पर विचित्रमार्ग का प्रसार हुआ।

पञ्चम परिच्छेद

कालिदास

कालिदास भारतीय तथा पाश्चात्य उभय दृष्टियों से संस्कृत के सर्वमान्य कवि माने जाते हैं। नाट्यकला की सुन्दरता निरखिये, काव्य की वर्णनछटा देखिये, गीतिकाव्य के सरस हृदयोद्‌गारों को पढ़िये, कालिदास की प्रतिभा सर्वातिशायिनी है। उनके काव्यों की जितनी ख्याति निश्चित है, उनकी जीवनी तथा काल-निरूपण उतना ही अनिश्चित है। कालिदास की जन्मभूमि के विषय में बंगाल तथा काश्मीर के नाम लिये जाते हैं, परन्तु यह अभी तक अनिर्णीत ही है। कवि ने उज्जयिनी के लिये विशेष पक्षपात दिखलाया है जिससे यही इनकी जन्मभूमि प्रतीत होती है। मेघदूत (१।२६) में यक्ष रास्ता टेढ़ा होने पर भी 'श्रीविशाला विशाला' (उज्जयिनी) को देखने के लिये मेघ से आग्रह करता है। उज्जयिनी के विशाल महलों और रमणियों के कुटिल-कटाक्षों को देखने से यदि वह वंचित रह गया तो उसका जीवन ही निष्फल है। कालिदास ने अवन्ती प्रदेश की भौगोलिक स्थिति का सूक्ष्म वर्णन मेघदूत में किया है—वहाँ की छोटी-छोटी नदियों का भी नाम निर्देश किया है तथा वर्णन दिया है। उज्जयिनी के प्रति उनके विशेष पक्षपात तथा सूक्ष्म भौगोलिक परिचय के आधार पर यही कहा जा सकता है कि कालिदास वहीं के रहनेवाले थे।

कालिदास निःसन्देह शैव थे। मेरी दृष्टि में वे उज्जैनी के विख्यात ज्योतिर्लिङ्ग महाकाल के उपासक थे। मेघदूत में महाकाल की उपासना के प्रति उनका आग्रह इसका आधार माना जा सकता है। महाकाल की शोभा का वर्णन कर यक्ष मेघ से कहता है कि उज्जैनी में तुम किसी समय पहुँचो, परन्तु सूर्य के अस्त होने तक तुम्हें वहाँ ठहरना होगा। प्रदोष पूजा के अवसर पर तुम अपनी स्निग्ध गम्भीर घोष करना जो महाकाल की पूजा में नगाड़े

का काम करेगा और तुम्हें अशेष पुण्यों का भाजन बनावेगा (मे० दू० श्लोक ३५) इतना ही नहीं, कालिदास मन्दिर में पूजार्थ नियत की गई देव-दासियों से परिचय रखते हैं। यह प्रथा दक्षिण के मन्दिरों में आज भी प्रचलित है, यद्यपि उत्तर भारत के मन्दिरों में यह विशेष रूप से नहीं दीख पड़ती। उज्जयिनी उदयन तथा वासवदत्ता के उदात्त प्रेम की क्रीडास्थली थी। फलतः कालिदास ने इस कथा से सम्बद्ध छोटी छोटी घटनाओं तथा उनके नियत स्थानों का भी उल्लेख कर नगरी के प्रति पूर्ण पक्षपात प्रद-र्शित किया है जो उसे कवि की जन्मभूमि होने का गौरव प्रदान करने में सचेष्ट है।

स्थितिकाल

भारतीय जन-श्रुति के आधार पर कालिदास राजा विक्रमादित्य के नव-रत्नों के मुखिया थे। कालिदास के ग्रन्थों से भी विक्रम के साथ रहने की बात सूचित होती है। विश्वविख्यात शकुन्तला का अभिनय किसी राजा की—सम्भवतः विक्रम की—'अभिरूपभूयिष्ठा' परिषद् में ही हुआ था। 'विक्रमोर्वशीय' में पुरुरवा के नायक होने पर भी विक्रम का नामोल्लेख नाटक के नाम में है तथा 'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः आदि वाक्य इस सिद्धान्त की पुष्टि कर रहे हैं कि कालिदास का विक्रम से सम्बन्ध अवश्य था। रामचरित महाकाव्य के 'ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीताः शकरातिना' आदि पद्यों से भी इसी सम्बन्ध की पुष्टि हो रही है। अतएव जब तक इसके विरुद्ध कोई प्रमाण न मिले, तब तक यह मानना अनुचित नहीं होगा कि कालिदास राजा विक्रम की सभा के रत्न थे।

कालिदास ने शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र को अपने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक का नायक बनाया है। अतः वे उसके (विक्रम-पूर्व द्वितीय शतक) के अनन्तर होंगे। इधर सप्तम शताब्दी में हर्षवर्धन के सभा-कवि बाणभट्ट ने हर्षचरित में कालिदास की कविता की प्रशस्त प्रशंसा की है। अतः कवि का समय विक्रमपूर्व द्वितीय शतक से लेकर विक्रम की सप्तम शतक के बीच

में कहीं होना चाहिये। कालिदास के समय के विषय में प्रधानतया तीन मत है—

पहला मत—कालिदास को षष्ठ शतक का बतालाता है।
दूसरा मत—गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति मानता है।
तीसरा मत—विक्रम सं० के आरम्भ में इनका समय बतलाता है।

षष्ठशतक में कालिदास—भारतीय इतिहास में विक्रम उपाधिवाले चार राजाओं का उल्लेख पाया जाता है जिनके समसामयिक होने से कलिदास का भी समय भिन्न भिन्न सदियों में माना गया है। डाक्टर[1] हार्नली का मत है कि यशोधर्मन ने—जिनसे कारुर की लड़ाई में हूणवंश के प्रतापी राजा मिहिरकुल को बालादित्य नरसिंह गुप्त की सहायता से परास्त किया था—'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण की थी। अपने बड़े विजय के उपलक्ष में उसने नवीन संवत् चलाया जो विक्रम के नाम से व्यवहृत हुआ। परन्तु इसे प्राचीन सिद्ध करने की इच्छा से—इसके ऊपर प्राचीनता का पुट देने के लिये—उसने इसे ६०० वर्ष पूर्व से चलाया अर्थात् ५४४ ई० की विजय-घटना की यादगार में उसने अपने नवीन सम्वत् ६०० पूर्व अर्थात् ५८ ईसवी पूर्व से स्थापित होने की बात प्रचारित की। विक्रम संवत् की यह नवीन कल्पना डाक्टर फर्गुसन ने की थी। हार्नली ने इसका उपयोग कालिदास के समय-निरूपण के लिये किया। उसने दिखलाया है कि रघु का दिग्विजय यशोधर्मन् की राज्यसीमा से बिल्कुल मिलता जुलता है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद[2] शास्त्री ने अनेक कौतुकपूर्ण प्रमाणों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कालिदास भारवि के अनन्तर छठी सदीमें विद्यमान थे।

---

१ जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी (J. R. A. S) 1903 पृ० ५४५।

२ Age of Kalidasa—J. B. O. R. S. Vol 11 बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी की पत्रिका, भाग २, पृ० ३१-४४

इस मत का खण्डन—परन्तु कालिदास को इतना पीछे मानना उचित नहीं प्रतीत होता है। हूणों के पराजय करने पर भी यशोधर्मन् 'शकाराति'—शकों का शत्रु—नहीं कहा जा सकता। न उसके शिलालेखों से नवीन सम्वत् के स्थापन की घटना सच्ची प्रतीत होती है। विक्रम सम्वत् की स्थापना छठी सदी में यशोधर्मन के द्वारा मानना ज्ञात इतिहास पर घोर अत्याचार करना है; क्योंकि मालव संवत् के नाम से यह सम्वत् अति प्राचीन काल में भी प्रसिद्ध था। ४७३ ई० के कुमार गुप्त की प्रशस्ति के कर्ता वत्स-भट्टि की रचना में ऋतुसंहार के कितने ही पद्यों की झलक दीख पड़ती है। ऐसी दशा में कालिदास को पाँचवीं सदी के अनन्तर मानना अनुचित है। अतः इस मत को प्रामाणिक मानकर कितने ही भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों ने गुप्त नरेशों के उन्नत समय में कालिदास की स्थिति बतलाई है।

गुप्तकाल में कालिदास—गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति मानने वाले विद्वानों में भी कुछ कुछ भेद दीख पड़ता है। पूना के प्रोफेसर के० बी० पाठक की सम्मति में कालिदास स्कन्दगुप्त 'विक्रमादित्य' के सम-कालीन थे; परन्तु डाक्टर रामकृष्ण भंडारकर, साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा तथा अधिकांश पश्चिमी विद्वान् गुप्तों में सबसे अधिक प्रभावशाली **चन्द्रगुप्त द्वितीय** को कालिदास का आश्रयदाता मानते हैं।

(क) पाठक ने काश्मीरी टीकाकार वल्लभदेव के निम्नलिखित श्लोक के पाठ को प्रामाणिक मानकर पूर्वोक्त सिद्धांत निश्चित किया:[1]—

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुङ्कुमकेसरान्॥

इस पद्य के 'सिन्धु' शब्द के स्थान पर वल्लभदेव ने 'वंक्षू' पाठ माना है। वंक्षू शब्द, पाठक की सम्मति में Oxus (आक्सस) शब्द का संस्कृती-करण है। अतः इस पाठ को प्रामाणिक मानने से यह कहना पड़ता है कि रघु ने हूणों को आक्सस नदी (जो पामीर से निकलकर अरल सागर में गिरती है) के किनारे उनके भारत आगमन के पहिले हराया था। यह

१ द्रष्टव्य पाठक द्वारा सम्पादित मेघदूत (भूमिका) १९१६।

घटना ४५५ ई० के पूर्व की ही हो सकती है क्योंकि उस वर्ष स्कन्दगुप्त के प्रबल प्रताप के सामने हार मान भग्नमनोरथ होकर हूणों को लौटना पड़ा था। अतः रघुवंश को कालिदास की प्रथम रचना मानकर पाठक ने उन्हें स्कन्दगुप्त का समकालीन माना है। विजयचन्द्र मजुमदार ने कुछ अन्य प्रमाण देकर इन्हें कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त दोनों के समय में माना है[1]।

(ख) पश्चिमी विद्वान् शकों को भारत से निकाल बाहर करने वाले विक्रमादित्य उपाधि धारण करने वाले, **चन्द्रगुप्त द्वितीय** के राज्यकाल में (जब भारत में चारों ओर शान्ति विराजमान थी और जो भारतीय कलाकौशल के पुनरुन्नति का काल माना जाता है) कालिदास को मानते हैं। रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में वर्णित रघु का दिग्विजय समुद्रगुप्त की विजय से सर्वथा मिलता जुलता है। रघु में वर्णित शान्ति[2] का समुचित काल चन्द्रगुप्त का ही समय था। इसके सिवाय इन्दुमती स्वयम्बर में उपस्थित मगध राजा के लिए जो उपमा या विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं उनसे भी 'चन्द्रगुप्त' नाम की ध्वनि निकलती है। परन्तु गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति बताना ठीक नहीं, क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय ही प्रथम विक्रमादित्य नहीं थे। जब इनसे भी प्राचीन मालवा में राज्य करने वाले विक्रम का पता इतिहास से चलता है, तब कालिदास गुप्तकाल में कैसे माने जा सकते हैं ?

प्रथम शती में कालिदास

(क) ऐतिहासिक खोज से ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में शकों को परास्त करने वाले, विद्वानों को विपुल दान देने वाले उज्जयिनी-नरेश राजा विक्रमादित्य के अस्तित्व का पता चलता है। राजा हाल की "गाथासप्त

---

१ J. R. A. S. 1909. P. 731.

२ वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि, को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्।
—रघु० ६।७५

शती"[१] में (रचनाकाल प्रथम शताब्दी) 'विक्रमादित्य' नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक का निर्देश है जिसने शत्रुओं पर विजय पाने के उपलक्ष में भृत्यों को लाखों का उपहार दिया था[२]। जैन ग्रन्थों से इस बात की पर्याप्त पुष्टि होती है। मेरुतुङ्गाचार्य विरचित "पद्यावली" से पता चलता है कि उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से उज्जयिनी का राज्य लौटा लिया था। यह घटना महावीर-निर्माण के ४७० वें वर्ष में (५२७–४७०=५७ ई० पूर्व) हुई थी। इसकी पुष्टि प्रबन्धकोश तथा शत्रुञ्जय माहात्म्य से होती है।

प्राचीन काल में 'मालव' नामक गणों का विशेष प्रभुत्व था। ईस्वी पूर्व तृतीय शतक में इसने क्षुद्रक गण के साथ सिकन्दर का सामना किया था, पर विशेष सहायता न मिलने से पराजित हो गया था। यही मालव जाति ग्रीक लोगों के सतत आक्रमण से पीड़ित होकर राजपूताने की ओर आई और मालवा में ईस्वी पूर्व प्रथम द्वितीय शताब्दी में अपना प्रभुत्व जमाया। यह गणराज्य था और विक्रमादित्य इसी गणतन्त्र के मुखिया थे। शकों के आक्रमण को विफल बनाकर विक्रम ने 'शकारि' की उपाधि धारण की और अपने मालवगण को प्रतिष्ठित किया। इसलिए इस संवत् का 'मालवगण स्थिति' नाम पड़ा था[३]। गणराज्य में व्यक्ति की अपेक्षा समाज का विशेष महत्त्व होता है। अतः यह संवत् गणमुख्य के नाम पर ही अभिहित न होकर

---

१ संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइत्त चरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा॥
—गाथा सप्तशती ५।६४

२ विशेष के लिए द्रष्टव्य डा० राजबली पाण्डेय—'विक्रमादित्य' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ, १६५४।

३ मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्वने॥ ३४॥
—वत्सभट्टिः मन्दसोर शिलालेख

गण के नाम पर 'मालव संवत्' कहलाता था। अतः ई० पू० प्रथम शतक में विक्रम नाम-धारी राजा या गणमुखिया का परिचय इतिहास से भली भाँति लगता है। इन्हीं की सभा में कालिदास की स्थिति मानना सर्वथा न्याय-संगत है।

(ख) बौद्ध कवि अश्वघोष का समय निश्चित है। कुषाण-नरेश कनिष्क के समकालीन होने से उनका समय ईस्वी सन् प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध है। इनके तथा कालिदास के काव्यों में अत्यधिक साम्य है। कथानक की सृष्टि, वर्णन की शैली, अलंकारों का प्रयोग, छन्दों का चुनाव—आदि अनेक विषयों में कालिदास का प्रभाव अश्वघोष पर पड़ा है। अश्वघोष प्रधानतः सर्वास्तिवादी दार्शनिक थे। काव्य की ओर उनकी अभिरुचि का होना तथा उसे धर्मप्रचार का साधन मानना काव्यकला के उत्कर्ष का द्योतक है (सौन्द-रनन्द १८।६३)। और यह उत्कर्ष कालिदास के प्रभाव का ही फल है। बुद्धचरित में अश्वघोष ने कालिदास के बहुत से श्लोकों का अनुकरण किया है। रघुवंश के ७वें सर्ग में (श्लोक ५–१५) कालिदास ने स्वयम्बर से लौटने पर अज को देखने के लिए आने वाली उत्सुक स्त्रियों का बड़ा ही अभिराम वर्णन किया है। अश्वघोष ने बुद्धचरित में (तृतीय सर्ग, १३–२४ पद्य) ठीक ऐसे ही प्रसंग का वर्णन किया है। कुमारसम्भव में भी ये ही पद्य मिलते हैं। यदि कालिदास ने इसे अश्वघोष के अनुकरण पर लिखा होता, वे दो बार प्रदर्शन कर अपना ऋण नितान्त अभिव्यक्त न करते, उसे छिपाने का प्रयत्न करते। कालिदास की भाव-सुन्दरता अश्वघोष के द्वारा सुरक्षित न रह सकी। तुलना करने से कालिदास का समय अश्वघोष से प्राचीन प्रतीत होता है। अतः कालिदास का समय ईस्वी पूर्व प्रथम शतक में ही मानना नितान्त युक्तियुक्त है।

(ग) शाकुन्तल में सूचित सामाजिक तथा आर्थिक दशा का अनुशीलन सूचित करता है कि कालिदास बौद्ध धर्म से प्रभावित युग के कवि थे जब हिंदू देवीदेवताओं के विषय में श्रद्धाविहीन विचार प्रचलित थे। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल की नान्दी में भगवान् शिव की अष्टमूर्तियों का वर्णन किया

है। इस नान्दी में 'प्रत्यक्षाभिः' शब्द का प्रयोग कर कवि ने तत्कालीन देवता-विषयक अविश्वास को दूर करने का प्रयत्न किया है। जिस शिव की अष्ट-मूर्तियों का हमें प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है—जिनका साक्षात्कार हमें अपनी आँखों से हो रहा है, उन देवता के विषय में अश्रद्धा कैसे टिक सकती है? अविश्वास कैसे रह सकता है? इसी प्रकार षष्ठ अंक में कालिदास ने कर्तव्य कर्म होने के कारण यज्ञयागादि का विधान ब्राह्मण के लिए आवश्यक बतलाया है। बौद्धों ने हिंसापरक होने के कारण यज्ञों की भरपेट निन्दा की है। परन्तु शकुन्तला में एक पात्र कहता है कि क्या यज्ञों में पशु मारनेवाले श्रोत्रिय का हृदय दयालु नहीं होता? कुल-परम्परागत धर्म का परित्याग क्या कभी श्लाघनीय है? अतएव यज्ञों का अनुष्ठान सर्वदा श्रेयस्कर है; परन्तु उसके हिंसापरक होने पर भी याज्ञिक ब्राह्मणों का हृदय कोमल होता है—

सहजं किल यत् विनिन्दितं न खलु तत् कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारण-कर्मदारुणः अनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः॥

यहाँ कवि ने बौद्ध धर्म के कारण यज्ञों के विषय में होने वाली निन्दा या अश्रद्धा को दूर करने का उद्योग किया है। अतः कालिदास का जन्म उस समय में हुआ था, जब बौद्ध धर्म के प्रति अश्रद्धा बढ़ती जाती थी तथा ब्राह्मण धर्म का अभ्युदय हो रहा था। यह समय ब्राह्मणवंशी शुंग नरेशों (द्वितीय शतक विक्रम पूर्व) के कुछ ही पीछे होना चाहिये। अतः विक्रम संवत् के प्रथम शतक में कालिदास को मानना सर्वथा न्यायसंगत प्रतीत होता है।

(घ) कालिदास को प्रथम शताब्दी में रखने के लिए अन्य भी प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं—

(१) कालिदास ने रघुवंश के षष्ठ सर्ग (श्लोक ३६) में 'अवन्तिनाथ' का वर्णन करते समय 'विक्रमादित्य' विरुद का संकेत किया है। कथासरित्सागर के अनुसार विक्रमादित्य मालवगण के संस्थापक, काव्यकला के प्रेमी, शैव थे। कालिदास के ग्रंथों से भी उनके शैव होने का संकेत मिलता है।

फलतः उनके विक्रमादित्य के सभापण्डित होने की अधिक संभावना है, न कि वैष्णव मतावलम्बी परमभागवत गुप्तनरेशों की सभा में।

(२) रघुवंश के षष्ठ सर्ग में इन्दुमती के स्वयम्बर के प्रसंग में पांड्य नरेश का वर्णन किया गया है (श्लोक ५६–६४)। चतुर्थ शती में पांड्यों का राज्य समाप्त हो गया था, परन्तु प्रथम शती में उनका राज्य विद्यमान था। कालिदास ने पाण्ड्य नरेश की 'उरगपुर' राजधानी बतलाया है जो 'उरियाउर' का संस्कृत नाम है। पाण्ड्य नरेशों की यही राजधानी थी।

काव्यग्रंथ

कालिदास की सच्ची रचनाओं का निर्णय करना आलोचकों के लिए एक दुष्कर कार्य है क्योंकि कालिदास की काव्य जगत् में ख्याति होने पर अवान्तरकालीन बहुत से कवियों ने 'कालिदास' का प्रसिद्ध अभिधान धारण कर अपने व्यक्तित्व को छिपा रखा। कम से कम राजशेखर (१० शतक) ने तीन कालिदासों की सत्ता का पूर्ण संकेत किया है[1]। एक तो परम्परा की अविच्छिन्नता और दूसरे अनेक कालिदासों की सत्ता—दोनों ने मिलकर इस समस्या को जटिल तथा अमीमांस्य बना रखा है।

ऋतुसंहार—'ऋतु संहार' कालिदास की प्रथम काव्यकृति है। विद्वानों की दृष्टि में बालकवि कालिदास ने काव्यकला का आरम्भ इसी ऋतु वर्णनपरक लघुकाव्य से किया। छः सर्गों में विभक्त यह काव्य ग्रीष्म से आरम्भ कर वसन्त तक छहों ऋतुओं का बड़ा ही स्वाभाविक, अकृत्रिम तथा सरल वर्णन प्रस्तुत करता है। परन्तु इसे कालिदासीय कृति मानने में आलोचकों में ऐकमत्य नहीं है। उनकी दृष्टि में न तो इसमें कालिदास की कमनीय शैली या वाग्वैदग्धी का परिचय मिलता है, न इसमें बाल-रचना की पुष्टि में ही कोई प्रमाण मिलता है। भारतीय दृष्टि से ऋतुओं का वर्णन रूढ़िगत

---

१ एको न जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृंगारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥

—सूक्तिमुक्तावली

तथा सर्वथा सामंजस्य-पूर्ण है। अलंकार ग्रन्थों में उद्धरण का अभाव भी उक्त सन्देह की पुष्टि सा करता प्रतीत होता है।

कुमारसम्भव—कालिदास की सच्ची निःसन्दिग्ध रचना है। इसमें कवि ने कुमार कार्तिकेय के जन्म के वर्णन का संकल्प किया था, परन्तु यह महाकाव्य अधूरा ही है। इसके वर्तमान १७ सर्गों में से आदि के सात सर्ग तो कालिदास की लेखनी के चमत्कार हैं ही, अष्टम सर्ग भी उनका ही निःसंशय निर्माण है। आलंकारिकों तथा सूक्तिसंग्रहों ने इन्हीं सर्गों में से पद्यों को उद्धृत किया है। कालिदासीय कविता के प्रवीण पारखी मल्लिनाथ ने इतने ही सर्गों पर अपनी 'संजीवनी' लिखी है। इन आदिम अष्ट सर्गों में विषय की दृष्टि से पूर्ण ऐक्य है। कविता का चमत्कार सहृदयों के लिए नितांत हृदयावर्जक है। 'जगतः पितरो' शिव पार्वती जैसे दिव्य दम्पती के रूप तथा स्नेह का वर्णन नितांत औचित्यपूर्ण तथा ओजस्वी है। केवल अष्टम सर्ग का रतिवर्णन आलंकारिकों के तीव्र कटाक्ष का पात्र बना है। पंचम सर्ग में पार्वती की कठोर तपश्चर्या का वर्णन जितना ओजपूर्ण, उदात्त तथा संश्लिष्ट है उतना ही तृतीय सर्ग में शिवजी की समाधि का वर्णन भी है। ९ से लेकर १७ सर्ग किसी साधारण कवि के द्वारा लिखित प्रक्षेपमात्र हैं।

मेघदूत—कालिदास की अनुपम प्रतिभा का विलास है। वियोग विधुरा कांता के पास यक्ष का मेघ के द्वारा प्रणय-संदेश का भेजना मौलिक कल्पना है। सम्भव है यह हनुमान् को दूत बनाकर भेजने की रामायणीय कथा अथवा हंसदूत की महाभारतीय कथा के द्वारा संकेतित किया गया हो, परन्तु इसका संविधानक तथा विषयोपन्यास कवि की मौलिक सूझ के परिणाम हैं। इसकी लोकप्रियता तथा व्यापकता का निदर्शन विपुल टीका-सम्पत्ति (लगभग ५० टीकाओं) से तो लगता ही है साथ ही साथ तिब्बती तथा सिंघली भाषा में इसके अनुवाद से यह विशेषतः पुष्ट होती है। 'मेघदूत' को आदर्श मानकर संस्कृत में निबद्ध एक विपुल काव्यमाला है जो 'सन्देश काव्य' के नाम से विख्यात है[1]। पूर्वमेघ में कवि ने रामगिरि से अलका तक मार्ग के वर्णना-

---

१ द्रष्टव्य इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, कलकत्ता, जिल्द—४।

बसर पर समस्त भारतवर्ष की प्राकृतिक सुषमा का अभिराम उपन्यास किया है। यह बाह्यप्रकृति के सौन्दर्य तथा कमनीयता का उज्ज्वल प्रदर्शन है, तो उत्तरमेघ मानव-हृदय के सौन्दर्य तथा अभिरामता का विमल चित्रण है। यक्ष का प्रेम-सन्देश उसके कोमल हृदय का, स्वाभाविक स्नेह का तथा नैसर्गिक सहानुभूति का एक मनोरम प्रतीक है और इस उदात्त प्रेम का अभिव्यंजक, काव्य-सुषमा तथा भावसौष्ठव से मण्डित यह ग्रन्थ रस का अक्षय्य स्रोत है जिसकी भावधारा सूखने की अपेक्षा प्रतिदिन आनन्दातिरेक से वृद्धिगत ही होती जा रही है।

रघुवंश—भारतीय आलोचना रघुवंश को कालिदास का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ मानती है और इसीलिए कालिदास के लिए ही 'रघुकार' (रघुवंश का रचयिता) अभिधान का प्रयोग किया गया है। ग्रंथ की लोकप्रियता तथा व्यापकता का परिचय विभिन्न काल में निर्मित ४० टीकाओं के अस्तित्व से भी भली भाँति मिल सकता है। रघु के जन्म की पूर्व पीठिका से ही इस काव्य का आरम्भ होता है। दिलीप के गोचारण से रघु का जन्म होता है (द्वितीय तथा तृतीय सर्ग) जो अपने अदम्य पराक्रम से पूरे भारतवर्ष के ऊपर दिग्विजय करते हैं (चतुर्थ सर्ग) और अपनी अद्‌भुत दानशीलता दिखला कर लोगों को चकित कर देते हैं (पंचम सर्ग)। इसके अनन्तर तीन सर्गों में इन्दुमती का स्वयम्बर, अन्य समवेत राजाओं को परास्त कर रघुपुत्र अज का इन्दुमती से विवाह तथा कोमल माला के गिरने से इन्दुमती का मरण तथा अज का करुण विलाप क्रमशः वर्णित हैं। दसवें सर्ग से लेकर १५ वें सर्ग तक रामचरित्र का विस्तृत वर्णन है। यहाँ कालिदास ने जमकर रामचन्द्र के चरित्र का वैशिष्ट्य बड़ी ही सुन्दरता से प्रदर्शित किया है। त्रयोदश सर्ग में पुष्पकारूढ़ राम के द्वारा भारतवर्ष के स्थलों का रुचिर वर्णन कालिदास की प्रतिभा का विलास है। चतुर्दश सर्ग सीता के चरित्र की सुषमा से आलोकित है। राम के द्वारा परित्यक्ता गर्भ-भरालसा जनक-नन्दिनी के प्रणय-सन्देश में जो आत्म-गौरव, जो स्नेह भरा हुआ है वह पतिव्रता के चरित्र का उत्कर्ष है। अन्तिम कतिपय सर्गों में कालिदास नाना राजाओं के चरित्र को सरसरी तौर से निरखते चले गये हैं, परन्तु अन्तिम

तथा सर्वथा सामंजस्य-पूर्ण है। अलंकार ग्रन्थों में उद्धरण का अभाव भी उक्त सन्देह की पुष्टि सा करता प्रतीत होता है।

कुमारसम्भव—कालिदास की सच्ची निःसन्दिग्ध रचना है। इसमें कवि ने कुमार कार्तिकेय के जन्म के वर्णन का संकल्प किया था, परन्तु यह महाकाव्य अधूरा ही है। इसके वर्तमान १७ सर्गों में से आदि के सात सर्ग तो कालिदास की लेखनी के चमत्कार हैं ही, अष्टम सर्ग भी उनका ही निःसंशय निर्माण है। आलंकारिकों तथा सूक्तिसंग्रहों ने इन्हीं सर्गों में से पद्यों को उद्धृत किया है। कालिदासीय कविता के प्रवीण पारखी मल्लिनाथ ने इतने ही सर्गों पर अपनी 'संजीवनी' लिखी है। इन आदिम अष्ट सर्गों में विषय की दृष्टि से पूर्ण ऐक्य है। कविता का चमत्कार सहृदयों के लिए नितांत हृदयावर्जक है। 'जगतः पितरो' शिव पार्वती जैसे दिव्य दम्पती के रूप तथा स्नेह का वर्णन नितांत औचित्यपूर्ण तथा ओजस्वी है। केवल अष्टम सर्ग का रतिवर्णन आलंकारिकों के तीव्र कटाक्ष का पात्र बना है। पंचम सर्ग में पार्वती की कठोर तपश्चर्या का वर्णन जितना ओजपूर्ण, उदात्त तथा संश्लिष्ट है उतना ही तृतीय सर्ग में शिवजी की समाधि का वर्णन भी है। ६ से लेकर १७ सर्ग किसी साधारण कवि के द्वारा लिखित प्रक्षेपमात्र हैं।

मेघदूत—कालिदास की अनुपम प्रतिभा का विलास है। वियोग विधुरा कांता के पास यक्ष का मेघ के द्वारा प्रणय-संदेश का भेजना मौलिक कल्पना है। सम्भव है यह हनुमान् को दूत बनाकर भेजने की रामायणीय कथा अथवा हंसदूत की महाभारतीय कथा के द्वारा संकेतित किया गया हो, परन्तु इसका संविधानक तथा विषयोपन्यास कवि की मौलिक सूझ के परिणाम हैं। इसकी लोकप्रियता तथा व्यापकता का निदर्शन विपुल टीका-सम्पत्ति (लगभग ५० टीकाओं) से तो लगता ही है साथ ही साथ तिब्बती तथा सिंघली भाषा में इसके अनुवाद से यह विशेषतः पुष्ट होती है। 'मेघदूत' को आदर्श मानकर संस्कृत में निबद्ध एक विपुल काव्यमाला है जो 'सन्देश काव्य' के नाम से विख्यात है[1]। पूर्वमेघ में कवि ने रामगिरि से अलका तक मार्ग के वर्णना-

---

१ द्रष्टव्य इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, कलकत्ता, जिल्द—४।

वसर पर समस्त भारतवर्ष की प्राकृतिक सुषमा का अभिराम उपन्यास किया है। यह बाह्यप्रकृति के सौन्दर्य तथा कमनीयता का उज्ज्वल प्रदर्शन है, तो उत्तरमेघ मानव-हृदय के सौन्दर्य तथा अभिरामता का विमल चित्रण है। यक्ष का प्रेम-सन्देश उसके कोमल हृदय का, स्वाभाविक स्नेह का तथा नैसर्गिक सहानुभूति का एक मनोरम प्रतीक है और इस उदात्त प्रेम का अभिव्यंजक, काव्य-सुषमा तथा भावसौष्ठव से मण्डित यह ग्रन्थ रस का अक्षय्य स्रोत है जिसकी भावधारा सूखने की अपेक्षा प्रतिदिन आनन्दातिरेक से वृद्धिगत ही होती जा रही है।

रघुवंश—भारतीय आलोचना रघुवंश को कालिदास का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ मानती हैं और इसीलिए कालिदास के लिए ही 'रघुकार' (रघुवंश का रचयिता) अभिधान का प्रयोग किया गया है। ग्रंथ की लोकप्रियता तथा व्यापकता का परिचय विभिन्न काल में निर्मित ४० टीकाओं के अस्तित्व से भी भली भाँति मिल सकता है। रघु के जन्म की पूर्व पीठिका से ही इस काव्य का आरम्भ होता है। दिलीप के गोचारण से रघु का जन्म होता है (द्वितीय तथा तृतीय सर्ग) जो अपने अदम्य पराक्रम से पूरे भारतवर्ष के ऊपर दिग्विजय करते हैं (चतुर्थ सर्ग) और अपनी अद्भुत दानशीलता दिखला कर लोगों को चकित कर देते हैं (पंचम सर्ग)। इसके अनन्तर तीन सर्गों में इन्दुमती का स्वयम्बर, अन्य समवेत राजाओं को परास्त कर रघुपुत्र अज का इन्दुमती से विवाह तथा कोमल माला के गिरने से इन्दुमती का मरण तथा अज का करुण विलाप क्रमशः वर्णित हैं। दसवें सर्ग से लेकर १५ वें सर्ग तक रामचरित्र का विस्तृत वर्णन है। यहाँ कालिदास ने जमकर रामचन्द्र के चरित्र का वैशिष्ट्य बड़ी ही सुन्दरता से प्रदर्शित किया है। त्रयोदश सर्ग में पुष्पकारूढ़ राम के द्वारा भारतवर्ष के स्थलों का रुचिर वर्णन कालिदास की प्रतिभा का विलास है। चतुर्दश सर्ग सीता के चरित्र की सुषमा से आलोकित है। राम के द्वारा परित्यक्ता गर्भ-भरालसा जनक-नन्दिनी के प्रणय-सन्देश में जो आत्म-गौरव, जो स्नेह भरा हुआ है वह पतिव्रता के चरित्र का उत्कर्ष है। अन्तिम कतिपय सर्गों में कालिदास नाना राजाओं के चरित्र को सरसरी तौर से निरखते चले गये हैं, परन्तु अन्तिम

१९ वें सर्ग में कामुक अग्निवर्ण का चित्रण बड़ी ही मार्मिकता के साथ कवि ने किया है। देखने में रघुवंश अधूरा सा दीखता है, परन्तु कालिदास ने यहाँ प्रभुशक्ति की कल्पना में अपने विचारों को पूर्ण रूपेण अभिव्यक्त कर दिया है। प्रकृति-रंजन के कारण राज की समृद्धि होती है तथा प्रकृतिहिंसन के कारण राज का सर्वनाश होता है—यह उपदेश बड़े ही अच्छे ढंग से रघुवंश के अनुशीलन से प्रकट हो रहा है।

नाटक ग्रन्थ

कालिदास की दीर्घ सांसारिक अनुभूतियों तथा लोकव्यवहार की गाढ़ प्रवीणता का परिचय हमें उनके नाटकों से मिलता है। उन्होंने तीन नाटकों का प्रणयन किया है। ये मानव हृदय की विभिन्न परिस्थितियों में उदीयमान वृत्तियों का चित्रण लोकव्यवहार के साथ पूर्ण सामंजस्य से करते हैं। इन नाटकों में प्रेममूलक आख्यान को ही कविवर ने कथावस्तु के रूप में परिगृहीत किया है, परन्तु यहाँ प्रेम की नाना अवस्थाओं का दिग्दर्शन बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। 'मालविकाग्निमित्र' में प्रतिकूल परिस्थिति में रह कर भी राजसी अन्तःपुर में पनपने वाले यौवन-सुलभ प्रेम का चित्र है, तो 'विक्रमोर्वशीय' यौवन की उद्दाम वासना से उत्पन्न कामुक पुरुष को प्रेमिका के विरह में एकदम पागल बना देने वाले प्रेम का निरूपण है। 'शाकुन्तल' की स्थिति इन दोनों से भिन्न है। वहाँ तपस्या तथा साधना के द्वारा, वियोग की ज्वाला से विशुद्ध बनने वाले काम की प्रेम में परिणति का अभिराम चित्र प्रस्तुत किया गया। कालिदास के इन तीनों नाटकों में वस्तु तथा रस की दृष्टि से अनुपम वैशिष्ट्य है।

(१) **'मालविकाग्निमित्र'** में शुंगवंशीय नरेश अग्निमित्र तथा मालविका के प्रेम का अभिराम चित्रण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आश्रय लेकर कमनीयता के साथ अंकित किया गया है। कवि ने राजाओं के अन्तःपुर की चहारदिवारी के भीतरी विकसित होने वाले काम, रानियों की परस्पर ईर्ष्या; राजा की कामुकता, महिषी धारिणी की धीरता तथा उदात्तता का चित्रण बड़े अनुभव के साथ किया है।

(२) 'विक्रमोर्वशीय' में कालिदास ने एक वैदिक प्रेमाख्यान को, ऋग्वेद (१०-६५) तथा शतपथ ब्राह्मण (११।५।१) निर्दिष्ट पुरुरवा तथा उर्वशी की प्रेम-कथा को, कमनीय नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्राचीन प्रेमाख्यान ने अपनी प्रौढ़ता तथा चमत्कार के कारण कवि का ध्यान आकृष्ट किया। पुरुरवा नितान्त उपकारपरायण भूपाल है और वह राक्षस से उर्वशी का उद्धार करता है इसी प्रसंग में उर्वशी उसके अलौकिक रूप पर आसक्त होकर उसकी अनेक शर्तों के साथ रानी बनना स्वीकार करती है। उसके वियोग में पुरुरवा पागल बनकर जंगल में मारा-मारा फिरता है। कवि ने पुरुरवा के उद्दाम प्रेम का, संसार के समग्र बन्धनों को तोड़ कर बहने वाली कामसरिता का चित्रण बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। यहाँ कवित्व का ही विलास अधिक है, नाटकीय कौशल का कम। इस नाटक में कवि ने प्रणय तथा प्रणयोन्माद को ही प्रधान प्रतिपाद्य विषय बनाया है।

(३) अभिज्ञान शाकुन्तल—यह कालिदास का सबसे प्रसिद्ध नाटक है। भारतीय आलोचकों ने तो इसे नाटक साहित्य में सबसे श्रेष्ठ बतलाया है—'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला'। पश्चिमी विद्वानों ने भी अपनी दृष्टि से इसे अत्युत्तम नाटक माना है। इस नाटक में सात अंक है। पहले अंक में हस्तिनापुर का राजा दुष्यंत आखेट करने के लिए वन में जाता है और संयोगवश महर्षि कण्व के आश्रम में शकुन्तला से साक्षात्कार करता है। उसकी जन्मकथा सुन उसके हृदय में शकुन्तला के लिए अनुराग उत्पन्न होता है। द्वितीय अंक में ऋषियों की प्रार्थना पर आश्रम की रक्षा करने के लिये वह स्वयं वहीं रह जाता है। तृतीय अंक में राजा और शकुन्तला का समागम है। चतुर्थ अंक में कण्व तीर्थयात्रा से लौटकर आश्रम में आते हैं और शकुन्तला को आपन्नसत्त्वा जान गौतमी, शारद्वत और शार्ङ्गरव नामक दो शिष्यों के साथ हस्तिनापुर भेजते हैं। शकुन्तला का आश्रम से जाने का दृश्य बड़ा ही करुणोत्पादक है। पञ्चम अंक में शकुंतला हस्तिनापुर पहुँचती है, परन्तु दुर्वासा के अभिशाप के कारण राजा उसे पहचानता नहीं। इस प्रत्याख्यान के बाद ऋषियों के चले जाने पर शकुन्तला को कोई दिव्य

ज्योति आकाश में उठा ले जाती है और मारीच के आश्रम में वह अपनी माता मेनका के साथ निवास करती है। षष्ठ अंक में राजा की नामाङ्कित अंगूठी मछुए के पास से राजा को मिलती है। जिसे देखते ही दुष्यन्त को शकुन्तला की स्मृति हो जाती है; वह अपनी प्रियतमा के प्रत्याख्यान से अत्यन्त विह्वल हो उठता है। अन्त में इन्द्र की सहायता करने के लिए वह स्वर्गलोक में जाता है। सप्तम अंक में दुष्यन्त विजय प्राप्त कर स्वर्ग से लौटता है और मारीच-आश्रम में अपने पुत्र तथा प्रियतमा का साक्षात्कार करता है। इसी मिलन तथा मारीच के आशीर्वाद के साथ नाटक समाप्त होता है।

समीक्षण

महाकवि कालिदास की कविता देववाणी का शृंगार है। माधुर्य का मधुर निवेश, प्रसाद की स्निग्धता, पदों की सरस शय्या, अर्थ का सौष्ठव, अलंकारों का मंजुल प्रयोग—कमनीय काव्य के समस्त लक्षण कालिदास की कविता में अपना अस्तित्व धारण किए हुए हैं। कालिदास भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं जिनके पात्र भारतीयता की भव्य मूर्ति हैं। जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में विशेष रूप से होगी, जनता का वही सच्चा प्रिय कवि होगा। कालिदास की विशेषता इसी में है। भारतीय समाज का सच्चा रूप उनके काव्यों में झाँकता है तथा उनके नाटकों में अपना अभिनय दिखाता है। कालिदास की कविता का प्रधान गुण है वर्ण्य-विषय तथा वर्णन-प्रकार में मञ्जुल सामंजस्य। कालिदास चुने हुए थोड़े शब्दों में जिन भावों की अभिव्यक्ति कर रहे हैं उन्हें दूसरा कवि विस्तार से लिखकर भी प्रकट नहीं कर सकता। वह जिसे छू देते हैं वह सोना बन जाता है। औचित्य के तो प्रवीण मर्मज्ञ हैं। जिन भावों का जिन शब्दों के द्वारा प्रकटन कलात्मक तथा रुचिर होगा, वे उन भावों को उन्हीं शब्दों में प्रकट कर अपनी भावुकता का परिचय देते हैं।

कालिदास के काव्यों में हृदयपक्ष का प्राधान्य है। कवि मानव हृदय की परिवर्तनशील वृत्तियों को समझने तथा उन्हें अभिव्यक्त करने में अद्भुत

चातुर्य रखता है। संसार का अनुभव उसे गहरा था तथा ऐसे अनुभवों के मार्मिक-पक्ष ग्रहण करने में अपूर्व भावुकता थी। आनन्दवर्धन तथा जर्मन महाकवि गेटे ने एक स्वर से कालिदास के भावों की उदात्तता तथा महनीयता की प्रशंसा की है।

कालिदास स्वतन्त्र प्रतिभासम्पन्न कवि हैं जिन्होंने अपने काव्यों की शैली का रूप-निरूपण स्वयं किया है। रसमयी पद्धति अथवा 'सुकुमार मार्ग' के कवि ने अपने भावों की तीव्रता तथा उदात्तता के संचार के लिये अलंकारों का भी प्रयोग बड़े ही औचित्य से किया है। 'उपमा कालिदासस्य' का भारतीय आभाणक वस्तुतः सच्चा है। उनकी उपमायें लोक तथा प्रकृति के मार्मिक स्थलों से संगृहित की गई हैं तथा विषय को उज्ज्वल करने और काव्यसुषमा की वृद्धि में नितान्त समर्थ हैं। अन्तर्जगत् तथा बहिर्जगत् से चुने जाने के कारण इन उपमाओं में एक विलक्षण चमत्कार है। रस-वर्णन में भी कालिदास अपूर्व हैं। संभोग के उन्मीलन के समान वियोग के उन्मेष में भी वे सर्वथा समर्थ है। कुमारसम्भव (चतुर्थ सर्ग) में रति का मदन के लिए विलाप तथा रघुवंश (अष्टम सर्ग) में अज का इन्दुमती के लिए विलाप—दोनों मिलकर करुणारस के समस्त वृत्त को पूर्ण करते हैं। मेघदूत में विरही यक्ष का अपनी वियोगविधुरा पत्नी के लिए मेघ के द्वारा सन्देश भेजना मौलिक कल्पना है। यक्षपत्नी का वर्णन इतना करुणोत्पादक है कि उसके पाठकों के हृदय में करुणा का संचार हुए बिना नहीं रहता।

उपमा का चमत्कार

कालिदास की उपमाओं की रसात्मिकता तथा रसपेशलता नितान्त मर्मस्पर्शी है। औचित्य तथा सन्दर्भ को शोभन बनाने की कला उनमें अपूर्व है। तपस्या के लिए आभूषणों को छोड़कर केवल वल्कल धारण करने-वाली पार्वती चन्द्र तथा ताराओं से मण्डित होनेवाली अरुणोदय से युक्त रजनी के समान बतलाई गई है (कुमार ५।४४)। स्तनों के भार से किंचित् झुकी हुई आतपसन्निभ लालवस्त्र को धारण करने वाली पार्वती फूलों के गुच्छों से झुकी हुई नवीन लाल पल्लवों से मण्डित संचारिणी लता के समान प्रतीत होती है

पर्याप्त-पुष्पस्तवकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥

स्वयम्बर में उपस्थित भूपालों को छोड़कर जब इन्दुमती आगे बढ़ जाती है, तब वे राजमार्ग पर दीपशिखा के द्वारा छोड़े गये महलों के समान प्रतीत होते हैं। यहाँ राजाओं की विषण्णता तथा उदासी की अभिव्यक्ति इस उपमा के द्वारा बड़ी सुन्दरता से की गई है—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ
यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्र-मार्गाट्ट इव प्रपेदे
विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥

इसी उपमा-प्रयोग के सौन्दर्य के कारण यह महाकवि 'दीपशिखा कालिदास' के नाम से कविगोष्ठी में प्रसिद्ध है।

कालिदासीय उपमा की यह भूयसी विशिष्टता है कि वह 'स्थानीय रञ्जन' (लोकल कलरिंग) से रंजित है और इससे श्रोता के चक्षुःपटल के सामने समग्र चित्र को प्रस्तुत कर देती है। परास्त किये जाने पर पुनः प्रतिष्ठित किये गये वंगीय नरेश रघु के चरण-कमल के ऊपर नम्र होकर उन्हें फलों के समृद्ध बनाते हैं जिस प्रकार उस देश के धान के पौदे (रघु० ४।३७)। कलिंग-नरेश के मस्तक पर तीक्ष्ण प्रताप के रखने वाले रघु की समता गंभीरवेदी हाथी के मस्तक पर तीक्ष्ण अंकुश रखने वाले महावत से की गई है (रघु० ४।३६)। प्राग्ज्योतिषपुर (आसाम) के नरेश रघु के आगमन पर उसी प्रकार झुक जाते हैं जिस प्रकार हाथियों के बाँधने के कारण कालागुरु के पेड़ झुक जाते हैं (रघु० ४।८१)। इन समस्त उपमाओं में 'स्थानीय रंजन' का आश्चर्यजनक चमत्कार है।

प्रकृति से गृहीत उपमाओं में एक विलक्षण आनन्द है। राक्षस के चंगुल से बचने पर बदहोश उर्वशी धीरे-धीरे होश में आ रही है। इसकी समता के लिए कालिदास चन्द्रमा के उदय होने पर अन्धकार से छोड़ी जाती हुई (मुच्यमाना) रजनी, रात्रिकाल में धूमराशि से विरहित होने वाली अग्नि

की ज्वाला, बरसात में तट के गिरने के कारण कलुषित होकर धीरे-धीरे प्रसन्न-सलिला होने वाली गंगा से साथ देकर पाठकों के नेत्रों के सामने तीन सुन्दर दृश्यों को एक साथ उपस्थित कर देते हैं। ये तीनों उपमायें औचित्य-मण्डित होने से नितान्त रसाभिव्यञ्जक हैं—

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गंगा रोधःपतनकलुषा गृह्णतीव प्रसादम्॥
—विक्रमोर्वशीय १।६

पात्र-चित्रण

कालिदास के पात्र जीवनी शक्ति से सम्पन्न जीते-जागते प्राणी हैं। उनकी शकुन्तला प्रकृति की कन्या, आश्रम की निसर्ग बालिका है जिसके जीवन को बाह्य प्रकृति ने अपने प्रभाव से कोमल तथा स्निग्ध बनाया है। हिमालय की पुत्री पार्वती तपस्या तथा पातिव्रत का अपूर्व प्रतीक है जिसके कठोर तपश्चरण के आगे ऋषिजन भी अपना माथा टेकते हैं। धीरता की मूर्ति धारिणी, चपल प्रेम की प्रतिमा मालविका, उन्मत्त प्रेम की अधिकारिणी उर्वशी, पारस्परिक ईर्ष्या तथा प्रणयमान की प्रतिनिधि इरावती संस्कृत-साहित्य के अविस्मरणीय स्त्री-पात्र हैं। आदर्श पात्रों के सर्जन में रघुवंश अद्वितीय है। देवता और ब्राह्मण में भक्ति, गुरुवाक्य में अटल विश्वास, मातृरूपिणी पयस्विनी की परिचर्या, अतिथि की इष्टपूर्ति के लिए धरणीधर राजा की व्याकुलता, लोक-रंजन के निमित्त तथा अपने कुल को निष्कलंक रखने के लिए नरपति के द्वारा अपनी प्राणोपमा धर्मपत्नी का निर्वासन—कालिदासीय आदर्शसृष्टि के कतिपय दृष्टान्त हैं। कालिदास रमणी के स्निग्ध रूप के चित्रण में ही समर्थ नहीं हैं; प्रत्युत नारी के स्वाभिमान तथा उदात्त रूप के प्रदर्शन में भी कृत-कार्य हैं। रघुवंश के चतुर्दश सर्ग (६१–६७ श्लोक) में चित्रित, राजा राम के द्वारा परित्यक्त, जनकनन्दिनी जानकी का चित्र तथा उनका राम को भेजा गया सन्देश कितना भावपूर्ण, गम्भीर तथा मर्मस्पर्शी है। राम को 'राजा'

शब्द के द्वारा अभिहित करना विशुद्ध तथा पवित्र-चरित्र धर्मपत्नी के परित्याग के अनौचित्य का मार्मिक अभिव्यञ्जक है—

वाचस्त्वया मद्वचनात् स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत् समक्षम् ।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत् सदृशं कुलस्य ? ॥

—रघु० १४।२१

सीता के चरित्र की उदारता का परिचय इसी घटना से लग सकता है कि इतनी विषम परिस्थिति में पड़ने पर भी वह राम के लिए एक भी कुशब्द का प्रयोग नहीं करती, बल्कि अपने ही भाग्य को कोसती है तथा अपनी ही निन्दा बारम्बार करती है।

पुरुष पात्रों का चित्रण भी उतना ही स्वाभाविक तथा भावपूर्ण है। गुरु की आज्ञा से नन्दिनी का सेवक दिलीप चरित्र में जितना सुन्दर है, वरतन्तु की इच्छापूर्ति करने वाला वीर रघु भी उतना ही श्लाघनीय है। रामचन्द्र का चरित्र इस महाकवि ने बड़ी कोमल तूलिका से चित्रित किया है। राम प्रजारंजक हैं और साथ ही साथ मानव भी हैं। वैदेही की निन्दा सुनकर राम के हृदय के विदरण की समता आग में तपे हुए अयोघन द्वारा आहत लोहे के साथ देकर कवि ने राम के हृदय की कठोरता तथा कोमलता दोनों की मार्मिक अभिव्यक्ति एक साथ की है (रघु० १४।३३)।

राम का हृदय लोहे के समान कठोर अथच तप्त होने पर कोमल है। अकीर्ति की उपमा अयोघन (लोहे का घन) के साथ देकर कवि उसकी एकान्त कठोरता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर रहा है। राम का स्वाभिमानी हृदय कहीं व्यक्त होता है। (१४।४१), तो कहीं उनकी मानवता राजभाव के ऊपर झलकती है (१४।८४)। लक्ष्मण के लौटकर सीता संदेश सुनाने पर राम की आँखों में आँसू छलकने लगते हैं—यह राजभाव के ऊपर मानवता की विजय है।

बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥

—रघु० १४।८४

शाकुन्तल की समीक्षा

शाकुन्तल नाटक कालिदास के ग्रंथों में ही शीर्षस्थानीय नहीं है अपितु वह संस्कृत नाटक-मणिमाला का शोभमान सुमेरु है—महनीय मध्यमणि है। कथानक पुराना है। महाभारत के आदि पर्व में शकुन्तला तथा दुष्यन्त का आख्यान वर्णित है, परन्तु यह कथानक नितांत नीरस, अरोचक तथा आदर्श-विहीन है। दुष्यन्त आश्रम में जाता है।

शाकुन्तल का मूल आख्यान

कण्व उपस्थित नहीं हैं। शकुन्तला से उनकी चार आँखें होती हैं। दोनों के हृदय में परस्पर प्रेम की मधुर भावना जाग्रत हो उठती है, परंतु किसी प्रौढ़ व्यवहार-कुशला पुरंध्री की तरह शकुन्तला बहुवल्लभ दुष्यन्त से विवाह करना तभी स्वीकार करती है जब वह उसके पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनाने का वचन देता है। दोनों का प्रेम-मिलन होता है। राजा उसे छोड़कर राजकार्य देखने के लिए हस्तिनापुर चला जाता है। शकुन्तला को पुत्र पैदा होता है—वह बड़ा होता है। कण्व राजा के पास पुत्र के साथ शकुन्तला को भेजते हैं, पर राजा उसे अस्वीकार करता है। ठीक उसी समय आकाशवाणी होती है—'भरस्व पुत्रं दौष्यन्ति सत्यमाह शकुन्तला' शकुन्तला सच बोलती है। पुत्र तुम्हारा ही है। उसका रक्षण करो।' राजा तब अपनी जानकारी प्रकट करता है–इस विषय से मैं परिचित था परंतु अपने सभासदों के सामने स्वीकार करते हुए लज्जा से हिचकता था। आकाशवाणी की सचाई पर वह शकुन्तला को अपनी हृदय की तथा महल की रानी बनाता है। बस, महाभारत का यही संक्षिप्त कथानक है—निष्प्राण, निर्जीव तथा निरीह कथानक। दुष्यन्त समाज-भीरु छली व्यक्ति है जो अपने हृदय की बातों को सुन कर भी अनसुनी कर देता है—जानकर भी असत्य भाषण करता है। शकुन्तला नितान्त वयस्का नारी है जिसमें हृदय कम है, मस्तिष्क ही अधिक है—पुत्र के लिये राज्यपद के वचन पर ही अपना कोमल हृदय देने के लिये तैयार होती है। ऐसे उपकरणों को कालिदास की अमर लेखनी ने इतना सुन्दर सुसज्जित रूप दिया है कि उसकी प्रभा विदग्धों के हृदय को स्निग्ध करती

है—आदर्शवादियों के सामने भारतीय संस्कृति के अनुरूप आदर्श की सृष्टि करती है—सौंदर्य तथा प्रेम का, स्वार्थ तथा परमार्थ का, लोक तथा परलोक का अनुपम सामञ्जस्य उपस्थित करती है।

शाकुन्तल में परिवर्तन

कालिदास ने उक्त वस्तुविन्यास में चरित्र-चित्रण की सुषमा बनाये रखने के लिये अनेक परिवर्तन किये हैं। शकुन्तला के शील की रक्षा के लिये उन्होंने अनुसूया और प्रियम्वदा जैसी सखियों की कल्पना की है जो अपनी सखी के भविष्य की चिन्ता स्वयं कर उसे चिन्ताभार से मुक्त बनाती हैं। दुष्यन्त के आदर्श चरित्र की सिद्धि के लिये उन्होंने दुर्वासा के शाप की कल्पना प्रस्तुत की है। दुष्यन्त जान-बूझकर प्रेयसी शकुन्तला के साथ गान्धर्व विवाह की बात भूल नहीं जाता, प्रत्युत उसके सिर पर चलते जादू की तरह कोपन ऋषि का अभिशाप चक्कर काट रहा था। राजा अपने महाभारतीय प्रतिनिधि के समान अपनी विवाहिता को इच्छापूर्वक विस्मृति के गर्त में नहीं डाल देता। वह तो एक बड़े अभिशाप के वश में होकर अपने आपको ही भूल बैठता है। पंचम से लेकर सप्तम अंक की वस्तु—शकुन्तला का प्रत्याख्यान, उसकी तपश्चर्या तथा पुनर्मिलन—कवि के उर्वर मस्तिष्क की अनुपम उपज है। इस प्रकार शकुन्तला का कथानक दो विरोधी मानस प्रवृत्तियों के तुमुल संघर्ष पर आश्रित है। इन प्रवृत्तियों के नाम हैं—काम और धर्म, वासना और कर्तव्य। नाटक के आरम्भिक तीन अंकों में काम का राज्य है और उत्तरार्ध में धर्म की विजय है। वासना के वश में होने से राजा का पतन होता है परन्तु कर्तव्य की ओर अग्रसर होने पर उसका उत्थान होता है। इस प्रकार समग्र शाकुन्तल नाटक 'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि' का जीवन्त साहित्यिक दृष्टान्त है।

शकुन्तला का वैशिष्ट्य

शकुन्तला कालिदास की अनुपम कृति है। यह आरम्भ से अन्त तक नाट्यकला का प्रशंसनीय निदर्शन है। साहित्य की दृष्टि से यह तो श्रेष्ठ है ही, साथ ही साथ इसमें आध्यात्मिक रहस्यों की ओर भी संकेत किया गया

है। चौथे अंक में 'अयमहं भोः' (मैं यह आया) की द्वार पर ऊँची पुकार लगानेवाले, पवित्र तपोजीवन के लिए आह्वान करनेवाले, दुर्वासा ऋषि अरण्यवास, सादा जीवन, विलासरहित आचरण तथा तपश्चर्या के प्रतीक हैं। छिपे चोर की तरह वृक्षों की ओट से प्रवेश करनेवाला दुष्यन्त विलासिता का प्रतीक है। दुर्वासा का तिरस्कार करने दुष्यन्त को अपना हृदय देने वाली शकुन्तलारूपी भारतभूमि की शोचनीय दशा देखकर किसके हृदय में सहानुभूति की सरिता नहीं उमड़ पड़ती ? तपोमार्ग के अवलम्बन करने से असीम शान्ति तथा नित्य अक्षय्य सुख की प्राप्ति देखकर कौन मनुष्य तपोमय जीवन बिताने के लिए शिक्षा नहीं ग्रहण करता ? शकुंतला की दुर्दशा को दिखला कर कालिदास ने गान्धर्व विवाह की प्रथा को दूषित बतलाया है।

शकुन्तला तथा दुष्यन्त का चरित्र-चित्रण कालिदास ने जिस खूबी के साथ किया है, वह भी अवलोकनीय है। चतुर्थ अंक में कालिदास के प्रकृतिप्रेम तथा प्रकृतिदेवी की सजीव मूर्ति का दर्शन किसे रसमय नहीं बनाता ? प्रथम अङ्क में आश्रम का सच्चा वर्णन किया गया है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने दिखाया है कि अनुसूया प्रियंवदा जैसे सजीव पात्रों की तरह तपोवन का अस्तित्व भी ठीक सजीव है। तपोवन के न रहने पर शकुंतला कुछ और ही होती। तपोवन का प्रभाव शकुंतला के चरित्र में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। सच्चा प्रेम पाने का कितना सुन्दर साधन बतलाया गया है। कठिन तपस्या के पहले सच्चा प्रणय पैदा नहीं हो सकता, वह तो केवल कामवासना है। जब तक काम तपस्या के कठोरानल में—वियोग की कराल आग में—दग्ध होकर शुद्ध नहीं बनता, तब तक सच्चा स्नेह उद्भूत ही नहीं होता। दुष्यन्त शकुन्तला का प्राथमिक प्रेम केवल काम के साँचे में ढला था, उसमें स्वार्थ के जहरीले कीट पैदा हो गये थे। प्रत्याख्यान किये जाने पर शकुन्तला शान्त मन से मारीच के आश्रय में तपस्या में अनुरक्त होती है और दुष्यन्त स्वयं पश्चात्ताप तथा वियोग की भीषण बड़वाग्नि में अपने को तप्त कर शुद्ध करता है। तब कहीं जाकर सच्चे स्नेह की प्रतिमा उनके सामने झलकती है।

चरित्र-चित्रण कालिदास की विशिष्टता है। उनके हाथों में निर्जीव

दुष्यन्त सजीव हो उठता है; रूक्षप्राया शकुन्तला परम स्निग्ध रूप धारण कर हमारे लोचनों के सामने झाँकती है। दुष्यन्त प्रजावत्सल, उदात्त चरित्र-धीरोदात्त नायक है। उसका हृदय धर्मभावना से उत्तान है। ऋषियों के तपोवन में वह शान्त भाव से प्रवेश करता है—अपनी राजसी वेशभूषा को हटाकर वह शान्त चित्त से कण्वाश्रम में प्रवेश करता है; मुनि कन्याओं से शिष्टता से वार्तालाप करता है। आश्रम की रक्षा करने के लिए अपनी ममतामयी माता के स्नेहमय आग्रह को टाल देता है, गान्धर्व-विधि से शकुन्तला से विवाह करता है, उसे बुलाने का वचन भी दे आता है, परन्तु दुर्वासा के शापवश वह हस्तिनापुर जाते ही अपनी प्रेयसी को भूल जाता है। यह हुआ उसका पतन। हरिण का आखेट वह करने जाता है, पर स्वयं काम का शिकार बन जाता है। यदि नाटक का पर्यवसान यहीं हो जाता तो यह एक सामान्य रचना ही बन कर रहता। परन्तु षष्ठ और सप्तम अंकों में राजा दुष्यन्त पार्थिव जगत् के ऊपर उठता है और आध्यात्मिकता तथा तपस्या की साधना से वह उस दिव्य लोक में पहुँच जाता है जहाँ काम का धर्म से कोई विरोध नहीं होता, भोग और योग का मनोरम सामञ्जस्य घटित होता है। स्वार्थ और परमार्थ घुल-मिलकर एकाकार हो जाते हैं। यह है दुष्यन्त चरित्र का अभ्युत्थान। इसी के प्रदर्शन में कालिदास की कमनीय कला की चरम अभिव्यक्ति है। दुष्यन्त का आदर्श रूप हमें उस घोषणा में मिलता है जिसका सिंहनाद समग्र भारतवर्ष को मुखरित करता था—

चरित्र-चित्रण

> येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
> स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥

अतएव जर्मन महाकवि गेटे की प्रशस्त प्रशंसा नितान्त औचित्यपूर्ण है। गेटे की प्रशंसा का यह संस्कृत रूप है:—

> वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्,
> यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।

एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो—
ऐश्वर्यं यदि वांछसि प्रियसखे ! शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥

कवीन्द्र रवीन्द्र ने शेक्सपीयर के टेम्पेस्ट नाटक तथा कालिदास के शकुन्तला का सुन्दर सरस विषय तारतम्य दिखलाया है:—'टेम्पेस्ट में शक्ति है, शाकुन्तल में शक्ति है; टेम्पेस्ट में बल के द्वारा जय हुई है और शाकुन्तल में मंगल के द्वारा सिद्धि। टेम्पेस्ट में आधे मार्ग पर विराम हो गया है और शाकुन्तल में सम्पूर्णता का अवसान है। टेम्पेस्ट में मिरांडा सरल माधुर्य में परिपूर्ण है, परन्तु इस सरलता की नींव अज्ञता-अनभिज्ञता पर अवलम्बित है; शकुन्तला की सरलता अपराध, दुःख अभिज्ञता, धैर्य तथा क्षमा से परिपक्व गम्भीर तथा स्थायी है। गेटे की समालोचना का अनुसरण कर मैं फिर भी यही कहता हूँ कि शकुन्तला के आरम्भ के तरुण सौन्दर्य ने मंगलमय परम परिणति से सफलता प्राप्त कर मर्त्य को स्वर्ग के साथ सम्मिलित करा दिया है'।

सौन्दर्यभावना

कालिदास श्रृंगार तथा प्रेम के भावुक कवि हैं। अतः उनकी दृष्टि सौन्दर्य की कोमल भावना को पहचानने तथा प्रकट करने में नितान्त चतुर है। उनका रसमय हृदय इस सौन्दर्य वर्णनों में झाँकता हुआ दीख पड़ता है। वे बाह्यप्रकृति और अन्तः प्रकृति के पूरे सामरस्य के उपासक हैं। बाह्य-प्रकृति जो अभिरामता प्रस्तुत करती है वही अभिरामता अन्तःप्रकृति में भी विद्यमान है। तभी तो हमारे कवि की दृष्टि में शकुन्तला कोमल लता के समान लावण्यमयी प्रतीत होती है—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सनद्धम् ॥

शकुन्तला का अधर नये पल्लव की लालिमा लिए है; बाहू कोमल शाखाओं का अनुकरण करते हुए झुके हुए हैं। विकसित फूल के समान

लुभावना यौवन अंगों में प्रस्फुटित हो रहा है। पार्वती के अधर पर मधुर मुस्कान की शोभा वनस्पति जगत् में कवि को मिलती है। यह अनूठा वर्णन कवि के गाढ़ अनुवीक्षण का परिचय देता है—

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात् मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥

—कुमार १।४४

यदि उजला फूल ईषद्-रक्त नये पल्लव पर रखा जाय और यदि मोती लाल लाल मूँगों पर निहित हो, तभी ये दोनों पार्वती के लाल होठों पर फैली हुई मधुर मुसकराहट की समता पा सकते हैं।

रससिद्धि

कालिदास रससिद्ध कविराज हैं जिनके यशरूपी शरीर में जरामरण का तनिक भी भय नहीं है। जिस रस की ओर उनकी दृष्टि झुकती है उसे ही वे अनूठे तौर पर अभिव्यक्त कर देते हैं, पर शृंगार और करुण रसों की कुछ विलक्षण चारुता इनकी कविता में है। शाकुन्तल में प्रेम और करुण का अपूर्व सम्मेलन है।

चौथे अंक में, जहाँ शकुन्तला अपने पतिगृह जा रही है, कवि ने जैसा करुण चित्र अंकित किया है वैसा शायद ही कहीं चित्रित हो। दुष्यन्त के पास प्यारी कन्या शकुन्तला को भेजते समय संसार के विषय से विमुख होने पर भी कण्व की कैसी दशा है। देखिये—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया,
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥

—शकुन्तला ४।५

[आज शकुन्तला पतिगृह को चली जायगी। इससे उत्कण्ठा के मारे मेरा हृदय उच्छ्वसित हो रहा है। आँसुओं के अवरोध के कारण कण्ठ गद्गद हो रहा है, चिन्ता से दृष्टि शिथिल हो गई है, पास की चीज भी नहीं देख सकता। मैं तो अरण्यवासी हूँ; जब संसारी न होने पर भी प्रेम के कारण मेरी ऐसा विह्वल दशा हो गई है तब अपनी पुत्री को पहिले पहल पतिगृह भेजते समय गृहस्थों को कितना दुःख होता होगा?]

शकुन्तला के इस अंक में कालिदास ने प्रकृति और मनुष्य को एक घनिष्ठ प्रेम-बन्धन से बँधा हुआ दिखाया है। आश्रय की बालिका शकुन्तला को अलंकृत करने के लिए प्रकृति स्नेह से आभूषण वितरण कर रही है। मृग का छौना शकुन्तला को जाने नहीं देता। प्रकृति पत्तों के गिरने के व्याज से आँसू बहाती है। प्रकृति तथा मनुष्य का ऐसा सहानुभूति-वर्णन संस्कृत-साहित्य में कम उपलब्ध होता है। यह दृश्य कालिदास के प्रकृष्ट प्रकृति-प्रेम तथा असीम करुण-रस की वर्णन-शैली का सुस्पष्ट परिचायक है।

महर्षि कण्व शकुन्तला की बिदाई की आज्ञा प्रकृति से माँग रहे हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युस्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्याः भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥

—शकुन्तला ४।८

[हे वृक्ष! शकुन्तला पहिले तुम्हें जल पिलाये बिना स्वयं जल न पीती थी, नवल पल्लवों के गहने पहनने की शौकीन होने पर जो प्रेम के मारे तुम्हारे पल्लवों को नहीं तोड़ती थी, जो तुममें पहिले-पहल फूल आने पर खूब उत्सव मनाती थी, वही आज पतिगृह जा रही है। तुम सब जाने की अनुमति दो।]

शकुन्तला के जाते समय तपोवन कितना दुःख प्रगट कर रहा है:—

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूरी।
अपसृतपाण्डुपत्राः मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः॥

शकुन्तला ४।११

मृगीगण कुश के ग्रास को वियोग से दुःखी होकर गिरा रही हैं। शकुन्तला के आश्रम छोड़ने से वे इतनी शोक-ग्रस्त हैं कि उन्हें खाना नहीं सुहाता। जो मयूरी आनन्दोल्लास में नाच रही थी उसने अपना नाचना छोड़ दिया। लताओं से पीले पीले पत्ते झड़ रहे हैं, मानों ये आँसुओं को बरसा रही हैं। प्रकृति की गोद में पाली गई शकुन्तला आज अपने प्यारे आश्रम-सहचरों को छोड़कर भारत की महारानी बनने जा रही है। कण्व का गला बँध जाना सहज है। प्रियम्वदा तथा अनसूया की भी विह्वलता बोध-गम्य है, परन्तु अचेतना प्रकृति का यह हार्दिक शोक, अन्तःकरण की करुणदशा को व्यक्त करनेवाली प्रकृति की यह मूकवाणी, सच्चे हृदय के अतिरिक्त किसे सुनाई पड़ती है? प्रकृति में मानव-वियोग का यह आन्दोलन बिना किसी मार्मिक कवि के अन्तश्चक्षु के किन नेत्रों से प्रत्यक्ष किया जा सकता है? मनुष्य तथा प्रकृति का यह दर्शनीय वियोग रसिक हृदयतन्त्री को निनादित अवश्यमेव करता है।

प्रकृति-वर्णन

कालिदास प्रकृतिदेवी के प्रवीण पुरोहित थे। उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने प्रकृति के सूक्ष्म रहस्यों को सावधानता से हृदयंगम किया था। उनके प्राकृतिक वर्णन इतने सजीव हैं कि वर्णित वस्तु हमारे नेत्रों के सामने नाच उठती है। बाह्य प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करना तथा उसका मार्मिक अंश ग्रहण करना कालिदास की महती विशेषता है। मनुष्य तथा प्रकृति—दोनों का मंजुल सम्पर्क तथा अद्भुत एकरसता दिखाकर कवि ने प्रकृति के भीतर स्फुरित होनेवाले हृदय को पहचाना है। भारतीय प्राकृतिक वर्णनों में एक विचित्रता है। पाश्चात्य कवियों के वर्णन प्रायः आवरणहीन होते हैं, परन्तु संस्कृत कवियों के वर्णन अलंकृत होते हैं—ये महाकवि प्रकृति को सुन्दर

अलंकारों से सजाकर पाठकों के सामने लाते हैं। कालिदास के वर्णन नितांत सूक्ष्म, सुन्दर तथा संश्लिष्ट रूप में होते हैं। मेघदूत भारतीय कवि की अद्भुत प्रतिभा के द्वारा चित्रित भारतश्री का एक नितांत सरस चित्रण है। 'ऋतु संहार' में समस्त ऋतुएँ अपने विशिष्ट रूप में प्रस्तुत होकर पाठकों का मनोरंजन करती हैं। रघुवंश के प्रथम सर्ग (४६–५३ श्लोक) में तपोवन का तथा त्रयोदश में त्रिवेणी का (५४–५७ श्लोक) सुन्दर वर्णन कल्पना के साथ निरीक्षण शक्ति का मंजुल सामरस्य है।

कालिदास की निरीक्षण शक्ति अत्यंत सूक्ष्म तथा पैनी है। उनका प्रकृति वर्णन वैज्ञानिक तथा प्रतिभामण्डित है। इसके रमणीय उदाहरण सर्वत्र दीख पड़ते हैं। पर्वत के झरनों पर जब दिन के समय सूर्य की किरणें पड़ती हैं तब उनमें इन्द्रधनुष चमकने लगता है; परन्तु सन्ध्या के समय सूर्य के लटक जाने पर उनमें इन्द्रधनुष नहीं दिखलाई पड़ते। इस वैज्ञानिक तथ्य तथा निरीक्षण-चातुरी का प्रत्यक्ष वर्णन कालिदास ने इस पद्य में किया है—

सीकर-व्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति।
इन्द्र-चाप-परिवेष-शून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥

—कुमार ८।३१

किन्तु झरनों में इन्द्रधनुष के न दिखलाई पड़ने पर भी तालाबों के जल में लटकते हुए सूर्य की समतल कांति पड़ने से ऐसा जान पड़ता है मानो उनके ऊपर सोने का पुल बना हो—

पश्य पश्चिम-दिगन्त लम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता।
लब्धया प्रतिमया सरोऽम्भसां तापनीयमिव सेतु-बन्धनम्॥

—कुमार ८।३४

ये उक्तियाँ रूढ़ि का अनुसरण करनेवाले कवि की नहीं हो सकतीं वरन् ये उक्तियाँ उस कवि की हैं जो मुग्ध दृष्टि से प्रकृति की शोभा देखते हुए सब कुछ भूल जाता है। इस तथ्य का प्रत्यक्ष दृष्टांत हिमालय का वर्णन है।

संस्कृत कवियों में कालिदास को हिमालय सबसे अधिक प्यारा था और गाढ़ परिचय होने से उनके वर्णन नितांत तथ्यमण्डित, वैज्ञानिक तथा शोभन हैं। गुहा के भीतर कामकेलि में निरत किन्नरमिथुन के लिए जलद का तिरस्करिणी होना, वृष्टि से उद्वेलित ऋषिजनों का धूपवाले शिखर का आश्रय लेना, हाथियों के द्वारा विघट्टित सरल द्रुमों (चीड़ के पेड़) से बहनेवाले दूध का हवा के झोंके से सर्वत्र फैलना, जलवृष्टि का करका के रूप में परिवर्तन होना—आदि हिमालय प्रदेश की भौतिक विशेषताएँ कवि की सूक्ष्म अवलोकन-शक्ति के जागरूक दृष्टांत हैं।

कालिदास के प्रकृति-वर्णन में अनेक वैशिष्ट्य हैं। कवि मानव सौंदर्य की तीव्रता तथा यथार्थता के अभिव्यंजन के निमित्त प्रकृति का आश्रय लेता है, तो कहीं वह प्रकृति के ऊपर मानव भावों तथा व्यापारों का ललित आरोप करता है। कहीं वह प्रकृति और मानव के बीच परस्पर गाढ़ मैत्री, सहज सहानुभूति तथा रमणीय रागात्मक वृत्ति का सम्बन्ध जोड़ता है, तो कहीं प्रकृति को भगवान् की ललित लीला का निकेतन मानकर आनन्द से विभोर हो जाता है। निःसन्देह कालिदास प्रकृति के अन्तस्थल के सूक्ष्म पारखी महाकवि हैं जिनकी दृष्टि प्रकृति के सौम्य रूप, माधुर्यमय प्रवृत्ति, स्निग्ध सौंदर्य के ऊपर रीझती है तथा उग्रता और भीषणता से सदा पराङ्मुख रहती है।

कालिदास का सन्देश

देवता और ब्राह्मण में भक्ति, गुरुवाक्य में अटल विश्वास, मातृरूपिणी धेनु की परिचर्या, अतिथि की इष्ट-पूर्ति के लिये राजा का सर्वस्वदान, लोकानुरञ्जन के लिये अपनी प्राणोपमा धर्मपत्नी का त्याग—कालिदास के पात्रों में सर्वत्र देदीप्यमान हैं। कालिदास का समाज श्रुतिस्मृति की पद्धति पर निर्मित समाज है। यह त्याग के लिये धन इकट्ठा करता है, सत्य के लिए परिमित भाषण करता है, यश के लिये विजय की कामना रखता है तथा सन्तान की इच्छा के लिये गृहस्थी जमाता है। वे धर्म के अविरोधी काम के

पक्षपाती थे। जो काम हमारे कर्तव्यों के साथ संघर्ष मचाता है, यह नितान्त हेय है। हमारे लिए कालिदास का एक महान् सन्देश है जो तीन तकारादि शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है—त्याग, तपस्या और तपोवन। तपोवन में पली सभ्यता ही मानवों का सच्चा मंगल कर सकती है। क्षुद्र स्वार्थ का निवारण त्याग से होता है और सच्ची उन्नति तपस्या के बल पर हो सकती है। मानवजीवन का उद्देश्य संसार में आकर विषयों का दास बनना नहीं है—प्रत्युत भगवान् की सच्ची-भक्ति कर तथा योग का साधन कर आत्मा के दर्शन में ही है। इस प्रकार कालिदास के महाकाव्य कोमल कला की दृष्टि से ही रोचक नहीं हैं, परन्तु आध्यात्मिकता की दृष्टि से भी उपादेय हैं। इसका मूल कारण यही है कि कालिदास भारतीय कला के ही सर्वश्रेष्ठ कलाकार नहीं हैं; बल्कि भारतीय संस्कृति के भी मर्मज्ञ व्याख्याता हैं।

कालिदास शंकर के उपासक होकर भी विष्णु तथा ब्रह्मा में उसी प्रकार श्रद्धा तथा आदर रखते हैं। वे क्षुद्र संकीर्ण साम्प्रदायिकता से कोसों दूर थे। भगवान् की मूर्ति एक ही है जो गुणों की विषमता के कारण ब्रह्मा, विष्णु, शंकर का रूप धारण करती है। तत्त्व वस्तुतः एक ही है। त्रिविध रूप उपाधिजन्य है [कुमार (७।४४); रघुवंश (१०।१७)] कालिदास पक्के अद्वैतवादी थे। शास्त्र तथा आगमों ने सिद्धि के भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाये हैं परन्तु इन मार्गों का चरम लक्ष्य भगवान ही है, जिस प्रकार गंगाजी के जलप्रवाह भिन्न-भिन्न मार्गों से प्रवाहित होते हैं परन्तु अन्तिम स्थान समुद्र में ही वे गिरते हैं तथा अपना जीवन सफल बनाते हैं:—

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥ (रघु० १०।२६)

कालिदास का लक्ष्य है—भिन्नता में अभिन्नता की अनुभूति। उनका यह संदेश विश्वजनीन है तथा वर्तमानकाल में भी परम मंगल-साधक है।

———

षष्ठ परिच्छेद

कालिदासोत्तर महाकाव्य

कालिदास के अनन्तर अनेक महाकवियों ने प्रबन्ध-काव्य की रचना की। इनमें कतिपय बौद्ध मतानुयायी कवियों ने बुद्ध-धर्म के उपदेशों को जनता के हृदय तक पहुँचाने के लिये कमनीय काव्य का आश्रय लिया। इनमें अश्वघोष, मातृचेट तथा आर्यसूर मुख्य हैं। अन्य कवियों ने कालिदास के दोनों महाकाव्यों से प्रभूत स्फूर्ति तथा प्रेरणा प्राप्त कर प्रबन्ध-काव्यों का निर्माण अलंकृत शैली में किया जिसमें वर्ण्य-विषय की अपेक्षा वर्णन-प्रकार की ओर ही उनका विशेष ध्यान था। संस्कृत आलंकारिकों के द्वारा निर्दिष्ट काव्य लक्षण का समन्वय कालिदास के महाकाव्यों में खोज निकालना ऐतिहासिक भूल होगी, क्योंकि समस्त आलंकारिक कालिदास से अर्वाचीन ही हैं।

इस युग के आलंकारिकों ने महाकाव्य का विशिष्ट लक्षण प्रस्तुत किया। दण्डी का महाकाव्य-लक्षण प्राचीनतम माना जाता है (काव्यादर्श १।१४-१९) उनके अनुसार महाकाव्य की रचना 'सर्गों' में की जाती है। उसमें एक ही नायक होता है जो देवता होता है अथवा धीर उदात्त गुणों से युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय होता है। वीर, शृंगार अथवा शान्त—इनमें से कोई रस मुख्य (अंगी) होता है। अन्य रस गौण रूप से रखे जाते हैं। कथानक इतिहास में प्रसिद्ध होता है अथवा किसी सज्जन का चरितवर्णन किया जाता है। प्रत्येक सर्ग में एक ही प्रकार के वृत्त में रचना की जाती है पर सर्ग के अन्त में वृत्त बदल दिया जाता है। सर्ग न तो बहुत बड़े होने चाहिए न तो बहुत छोटे। सर्ग आठ से अधिक होने चाहिए और प्रतिसर्ग के अन्त में आगामी कथानक की सूचना होनी चाहिये। वृत्त को अलंकृत करने के लिये सन्ध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात, प्रदोष, अन्धकार, वन, ऋतु, समुद्र, पर्वत आदि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अवश्य किया जाता है। बीच बीच में शृंगार

रस का भी परिपोष किया जाता है और वीर रस के प्रसंग में युद्ध, मन्त्रणा, शत्रु पर चढ़ाई आदि विषयों का भी साङ्गोपाङ्ग वर्णन रहता है। नायक तथा प्रतिनायक का संघर्ष काव्य की मुख्य वस्तु होता है। महाकाव्य का मुख्य उद्देश्य धर्म तथा न्याय की विजय तथा अधर्म और अन्याय का विनाश होना चाहिये।

रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' (१६।७–१६) में दण्डी के द्वारा निर्दिष्ट काव्य-लक्षणों को कुछ विस्तार के साथ दुहराया है। ध्यान देने की बात यह है कि रुद्रट ने उतने ही विषय के उपबृंहण तथा अलंकरण को उचित माना है जिससे कथा-वस्तु का कथमपि विच्छेद न हो सके। कालिदास के काव्यों में अलंकरण काव्य-वस्तु का विच्छेद कथमपि नहीं करता; परन्तु भारवि तथा माघ इस दुष्प्रभाव से बच नहीं सके। भारवि में मूल कथा के साथ दूरतः सम्बद्ध ऐसे विषय पाँच सर्गों तक (४, ५, ८, १०) तथा माघ में ६ सर्गों (६–११) तक रक्खे गये हैं। इस प्रकार इस काल में प्रबन्ध-काव्यों में ऐक्य तथा समन्वय का सर्वथा अभाव दृष्टिगोचर होता है और शृङ्गार-प्रधान विषयों का उपबृंहण मूल आख्यान के प्रवाह को बहुत कुछ रोक देता है। विषय-वर्णन में चमत्कार की कमी नहीं है। परन्तु इन नवीन वस्तुओं के योग से काव्य का विस्तार, अलंकार का विन्यास इतना अधिक हो जाता है कि पाठकों का हृदय आप्यायित न होकर उनका मस्तिष्क ही पुष्ट होता है। वर्ण्य-विषय तथा वर्णन-प्रकार के सामञ्जस्य का अभाव जो कालिदास तथा अश्वघोष में खोजने पर भी नहीं मिल सकता इस युग के सामान्य कवियों के काव्य की जागरूक विशेषता है। ब्राह्मण कवियों में चार महाकवि—भारवि, भट्टि, कुमारदास तथा माघ—इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं।

महाकाव्य—पाश्चात्य मत

पाश्चात्य मत से महाकाव्य (एपिक) दो प्रकार के होते हैं—(१) विकसित महाकाव्य (एपिक आफ ग्रोथ), (२) कलापूर्ण महाकाव्य (एपिक आफ आर्ट[1])। विकसित महाकाव्य वह है जो अनेक शताब्दियों में अनेक

१ Epic of growth; Epic of art.

कवियों के प्रयत्न से विकसित होकर अपने वर्तमान रूप में आया है। वह प्राचीन गाथाओं के आधार पर रचित महाकाव्य होता है। जैसे ग्रीक महाकवि होमर का 'इलियड' और 'ऑडेसी' नामक युगल महाकाव्य। इनका वर्तमान परिष्कृत रूप होमर की प्रतिभा का फल है, परन्तु गाथाचक्रों के रूप में वे प्राचीनकाल से बन्दीजनों के द्वारा गाये जाते थे। 'कलापूर्ण महाकाव्य' वह है जिसे एक ही कवि अपनी काव्यकला से गढ़कर तैयार करता है। इसमें प्रथम श्रेणी के काव्यों के समग्र गुण विद्यमान रहते हैं, परन्तु यह रहता है एक ही कवि की प्रौढ़ प्रतिभा का परिणाम। जैसे लैटिन भाषा में वर्जिल कवि द्वारा रचित 'इनीड' महाकाव्य। वर्जिल ने अपने लिये होमर को आदर्श माना है और उन्हीं की काव्यकला का पूर्ण अनुसरण अपने महाकाव्य में किया है। मिल्टन के पैरेडाइस लास्ट तथा पैरेडाइस रिगेन्ड होमर, वर्जिल तथा दांते के महाकाव्यों के समान उत्कृष्ट मान्य कलापूर्ण महाकाव्य है। इस दृष्टि से यदि संस्कृत काव्यों का वर्गीकरण किया जाय तो वाल्मीकीय रामायण प्रथम श्रेणी में रखा जायगा तथा रघुवंश तथा शिशुपालवध आदि द्वितीय श्रेणी में।

१

अश्वघोष

कविता भावों की विशेष उद्‌बोधिका होने के कारण मानव को अभीष्ट कार्य में प्रवृत्त करने का सबसे महत्वशाली साधन है। कविता हृदय के ऊपर गहरी चोट करती है; मानव हृदय को सद्यः उत्तेजित करती है और इसीलिए सामान्य जनता के हृदय तक दर्शन तथा धर्म के दुरुह तथ्यों को पहुँचाने के लिए धर्म-प्रचारक बहुत पुराने समय से कविता का सहारा लेते आये हैं और आज भी लेते हैं। बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष का काव्यकला की ओर आकर्षण का रहस्य यही है। सौंदरनंद के अन्त में उनकी स्वीकारोक्ति इस रहस्य की गुत्थी खोलने के लिए पर्याप्त है। जिस प्रकार कड़वी दवा को हृद्य बनाने के लिए उसे मधु से मिलाने की जरूरत होती है, उसी प्रकार पाठकों

को धार्मिक तत्त्वों को सद्यः ग्रहण करने की दृष्टि से मोक्षधर्म के पदार्थ काव्य धर्म के द्वारा प्रकट किये गये हैं :—

इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता ।
यन्मोक्षात् कृतमन्यत्र हि मया तत् काव्यधर्मात् कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥

—सौन्दरनन्द १८।६३

यह पद्य अश्वघोष की काव्यकला की ओर प्रवृत्त भावना का स्फुट परिचायक है। वे मुख्यतः दार्शनिक हैं, दर्शन की तार्किक भाषा में बौद्धधर्म के मान्य सिद्धान्तों के प्रतिपादक बौद्ध आचार्य हैं, परन्तु अपने उपदेश-क्षेत्र के विस्तार के निमित्त ही उन्होंने काव्यमार्ग का आश्रय ग्रहण किया है। अश्वघोष की यह स्वीकारोक्ति इनके काव्यों के आलोचकों को उनकी समीक्षा करने में एक नई दृष्टि निःसन्देह प्रदान करती है।

जीवनी

अश्वघोष के निश्चित जीवन-चरित का अभी तक हमें निःसन्देह परिचय नहीं है। चीनी परम्परा से प्राप्त उनके जीवनचरित में विद्वानों को आज भी थोड़ी-सी सन्देह दृष्टि बनी हुई है। सौन्दरनन्द की पुष्पिका से उनके परिचय की एक धुँधली रेखा हमारे सामने खिंच जाती है—वे साकेतक (अयोध्या के निवासी) थे, सुवर्णाक्षी[1] के पुत्र थे तथा महाकवि होने के अतिरिक्त वे 'महावादी' बड़े तार्किक विद्वान् थे। उनके काव्यों की अंतरंग परीक्षा से स्पष्ट है कि वे ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न, ब्राह्मण तथा वैदिक साहित्य के कुशल पण्डित, महाभारत के, विशेषतया वाल्मीकिय रामायण के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनका 'साकेतक' होना उनके रामायण की विशेष रुचि, मार्मिक

१ आर्यं सुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्य-भदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम् ।

—सौन्दरनन्द की पुष्पिका

अध्ययन तथा व्यापक प्रभाव का सूचक है। चीनी परम्परायें उन्हें कनिष्क के साथ अकाट्य-रूप से सम्बद्ध बतलाती हैं। कहा जाता है कि महाराज कनिष्क ने पाटलीपुत्र पर आक्रमण कर जब तत्कालीन मगध नरेश को अपनी विपुल बल-सम्पत्ति के सहारे पदाक्रांत किया, तब उन्हें केवल दो शर्तों पर छोड़ दिया। पहली थी भगवान् तथागत के व्यवहृत भिक्षा-पात्र का ग्रहण तथा दूसरी थी उनके राज-कवि अश्वघोष का पुरुषपुर में निवास की प्रतिज्ञा। राजा ने इन दोनों शर्तों को मानकर प्रबल शत्रु के चपेटाघात से अपने को तथा अपने राज्य को बचाया। कनिष्क द्वारा आहूत चतुर्थ बौद्ध संगीति की प्रतिष्ठा तथा अध्यक्षता का गौरव अश्वघोष को ही प्रदान किया जाता है। परन्तु अभी तक यह निःसन्दिग्ध निर्णय नहीं हुआ है कि इस संगीति का अध्यक्षपद महास्थविर पार्श्व ने ग्रहण किया था अथवा महावादी अश्वघोष ने। वैभाषिक सम्प्रदाय के प्रमाण ग्रंथ 'विभाषा' नामक भाष्यग्रन्थ के निर्माण के कारण यह संगीत बौद्धधर्म के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी। अश्वघोष की धार्मिक भावना सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय की ही थी, इसका संकेत विभाषा' की रचना में प्रयोजक होने से भी हमें मिलता है। कनिष्क के साथ सम्बद्ध मातृचेट कवि के ऊपर अश्वघोष की कविता का विपुल प्रभाव होने के कारण भी अश्वघोष को कनिष्क के समकालीन अथवा किंचित् पूर्ववर्ती भी मानने में किसी प्रकार की ऐतिहासिक विप्रतिपत्ति नहीं है। अतः अश्वघोष का समय प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में (१–५० ई०) सामान्यतः माना जा सकता है।

ग्रन्थ

अश्वघोष के काव्यग्रन्थों की समीक्षा से पहिले उनके अन्य ग्रन्थों से परिचय पाना आवश्यक है। 'वज्रसूची' उपनिषद् नामक ग्रन्थ अश्वघोष की रचना माना जाता है, परन्तु इस ग्रन्थ में किया गया वर्णव्यवस्था का भीषण खण्डन कवि की ब्राह्मणों के प्रति पूज्य भावना से कथमपि मेल नहीं खाता। चीनी परम्परा भी इसे धर्मकीर्ति का ग्रंथ मानती है। फलतः वज्रसूची को अश्वघोष की निःसन्देह रचना के हम पक्ष-पाती नहीं हैं। गण्डी-स्तोत्र की भी यही दशा है। २६ लम्बे लम्बे

स्रग्धरा छन्द में निबद्ध यह स्तोत्रकाव्य बुद्ध भगवान् तथा बौद्ध मठों में व्यवहृत घंटा की स्तुति में है। इनकी रचना कश्मीर में ही हुई थी जब यहाँ की राजनीतिक दशा में अव्यवस्था का राज्य था। भाषा तथा शैली के स्पष्ट विरोध में यह बुद्ध-चरित के रचयिता की रचना नहीं माना जा सकता। बौद्धधर्म के उपदेशों को सुगमता से हृदयंगम करने के लिये अनेक प्राचीन आख्यायिकाओं का संग्रह-ग्रंथ **'सूत्रालंकार'** अश्वघोष की रचना माना जाता था। कुमारजीव जिन्होंने इसका भी चीन भाषा में अनुवाद ४०५ ई० में किया था इनकी रचना अश्वघोष के हाथों मानते हैं परंतु मध्य एशिया से इसके उपलब्ध मूल संस्कृत के कतिपय अंशों से यह 'कुमारलात' की कृति सिद्ध होता है[१]। इसका यथार्थ नाम **कल्पनामण्डितिका** या **कल्पनालंकृतिका** है। अवदान तथा जातक की शैली पर अलंकृत काव्य रूप से निबद्ध यह ग्रंथ कथाओं का संग्रह है जो बौद्धधर्म की प्रचारबुद्धि से ही निबद्ध किया गया है। अभी तक यह अधूरा ही मिलता है। युआन च्वांग के कथनानुसार कुमारलात सौत्रान्तिक संप्रदाय के प्रवर्तक थे तथा तक्षशिला के निवासी थे। अतः सर्वास्तिवादियों के प्रति आदरभाव की इसमें उपलब्धि आश्चर्य का विषय नहीं है, क्योंकि सौत्रान्तिकों का वही मूल स्थान था। दो कथाओं (१४ वीं तथा ३१ वीं) में कनिष्क की मृत्यु का निर्देश मिलता है। अतः इसकी रचना कनिष्क की मृत्यु से पूर्व अर्थात् द्वितीय शतक से पूर्व अनुमित नहीं हो सकती।

संस्कृत साहित्य

कथाओं में कुछ प्राचीन हैं (जैसे राजा शिवि के आत्मत्याग की प्रख्यात कथा) और कुछ नवीन (जैसे सारीपुत्र के द्वारा परित्यक्त व्यक्ति का बुद्ध के द्वारा संघ में दीक्षा और प्रवेश)। कथाओं में महायानी सिद्धांतों को (जैसे बुद्ध की भक्ति आदि को) विशेष महत्त्व दिया गया है। फलतः इसे सर्वास्तिवादी अश्वघोष की रचना मानना कथमपि युक्ति युक्त नहीं प्रतीत

१ इन अधूरे अंशों को डा० लूडर्स ने लाइपजिग से १९२६ में प्रकाशित किया है।

होता। चीन के पण्डितों ने इस ग्रंथ के द्वितीय अभिधान के आधार पर विश्वास होता है, इसका नाम 'सूत्रालंकार' रख दिया। कथाओं की रोचकता और उपादेयता के कारण यह जन साधारण के हृदय को आकृष्ट करने के लिए लिखा गया था और इसी निमित्त कुमारजीव ने ४०५ ईस्वी में इसका चीन-भाषा में अनुवाद किया था जो आज भी उपलब्ध है।

'महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र'[1] नामक चीनी भाषा में अनूदित ग्रंथ अश्वघोष का सर्वमान्य दार्शनिक ग्रंथ स्वीकार किया जाता है, परन्तु महायान के विकसित शून्यवाद का प्रौढ़ समर्थक यह ग्रंथ सर्वास्तिवादी अश्वघोष की रचना नहीं माना जा सकता। शून्यवाद के उत्थान की घटना अश्वघोष से अर्वाचीन युग से सम्बन्ध रखती है। अश्वघोष की धार्मिक प्रवृत्ति तथा विश्वास महायान के तत्वों की ओर कथमपि नहीं है। उनके अनुसार बुद्ध-धर्म का मेरुदण्ड है बुद्ध भगवान् के प्रति अटूट श्रद्धा, उनके आचार-प्रधान धर्म में गाढ़ विश्वास तथा योग की साधना। अश्वघोष का धार्मिक विश्वास हीनयान धर्म में ही निश्चय रूप से माना जा सकता है। फलतः महायान के प्रौढ़ विकास का प्रतिपादक 'श्रद्धोत्पादशास्त्र' हीनयानी अश्वघोष के मत्थे कभी नहीं मढ़ा जा सकता।

अश्वघोष की सन्देहहीन साहित्यिक रचनायें मुख्यतः तीन ही हैं—(क) बुद्धचरित, (ख) सौन्दरनन्द तथा (ग) शारिपुत्रप्रकरण। इनमें प्रथम दो महाकाव्य हैं तथा अन्तिम नाटक है। 'बुद्धचरित' तथागत के निर्मल सात्विक जीवन का सरल तथा सरस विवरण है; तो 'सौन्दरनन्द' गौतमबुद्ध के ही सौतेले अनुज सुन्दरनन्द के प्रव्रज्या-ग्रहण का वर्णन है। 'शारिपुत्रप्रकरण' भी बुद्ध के पट्टशिष्य शारिपुत्र के बौद्धधर्म में दीक्षित होने का नाटकीय विवरण है। इस प्रकार इन तीनों ग्रंथों की प्रेरणा का एक ही मूल स्रोत है—तथागत के जीवन तथा उनके धर्मतत्त्वों की सरस तथा हृदयावर्जक शैली में आस्तिक जनता के हृदय तक पहुँचाने की भव्य तथा स्तुत्य भावना। इन

---

१ इस ग्रंथ का अंग्रेजी अनुवाद Awakening of the faith के नाम से किया गया है।

तीनों में केवल सौन्दरनन्द ही पूरे रूप में मूलसंस्कृत में उपलब्ध है। बुद्ध-चरित का केवल आधा भाग ही मूल संस्कृत में मिलता है और शारिपुत्र-प्रकरण के कतिपय अधूरे पृष्ठ ही।

गण्डी स्तोत्र गाथा—चीनी अनुवाद के आधार पर इसका संस्कृत में पुनरनुवाद प्रस्तुत किया गया है। वह गीति काव्य है और अपने विषय और शैली की दृष्टि में अश्वघोष के सर्वथा अनुकूल है।

मध्य एशिया से प्राप्त ग्रंथों में एक प्रतीक नाटक के कतिपय अंश उपलब्ध हुए हैं जिसमें ग्रंथकार का नाम न होने पर भी सारीपुत्र-प्रकरण के साथ ही एक ही हस्तलेख में उपलब्ध होने से अश्वघोष की रचना माना जाता है। इसमें शान्तरस का प्राधान्य है। कतिपय पात्र जैसे बुद्ध और उनके शिष्य तो ऐतिहासिक पात्र है, परन्तु अन्य पात्र अमूर्त तत्त्वों के प्रतीक है जैसे रति, मति आदि। इस प्रकार अश्वघोष प्रतीक नाटक के भी आद्य प्रवर्तक या प्रतिष्ठाता माने जा सकते हैं।

बुद्धचरित

अश्वघोष का कीर्तिस्तम्भ है बुद्धचरित जो दुर्भाग्यवश मूल रूप में केवल आधा ही मिलता है। इसके चीनी तथा तिब्बती अनुवाद में इस महाकाव्य के पूरे २८ सर्ग मिलते हैं, परन्तु संस्कृत में दूसरे सर्ग से लेकर १३ वाँ सर्ग तक ही ग्रंथ उपलब्ध होता है। आदिम सर्ग का तीन चौथाई भाग तथा १४ वें सर्ग का केवल एक चौथाई भाग मिलकर ग्रंथ के मूल रूप की इति श्री करते हैं। महाकाव्य का आरम्भ होता है बुद्ध के गर्भाधान से और अन्त होता है अस्थिविभाजन से उत्पन्न कलह, प्रथम संगति तथा अशोकवर्धन के राज्य से। इसका अनुवाद धर्मरक्ष, धर्मक्षेत्र या धर्माक्षर नामक किसी भारतीय विद्वान् ने ही पंचमशतक के आरम्भ में (४१४–४२१ ई०) चीनी भाषा में किया था। तिब्बती अनुवाद नवम शतक से पूर्ववर्ती नहीं है। इस प्रबन्ध काव्य की कथा बुद्ध जन्म से आरम्भ होता है और अन्तःपुर-विहार, संवेग उत्पत्ति, स्त्रीनिवारण, अभिनिष्क्रम, छन्दक विसर्जन, तपोवन-प्रवेश,

अन्तःपुरविलाप आदि का क्रमशः वर्णन करता हुआ कवि बुद्धत्व प्राप्ति तक हमें पहुँचा देता है। इस प्रकार अश्वघोष ने भगवान् बुद्ध के संघर्षमय जीवन की नाना घटनाओं का बड़ा जीता जागता उज्ज्वल रुचिकर चित्र अंकित किया है।

सौन्दरनन्द

महाकाव्य में १८ सर्गों में निबद्ध **सौन्दरनन्द** यौवन-सुलभ उद्दाम काम तथा धर्म के प्रति जागरित प्रेम के विषम संघर्ष का भव्य भाषा में चित्रित करने वाला एक अद्भुत काव्य है जो काव्य सुलभ गुणों की दृष्टि में बुद्ध चरित की रुक्षता से कहीं अधिक स्निग्ध, सरस तथा सुन्दर है। इस काव्य की कथा बुद्ध के सौतेले भाई सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिमा सुन्दरनन्द के गृहत्याग, अपनी प्रियतमा सुंदरी के मोहभंग तथा प्रवज्याग्रहण से सम्बन्ध रखती है। नन्द भोगविलास में आकण्ठमग्न एक सुंदर राजकुमार है तथा उसकी पत्नी सुंदरी नितान्त पतिव्रता सुन्दरी है। दोनों का सुखमय यौवन बीत रहा था शुद्धोदन के भव्य प्रासाद में कि तथागत की दृष्टि उन पर पड़ी। उन्होंने अपने भाई नन्द के जीवन को मंगलमय तथा कल्याणपूर्ण बनाने के लिए उन्हें प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए बाध्य किया। भोग की माधुरी में आसक्त नन्द जीवन के सुखों को कथमपि छोड़ना नहीं चाहता, परन्तु बड़े ही कौशल से तथा प्रलोभन से वह प्रव्रज्या मार्ग पर अन्ततोगत्वा बाध्य किया जाता है। उसी की हार्दिक भावना की, भोग-वासना के विपुल संघर्ष की नितांत सरस अभिव्यक्ति सौन्दरनन्द में हमें मिलती है। नन्द तथा सुन्दरी की मूक वेदना के चित्रण में अश्वघोष को जितनी सफलता मिली है उतनी ही उसे बुद्धधर्म के उपदेशों को सुन्दर भाषा में अंकित करने में भी। इस काव्य की तुलना में भारी भरकम होने पर भी बुद्धचरित हृदय के भावों के वर्णन में, काम तथा धर्म के परस्पर वैषम्यमण्डित भीषण संघर्ष के चित्रण में, बौद्धधर्म के आचार प्रधान उपदेशों के हृदयावर्जक विवरण में निःसन्देह न्यून है। इसीलिए बुद्धचरित कवि की प्राथमिक रचना प्रतीत होता है। सुंदरनन्द में अश्वघोष ने रच पच कर अपना काव्यकौशल दिखलाया है। विषय की विशिष्टता के

कारण भी उसे कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति का तथा धार्मिक उपदेशों के पूर्ण विवरण देने का अच्छा अवसर यहाँ प्राप्त होता है। मेरी दृष्टि में सौन्दरनन्द विषय की गम्भीरता तथा कोमल काव्य–भावना के अंकन में बुद्ध-चरित की अपेक्षा कहीं अधिक सरस तथा सफल काव्य है।

शारिपुत्र प्रकरण—शारिपुत्र-प्रकरण नव अंकों में विरचित एक महनीय प्रकरण था जिसमें शारिपुत्र की बौद्धधर्म में दीक्षा का प्रसंग नाटकबद्ध किया गया था। इन तीनों ग्रंथों का रचना-ऐक्य अन्तरंग परीक्षा पर भी आधारित है। इनमें भावों, विचारों तथा शब्दों का पारस्परिक विनिमय यत्र तत्र स्पष्टतया लक्षित होता है। उदाहरणार्थ बुद्धचरित ११।११,१२ का भाव-साम्य सौन्दरनन्द के ११।३२,३७ पद्यों के साथ स्फुटतया लक्षित होता है। किसी प्रतीक नाटक तथा सामाजिक नाटक के अंश इसी प्रकरण के हस्त-लिखित प्रति के साथ ही उपलब्ध होते हैं। इनके अश्वघोष कृत होने में पर्याप्त मतभेद है। डा० कीथ इन दोनों नाट्यांशों को अश्वघोष की ही विशुद्ध रचना स्वीकार करते हैं[1] परन्तु डा० जानस्टन प्रतीक नाटक के ही पक्ष में हैं, दूसरे को वे भिन्नकर्तृक ही बतलाते हैं।[2]

अश्वघोष की विद्वत्ता

अश्वघोष के विशाल अध्ययन तथा विद्वत्ता का स्पष्ट परिचय उनके महा-काव्य दे रहे हैं। पूर्व आश्रम में ब्राह्मण होने के कारण उनका ब्राह्मणसाहित्य का गाढ़ परिचय विस्मयावह नहीं है। वैदिक अनुष्ठान से परिचित अश्वघोष वशिष्ठ के लिए वैदिक अभिधान 'और्वशेय' का (बु० च० ६।६) तथा 'प्रोक्षण' तथा 'अभ्युदय' शब्दों का प्रयोग (बु० च० १२।३०) करते हैं। बुद्धचरित के १२ वें सर्ग में उल्लिखित अराड कलाम का गौतम को उपदेश महाभारत के सांख्य सिद्धांतों की शिक्षा से एकदम मिलता है। साकेतक होने के नाते

---

१ द्रष्टव्य डाक्टर कीथ–संस्कृत ड्रामा पृ० २३०

२ द्रष्टव्य बुद्धचरित का अंग्रेजी अनुवाद (भूमिका पृ० २०–२१)

रामायण के प्रति कवि के विशेष आग्रह से और रामायणीय पात्रों तथा तत्सम्बद्ध घटनाओं के प्रति पक्षपात से हमें आश्चर्य नहीं होता। पुत्रशोक में अपने प्यारे प्राणों को निछावर करनेवाले महाराज दशरथ का उल्लेख कवि ने अनेक स्थानों पर किया है (बु० च० ८।७६)। तत्कालीन विद्याओं—नीति शास्त्र, कौटिल्य अर्थशास्त्र, वैद्यक शास्त्र आदि उपयोगी विद्याओं—से परिचय कवि की व्यापक विद्वत्ता का सूचक है। व्याकरण से सम्बद्ध शास्त्रीय उपमाओं तथा विलक्षण पदों के प्रयोग करने में अश्वघोष कभी नहीं चूकते। सौन्दरनन्द के द्वितीय सर्ग में लुङ् लकार का एकमात्र प्रयोग, द्वादश सर्ग (१२।९, १०) में वैयाकरण उपमाओं का उपयोग, ६।३४ में लिट् लकार के बारह पदों का एकत्र प्रयोग, २।२८,२९ में 'अवीवपत्' का चार भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग—ये सब कवि की इस रचना पर वैयाकरणत्व की छाप लगाने के लिए पर्याप्त हैं। दर्शन तो कवि का अपना अध्ययनक्षेत्र है। अतः उसने इस दार्शनिक ज्ञान का उपयोग बड़े ही सुन्दर ढंग से इन काव्यों में किया है।

समीक्षण

अश्वघोष की कविता में स्वाभाविकता का साम्राज्य है। कवि एक विशेष उद्देश्य से तत्त्वज्ञान से हटकर कोमल काव्यकला का आश्रय लेता है और इस कार्य में वह सर्वथा सफल है। भावों के नैसर्गिक प्रवाह का कारण कवि के आध्यात्मिक जीवन से नितान्त सम्बद्ध है। तथागत के लोकसुन्दर चरित्र के प्रति कवि की गाढ़ श्रद्धा है तथा संसार की अनित्यता की भावना इतनी बलवती है कि वह इन काव्यों के मार्मिक अंशों की रचना में अदम्य उत्साह तथा श्लाघनीय स्फूर्ति दिखलाता है। घटना के वर्णन में कवि का कौशल जितना जागरूक है उतना ही श्लाघनीय है उसकी तर्कों की स्वच्छ तथा सुबोध प्रकार से विन्यासचातुरी। भावों में तीव्रता लाने के निमित्त अश्वघोष ने परिचित वातावरण में संगृहीत, अतएव हृदय पर सद्यः प्रभाव जमानेवाली, स्पृहणीय उपमाओं के प्रयोग करने में कुशलता दिखलाई है। धर्म का प्रचारक शास्त्र की शिक्षाओं को जनसाधारण के हृदय तक सरलता से पहुँचाने के लिए सामान्य जीवन की घटनाओं, वस्तुओं तथा पात्रों का प्रयोग तुलना के

निमित्त किया करता है और अश्वघोष ने भी वही किया है। और इसीलिए इनकी उपमा, दृष्टान्त तथा रूपक समधिक प्रभावशाली बन पड़े हैं। जरारूपी यन्त्र से पीड़ित होकर मृत्यु की प्रतीक्षा करने वाले सारहीन शरीर की रस निचोड़े गये तथा जलाने के लिए सुखाये जाने वाले ऊँख से उपमा बड़ी ही प्रभावोत्पादक है।[1] सारथि के लौट आने पर कवि ने बुद्ध की माता, पिता तथा पत्नी के शोक का वर्णन बड़ी ही सरल स्वाभाविकता तथा सरसता के साथ किया है। वह मानव हृदय के गहरे अन्तःस्थल पर पहुँचने की क्षमता रखता है। बुद्ध के संन्यास की घटना उनके माता, पिता तथा पत्नी के हृदय में जिन भावों का उदय करती है उनका साधु चित्रण कवि के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की शक्ति का परिचायक है। कवि का अलंकार-विधान रस का पोषक, भावों का उत्तेजक तथा प्रकृतार्थ का उपोद्बलक है। वज्र की आवाज सुनकर काँपनेवाले हाथी से शोकाहत शुद्धोदन की तुलना (बु० च० ८।७२) जितना औचित्यपूर्ण है, उतना ही स्वाभाविक है बच्चे के लिए करुण क्रन्दन करनेवाले पक्षी से समता। पात्रों के औचित्य से उनके शोक तथा विलाप में भी स्पष्टतः पार्थक्य है।[2] पौराणिक बातों के प्रति इनकी सहिष्णुता की प्रवृत्ति भी बड़ी ही सुन्दर है। वे पौराणिक बातों को बौद्धों की हेय दृष्टि से कभी नहीं देखते हैं। वे उनमें आस्था तथा श्रद्धा रखते हैं।

संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि अश्वघोष की कला भी उसी प्रकार से आदिम तथा प्राकृत है जैसे वे स्वयं धर्म तथा दर्शन में हैं। उन्होंने जो कुछ भी लिखा उसमें धर्म-परिवर्तन का अदम्य उत्साह जागरूक है। अपने

---

१ यथेक्षुरत्यन्त-रस-प्रपीडितो भुवि प्रविद्धो दहनाय शुष्यते।
तथा जरायन्त्र निपीडता तनुर्निपीतसारा मरणाय तिष्ठति॥
सौ० न० ९।३१

२ द्रष्टव्य यशोधरा का विलाप (बु० च० ८।६१-६९), माता-पिता का विलाप (वही ८।७१-८६)

सन्देश की गरिमा में उनकी इतनी निष्ठा तथा आस्था है कि वे धर्म तथा दर्शन के विभिन्न मतों के पचड़े में न पड़कर अष्टांगिक मार्ग के अनुशीलन से मानव जीवन की सफलता पर आग्रह रखते हैं और इसीलिए अश्वघोष की कविता निःसन्देह कलात्मक है, परन्तु उसमें उस विकृत कला का दर्शन नहीं होता जो पिछले महाकाव्यों में वर्तमान मिलती है। अश्वघोष स्वभाव से हैं कवि, शिक्षा के द्वारा हैं प्रकृष्ट पण्डित तथा हार्दिक विश्वास के कारण हैं धार्मिक व्यक्ति। अश्वघोष की काव्यकला की रमणीयता का रहस्य उनकी गम्भीर धर्म-प्रवणता के भीतर छिपा हुआ है। धर्म-प्रचार की प्रेरणा ने ही उन्हें कमनीय काव्य-कला के आश्रय लेने के लिए उत्साहित किया है भावों की यथार्थता उनके काव्य में प्रचुर मात्रा में है। उनकी प्रसादमयी वाणी के पढ़ने पर यही प्रतीत होता है कि यह उनके हृदय से निकल रही है—विशुद्ध कृत्रिमता से कोसों दूर। बनावट का यहाँ नाम नहीं है। यह अनगढ़ की भावना को अवश्य अग्रसर करती है, क्योंकि इसमें अभी वह स्निग्धता तथा चिकनाहट नहीं है जो कला के मँज जाने पर कवि की कविता में दीख पड़ती है। अश्वघोष की कविता पढ़कर आलोचक पुकार उठता है कि कवि अपनी सची अनुभूतियों को कविता का कलेवर दे रहा है तथा बौद्ध धर्म की मैत्री-भावना तथा उदार दृष्टि को सार्वभौम बनाने के लिय तथा सद्यः हृदयंगम बनाने के हेतु वह घरेलू उपमा तथा दृष्टान्त का रमणीय प्रयोग कर रहा है। कहीं कहीं पद-विन्यास की रूक्षता अवश्य ही आलोचक को खटकती है विशेषतः बुद्धचरित में परन्तु सौन्दर-नन्द की रचना में कवि की वाणी में मनोहर स्निग्धता, हृदय को आवर्जन करने की अनुपम शक्ति तथा सुन्दर पदावली पाठकों के हृदय को हठात् अपनी ओर खींच लेती है। उनकी कविता में जीवनी शक्ति है तथा हृदयावर्जन की अद्भुत क्षमता है। छोटे छोटे चुने हुए प्रसन्न शब्दों के द्वारा अपने धार्मिक सन्देश को काव्य का कमनीय विग्रह प्रदान करने में अश्वघोष एक सफल कवि हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

जीवन की निरन्तर अनित्यता दिखलाता हुआ कवि कितने सरल शब्दों में अपनी बात कहता है—

ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः।
गतं गतं नैव तु सन्निवर्तते जलं नदीनां च नृणां च यौवनम्॥

संन्यासी बनकर फिर गृहस्थ बनने की सुन्दरनन्द की लालसा को धिक्कारता हुआ कवि अपनी भाव-शुद्धि तथा रम्य अनुभूति की सुन्दर सूचना दे रहा है—

कृपणं बत यूथलालसो महतो व्याध-भयात् विनिःसृतः।
प्रविवत्सति वागुरां मृगश्चपलो गीतरवेण वञ्चितः।

वह मनुष्य उस चपल मृग के समान है जो व्याघ्र के बड़े भारी भय से निकल कर गीत की ध्वनि से वंचित होकर जाल में स्वयं फँसना चाहता है।

२

मातृचेट

मातृचेट के जीवन-चरित की अधिकांश बातें अभी तक अज्ञानान्धकार में ही पड़ी हुई हैं। उनमें से केवल एक ही निःसन्दिग्ध घटना का पता चलता है और वह है इनकी महाराज कनिष्क की समकालीनता। कनिष्क ने बौद्धधर्म के दिव्य उपदेशों की शुश्रुषा से जब मातृचेट को अपने दरबार में बुलाया, तब अत्यन्त वृद्ध होने के कारण कवि ने अपनी असमर्थता प्रकट की और बौद्धधर्म के मान्य सिद्धान्तों का विवरणमय पद्यात्मक पत्र कनिष्क के पास भेजा। ८५ पद्यों का लघु काव्यमय यह 'महाराज कनिक लेख'[1] आज भी तिब्बती भाषा में अनुदित होकर सुरक्षित है। इन पद्यों में बुद्ध के आदेशानुसार नैतिक जीवन व्यतीत करने का उपदेश मुख्य रूप से ग्रथित है। करुणा से पूर्ण पद्यों में कवि ने राजा को अन्त में उपदेश दिया है कि तेरा कर्तव्य है कि वन्यपशुओं को अभयदान दे तथा शिकार करना छोड़ दे।

---

१ इसका अंग्रेजी अनुवाद डा० एफ० टामस ने इण्डियन एण्टिक्वेरी में (भाग ३२, १९०३; पृ० ३४५) किया है।

कतिपय विद्वान् मातृचेट को अश्वघोष और नागार्जुन का पश्चाद्वर्ती मानते हैं और इनके समकालीन राजा कनिक (कनिष्क) को कनिष्क द्वितीय बतलाते हैं।

ग्रन्थ

अपने दो स्तोत्रग्रन्थों के कारण बौद्ध जगत् में ये 'स्तुतिकार' की महनीय ख्याति से मण्डित हैं। (१) चार सौ पद्यों में निबद्ध स्तुतिकाव्य है। सम्भवतः इसी से प्रेरणा प्राप्त कर नागार्जुन ने अपनी 'माध्यमिक कारिका' को तथा उनके विख्यात शिष्य आर्यदेव ने 'चतुःशतक' को चार सौ पद्यों में लिखा था। जैन ग्रन्थकार आचार्य हरिभद्र की बीस विंशिकाओं का भी यही आधार ग्रन्थ प्रतीत होता है। साक्षात् रूपेण न सही, परम्परया प्रेरणा का मूल स्रोत मातृचेट का ही स्तुति-काव्य प्रतीत होता है। इसका तिब्बती अनुवाद आज भी प्राप्त है[1] इसका संस्कृत नाम वर्णार्हवर्ण स्तोत्र (अर्थात् पूजनीय की स्तुति) जो मध्य एशिया में जर्मन अभियान के द्वारा संगृहीत ग्रन्थों में से अन्यतम है। इसमें १२ परिच्छेद हैं जिनमें तथागत की भव्य और नितान्त सुन्दर स्तुति की गई है। मातृचेट निश्चय रूप से महायानी हैं (८।२३) समग्र ग्रन्थ अनुष्टुपों में ही निबद्ध है। मातृचेट के दूसरे स्तुतिग्रन्थ के साथ भाषा तथा भाव गत साम्य नितान्त स्पष्ट है। दृष्टान्त के लिए मालोपमामण्डित यह पद्य नितान्त रुचिर है (१।२३, २४)—

स्वरत्नैराकरमिव स्वधातुभि रिवाचलम्
चन्दनं स्वरतेनेव सरः स्वजलजैरिव।
गुणैस्त्वाभ्यर्चमिष्यामि त्वन्मतादेव निहृतैः
स्वनिर्वान्तेन हेम्नेव काञ्चनविलं मणिम् ॥

इस स्तोत्र का मूल संस्कृत भी सानुवाद प्रकाशित हुआ है।[2]

---

१ अंग्रेजी अनुवाद के लिए द्रष्टव्य इ० ए० भाग ३४ १६०५, पृष्ठ १४५।

२ द्रष्टव्य बुलेटिन आफ स्कूल आफ ओरियण्टल स्टडीज, भाग १२ (संख्या ३ और ४); १९५०–५१, लण्डन।

(२) अध्यर्ध शतक—यह डेढ़ सौ अनुष्टुपों में निबद्ध बुद्धस्तव मातृचेट की सर्वप्रधान रचना है जिसकी लोकप्रियता तथा व्यापकता का परिचय हमें इसके अनुवादों से ही लग सकता है। चीनी तथा तिब्बती भाषा में अनूदित होने के अतिरिक्त मध्य एशिया की 'तोखारी' भाषा में इसके अनुवाद का अवशेष इसकी महती ख्याति का पर्याप्त परिचायक है। १३ विभागों में विभक्त तथा १५३ अनुष्टप् पद्यों से युक्त यह स्तुतिकाव्य अवान्तरकालीन कवियों को प्रेरणा देनेवाला था। इसका अनुकरण स्वयं आचार्य दिङ्नाग ने किया। उन्होंने इसके प्रत्येक पद्य के साथ अपना एक पद्य जोड़कर तीन सौ पद्यों का 'मिश्र स्तोत्र' नामक स्तुतिकाव्य का निर्माण किया जिसका अनुवाद तिब्बती भाषा में आज उपलब्ध है। जैन सम्प्रदाय के अनेक महनीय आचार्यों ने इस काव्य के आधार पर नवीन स्तुतिकाव्यों का प्रणयन किया। सिद्धसेन की पाँच बत्तीसियों (=१६० पद्य), समन्तभद्र का 'स्वयंभूस्तोत्र' (१४३ पद्य) तथा हेमचन्द का 'वीतराग स्तोत्र' (१८७ पद्य) मातृचेट के आदर्श तथा आधार पर निःसन्देह निर्मित हुए हैं। मातृचेट तथा हेमचन्द्र के पद्यों में तो घनिष्ठ भावसाम्य है। सरल शब्दों में मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति दोनों स्तोत्रों में समभावेन आहत की गई है[1]।

इस स्तुतिकाव्य की भाषा नितान्त सरल, प्रसन्न, आडम्बरहीन और कृत्रिमता से कोसों दूर है। कवि ने इसमें तथागत के आध्यात्मिक जीवन की झाँकी आरम्भ से उसकी पूर्णता तक बड़े ही प्रभावोत्पादक शब्दों में दी है। इस काव्य के प्रत्येक पद्य में कवि के हृदय की सरलता, सचाई तथा भावग्राहिता का चित्र हमें मन्त्र-मुग्ध कर देता है। भावना वही है—तथागत धर्म के विपुल प्रसार की मंगल कामना। इसी औदार्य तथा सत्यता के कारण यह काव्य बौद्ध जगत् में अपनी विशिष्टता के लिए नितान्त विख्यात था। इत्सिंग ने इस काव्य की प्रशंसा में लिखा है "भिक्षुओं की परिषद् में मातृ-

---

१ 'अध्यर्धशतक' का मूल संस्कृत पाठ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च पत्रिका भाग २३ खण्ड ४ (१९३७) में प्रकाशित हुआ है। विशेष आलोचना के लिए द्रष्टव्य विन्टरनित्स का इतिहास ग्रन्थ, भाग २ पृष्ठ २७०–७२।

चेट की दोनों स्तुतियों का सुनना एक सुखद प्रसंग है। उनकी हृदय-हारिता स्वर्गीय पुष्प के समान है और उसमें प्रतिपादित उच्च सिद्धान्त गौरव में पर्वत के उच्च शिखरों की स्पर्धा करने वाले हैं। भारत में स्तुति के रचयिता कवि मातृचेट को साहित्य का पिता मानकर उसका अनुकरण करते हैं।" इत्सिंग का यह तथ्यकथन है, अर्थवाद नहीं। मातृचेट के स्तुतिपद्य में हृदय को स्पर्श करने की अलौकिक क्षमता है; तथागत के उच्च सिद्धान्तों को सुबोध शब्दों में प्रकट करने की विलक्षण सामर्थ्य है। बौद्ध आचार्यों तथा जैन सूरियों को स्तुतिकाव्य लिखने की प्रशस्त प्रेरणा के कारण हम मातृचेट को 'स्तुतिकाव्य का जनक' मान सकते हैं[1]।

मातृचेट तथागत की स्तुति में कह रहे हैं कि हे नाथ! आपकी करुणा परोपकार के सम्पादन में एकान्ततः संलग्न है, परन्तु अपने आश्रयरूपी बुद्ध-शरीर के प्रति अत्यन्त निष्ठुर है। अतः आपकी करुणा स्वतः करुणा होते हुए भी करुणाविहीन है। विरोधाभास का कितना सुन्दर दृष्टान्त इस पद्य में प्रदर्शित किया गया है—

परार्थैकान्तकल्याणी कामं स्वाश्रयनिष्ठुरा।
त्वय्येव केवलं नाथ! करुणाऽकरुणाऽभवत्॥

(अध्यर्धशतक, पद्य ६४)

बुद्ध की अपूर्वता दिखला कर कवि कह रहा है—

अव्यापारितसाधुस्त्वं त्वमकारणवत्सलः।
असंस्तुतसखश्च त्वं त्वमसम्बन्ध-बान्धवः॥

(पद्य ११)

अश्वघोष की विपुल प्रसिद्धि ने मातृचेट की कीर्ति को इतना ढक लिया कि मातृचेट का व्यक्तित्व ही अभावकोटि में गिना जाने लगा था तथा दोनों की एकता भी चीनी परम्परा में सिद्ध मानी जाती थी, परन्तु दोनों सम-

---

१ मातृचेट तथा हेमचन्द्र के भावसाम्य के लिए द्रष्टव्य विश्वभारती पत्रिका, खण्ड ५, सं० २००२; भाग १ पृ० ३३८–३४३।

कालीन होने पर भी भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे, इसमें अब सन्देह के लिए स्थान नहीं है।

२

आर्यशूर

बौद्ध जातकों को भी साहित्यिक शैली में लोकप्रिय बनानेवाले बौद्ध कवि आर्यशूर अश्वघोष के अनुकरण-कर्ता माने जा सकते हैं। इनके जीवन की घटनाओं के अपरिचय के कारण अश्वघोष की तथा इनकी अभिन्नता मानी गई है, परन्तु ये दोनों नितान्त भिन्न व्यक्ति हैं। अश्वघोष की काव्यशैली से प्रभावित होना ही दोनों की अभिन्नता का कारण माना जा सकता है। इनके मुख्य काव्य-ग्रंथ 'जातकमाला' (या बोधिसत्त्वावदान माला) की ख्याति भारत की अपेक्षा भारत से बाहरी बौद्ध जगत् में कम न थी। जातकमाला का चीनी अनुवाद (केवल १४ जातकों का) ६६० ई० और ११२७ ई० के बीच में हुआ था। ७वीं शती में इसके विपुल प्रचार का भी परिचय हमें इत्सिंग के यात्राविवरण से चलता है। अजन्ता की दीवारों पर जातकमाला के शान्तिवादी, मैत्रीबल, शिवि आदि जातकों के दृश्यों का अंकन तथा तत्तत् जातकों के परिचयात्मक श्लोकों का उट्टङ्कन निश्चय ही इनकी प्रसिद्धि तथा आविर्भाव का सूचक है (षष्ठशतक)। कहा जाता है कि आर्यशूर ने कर्म-फल के ऊपर एक सूत्र लिखा था जिसका चीनी अनुवाद ४३४ ई० में हुआ था। यदि दोनों आर्यशूर एक ही अभिन्न व्यक्ति हों, तो इनका समय पंचम शतक से पूर्व चतुर्थ शतक में अनुमान सिद्ध माना जा सकता है। अजन्ता की दीवारों में चित्रित होने से भी इनका समय पंचम शतक में निश्चयेन सिद्ध होता है।

ग्रन्थ

इनकी कीर्ति का स्तम्भ है जातकमाला[1] जिसमें ३४ जातकों का सुन्दर काव्य शैली तथा भव्य साहित्यिक भाषा में वर्णन है। इनके कुछ जातक तो

---

१ डाक्टर कर्न द्वारा मूल संस्कृत (हार्वर्ड प्राच्यग्रन्थमाला में) १८४२, डा० स्पेयर कृत अंग्रेजी अनुवाद (बौद्धधर्म ग्रन्थमाला, आक्सफोर्ड में,

पालिजातकों के आधार पर हैं, परन्तु अन्य जातक प्राचीन बौद्ध अनुश्रुति पर ही आश्रित हैं। भारत में इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि का अनुमान इसी घटना से लगाया जा सकता है कि हेमचन्द्र (१२ वीं शती) ने अपने 'अभिधान-चिन्तामणि' कोष में बुद्ध का अन्यतम नाम दिया है—'चतुस्त्रिंशज्जातकज्ञ' और इस शब्द की व्याख्या इसी ग्रन्थ के जातकों की ओर संकेत करती है—चतुस्त्रिंशतं जातकानि व्याघ्री-प्रभृतीनि जानातीति चतुस्त्रिंशज्जातकज्ञः। इसकी दो व्याख्याएँ संस्कृत में अनुपलब्ध होने पर भी तिब्बती भाषा में सुरक्षित हैं जिनमें पहिली है टीका जिसके लेखक कोई धर्मकीर्ति बतलाये गये हैं और दूसरी है पंचिका जिसके लेखक का नाम नहीं दिया गया है। दो टीकाओं की रचना तथा तिब्बती अनुवाद इस ग्रंथ की लोकप्रियता के निश्चय परिचायक हैं।

आर्यसूर की एक दूसरी काव्यरचना इधर प्रकाश में आई है। ग्रंथ का नाम है **पारमितासमास** जिसमें छहों पारमिताओं (दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा पारमिता) का वर्णन ६ सर्गों तथा ३६४ श्लोकों में जातकमाला की ही सरल तथा सुबोध शैली में किया गया है[1]। बौद्ध देशना के प्रचार की जिस भव्य भावना ने अश्वघोष की भारती को काव्यमय विग्रह पहनने का आग्रह किया उसी ने आर्यशूर की वाणी को काव्यमयी सज्जा से अलंकृत होने को बाध्य किया। दोनों का इस नव्य मार्ग में पधारने का उद्देश्य समान ही था—रूक्षमनसामपि प्रसादः=रूखे मन वाले पाठकों को प्रसन्न कर बौद्ध उपदेशों का विपुल प्रसार तथा प्रचार[2]। दोनों अपने उद्देश्य

१८९५) केवल २० जातकों का हिन्दी अनुवाद सूर्यनारायण चौधरी द्वारा, पूर्णिया १९५२।

१ रोम से प्रकाशित एनाली लेटरेनेन्सी (Annaali Lateranensi) नामक पत्रिका की १० वीं जिल्द में प्रकाशित, १९५०।

२ स्यादेव रूक्षमनसामपि च प्रसादो धर्म्याः कथाश्च रमणीयतर-त्वमीयुः ॥—जातकमाला, श्लोक २।

में पूर्णतया सफल हुए जिसके प्रमाणों का निर्देश करने की आवश्यकता नहीं। बौद्ध कथाओं का काव्यात्मक रोचक आख्यान शैली में अवतारण आर्यशूर का मुख्य कार्य है। पालिजातक बौद्ध कथाओं का विशाल भाण्डागार है। उन्हीं में से चुनी हुई उपदेशमयी कथाओं का यह संस्कृत रूप अनुवाद न होकर एक स्वतंत्र ग्रंथ है। पाली के जातक की शैली वर्णन-प्रधान है। घटनाओं का सीधे-सादे शब्दों में कह डालना ही उनका उद्देश्य है; परंतु गद्य-पद्यात्मक आख्यान शैली में निबद्ध जातकमाला काव्यगुणों से ओतप्रोत है। इसकी शैली प्रसादमयी है। कथा के मार्मिक स्थानों का उद्घाटन इसकी विशिष्टता है। मानव हृदय पर आघात करने वाले तथा आवर्जन करने वाले भावसन्तानों का भव्य विवरण देने में आर्यशूर किसी कवि से पीछे नहीं है। विश्वन्तर जातक में राजकुमार विश्वन्तर की पत्नी उसे जंगल में जाने के लिए उत्तेजित करते समय बन के सौन्दर्य तथा सरसता से अपरिचित नहीं है। वह जंगल में मयूरों के सुन्दर नृत्य, मधुपयोषिताओं के माधुर्यपूर्ण गीत, कुसुम वृक्षों के परिमल से लदी हुई वायु तथा नदियों की कोमल कलकल ध्वनि के प्रलोभन से अपने पतिदेव को लुभाती है (श्लोक ३३—३९)। काव्य में प्रचार की भावना विद्यमान अवश्य है, परन्तु सरस प्रकृति के साथ रागात्मिका वृत्ति के सद्भाव के कारण जातकमाला सचमुच एक श्लाघनीय काव्यकृति है। कवि ने अपने उद्देश्य के निमित्त बोलचाल की व्यावहारिक सरल संस्कृत का प्रयोग किया है और उसे अलंकार के आडम्बर से प्रयत्नपूर्वक बचाया है। पद्यभाग के समान गद्यभाग और भी सुश्लिष्ट, सुन्दर तथा सरस है। समास का प्रयोग इसे रूक्ष—क्लिष्ट नहीं बनाता, प्रत्युत गाढबन्धता के प्रदान करने में समर्थ होता है। गद्यपद्य-मिश्रित आख्यान-शैली में निबद्ध काव्य का यह उज्ज्वल उदाहरण है। वर्णन की मुख्यता होने पर भी आर्यशूर का यह काव्य अपनी सरल बोधगम्य शैली की सरसता तथा हृदयावर्जन के लिए प्रख्यात रहेगा।

नवीन भावों की झलक स्थान स्थान पर भरपूर मिलती है:—

छाया तरोः स्वादुफलप्रदस्य च्छेदार्थमागूर्ण-परश्वधानाम्।
धात्री न लज्जां यदुपैति भूमिर्व्यक्तं तदस्या हतचेतनत्वम्॥

शीतल छाया तथा स्वादिष्ट फल देने वाले वृक्ष को काटने के लिए जिन्होंने कुठार उठाया है ऐसे लोगों के प्रति पृथ्वी माता जो लज्जित नहीं होती सो इसका हेतु चेतनाहीनता ही है। अश्वघोष की तुलना में आर्यशूर प्रतिभा के कोमल विकास में किसी प्रकार न्यून नहीं ठहरते। शैली की स्निग्धता, पदावली की मसृणता, भाषा की प्रसन्नता में आर्यशूर अश्वघोष से निःसन्देह बढ़कर कवि माने जा सकते हैं।

४

भारवि

भारवि के जीवनवृत्त के विषय में उनका एकमात्र ग्रन्थ किरातार्जुनीय एकदम मौन है। दक्षिण के 'एहोड़' शिलालेख में इनका नामोल्लेख पाया जाता है। अनुमान यही होता है कि भारवि दक्षिण भारत के रहनेवाले थे। सौभाग्यवश दण्डी ने 'अवन्तिसुन्दरी कथा' के आरम्भ में अपने पूर्वजों का वृत्तान्त कुछ विस्तार के साथ दिया है। लिखा है कि दण्डी चतुर्थ पूर्वपुरुष, जिनका नाम दामोदर था, नासिक के समीपस्थ अपनी जन्म-भूमि को छोड़कर दक्षिण प्रान्त में चले आये। अवन्तीसुन्दरी-कथा के सम्पादक पंडित रामकृष्ण कवि ने इन्हीं दामोदर के साथ भारवि की एकता मानी है अर्थात् उनकी सम्मति में भारवि ही आचार्य दण्डी के चतुर्थ पूर्वपुरुष (प्रपितामह) थे परन्तु जिस पद्य[1] के आधार पर यह अभिन्नता मानी गई थी उसका पाठ अशुद्ध होने के कारण इस सिद्धान्त को अब बदलना पड़ा है। भारवि दण्डी के प्रपितामह नहीं थे, प्रत्युत प्रपितामह के मित्र थे क्यों भारवि की सहायता से ही दामोदर राजा विष्णुवर्धन की सभा में प्रविष्ट हुये। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि भारवि दक्षिण भारत के निवासी थे और चालुक्यवंशी नरेश विष्णुवर्धन (सप्तम सतक) के सभापण्डित थे।

---

१ यतः कौशिककुमारो (दामोदरः) महाशैवं महाप्रभावं गवां प्रभवं प्रदीप्तभासं भारविं रविमिवेन्दुरनुरुध्य दर्श इव पुण्यकर्मणि विष्णुवर्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्वबध्नात्।

भारवि परम शैव थे। यह बात किरातार्जुनीय के कथानक तथा अवन्ति-सुन्दरी कथा के उल्लेख से यह स्पष्ट प्रतीत होती है। राजाओं के सहवास से जान पड़ता है, ये राजनीति के बड़े भारी जानकार हो गये थे। राजशेखर ने लिखा है कि राजा लोगों को बड़े-बड़े शहरों में काव्य तथा शास्त्र की परीक्षा के लिए ब्रह्मसभाएँ करनी चाहिये। उज्जयिनी में इसी प्रकार की सभायें होती थीं जिसमें बड़े-बड़े कवियों की परीक्षा ली जाती थी। कालिदास तथा भर्तृमेण्ठ की भाँति भारवि की भी उज्जयिनी में परीक्षा ली गई थी[1]।

भारवि की भी 'आतपत्रभारवि' भी संज्ञा थी। रसिकों ने जिस सुन्दर अर्थ से मुग्ध होकर इन्हें यह नाम दिया था वह नीचे के पद्य में व्यक्त किया गया है—

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मा-
दुद्धूतः सरसिजसम्भवः परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्ता-
दाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम्॥ (५।३९)

स्थल कमलों के वन के वन खिले हैं, उनसे पीत पराग झर रहे हैं। हवा झोंके से बह रही है। वह पराग को उड़ा कर आकाश में फैला दे रही है। इस प्रकार कमल का पराग सोने के बने छाता की शोभा धारण कर रहा है। आकाश में फैला हुआ पराग सोने के बने पीले छाते की तरह जान पड़ता है। श्लोक का भाव बिल्कुल अनूठा है। सहृदयों को भारवि का कनकमय आतपत्र का सुन्दर प्रयोग इतना अच्छा लगा कि उन्होंने भारवि का नाम ही इसी के कारण 'आतपत्र भारवि' रख दिया।

स्थितिकाल

कालिदास के साथ भारवि का नाम दक्षिण के चालुक्यवंशी नरेश पुलकेशी द्वितीय के समय के ऐहोड़ के शिलालेख में मिलता है। यह शिलालेख

---

१ श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—
इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिश्चन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥

दक्षिण में बीजापुर जिले के 'ऐहोड़' नामक ग्राम में एक जैन मन्दिर में मिला है। इस शिलालेख का समय[1] ५५६ शकाब्द (अर्थात् ६३४ ईस्वी) है। शिलालेख की प्रशस्ति पुलकेशी के आश्रित रविकीर्ति नामक किसी जैन कवि की है। प्रशस्ति के अन्त में रविकीर्ति अपने को कविता निर्माण करने में कालिदास तथा भारवि के समान यशस्वी बतलाता[2] है। गंग नरेश दुर्विनीत के समय के शिलालेख से जान पड़ता है कि दुर्विनीत ने किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें सर्ग पर टीका लिखी थी[3]। टीका लिखना उचित ही था क्योंकि पूरे महाकाव्य में यही सर्ग सबसे अधिक क्लिष्ट है क्योंकि भारवि ने इस सर्ग में चित्रकाव्य लिखा है। इन उल्लेखों से यही पता चलता है कि ६३४ ई० के पहले भारवि हुये—उस समय तक इनका नाम दक्षिण में प्रसिद्ध हो चुका था।

अवन्तिसुन्दरी-कथा के आधार पर भारवि विष्णुवर्धन के सभापण्डित बतलाये गये हैं। विष्णुवर्धन पुलकेशी द्वितीय का अनुज था और वह ६१५ ईस्वी के आसपास महाराष्ट्र प्रान्त में अपने भाई की आज्ञा से राज्य करता था। उसके समकालिक होने से भारवि का समय सप्तम शताब्दी का आरंभ काल होना चाहिये अर्थात् मोटे तरह से यही कहना चाहिए कि भारवि ६०० ईस्वी के आसपास विद्यमान थे।

ग्रन्थ

भारवि की अमर कीर्ति जिस काव्य पर अवलम्बित है वह है सुप्रसिद्ध 'किरातार्जुनीय' नामक महाकाव्य जो महाभारत के एक सुप्रसिद्ध आख्यान के ऊपर आश्रित है।

---

१ पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्च शतासु च
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्।

२ येनायोजि नवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥

३ शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धवड्ढकथेन किरातार्जुनीयपञ्चादश-सर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन।

द्यूतक्रीड़ा में हारकर युधिष्ठिर द्वैत-वन में रहते थे। दुर्योधन की शासन प्रणाली देखने के लिये उन्होंने बनेचर को भेजा। वनेचर पूरी जानकारी प्राप्त कर लौटा और दुर्योधन के सुव्यवस्थित शासन की बातें बतलाईं। भीम और द्रौपदी ने युधिष्ठिर को युद्ध करने के लिये उत्तेजित किया परन्तु धर्मराज ने प्रतिज्ञा तोड़कर समर छेड़ने की बात कथमपि स्वीकार नहीं की। इसी बीच में भगवान् वेदव्यास जी भी वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने अर्जुन को पाशुपतास्त्र पाने के लिए इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने के हेतु भेजा। अर्जुन ने कठिन तपस्या की। व्रतभंग करने के लिये दिव्याङ्गनायें भी आईं, परन्तु व्रती अर्जुन ने अपने व्रत से तनिक भी नहीं डिगा। भगवान् इन्द्र स्वयं अर्जुन के आश्रम में आये और मनोरथ सिद्धि के लिये शिवजी की उपासना करने का उपदेश दे गये। अर्जुन ने और भी दत्तचित्त से शिव की आराधना की। मुनिगणों के कहने पर शिव ने अर्जुन के तपोवल की परीक्षा करने के लिये किरात का रूप धारण किया। एक मानवी शूकर अर्जुन की ओर भेजा गया। अर्जुन ने शूकर पर अपने बाण छोड़े, साथ ही साथ किरात ने भी अपने शरों को छोड़ा। अर्जुन का बाण सुअर का काम तमाम कर पृथ्वी में चला गया। बचे हुए बाण के लिए झगड़ा छिड़ गया। कभी धनञ्जय की विजय होती, तो कभी किरात का पक्ष प्रबल होता। अन्ततोगत्वा दोनों बाहु-युद्ध पर तुल गये। गाण्डीवी के बल से प्रसन्न होकर भगवान् शंकर ने स्वयं अपना दर्शन दिया और अपना अमोघ पाशुपत शस्त्र देकर अर्जुन की अभिलाषा पूरी की।

किरात में १८ सर्ग हैं जिनमें ऊपर वर्णित कथानक का वर्णन किया गया है, परन्तु बीच में कई सर्गों में भारवि ने महाकाव्य के कथनानुसार ऋतु पर्वत पर सूर्यास्त तथा जलक्रीड़ा का बहुत कुछ विस्तार किया है। पूरा चौथा सर्ग शरदऋतु, पंचम हिमालय पर्वत, षष्ठ युवतिप्रस्थान, अष्टम सुराङ्गना-विहार तथा नवम सुरसुन्दरी-संभोग वर्णन में लगाये गये हैं। किरात में प्रधान रस वीर है। शृंगार रस भी गौणरूप से वर्णित किया है। वह मुख्य रस का अंगभूत ही है। किरात का आरंभ 'श्री' शब्द से (श्रियः कुरूणा-मधिपस्य पालिनीम्) होता है। तथा प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'लक्ष्मी'

शब्द आया है। कहना व्यर्थ है कि भारवि ने 'मंगलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते' के अनुसार अन्त में मंगलार्थक लक्ष्मी शब्द का प्रयोग किया है।

समीक्षा

भारवि का काव्य अपने 'अर्थ गौरव' के लिये विवेचकों में प्रसिद्ध है। "भारवेरर्थगौरवम्"। अल्प शब्दों में विपुल अर्थ का सन्निवेश कर देना अर्थ गौरव की पहिचान है। भारवि ने बड़े से बड़े अर्थ को थोड़े से शब्दों के द्वारा प्रकट कर वास्तव में अपनी अनुपम काव्यचातुरी दिखलाई है। भारवि ने भीम के भाषण की प्रशंसा युधिष्ठिर के द्वारा जिन शब्दों में कराई है, वे ही शब्द इनकी कविता के भी यथार्थ निदर्शन हैं—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥ २।२७

भारवि की दृष्टि में सत्काव्य के लिए इन बातों की आवश्यकता होती है—पदों की स्फुटता, अर्थ—गौरव का स्वीकार, शब्दों की पृथगर्थता (भिन्न भिन्न अर्थों को बतलाना) तथा सामर्थ्य-सम्पत्ति (पदों के द्वारा अभीष्ट अर्थ की द्योतना)। ये शोभन गुण उनके काव्यों में विशेष रूप से पाये जाते हैं। भारवि ने कविता के नैतिक तत्त्वों की ओर अपना ध्यान खूब ही दिया है। वे कविता में नैतिक सिद्धान्त का प्रकाशन आवश्यक मानते हैं। इस विषय में उनका व्यावहारिक तथा शास्त्रीय अनुभव इतना प्रौढ़ तथा परिपक्व है कि उनके वाक्य उपदेशप्रद होने से पण्डितजनों की जिह्वा पर आज भी नाचा करते हैं। वे जानते हैं कि हितकारक वचन को मनोहर होना नितान्त दुर्लभ है (हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः); सब किसी को मनोहर लगने वाली वाणी दुर्लभ होती है (सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः), गुण से किसी का आदर बढ़ता है, दैहिक विस्तार से नहीं (गुरुतां नयन्ति हि गुणा न संहतिः) परिचय प्रियता का कारण न बनकर गुण ही होता है (गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः); सज्जन के साथ विरोध भी विशेष लाभप्रद होता है (वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः); सेवक का काम मालिक को ठगना नहीं होता (न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः)। इन दृष्टान्तों के प्रदर्शन का यह

अर्थ नहीं है कि भारवि में लोकव्यवहार की ही प्रचुरता है तथा हृदयावर्जन के सामर्थ्य का अभाव है। भारवि की कविता में कोमल भावों को प्रदर्शन करने की भी पूरी क्षमता है। किरातार्जुनीय काव्य का मूल महाभारत के वनपर्व (अध्याय २७–४१) तथा शिव पुराण (ज्ञान संहिता अ० ६३–६७) की एक प्रख्यात घटना है पाशुपत अस्त्र की अर्जुन के द्वारा प्राप्ति, परन्तु इतनी थोड़ी सी अरुचिर घटना को नवीन कोमल उपादानों से पुष्ट कर रुचिर तथा सरस बनाना भारवि की कला का वैशिष्ट्य है। भारवि की यह नई सामग्री (६ सर्ग–१० सर्ग) काव्य के विकाश में बाधक न होकर सर्वथा साधक है। इन्द्रकील पर्वत पर अर्जुन की घोर तपस्या पर्वतवासी गुह्यकों को इतना भयभीत बना देती है कि वे इन्द्र के पास उपचार के लिए पहुचते हैं जो गन्धर्वों तथा अप्सराओं को अर्जुन की तपस्या के भंग करने के लिए भेजते हैं। ये देवयोनि के गण अपने कार्य की सिद्धि के लिए प्रस्थान करते हैं, परन्तु ये रास्ते में प्रकृति की सुषमा से मुग्ध होकर जंगलों में पुष्पचयन में आसक्त हो जाते हैं तथा जलक्रीड़ा में कालयापन करते हैं (अष्टम सर्ग) सूर्य के अस्त होने पर रात आती है तथा चन्द्रिका की छटा में ये लोग रतिलीला में लग जाते हैं (६ सर्ग) तथा प्रभात होने पर अपने कार्य की सिद्धि की ओर अग्रसर होते हैं तथा अर्जुन को डिगाने के लिए प्रयत्न करते हैं (१० सर्ग)। देखने में यह सामग्री पाण्डित्य का प्रदर्शन भले ही करे, परन्तु वस्तुतः यह नायक के चरित्र के उत्कर्ष को द्योतित करती है। इतनी प्रभावशाली दैवी विघ्नों का विजेता पुरुष सत्य ही महनीय वीर तथा अभिनन्दनीय शूर सिद्ध होता है। फलतः यह नवीन सामग्री अनुपयोगी न होकर सर्वथा उपादेय है।

भारवि ने अपने काव्य को अलंकार से विभूषित करने में खूब प्रयत्न किया है। ऋतु जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय का वर्णन बड़ी सुन्दर भाषा में किया है। चतुर्थ सर्ग में शरद ऋतु का वर्णन इतना नैसर्गिक और हृदयग्राही हुआ है इस जोड़ का दूसरा वर्णन ढूँढ़ निकालना कठिन है। अन्य प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन खूब अनूठा हुआ है। उपमा, श्लेष आदि अलंकारों का प्रयोग भी उचित स्थान पर किया गया है। भारवि ने चित्रकाव्य लिखने में अपनी चातुरी दिखलाने के लिये एक समग्र सर्ग—पंचदश—ही लिख डाला

है। इस सर्ग में सर्वतोभद्र, यमक, विलोम तथा अन्यान्य चित्र काव्य की शैली के नमूने पाये जाते हैं। भारवि ने एक अक्षर वाला भी एक श्लोक[१] लिखा है जिसमें 'न' सिवाय अन्य वर्ण है ही नहीं। अतः कहीं-कहीं इनका काव्य कठिन-सा हो गया है। इसीलिये मल्लिनाथ ने इनके काव्य को 'नारिकेलपाक' नारिकेल फल के समान बतलाया है (नारिकेलफलसन्निभं वचो भारवेः)। इतना होने पर भी इनकी कविता में एक विचित्र चमत्कार है—मनोरम गाम्भीर्य है, जो पाठकों के हृदय को अपनी ओर खींच लेता है।

राजनीति का भी विशिष्ट वर्णन किरातार्जुनीय में उपलब्ध होता है। द्वितीय सर्ग में भीमसेन और युधिष्ठिर का सम्वाद राजनीति के गूढ़ तत्वों से भरा हुआ है। अन्य सर्गों में राजनीति के ऊँचे सिद्धान्त उचित स्थान पर रखे गये हैं। भारवि में वक्तृत्व शक्ति बड़े ऊँचे दर्जे की है। भारवि का विषय-प्रतिपादन वक्ता के दृष्टिकोण को हमारे सामने निर्मल दर्पण के समान रखने में सचमुच समर्थ है। भीम का ओजस्वी भाषण और युधिष्ठिर का सौम्य भाषण सुनकर पाठकों का हृदय वक्ता की ओर बरबस आकृष्ट हो जाता है। भारवि को यह गुण निश्चय ही राजदरबार के सम्पर्क से प्राप्त हुआ होगा। इस काव्य में इसीलिए व्यावहारिक ज्ञान की प्रौढ़ता चमत्कारिणी है।

भारवि ने बहुत से छन्दों में कविता की है परन्तु सबसे अधिक सुन्दरता से वंशस्थ का प्रयोग किया है। क्षेमेन्द्र ने वंशस्थ वृत्त को राजनीतिक विषयों के वर्णन के लिये सबसे अधिक उपयुक्त माना है—

षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते।

अतएव कोई आश्चर्य की बात नहीं कि राजनीति के विशेषज्ञ भारवि का वंशस्थ सबसे अच्छा हुआ है। लेखक को तो यही प्रतीत होता है कि भारवि के द्वारा वंशस्थ के सुचारु प्रयोग की सुषमा के कारण ही संभवतः क्षेमेन्द्र ने वंशस्थ को राजनीति वर्णन के लिये उपयुक्त छन्द माना है। क्षेमेन्द्र ने भारवि प्रशंसा में यह श्लोक लिखा है—

---

१ ननोनन्नुनो नुन्नोनो ना नानाननानन्नु।
नुन्नोऽनुन्नोननुन्नेनो नाने नानुन्ननुन्ननुत्॥ (१५।१४)

वृतच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता। (सुवृत्ततिलक।)

कवि की विशिष्टता

भारवि का संसार का अनुभव उच्चकोटि का है। संसार के सुख दुःख की पहिचान इन्हें खूब है। वे बड़े मानी प्रतीत होते हैं। उनकी दृष्टि में मान का—स्वात्माभिमान का—बड़ा आदर है। द्रौपदी तथा भीम ने अपने सम्मान की रक्षा के लिए युधिष्ठिर को जिस प्रकार उत्साहित किया है वह मनन करने का विषय है। कवि के स्वभाव में जितना मान का गौरव है, उससे कहीं अधिक विनय का महत्व है। किरात में जितने संभाषण मिलते हैं उनमें कहीं भी शिष्टाचार तथा विनय का उल्लंघन नहीं है, उनके पात्रों में अपने विरोधियो की बातें शान्तचित्त से सुनने की क्षमता है। वे अपने पक्ष का मण्डन बड़े तर्क से करते हैं तथा अपने विपक्षियों के कथन का भी खूब खंडन करते हैं, परन्तु उनमें उद्वेग नहीं दीखता। भारवि माँगने को बड़ा बुरा मानते थे। इसे वे पण्डितों की मर्यादा को भंग करने वाली बतलाते हैं—धिग् विभिन्नबुधसेतुमर्थिताम्। वे जानते हैं कि गुण प्रेम में रहते हैं वस्तु में नहीं—वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि। सज्जनता के विशिष्ट गुणों का वे मर्म जानते हैं कि सज्जनों की वाणी निन्दा करना जानती ही नहीं, केवल गुणों का ही प्रकाश करती है। 'अयातपूर्वा परिवादगोचरं सतां हि वाणी गुणमेव भाषते'। राजनीति का उनका ज्ञान सिद्धान्त-ग्रंथों के अध्ययन का फल नहीं है, प्रत्युत व्यावहारिक कार्यों के अवलोकन का परिणाम है। राजनीति के तत्त्वों का तथा राजदूतों का इतना सजीव वर्णन किरात में मिलता है कि वह कवि-कल्पना नहीं हो सकता—वह तो आँखों से देखा हुआ स्वानुभूत यथार्थ वर्णन ही हो सकता है।

भारवि की कविता में गीतिमय माधुर्य की अपेक्षा वर्णनात्मक तथा तर्कात्मक ओज का ही प्राधान्य है। भारवि सुश्लिष्ट पदविन्यास के आचार्य है। कालिदास के समान प्रसादमयी हृदयावर्जक पदावली का अस्तित्व इनके महाकाव्य में तो सचमुच नहीं है, परन्तु अर्थगौरवमय पदों का विलास यहाँ

पूर्ण मात्रा में है। राजनीति के सिद्धान्तों का तार्किक रीति से प्रतिपादन तथा प्रकृति के दृश्यों का मनोहर वर्णन भारवि की भव्य कला के प्रौढ़ अङ्ग हैं। संसार की विपुल अनुभूति की पृष्ठभूमि पर किरातार्जुनीय में व्यावहारिक तत्त्वज्ञान का वर्णन कवि के अनुभव की विशालता, राजनीति की पटुता तथा कथनोपकथन की चातुरी प्रदर्शित करने का पर्याप्त साधन है। भारवि से हम बहुत ही बड़ी बातों की आशा नहीं कर सकते परन्तु जितना उन्होंने लिखा है प्रौढ़ता, अनुभूति तथा भावुकता के साथ लिखा है। और यही भारवि की निजी विशेषता है। संस्कृत काव्य की एक नवीन शैली-विचित्र मार्ग—की सृष्टि करने के लिए भी भारवि प्रबन्ध-काव्यों के विकाश में एक गौरवपूर्ण स्थान धारण करते हैं।

भाषा

भारवि की भाषा उदात्त तथा हृदय को शीघ्र प्रभावित करने वाली है। वह कोमल भावों को प्रकट करने में उतनी ही समर्थ है जितनी उग्र भावों के प्रकाशन में। भाषा तथा शैली के विषय में भारवि ने अपने आदर्श का संकेत इस प्रख्यात पद्य में किया है—

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः
प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां
प्रसन्न गम्भीरपदा सरस्वती॥

(किरात० १४।३)

पुण्यशाली व्यक्तियों की सरस्वती प्रसन्न तथा गंभीर पदों से युक्त होती है। उसके सुन्दर अक्षर पृथक् रूप रखते हैं तथा कानों को प्रसन्न करते हैं। वह शत्रुओं के भी हृदयों का प्रसन्न करती है। 'प्रसन्न' का लक्ष्य शाब्दी सुष्ठुता से है तथा 'गम्भीर' का तात्पर्य अर्थ की गम्भीरता से है। भारवि की शैली का यही मर्म है। वह प्रसन्न होते हुए गम्भीर है। मित्र आलोचकों को प्रसन्न करने के साथ ही साथ दुष्ट आलोचकों को भी आवर्जित करती है।

फलतः "प्रसन्न गम्भीरपदा सरस्वती" भारवि की भाषा तथा शैली का द्योतक महनीय मन्त्र है।

इनकी कविता के स्वरूप-ज्ञान के लिए दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

मृणालिनीनामनुरंजितं त्विषा
विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया।
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं
द्रुतं धनुष्खण्डमिवाहि-विद्विषः। (४।२७)

धान के खेतों में जल कितना सुन्दर मालूम पड़ता है। कमलिनी खिली हैं। कमललता के हरे रंग के कारण जल भी हरा हो गया है। कमल के पत्तों की शोभा के साथ जल की शोभा मिल रही है। खेत में धानों की पकी-पकी पीली शिखा (बालियाँ) शिरे पर हिल रही हैं जिनसे जल भी पीला हो गया है। खेत का यह रंजित जल ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों वृत्र के शत्रु इन्द्र महाराज का रंगविरंगा धनुष, गलकर पानी के रूप में बह रहा है। यह अनोखी कल्पना है।

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः
शिखाः पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रती।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला
धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति॥ (४।३६)

शरद का सुहावना समय है। सुग्गों की पाँत की पाँत उड़ रही है। शिरीष के फूल की तरह कोमल हरे शुकों की पाँत मूँगे के टुकड़े के समान लाल लाल चोंचों में धान की पीली पीली बालियों को लिये हुये आकाश में उड़ी जा रही है। मालूम पड़ता है कि इन्द्रधनुष आकाश में उगा हो। सुग्गों का शरीर है हरा; चोंच है लाल, उन चोंचों में ली हुई धान की बालियाँ हैं पीली। इन रंगों की मिलावट क्या इन्द्रधनुष से कम सुहावनी जँचती है? भारवि ने शरद के इस शोभन दृश्य को कितने सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है। कल्पना एकदम नई है—वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है।

५

भट्टि

केवल भट्टि-काव्य के अन्तिम पद्य से कवि के जीवन का स्वल्प संकेत चलता है। सरलता से व्याकरण सिखलाने के लिए निर्मित भट्टिकाव्य के लेखक महाकवि भट्टि के पूरे जीवनचरित का परिचय पाना नितान्त दुष्कर है।

> काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां
> श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।
> कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य
> क्षेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्।

इससे जान पड़ता है कि भट्टिस्वामी का **वलभी** के राजा **श्रीधरसेन** की सभा में सत्कार होता था, सम्भवतः ये उनके सभा-पण्डित थे। अतः श्रीधरसेन का काल ही भट्टिकाव्य का निर्माणकाल है। शिलालेखों में वलभी में राज्य करनेवाले श्रीधरसेन नामधारी चार राजाओं का उल्लेख पाया जाता है। प्रथम श्रीधरसेन का काल ५०० ई० के आस-पास है और अन्तिम राजा का ६५० के लगभग। इन चारों राजाओं में से भट्टिस्वामी किस श्रीधरसेन के शासन काल में थे, यह कहना अत्यन्त दुष्कर है; परन्तु श्रीधरसेन द्वितीय के एक शिलालेख में किसी भट्टिनामक विद्वान् को कुछ भूमि देने का उल्लेख है। इस शिलालेख के भट्टि तथा महाकवि भट्टि को एक मानने में कोई भी साधक प्रमाण उपलब्ध नहीं है, परन्तु यदि दोनों नामसाम्य से एक मान लिये जायँ तो भट्टिस्वामी का समय प्रायः निश्चित-सा हो जायगा। इस शिलालेख का समय ६१० ई० के आस-पास है। अतएव भट्टिस्वामी का समय भी ईसा की छठीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा सातवीं का आरम्भ सिद्ध होता है। दोनों की भिन्नता मानने पर भी हम यह निस्सन्देह कह सकते हैं कि सातवीं सदी के मध्यकाल से पहिले भट्टिकाव्य की रचना की गई थी।

ग्रंथ

भट्टिस्वामी का ग्रंथ उन्हीं के नाम पर भट्टिकाव्य कहलाता है। इसे

रावण वध भी कहते हैं। यह महाकाव्य २० सर्गों में समाप्त हुआ है, इसमें ३६२४ पद्यों का मनोहर संनिवेश किया गया है। इस महाकाव्य में मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र की जीवन घटनायें सरल रीति से वर्णन की गई हैं। इस महाकाव्य का सुन्दर उद्देश्य यह है कि मनोरंजन के साथ साथ संस्कृत व्याकरण का पूर्ण ज्ञान पाठकों को प्राप्त हो जाय। संस्कृत व्याकरण के कठिन होने के कारण देववाणी के कुछ सच्चे भक्तों को इसे सरल बनाने की चिन्ता थी। उनकी यह हार्दिक इच्छा थी कि बालकों को शब्दों की व्युत्पत्ति तथा समुचित प्रयोग एक साथ मालूम हो जायँ। केवल भट्टिकाव्य ही इस प्रकार के काव्य का नमूना नहीं है बल्कि अन्य काव्य भी संस्कृत साहित्य में विद्यमान हैं। काश्मीरदेशीय भट्टभौम कृत "राघवार्जुनीय" काव्य भी इसी आशा से लिखा गया है। पातंजल महाभाष्य में उद्धृत कतिपय पद्यांशों से कई लोगों ने यह अनुमान निकाला है कि महर्षि पतंजलि के समय में भी ऐसे वैयाकरण काव्यों का उद्भव हो चुका था। भट्टिस्वामी ने पूर्व-विद्वानों के द्वारा अभ्यस्त मार्ग का अनुसरण बड़ी उत्तम रीति से किया है। ग्रंथकार ने पुस्तक का उद्देश्य बड़ी योग्यता से पूर्ण किया है।

दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते॥

यह महाकाव्य व्याकरण जाननेवालों के लिये बड़ा उपकारी है। व्याकरण जाननेवालों के लिये यह ग्रन्थ दीपक की तरह अन्य शब्दों को भी प्रकाशित कर देगा। जिस प्रकार अन्धों के हाथ में रहने पर भी दर्पण प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कराता है, उसी प्रकार व्याकरण न जाननेवालों के लिए यह ग्रन्थ व्याकरण का परिचय प्रत्यक्ष रीति से नहीं करावेगा।

समीक्षा

यद्यपि व्याकरण-सरलता को लक्ष्य में रखकर इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है, तथापि पाठकों को भूलना न चाहिये कि यह काव्य ही नहीं महाकाव्य है, व्याकरण ग्रंथ नहीं है। अतएव महाकाव्य के आवश्यक गुणों का निवेश

कविवर ने बड़ी योग्यता के साथ किया है। भट्टिकाव्य के चार सर्गों की, दसवें से लेकर तेरहवें तक की, सृष्टि काव्य की विशेषताओं को प्रदर्शित करने के लिये की गई है। दसवाँ सर्ग शब्दालंकार तथा अर्थालंकार की सुंदर छटा से सुशोभित है। यमकालंकार के जितने भिन्न भिन्न उदाहरण इस सर्ग में उपलब्ध होते हैं उतने अन्य काव्यों में बहुत कम पाये जाते हैं। एकादश सर्ग की सृष्टि माधुर्यगुण की अभिव्यक्ति के लिये की गई है। उदात्त तथा अद्भुत भावों के प्रकटीकरण के लिये समग्र द्वादश सर्ग निर्मित हुआ है। त्रयोदश में भाषानिवेश खूब मनमोहक है। इन विशिष्ट सर्गों के अतिरिक्त भी अन्य सर्गों में प्रसाद तथा माधुर्य गुणों की कमी नहीं है।

भट्टि में वक्तृत्व शक्ति बड़े ऊँचे दर्जे की विद्यमान थी। इसके प्रमाण भट्टिकाव्य के कतिपय पात्रों के भाषण हैं। विभीषण के राजनीतिक भाषण से कविवर के राजनीतिक ज्ञान का परिचय हमें मिलता है। रावण की सभा में उपस्थित होने पर शूर्पणखा का भाषण भी बड़े महत्व का है। कविवर ने भाषणों का उन पात्रों के समुचित ही निविष्ट किया है। शूर्पणखा के भाषण (५म सर्ग) से उस कुलटा के कुटिल स्वभाव का परिचय हमें साफ तौर से मिलता है। प्राकृतिक दृश्यों के स्मरणीय वर्णन करने में कविवर भट्टि की शक्ति अच्छी दीख पड़ती है। द्वितीय सर्ग में शरद् ऋतु का वास्तव में विमल वर्णन है। द्वादश सर्ग में प्रातःकाल का कमनीय वर्णन किया गया है। यह प्रातर्वर्णन साहित्य भर में अपना स्पर्धी नहीं रखता। महाकवि माघ का प्रभातवर्णन संस्कृत साहित्य में खूब प्रसिद्ध है, परन्तु लेखक की धारणा है कि कविवर माघ की दृष्टि भट्टि के प्रभात वर्णन पर अवश्य पड़ी थी। कमसे-कम दोनों वर्णनों में बहुत से समानता के विषय हैं। दोनों कवियों ने शृंगाररसाविष्ट रति-अनुरक्त कामी तथा कामिनियों के विलास वर्णन में अधिक शक्ति खर्च की है। कहीं माघ के पद्यों पर भट्टि के पद्यों की छाया स्पष्ट दृग्गोचर हो रही है। सारांश यह है कि कविता के विचार से भट्टिकाव्य न्यून श्रेणी का नहीं ठहरता। कवि भट्टि अपने प्रशंसनीय उद्योग में पूरे सफल हुए हैं। इस काव्य में पाठकों को काव्य परिचय के

साथ साथ संस्कृत व्याकरण का भी यथेष्ट ज्ञान हो जाता है। अतएव भट्टि हम सबके आदर तथा श्रद्धा के पात्र हैं।

सूर्योदय का एक रमणीय वर्णन है :—

दुरुत्तरे पङ्क इवान्धकारे मग्नं जगत् सन्ततरश्मिरज्जुः।
प्रनष्टमूर्तिप्रविभागमुद्यन् प्रत्युज्जहारेव ततो विवस्वान् ॥

भावार्थ—यह समस्त संसार गहरे कीचड़ की तरह गाढ़ान्धकार में धँसा हुआ है, जिससे स्थावर तथा जंगम प्राणियों के शरीर बिल्कुल नहीं दिखाई पड़ते। उदयाचल पर उदय होने वाला सूर्य रस्सीरूपी किरणों को चारों ओर फैलाकर उस अन्धकार से संसार को मानों उठा रहा है। सहृदयमर्मस्पर्शिणी उत्प्रेक्षा माघ के प्रभात वर्णन की स्मृति दिलाती है! अलंकार-ग्रन्थों में बहुशः उद्धृत 'एकावली' का ललित दृष्टान्तरूप यह पद्य भी भट्टि ही की रचना है—

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तत् यदलीन-षट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥

शरद् की सुषमा का वर्णन है। तालाब का ऐसा कोई जल नहीं था जहाँ सुन्दर कमल न खिले हों। ऐसा कमल न था जिसमें भौंरें छिपे न हों। ऐसा भौंरा भी न था जो मीठी गुंजन नहीं करता था। ऐसी कोई गुंजन न थी जो मन को नहीं हर लेती थी। सब साधन एक से एक बढ़कर सुन्दर थे।

भट्टि को ही आदर्श मानकर श्री भट्ट-भीम ने 'रावणार्जुनीय' नामक काव्य का प्रणयन किया। कवि कहीं भूम या भौमक नाम से प्रसिद्ध है। वह वल्लभी का निवासी था, परन्तु यह नगर, ग्रंथ की पुष्पिका के अनुसार, —काश्मीर में वराहमूल (आजकल बारामूल नामक प्रसिद्ध नगर) के पास 'उड्ड' नामक गाँव है। कवि स्पष्टतः काश्मीरी है। क्षेमेन्द्र ने 'काव्यशास्त्र' के उदाहरण में भट्टि के साथ ही साथ भौमक के काव्य का निर्देश किया है[1]।

---

१ भट्टि भौमक काव्यादि काव्यशास्त्रं प्रचक्षते।

—सुवृत्ततिलक

स्पष्टतः इनका समय ७ शती से १० शती के बीच में कभी है। इस ग्रन्थ के २७ सर्गों से कार्तवीर्य के चरित का वर्णन है और प्रायः समग्र अष्टाध्यायी के सूत्रों का उदाहरण यहाँ होने से विशेष उपयोगी है। भट्टिकाव्य की अपेक्षा यह भौमक काव्य शैली की दृष्टि से सुबोध तथा सरस है[1]। विस्तार कुछ कम है। काव्यशास्त्रों की परम्परा में पिछले युग में ऐसे ही अनेक काव्यों का निर्माण होता रहा।

६

कुमारदास

कुमारदास संस्कृत के निःसन्देह एक प्रतिभाशाली कवि हैं, परन्तु दुर्भाग्य-वश इनसे महाकाव्य पूरे रूप में प्रकाशित होने का श्रेय आज भी प्राप्त नहीं है। सबसे पहिले लंका के विद्वान संस्कृतज्ञ प्रिन्सिपल धर्मराम ने संघली भाषा में उपलब्ध एक टीका ग्रन्थ (सन्न) के आधार पर इसका संस्करण निकाला था। तदनन्तर मूल हस्तलेखों के उपलब्ध हो जाने से यह ग्रन्थ भारतवर्ष में भी कई स्थानों से प्रकाशित हुआ है[2], परन्तु आज भी पूरा महाकाव्य प्रकाशित नहीं हुआ। इस दुर्दैव के होने पर भी कुमारदास संस्कृत विद्वानों के लिए अज्ञात न थे, सिंघल-निवासी होने पर भी इनकी कीर्ति भारत में पर्याप्तरूप से विस्तृत थी। इसका परिचय हमें सूक्तिसंग्रहों तथा अन्य ग्रंथों में इनके श्लोकों के उद्धरण से मिलता है। जल्हण की सुभाषितावली (रचना काल १२५० ईस्वी लगभग) में कुमारदास के बहुत से सुन्दर श्लोक उद्धृत हैं। रायमुकुट ने अपनी अमरटीका पदचंद्रिका (१५ शती) में इनके कई उद्धरण दिये हैं। उज्ज्वलदत्त ने 'उणादिसूत्रवृत्ति' में धूसर शब्द के उदा-

---

१ सं० काव्यमाला, संख्या ६८; १९०० ई०।

२ पं० हरिदास शास्त्री के द्वारा प्रकाशित मूलमात्र १५ सर्ग के २२ श्लोक तक (कलकत्ता); श्री नन्दरगीकर द्वारा सम्पादित आदिम १० सर्ग (विस्तृत अंग्रेजी नोट तथा भूमिका के साथ) बंबई, १९०७। मद्रास में सम्पूर्ण ग्रंथ के हस्तलेख प्राप्त हैं।

हरण के लिए कुमारदास का एक पद्यांश उद्धृत किया है—महिषधूसरितः सरितस्तटः (जानकीहरण ११।७१)

राजशेखर (९२० ईस्वी) ने इनकी प्रशंसा में यह कमनीय पद्य लिखा है—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिति सति ।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमौ ॥

श्लोक का श्लिष्टार्थ है कि रघु के रहते यदि किसी की क्षमता जानकी के हरण करने की है तो रावण की ही। इसी प्रकार कालिदास के रघुवंश के होने पर उसी विषय पर कविता लिखने का सामर्थ्य किसी में है तो जानकी-हरण के कर्ता कुमारदास में। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कुमारदास का नाम ही नहीं, प्रत्युत उनका महाकाव्य भी भारत में प्रसिद्ध था।

कवि के वैयक्तिक जीवन तथा आविर्भावकाल का यथार्थ निर्णय नहीं हो पाया है। जानकीहरण के अन्तिम पद्यों की समीक्षा से स्पष्ट है कि कुमारदास राजा कुमारमणि के पुत्र थे। जिस दिन कुमारमणि युद्ध में मारे गये, उसी दिन कुमारदास का जन्म हुआ और इसलिए इनके पालन पोषण का कार्य इनके दो मातुलों—श्रीमेघ और अग्रबोधि—ने किया और इसलिए कृतज्ञ कवि ने अपने ग्रंथ के अन्तिम पद्य में इनका स्मरण बड़े प्रेम से किया है—

कृतज्ञ इति मातुलद्वितय-यत्न-सानाथ्यतो
महार्थमसुरद्विषो व्यरचयन् महार्थं कविः ।
कुमारपरिचारकः सकलहार्दसिद्धिः सुधीः
श्रुतो जगति जानकीहरणकाव्यमेतन् महत् ॥

ग्रंथ की पुष्पिका में कवि अपने को 'सिंहल-कवेरतिशय भूतस्य' लिखता है। यहाँ 'अतिशयभूतस्य' का ठीक अर्थ क्या है ? समधिक प्रसिद्धि प्राप्त करना ही सुलभ अर्थ प्रतीत होता है इस विलक्षण पद का। पूजावली (१३ शती में निर्मित प्रख्यात सिंघली ग्रंथ) में कुमारदास मुद्गलायन के पुत्र, षष्ठशतक में सिंघल पर शासन करनेवाले कुमारदास से अभिन्न तथा कालिदास की

चिता पर प्राण देने वाले बतलाये गये हैं। पेरुकुम्बासिरित (१६ शती का सिंघली ग्रंथ) में यह घटना पुनः निर्दिष्ट है[1] जिससे पता चलता है कि लंका में कालिदास की हत्या तथा उनकी चिता पर शोकविह्वल कुमारदास के प्राणत्याग की घटना परम्परा से नितान्त प्रख्यात हैं।

सिंहल के जातीय इतिहास-ग्रन्थ महावंश में सिंघल के कुमारधातुसेन नामक राजा का वर्णन है जो मोद्गलायन के पुत्र थे तथा जिन्होंने पिता की मृत्यु के बाद नव वर्षों तक उस द्वीप पर सुशासन किया। उनका समय ५१५ ई०–५२४ ई० तक निर्धारित किया जाता है। आलोचकों का मत है कि कवि कुमारदास तथा राजा कुमारधातुसेन दोनों अभिन्न व्यक्ति हैं। परन्तु यह कल्पना निराधार तथा अप्रामाणिक है। क्योंकि दोनों व्यक्तियों के पिता के नाम भिन्न भिन्न हैं। यदि दोनों एक ही व्यक्ति होते, तो कोई कारण नहीं जान पड़ता कि महावंश में कवि के काव्य का उल्लेख नहीं मिलता। किसी भी व्यक्ति के लिए ऐसा प्रौढ़ महाकाव्य लिखना एक गौरव की बात है। ऐसी दशा में इस महत्वपूर्ण घटना का अनुल्लेख ज्ञात जीवनी की भिन्नता के साथ इस बात का स्पष्ट संकेत है कि दोनों भिन्न व्यक्ति हैं। १४–१५ शती में निर्मित तथा दन्तकथाओं पर आधारित पूजावली का प्रमाण महावंश के सामने कोई विशेष महत्व नहीं रखता।

कहा जाता है कि जानकीहरण की कालिदास ने खूब प्रशंसा की, जिसे सुनकर कुमारदास ने कालिदास को सिंहल बुलाया। कालिदास राजा के आग्रह करने पर लंका गये और वहाँ किसी सुन्दरी के यहाँ इनका आना-जाना प्रारम्भ हुआ। दुर्भाग्यवश कालिदास पकड़े गये और मार डाले गये। मित्र की मृत्यु के कारण प्रेम से विह्वल होकर कुमारदास ने कालिदास की चिता पर आत्मघात कर डाला। आज भी लंका के दक्षिण प्रांत में कालिदास

---

१ मूल सिंघली पद्य यह है—

एजर किवियर पिनिनू जानकि हरणए महकब् बेन्दि।
कुमारदसू रद कलिदसू नम किविन्दु हट सिय दिविपीदि॥

का समाधिस्थान है। समाधिस्थान के पड़ोस के भिक्षु कहा करते हैं कि कुमार दास ने अपने मित्र के प्रसन्नार्थ उनकी ही भाषा में एक पहेली पूछी जिसे कालिदास ने बूझ लिया और उसका उत्तर अपनी मातृ-भाषा में दिया। कुमारदास और कालिदास की समसामयिकता सिंहल की पुस्तकों पर ही निर्धारित है। राजशेखर के उपर्युक्त श्लोक से तो इतना ही ज्ञात होता है कि कुमारदास कालिदास के अनन्तर हुये—परन्तु कितने समय बाद? यह बिल्कुल ही अज्ञात है। काव्यमीमांसा की एक दन्तकथा के अनुसार कुमार-दास जन्मान्ध थे।

स्थितिकाल

कुमारदास छठी सदी के सिद्ध नहीं होते, वरन् नन्दरगीकर महाशय की सम्मति में आठवीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश और नवीं के पूर्वार्द्ध के बीच किसी समय में इनका जन्म हुआ था। इस समयनिर्धारण का मुख्य कारण यह है कि जानकीहरण में कुछ नये शब्द उन्हीं विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त पाये जाते हैं जिन्हें काशिका (६३० ई०–६५० ई०) ने उल्लिखित किया है। सत्यापयति, उष्त्रिम, आसुतीवल आदि ऐसे ही शब्द हैं। अतः कुमारदास सातवीं सदी के प्रायः सौ वर्ष बाद हुये क्योंकि सुदूर काश्मीर में लिखे गये नये व्याख्यान को भारत से दूर दक्षिण सिंघल में प्रसिद्ध होने में एक शताब्दी से कम समय न लगा होगा। कुमारदास पर कालिदास की वैदर्भी शैली की छाया है, परन्तु यमक का भी बहुत प्रयोग है।

ग्रन्थ

कुमारदास ने कालिदास के महाकाव्यों के नमूने पर अपना प्रसिद्ध काव्य लिखा है। श्लेषों का प्रयोग जानकीहरण में पाया जाता है परन्तु कालिदास की कविता में नहीं जिससे कुमारदास कालिदास के पीछे के मालूम पड़ते हैं। वर्णन में कालिदास की स्वाभाविकता की जगह कृत्रिमता अवश्य झलकती है। उपमा, अर्थान्तरन्यास, रूपक आदि अर्थालंकारों का समुचित निवेश देखने में आता है। अनुप्रास कवि का प्यारा अलंकार मालूम पड़ता है।

महाकाव्यों की रीति से युद्ध, महल, ऋतु वगैरह का वर्णन स्थान-स्थान पर बड़े विस्तार से किया गया है। वास्तव में जानकीहरण की कविता कालिदास के प्रसादगुणविशिष्ट कविता के समान है। पर यमक के प्रति कवि का आग्रह है।

जानकीहरण कुमारदास की एकमात्र रचना है। इस महाकाव्य में २० सर्ग हैं। यह रामायणी कथा को लेकर लिखा गया है। पहले सर्ग में अयोध्या, राजा दशरथ तथा उनकी महारानियों का वर्णन है। दूसरे सर्ग में बृहस्पति ब्रह्मा से सहायता माँगते समय रावण के चरित्र का वर्णन करते हैं। तीसरे सर्ग में राजा दशरथ की बलकेलि तथा सन्ध्या का काव्यमय रमणीय वर्णन है। चतुर्थ तथा पंचम सर्गों में दशरथ के महल में चार पुत्र पैदा होते हैं और रामजन्म से लेकर ताड़का तथा सुबाहु वध तक की कथायें हैं। षष्ठ सर्ग में राम-लक्ष्मण को साथ लिए विश्वामित्र जी जनकपुर पधारते हैं और जनक से उनकी भेंट होती है। सप्तम में राम और सीता का प्रेम तथा विवाह है। अष्टम में उनके विवाहजन्य आनन्द की बातें हैं। नवम में सब भाई अयोध्या लौटते हैं। दशम सर्ग में दशरथ राजनीति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय एक लम्बी वक्तृता देते हैं। रामचन्द्र का यौवराज्याभिषेक सर्वसम्मति से किया जाता है। बहुत सी घटनाएँ घटती हैं। सर्ग की समाप्ति के पहले ही जानकी का हरण हो जाता है। एकादश सर्ग में राम तथा हनुमान की मित्रता का वर्णन है। बालिवध के अनन्तर वर्षाऋतु का अत्यन्त मनोहर वर्णन मिलता है। द्वादश सर्ग में शरद्काल में सुग्रीव के अन्वेषण कार्य में लगने पर लक्ष्मण जी उनको झिड़कियाँ सुनाते हैं। सुग्रीव रामचन्द्र को प्रसन्न करने के लिये उनके पास आता है तथा पर्वत का वर्णन करता है। त्रयोदश में वानरी सेना एकत्र की जाती है। चतुर्दश में वानर लोग समुद्र के ऊपर सेतु बनाते हैं। कवि यहाँ पर सेना के पार जाने का चमत्कारी वर्णन करता है। पंद्रहवें सर्ग में अंगद जी रावण की सभा में राम के दूत बनकर जाते हैं। सोलहवें में राक्षसों की कमनीय केलियों का वर्णन है। सत्रहवें से लेकर बीसवें सर्ग तक संग्राम का वर्णन है। अन्त में रामचन्द्र रावण पर विजय प्राप्त करते हैं। राम विजय के साथ यह महाकाव्य समाप्त होता है।

जानकी हरण—नाम से वर्ण्य विषय केवल जानकी का हरण ही प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः इसमें पूरी रामकथा आ गई है। अन्तिम बीसवें सर्ग का विषय रामाभिषेक है। फलतः राम के जन्म से लेकर राम के अभिषेक तक की पूरी घटनायें यहाँ संकलित हैं। कवि को विधाता ने काव्य लिखने की प्रतिभा विशेष रूप से प्रदान की थी। प्रकृति को कवि ने पैनी दृष्टि से निरीक्षण किया था तथा आश्रम आदि के वर्णन में वह पूर्णतया सफल है (सर्ग ५)। बाल प्रकृति का भी उसका वर्णन बड़ा ही मनोहर तथा मनोरञ्जक है। सुन्दरी का सौन्दर्य भी उसकी उपेक्षा का विषय नहीं है। इस प्रकार हृदयावर्जक काव्य के लेखक में हम कुमारदास को परम प्रवीण पाते हैं। वह कालिदास का मित्र भले न रहा हो, परन्तु उनकी कविता का पूर्ण प्रशंसक तथा सफल अनुकर्ता तो अवश्य था, इस विषय में कोई विप्रपत्ति नहीं हो सकती। कालिदास के वर्णनों की स्पष्ट छाया जानकीहरण के वर्णनों पर है। जानकीहरण का द्वितीय सर्ग कुमारसम्भव के द्वितीय सर्ग से विषय तथा शैली के विषय में पूर्ण समता रखता है।

पेड़ों के ऊपर से गिरनेवाले पक्षिशावकों के लिए पिंजड़ों में मुलायम इषीक के सिरों के बनाये गद्दे बिछाये गये हैं:—

महीरुह-भ्रष्ट-विहङ्ग-पोतिका-
सुखोपवेशाय तपस्विसूनुभिः।
इषीक-तूलेन विधाय मार्दवं
क्वचित् समासज्जितनीडपञ्जरम् ॥ (५।८)

राम के सलोने बालसुभाव की सूचना देता हुआ कवि कह रहा है कि जब महल की स्त्रियाँ पूछती थीं कि राम कहाँ चला गया, तब वह बालक अपने हाथों की अंजुली से अपने मुख को ढक लेता था तथा छिपने का स्वांग करता था—

न स राम इह क यात इत्यनुयुक्तो वनिताभिरग्रतः ।
निजहस्तपुटावृताननो विदधेऽलीक-निलीनमर्भकः ॥
—जानकीहरण ४।८

दशरथ की रानी की सुषमा के विषय में कवि का कहना है कि विद्वानों को भी उसकी उस रचना के विषय में तर्क वितर्क होता था । विधाता ने कैसे बनाया उन्हें ? देखने पर तो वह काम के बाणों का शिकार बनता और आँख मूँद लेने पर बना ही नहीं सकता । तब बनाया कैसे ?

दृष्टौ हतं मन्मथ-बाणपातैः शक्यं विधातुं न निमील्य चक्षुः ।
ऊरू विधात्रा नु कृतौ कथं तावित्यास तस्यां सुमतेर्वितर्कः ॥
—जा० ह० १।२६

७

माघ

शिशुपालवध के कर्ता का नाम 'माघ' है । डाक्टर याकोबी का मत है कि जिस प्रकार 'भारवि' ने अपनी प्रतिभा की प्रखरता सूचित करने के लिए 'भा-रवि' (सूर्य का तेज) नाम रखा, उसी भाँति शिशुपालवध के अज्ञात-नामा रचयिता ने अपनी कविता से भारवि को ध्वस्त करने के लिए 'माघ' का नाम धारण किया, क्योंकि माघमास में सूर्य की किरणें ठंडी पड़ जाती हैं । परन्तु यह कल्पना बिल्कुल निराधार जान पड़ती है । शिशुपालवध के कर्ता का नाम ही 'माघ' है, उपाधि नहीं । माघ की जीवन घटनाओं का पता 'भोजप्रबन्ध' तथा प्रबन्ध-चिन्तामणि से लगता है । दोनों पुस्तकों में प्रायः एक-सी कहानी दी गयी है । माघ ने ग्रंथ के अन्त में अपना थोड़ा परिचय भी दिया है । इन सबको एकत्रित करने पर माघ के जीवन की रूपरेखा को हम जान सकते हैं ।

जीवनी

माघ के दादा सुप्रभदेव वर्मलात नामक राजा के, जो गुजरात के किसी

प्रदेश का शासक था, प्रधान मंत्री थे। अतः माघ कवि का जन्म एक प्रतिष्ठित धनाढ्य ब्राह्मणकुल में हुआ था। इनके पिता 'दत्तक' बड़े विद्वान् तथा दानी थे। गरीबों की सहायता में इन्होंने अपने धन का अधिकांश भाग लगा दिया। माघ का जन्म भीन-माल में हुआ था। यह गुजरात का एक प्रधान नगर था। बहुत दिनों तक यह राजधानी तथा विद्या का मुख्य केन्द्र था। प्रसिद्ध ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त ने ६२५ ई० के आस पास अपने 'ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त' को यहीं बनाया। इन्होंने अपने को 'भीनमल्लाचार्य' लिखा है। ह्वेनसाँग ने भी इसकी समृद्धि का वर्णन किया है। पिता की दानशीलता का प्रभाव पुत्र पर भी पड़ा। ये भी खूब दानी निकले। राजा भोज से इनकी बड़ी मित्रता थी। राजा भोज का इन्होंने अपने घर पर बड़े आवभगत से सत्कार किया। धीरे धीरे अधिक दान देने से निर्धन हो गये। यह धारा का प्रसिद्ध राजा भोज नहीं हो सकता। इतिहास इसे असंभव सिद्ध कर रहा है। अतएव कुछ लोग 'भोज प्रबन्ध' की कथा पर विश्वास नहीं करते। परन्तु इतिहास में कम से कम दो भोज अवश्य थे। एक तो प्रसिद्ध धारानरेश भोज (१०१०-५० ई०) थे और दूसरे कोई सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए। सम्भवतः इसी दूसरे राजा के समय में माघ हुए थे। 'भोजप्रबन्ध' ने दोनों भोजों की कथाओं में गड़बड़ी मचा डाला हैं।

माघ अपने मित्र भोज के पास आश्रय के लिये आये। 'भोज प्रबन्ध' में लिखा है कि इनकी पत्नी राजा के पास 'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखंडम्' आदि पद्य को, जो माघकाव्य के प्रभात वर्णन (११ सर्ग) में मिलता है, ले गयी। इस पद्य को सुनकर राजा ने प्रभूत धन दिया। उसे लेकर माघ पत्नी ने रास्ते में दरिद्रों को बाँट दिया। माघ के पास पहुँचने पर उसकी पत्नी के पास एक कौड़ी भी न बच रही, परन्तु याचकों का ताँता बँधा ही रहा। कोई उपाय न देखकर दानी माघ ने अपने प्राण छोड़ दिये। प्रातः काल भोज ने माघ का यथोचित अग्निसंस्कार किया और बहुत दुःख मनाया। माघ की पत्नी भी सती हो गई।

माघ के जीवन की यही घटना ज्ञात है। यह सच्ची है या नहीं, परन्तु

इतना तो हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि माघ परम्परानुसार एक प्रतिष्ठित धनाढ्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। जीवन के सुख की समग्र सामग्री इनके पास थी। पिता ने इन्हें शिक्षा दी थी। पिता के समान ही ये दानी तथा उपकारी थे। सम्भवतः राजा भोज के यहाँ इनका बड़ा मान था।

समय

माघ के समय-निरूपण में बड़ा मतभेद है। कोई इनको सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मानता है तो कोई आठवीं शताब्दी के मध्य भाग में। परन्तु एक शिलालेख के आधार पर पहिला समय ज्यादा सम्भव जान पड़ता है। पूर्वोक्त भोज को प्रसिद्ध धारा-नरेश मानकर कोई कोई इन्हें ११ ग्यारहवीं शताब्दी में मानते हैं; परन्तु यह नितान्त अनुचित है। क्योंकि नवीं शताब्दी में होनेवाले आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने 'ध्वन्यालोक' में माघ काव्य के कई पद्यों को उद्धृत किया है। 'रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः' (५।५३) तथा 'त्रासाकुलः परिपतन्' (५।२६)—माघ के इन दोनों पद्यों को आनन्द ने उदाहरण के लिए 'आलोक' में दिया है। इतना ही नहीं, नवम शतक के 'कविराजमार्ग' नामक एक दूसरे अलंकार ग्रन्थ में भी माघ का नाम मिलता है। यह ग्रन्थ कन्नड भाषा में है। इसमें दण्डी के काव्यादर्श के आधार पर ही अलंकारनिरूपण किया गया है। सुप्रसिद्ध दक्षिणदेशीय राजा अमोघवर्ष (८१४ ई०) के समय में नृपतुंज नामक कवि ने इसकी रचना की थी। कन्नड भाषा की यह सबसे पुरानी पुस्तक होने से भी यह मूल्यवान् है।

अतएव यह निश्चित है कि माघ का समय नवीं सदी (८००) से उतर कर नहीं हो सकता है। इसके ऊर्ध्वंतर काल को निश्चित करने वाले एक प्रमाण की उपलब्धि अभी हुई है। डाक्टर किलहार्न को राजपूताने के वसन्त गढ़ नामक किसी स्थान से 'वर्मलात' राजा का एक शिलालेख मिला है। शिलालेख का समय संवत् ६८२ अर्थात् ६२५ ई० है। शिशुपालवध की हस्तलिखित प्रतियों में सुप्रभदेव के आश्रयदाता का नाम भिन्न भिन्न लिखा मिलता है। धर्मनाभ, वर्मनाभ, धर्मलात, वर्मलात आदि अनेक पाठ-भेद पाये

जाते हैं। भीनमाल के आसपास प्रदेश में इस शिलालेख की उपलब्धि से डाक्टर किलहार्न 'वर्मलात' को असली पाठ मानकर इस राजा तथा सुप्रभदेव के आश्रयदाता को एक ही मानते हैं। अतः सुप्रभदेव का समय ६२५ई० के आसपास है। अतएव इनके पौत्र माघ का समय भी लगभग ६५० ई० से लेकर ७०० ई० तक होगा अर्थात् माघ का भी आविर्भाव काल सातवीं सदी का उत्तरार्द्ध मानना उचित है।

इस समय-निरूपण के विरोधी प्रमाण का खण्डन आवश्यक है। माघ ने द्वितीय सर्ग के एक पद्य[1] में व्याकरण के प्रधान ग्रन्थों का उल्लेख किया है। पातञ्जल महाभाष्य तथा काशिका वृत्ति के साथ उन्होंने जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है। ह्वेन्साङ्ग के अनन्तर भारत में आने वाले इत्सिङ्ग नामक चीनी यात्री ने काशिकाकार वामन तथा जयादित्य का वर्णन किया है, वाक्यपदीय के कर्त्ता भर्तृहरि की मृत्यु का उल्लेख किया है, परन्तु जिनेन्द्रबुद्धि जैसे प्रचण्ड बौद्ध विद्वान् के विषय में वह बिलकुल मौन है। अतः जान पड़ता है कि जिनेन्द्रबुद्धि ने अपने न्यास की रचना उसके जाने के समय (६९५ ई०) तक नहीं की थी। यदि इत्सिङ्ग व्याकरण के अन्य ग्रंथों का उल्लेख कर गया है तो जिनेन्द्रबुद्धि के इतने प्रसिद्ध होने पर उनके उल्लेख करने से वह विरत नहीं होता। अतः जिनेन्द्रबुद्धि के न्यास की रचना ७०० ई० के आसपास की गई होगी। जब माघ स्वयं ७०० ई० के आसपास के बने ग्रन्थ का उल्लेख अपने ग्रन्थ में करते हैं, तो उनका समय ६५० ई० से ७०० ई० तक कैसे माना जा सकता है ?

परन्तु न्यासग्रन्थ के उल्लेख से भी यह कहना ठीक नहीं है कि माघ यहाँ जिनेन्द्रबुद्धि के ग्रंथ का ही उल्लेख कर रहे हैं। जिनेन्द्र

---

१ अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥

इस पद्य में माघ ने श्लेष के द्वारा राजनीति की समता शब्द-विद्या (व्याकरण-शास्त्र) से की है। 'न्यास' से तात्पर्य मल्लिनाथ ने जिनेन्द्रबुद्धि कृत 'न्यास ग्रन्थ' ही माना है।

बुद्धि के पहले भी बहुत से न्यास ग्रंथ लिखे जा चुके थे। जिनेन्द्रबुद्धि ने ही कुणि, चुल्लि तथा नल्लूर आदि के न्यासग्रंथों का उल्लेख किया है। बाणभट्ट ने जो न्यास की रचना के पहिले अवश्य हो चुके थे, 'हर्षचरित' में ठीक इसी श्लेष की उद्भावना की है—"कृतगुरुपदन्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि"। अतएव हम माघ को निश्चय-पूर्वक जिनेन्द्रबुद्धि के पीछे नहीं मान सकते। बाणभट्ट के समान माघ ने भी इन्हीं न्यासों की ओर संकेत किया है न कि जिनेन्द्र-बुद्धि के न्याय की ओर। अतएव माघ के समय को सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

ग्रन्थ

माघ की कीर्तिलता केवल एक ही महाकाव्य शिशुपालवध-रूपी वृक्ष पर अवलम्बित है। इसमें कृष्ण के द्वारा युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ में चेदि-नरेश शिशुपाल के वध की महाभारतीय कथा विस्तार से वर्णित है। महाकाव्य लम्बे लम्बे बीस सर्गों में समाप्त हुआ है। महाकाव्य का रूप देने के लिये माघ ने इस ग्रन्थ में ऋतुवर्णन आदि अनेक विषयों का संगठन किया है। इन विषयों से कथा में चमत्कार पैदा हो गया है। स्थान स्थान पर राजनीति के विषय में लम्बे लम्बे व्याख्यान भी दिये गये हैं। अलंकारों की नवीनता देखते ही बनती है। माघ ने बड़े प्रयास से श्लेष को बैठाया है। यमक, अनुलोम, प्रतिलोम, एकाक्षर, सर्वतोभद्र आदि अनेक चित्रालंकारों का भी सन्निवेश माघ की अलंकारप्रियता का पर्याप्त परिचायक है।

माघ और भारवि

माघ के महाकवि होने में तनिक भी सन्देह नहीं है। माघ ने साम्प्रदायिक प्रेम से उत्तेजित होकर अपने पूर्ववर्ती 'भारवि'से बढ़ जाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया है। भारवि शैव थे जिनका काव्य शिव के वरदान के विषय में है। माघ वैष्णव थे जिन्होंने विष्णु-विषयक महाकाव्य की रचना की है। वह स्वयं अपने ग्रन्थ को लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु' कहते हैं। भारवि की कीर्ति को ध्वस्त करने में माघ ने कुछ भी उठा नहीं रक्खा है। 'किराता-

र्जुनीय' को अपना आदर्श मानकर भी माघ ने अपने काव्य में बहुत कुछ अलौकिकता पैदा कर दी है। किरात के समान ही माघ-काव्य भी मंगलार्थक 'श्री' शब्द से आरम्भ होता है। किरात के आरम्भ में 'श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनी' है, उसी प्रकार माघ के प्रारम्भ में 'श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्' है। भारवि ने किरात में प्रत्येक सर्ग के अन्तिम में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है। माघ ने इसी तरह अपने काव्य के सर्गान्त पद्यों में 'श्री' का प्रयोग किया है।

शिशुपालवध तथा किरातार्जुनीय के वर्णन-क्रम में समानता है। दोनों महाकाव्यों के प्रथम सर्ग में सन्देश-कथन है। दूसरे सर्ग में राजनीति-कथन है। अनंतर दोनों में यात्रा का वर्णन है। ऋतु वर्णन भी दोनों में हैं—किरात के चतुर्थ सर्ग में तथा माघ के षष्ठ सर्ग में। पर्वत का वर्णन भी एक समान है—किरात के पाँचवें सर्ग में हिमालय का तथा माघ के चौथे सर्ग में रैवतक पर्वत का। अनंतर दोनों में संध्याकाल, अंधकार, चंद्रोदय, सुंदरियों की जलकेलि—आदि विषयों के वर्णन कई सर्गों में दिये गये हैं। किरात के तेरहवें तथा चौदहवें सर्ग में अर्जुन तथा किरातरूपधारी शिव में बाण के लिये वादविवाद हुआ है; माघ के सोलहवें सर्ग में ऐसा ही विवाद शिशुपाल के दूत तथा सात्यकि के बीच हुआ है। किरात के पंद्रहवें तथा माघ के उन्नीसवें सर्ग में चित्रबंधों में युद्धवर्णन है। इस प्रकार समता होने पर भी रसिक जन माघ के सामने भारवि को हीन समझते हैं :—

तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।

'माघे सन्ति त्रयो गुणाः।' यह तो सब पण्डित जानते हैं कि माघ में तीनों गुण हैं—उपमा, अर्थ-गौरव तथा पदलालित्य। इन तीनों गुणों का सुभग दर्शन हमें माघ की कमनीय कविता में होता है। बहुत से आलोचक पूर्वोक्त वाक्य को किसी माघ-भक्त पंडित का अविचारितरमणीय हृदयोद्गार भले ही बतावें, परंतु वास्तव में पूर्वोक्त आभाणक में सत्यता है। माघ में कालिदास जैसी उपमाएँ भले न मिलें, परंतु फिर भी इनमें न सुंदर उपमाओं का अभाव है, न अर्थगौरव की कमी। पदों का ललित विन्यास

तो निःसन्देह प्रशंसनी हैं। माघ की 'पदशय्या' इतनी अच्छी है कि कोई भी शब्द अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता।

माघ की विद्वता

माघ केवल सरस कवि न थे, प्रत्युत एक प्रचण्ड सर्वशास्त्र-तत्त्वज्ञ विद्वान् थे। माघ जैसी विद्वता किसी भी संस्कृत कवि में कम मिलेगी। भिन्न-भिन्न शास्त्रों का अध्ययन जितना माघ ने किया है इन शास्त्रों के सिद्धान्तों का जिस सुन्दर रीति से माघ ने प्रतिपादन किया है, उस भाँति संस्कृत-साहित्य के किसी महाकाव्य में उपलब्ध नहीं होता। भारवि में राजनीति-पटुता अवश्य दीख पड़ती है, श्री हर्ष में दार्शनिक उद्भटता अवश्य उपलब्ध होती है, परन्तु माघ में सर्वशास्त्रों का जो परिनिष्ठित ज्ञान दृष्टिगोचर होता है वह उन दोनों कवियों में कहाँ? उनमें भी पाण्डित्य है, परन्तु वह केवल एकाङ्गी है। परन्तु माघ का पाण्डित्य सर्वगामी है। वेद तथा दर्शनों से लेकर राजनीति तक विशिष्ट परिचय इनके काव्य में पाया जाता है।

माघ का श्रुति-विषयक ज्ञान अत्यन्त प्रशंसनीय है। प्रातःकाल के समय इन्होंने अग्निहोत्र का सुन्दर वर्णन किया है। हवनकर्म में आवश्यक साम-धेनी ऋचाओं का उल्लेख किया है। (११ सर्ग, ४१ श्लोक)। वैदिक स्वरों की विशेषता भी आपको भलीभाँति मालूम थी। स्वरभेद से अर्थभेद हो जाया करता है, इस नियम का उल्लेख मिलता है (१४।२४)। एक पद में होनेवाला उदात्त स्वर अन्य स्वरों को अनुदात्त बना डालता है—एक स्वर उदात्त होने से अन्य स्वर 'निघात' हो जाते हैं। इस स्वर-विषयक प्रसिद्ध नियम का प्रतिपादन माघ ने शिशुपाल के वर्णन में बड़ी सुन्दर रीति से किया है—निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव (२।९५)। चौदहवें सर्ग में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का बड़ा ही विस्तृत तथा सुन्दर वर्णन किया हुआ मिलता है। दर्शनों का भी विशिष्ट ज्ञान माघ में दिखाई पड़ता है। सांख्य के तत्त्वों का निदर्शन अनेक स्थलों पर पाया जाता। प्रथम सर्ग में नारद ने श्रीकृष्णचन्द्र की जो स्तुति की है (१।२३) वह सांख्य के अनुकूल है। योगशास्त्र की प्रवीणता भी देखने में आती है।

'मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय' आदि (४।४५) पद्य में चित्त-परिकर्म, सबीजयोग, सत्त्वपुरुषान्यताख्याति—योगशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। आस्तिक दर्शनों की कौन कहे ? नास्तिक दर्शनों में भी माघ का ज्ञान उच्च-कोटि का था। माघ बौद्धदर्शनों से भी भलीभाँति परिचित थे (२।२८)। वे उसके सूक्ष्म विभेदों के भी ज्ञाता थे। वे राजनीति के भी अच्छे जानकार थे। बलराम तथा उद्धव के द्वारा राजनीति की खूबियाँ दिखलायी गयी हैं। माघ ने नाट्यशास्त्र के विभिन्न अंगों की उपमा बड़ी सुंदरता से दी है। माघ एक प्रवीण वैयाकरण थे उन्होंने व्याकरण के सूक्ष्म नियमों का पालन अपने काव्य में भलीभाँति किया है। व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थों का भी उल्लेख उन्होंने किया है।

माघ का ज्ञान ललित कलाओं में भी ऊँची कक्षा का था। वे संगीत-शास्त्र के सूक्ष्म विवेचक थे। जगह-जगह पर संगीत-शास्त्र के मूल तत्त्वों का निदर्शन कराया गया है। अलंकार-शास्त्र में माघ की प्रवीणता की प्रशंसा करना व्यर्थ है। वह तो कवि का अपना प्रदेश है। माघ ने राजनीति के गूढ़ तत्त्वों को सम्यक् समझाने के लिये अलंकार शास्त्र के नियमों का सहारा लिया है। माघ ने एक सच्चे कवि-आलंकारिक के ऊँचे पद से शब्द तथा दोनों को 'काव्य' माना है (२।८६)।

कहने का सारांश यह है कि माघ एक महान् कवि-पण्डित थे। उनका ज्ञान हिन्दूदर्शन, बौद्धदर्शन, नाट्य-शास्त्र, अलंकारशास्त्र, व्याकरण, संगीत आदि शास्त्रों में बड़ा उत्कृष्ट था। माघ ने अपने सम्पूर्ण ज्ञान को कविता-कामिनी को अर्पण कर दिया—उन्होंने कविता की बाँकी छटा दिखाने के लिये समग्र संस्कृत-साहित्य के उपयोग करने में कुछ भी उठा नहीं रखा।

समीक्षण

संस्कृत भारती के महाभागवत कवि माघ ने अपने महाकाव्य के कथा-वस्तु को श्रीमद्भागवत (१०।७१-७५) के आधार पर ही मुख्यतया प्रस्तुत किया है। काव्य की प्रधान घटना का मुख्य आधार भागवत पुराण ही है। माघ की काव्यशैली 'अलंकृत' शैली का चूड़ान्त दृष्टान्त है जिसका प्रभाव

अवान्तर कवियों के ऊपर बहुत ही अधिक पड़ा है। माघ परिष्कृत पदविन्यास के आचार्य हैं। सीधे सादे शब्दों में पदार्थ-निरूपण ऊँचे काव्य की कसौटी नहीं है, प्रत्युत वक्रोक्ति से मण्डित तथा शाब्दिक और आर्थिक चमत्कार के उत्पादक अलंकारों से सुसज्जित पदविन्यास ही माघ की दृष्टि में सच्चे काव्य का निदर्शन है। फलतः इनके काव्य में समासों की बहुलता, विकट वर्णों की 'उदारता', गाढ़ बन्धों की मनोहरता पाठकों के हृदयावर्जन में सर्वथा समर्थ होती है। माघ के प्रवीण पद्य उस गुलदस्ते के समान हैं जिसे माली ने अनेक रंगीन फूलों के मंजुल मिश्रण से तैयार किया है और जो खूब कटे-छँटे नपे तुले विदग्ध जनों के मनोविनोद के लिए प्रस्तुत एक नयनाभिराम कलात्मक पदार्थ होता है। परन्तु कहीं कहीं, विशेषतः उन्नीसवीं सर्ग में युद्ध वर्णन के प्रसंग में, चित्रालंकारों का बाहुल्य कवि की शाब्दिक चमत्कारिणी प्रतिभा का निर्देशक होने पर भी आलोचकों के नितान्त वैरस्य का कारण बनता है। अर्थालंकारों का उपन्यास बड़ी ही मार्मिकता से किया गया है। माघ ने नाना प्रकार के लघुकाय गीति-छन्दों का प्रयोग कर अपनी सहृदयता तथा विदग्धता का परिचय दिया है। 'मालिनी' छन्द के तो माघ रससिद्ध आचार्य हैं। एकादश सर्ग में प्रभात के वर्णन में प्रयुक्त 'मालिनी' की शोभा अप्रतिम है।

माघ 'पंडित कवि' हैं। इन्होंने नाना शास्त्रों के विषयों का उपयोग अपनी उपमा तथा उत्प्रेक्षा जमाने के लिए बड़ी सुन्दरता से किया है। उदात्त चरित शिशुपाल एक ही चाल में अपने शत्रुओं को उसी प्रकार मार भगाता है जिस प्रकार एक ही पद में विद्यमान उदात्त स्वर अन्य स्वरों को निघात स्वर (अनुदात्त) बना देता है। इस उपमा में वैदिक व्याकरण के मूल तथ्य का पाण्डित्यपूर्ण संकेत है। और यही कारण है कि सामान्य जनों के लिए यह काव्य कुछ कठिन सा भान होता है। माघ के वर्णनों में—चाहे वे प्राकृतिक हों या मानुषिक—अपूर्व सजीवता है। कवि के प्रकृति-पर्यवेक्षण का परिणाम उसके स्वाभाविक वर्णनों में खूब ही झलकता है। माघ ने अपने काव्य के उपबृंहण के लिए पर्वत, ऋतु, जल-क्रीड़ा, चन्द्रोदय, प्रभात आदि का चित्र बड़ी ही कुशल तूलिका से चित्रित किया है। माघ का प्रभात वर्णन

अपनी स्वाभाविकता तथा सरसता के कारण साहित्य संसार में अद्वितीय है। शिशुपालवध का समग्र एकादश सर्ग प्रातःकालीन रंग-भरे दृश्यों की भव्य झाँकी प्रस्तुत करता है। 'रैवतक' के वर्णन में उद्भावित एक नवीन कल्पना 'माघ' को 'घण्टा-माघ' अभिधान का कारण बनती है। पर्वत की हाथी से तथा उसके दोनों ओर लटकने वाले सूर्य तथा चन्द्र की घण्टा से तुलना प्राचीन आलोचकों को इतनी रुची कि उन्होंने मुग्ध होकर उन्हें 'घण्टामाघ' का विरुद दे डाला (माघकाव्य ४।२०)

माघ के पात्रों में खूब सजीवता है। आकाश से उतरने वाले काले काले मेघों के नीचे कर्पूरपाण्डुर महर्षि नारद के रूप-चित्रण में कवि जितना सफल है उतना ही उनके सन्देश-कथन में भी। भगवान् श्रीकृष्ण का रूप तथा उनका सहिष्णु चरित्र बड़ा ही सुन्दर है। कवि की अलोकसामान्य प्रतिभा सामान्य पदार्थों में भी विशिष्टता उत्पन्न कर देती है, नित्य परिचित वस्तुओं में भी नवीनता का संचार करती है। वह प्रकृति के हृदय को समझता है तथा मधुर शब्दों में उसे अभिव्यक्त करता है। प्रातःकालीन दिवाकर का बालक रूप में चित्रण कवि के सरस हृदय का परिचायक है (११।४७), तो प्राची में सूर्योदय का यह रंगीन दृश्य एक चिरस्मरणीय वस्तु है—

विततपृथुवरत्रा तुल्यरूपैर्मयूखैः,
कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।
कृतचपलविहङ्गालापकोलाहलाभि—
र्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः॥ (११।४४)

चारों ओर फैली हुई, मोटी रस्सियों के समान, किरणों के द्वारा खींचा जाता हुआ बड़े भारी कलश के समान यह सूर्य दिशारूपी नारियों के द्वारा समुद्र के जल से निकाला जा रहा है। जिस प्रकार कलश रस्सी की सहायता बाहर निकाला जाता है, उसी प्रकार पूर्व-समुद्र में डूबे हुए सूर्य को दिशायें [किर]णरूपी रस्सियों से खींचकर निकाल रही हैं। जिस प्रकार जल में डूबे को जल से निकालने के समय बड़ा कोलाहल मचता है, उसी तरह [प्रात]काल की चुहचुहाती चिड़ियाँ शोर मचा रही हैं। प्रातःकाल के समय,

पक्षिगण का मनोहर कोलाहल कर्णपुट को सुख देता है। चारों ओर किरणें फैलाने वाले बाल सूर्य का क्या ही सुंदर वर्णन है।

रैवतक से बहनेवाली नदियों के वर्णन में कवि अपने प्रेमी हृदय का परिचय देता है—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्त्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः॥
(४।४७)

पहाड़ी नदियाँ कल-कल शब्द करती हुई बह रही हैं। ये निडर होकर उसकी गोद में लोट-पोट किया करती हैं। अतः वे रैवतक की बेटियाँ हैं। आज वे अपने पति समुद्र से मिलने के लिए जा रही हैं। इस कारण रैवतक चिड़ियों के करुण स्वर के द्वारा जान पड़ता है कि प्रेम के कारण रो रहा है। कन्या के पतिगृह जाने के समय पिता का हृदय पिघल जाता है, वह कितना भी कठोर हो द्रवीभूत अवश्य हो जाता है। "पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनया-विश्लेषदुःखैर्नवैः"। अतः रैवतक भी पक्षियों के करुण स्वर से कन्याओं के लिए रो रहा है। ठीक है, पिता का हृदय कोमल होता ही है।

इन्हीं महनीय गुणों के कारण माघ का उत्कर्ष है। उनका शब्द-भंडार एक अक्षय राशि है। नये-नये शब्दों का प्रयोग, विचित्र व्याकरण-सम्मत पदों का निवेश माघ के प्रचण्ड पाण्डित्य का परिचायक है। इसीलिए तो 'नव सर्गे गते माघे नवशब्दो न विद्यते' के आभाणक के समान आलोचकों का यह कथन भी यथार्थ है—

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे।
स्मरन्तो भा रवेरेव कवयः कपयो यथा॥

८

प्रवरसेन

संस्कृत के महाकाव्यों के ढंग पर प्राकृत में भी अनेक महाकाव्यों की रचना समय समय पर होती रही। इन प्राकृत महाकाव्यों में संस्कृत महाकाव्य

के सब विशिष्ट गुण विद्यमान हैं। कथावस्तु को अलंकृत करने का ढंग भी वही पुराना है। प्रकृति के मनोरम दृश्यों का, प्रभात तथा संध्या का वसंत तथा वर्षा का, संश्लिष्ट वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। प्राकृत के महाकवियों ने अपने सहयोगी संस्कृत महाकवियों की रचनाओं से बढ़कर काव्य-कला दिखलाने का प्रयत्न किया है। अनेक अंश में ये कवि लोग सफल भी हुए हैं। भारवि का समकालीन 'सेतुबन्ध' प्राकृत महाकाव्य का श्रेष्ठ प्रतिनिधि माना जाता है जिसके विषय में बाण की यह सूक्ति है—

कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥

इस महाकाव्य के रचयिता प्रवरसेन किसी देश के राजा थे। पर वे किस देश के राजा थे, इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। कुछ लोग इन्हें काश्मीर का राजा मानते हैं, अन्य लोग वाकाटक वंश के राजा प्रवरसेन से इनकी अभिन्नता मानते हैं। सेतुबंध का दूसरा नाम 'रावणवध' या 'दशमुखवध' है। इसमें सेतुबंधन से आरंभ कर रावणवध तक की कथा प्रौढ़ रीति से वर्णित है। दंडी ने महाराष्ट्री प्राकृत में लिखित इस महाकाव्य को 'सागरः सूक्तिरत्नानाम्'—सूक्तिरत्नों का समुद्र कहा है[1]। यह प्रशंसा यथार्थ है। बाणभट्ट भी इस महाकाव्य के कीर्तिशाली होने के प्रबल प्रमाण हैं। इन कारणों से स्पष्ट है कि सप्तम शतक से पहले ही इसकी रचना हो चुकी थी। यह प्रवरसेन नरेश वाकाटक वंश के ही अधीश्वर थे जिनके साथ चंद्रगुप्त द्वितीय की पुत्री 'प्रभावतीगुप्ता' का विवाह हुआ था। अतः षष्ठ शतक में इस महाकाव्य की रचना निश्चय रूप से हुई थी।

'सेतुबंध' में १५ 'आश्वास' हैं जिसमें सेतुबंध से आरंभ कर राम-कथा का सुंदर चमत्कारपूर्ण वर्णन है। इस काव्य में प्रसाद गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है, 'गउडवहो' के समान नितांत नवीन अर्थ की कल्पना

---

१ महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्ति रत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्॥—काव्यादर्श

तो यहाँ कम मिलती है परन्तु जो कुछ मिलता है वह सरस भाषा में निबद्ध है। कालिदास के रचयिता होने की किंवदन्ती का रहस्य इसके साहित्यिक सौन्दर्य में छिपा हुआ है।

हनुमान जी के आगमन पर रामचन्द्र जी की अवस्था का वह वर्णन नितान्त सुन्दर है—

दिट्ठ त्ति ण सद्दहिअं झीण त्ति सबाहमन्थरं णीससिअम्।
सोअइ तुमं ति रुराण पहुणा जिअइ त्ति मारुइ उपऊढो॥

'सीताज़ी को देखा है' इसे विश्वास नहीं किया। 'वह क्षीण हो गई है' इस पर वे रोते हुए दीर्घ निःश्वास लेने लगे। 'तुम्हें शोच करती है' इस पर प्रभु रोने लगे। 'यह जीती है' यह जानकर राम ने हनुमानजी को आलिंगन किया।

९

अभिनन्द

अभिनन्द के कवित्व की ख्याति संस्कृत साहित्य में पर्याप्त रूप से उपलब्ध होती है, परन्तु उनका **'रामचरित'** महाकाव्य हाल में प्रकाशित होकर आलोचकों के सामने आया है[1]। सूक्ति-संग्रहों, कोशकी टीकाओं तथा अलंकार-ग्रंथों में इनके नाम का संकेत तथा इनके श्लोकों का उद्धरण अनेक स्थलों पर मिलता है।

शार्ङ्गधर पद्धति (१४ वीं का प्रथमार्ध) तथा सदुक्तिकर्णामृत (र० का० १२०३ ई०) में अभिनन्द के अनेक पद्य उद्धृत हैं जिनमें से कतिपय राम चरित में उपलब्ध हैं। उज्ज्वलदत्त ने उणादिसूत्र वृत्ति (१३ वीं शती का मध्यभाग) में सर्वानन्द ने अमरकोशटीका (र० का० १९५९ ईस्वी) में और भोजराज ने शृंगार प्रकाश तथा सरस्वती कण्ठाभरण में अभिनन्द के पद्यों को उद्धृत किया तथा सोड्ढल ने अपनी उदयसुन्दरीकथा में (र० का० ११ वीं शती का प्रथमार्ध) में अभिनन्द का अनेक बार उल्लेख

१ गायकवाड ओरियण्टल सीरिज में प्रकाशित, संख्या ४६, १९३०।

किया। गोड्ढल कालिदास तथा बाण के समकक्ष 'अभिनन्द' की प्रशस्त स्तुति की है[1]—

वागीश्वरं हन्त भजेऽभिनन्दमर्थेश्वरं वाक्पतिराजमीडे।
रसेश्वरं नौमि च कालिदासं बाणं तु सर्वेश्वरमानतोऽस्मि॥

क्षेमेन्द्र (११ शती का प्रथमार्ध) ने अपने 'सुवृत्ततिलक' में अभिनन्द की सरस अनुष्टुभों का सर्वश्रेष्ठ कवि होना स्वीकार किया है[2]—

अनुष्टुप्-सततासक्ता साभिनन्दस्य नन्दिनी।
विद्याधरस्य वदने गुलिकेव प्रभावभूः॥

इन निर्देशों का स्पष्ट तात्पर्य है कि ११ शतक से पहिले ही अभिनन्द नामक कवि की सत्ता थी तथा उनके कमनीय पद्य अपने सौन्दर्य तथा लालित्य के कारण भिन्न-भिन्न सूक्तिग्रंथों में उद्धृत किये गये थे। अभिनन्द का दूसरा नाम 'आर्याविलास' या केवल 'विलास' भी मिलता है।

अभिनन्द नामक दो कवियों का पता इतिहास में चलता है। ये दोनों भिन्न हैं या अभिन्न ? 'कादम्बरी कथासार[3]' तथा 'योग वासिष्ठसार' के रचयिता भी अभिनन्द कवि हैं। 'कादम्बरी कथासार' में अभिनन्द ने अपना स्पष्ट परिचय दिया है। इनके पिता थे जयन्तभट्ट, पितामह कल्याण स्वामी तथा प्रपितामह शक्ति स्वामी जिनके पितामह शक्ति मूलतः गौड या बंगाल के निवासी थे, परन्तु काश्मीर के दार्वाभिसार नामक ग्राम में आकर तथा यहीं विवाह कर सदा के लिए बस गये। इन पूर्वजों में से दो विशेष महत्त्व-पूर्ण व्यक्ति थे। अभिनन्द के पिता जयन्तभट्ट तो प्रख्यात न्यायग्रंथ 'न्याय मंजरी' के रचयिता हैं तथा प्रपितामह शक्तिस्वामी काश्मीर नरेश ललिता-दित्य मुक्तापीड के मन्त्री थे। 'रामचरित' महाकाव्य के रचयिता का भी सम्बन्ध गौड देश से है, इसलिए ये गौडाभिनन्द के नाम से भी कहीं-कहीं

---

१ उदयसुन्दरी कथा (गा० ओ० सी०, बडोदा) पृ० १५७
२ सुवृत्ततिलक (काव्यमाला गुच्छक द्वितीय) पृष्ठ ५३
३ काव्यमाला (संख्या ११) में प्रकाशित

उल्लिखित हैं। इन्होंने अपने को 'शातानन्दि' नाम से उल्लिखित किया है अर्थात् इनके पिताका नाम शतानन्द था[1]। अनेक आलोचक दोनों अभिनन्दों की अनेक बातों में साम्य होने के हेतु अभिन्न व्यक्ति मानते हैं, परन्तु दोनों के कुल की भिन्नता दोनों की भिन्नता का बलवान् प्रमाण है। कोई कारण नहीं दीखता कि 'कादम्बरी कथासार' का अभिनन्द, जो अपनी वंश-परम्परा का उल्लेख साग्रह तथा अभिमान करता है, 'रामचरित' में एकदम मूक है और अपने पिता का एक सामान्य रूप से निर्देश कर अपने काम से छुट्टी ले लेता है। दोनों के पितृनाम भी भिन्न ही हैं। रामचरित के कर्ता के पिता का नाम था—शतानन्द तथा कादम्बरी कथासार के प्रणेता का पितृनाम 'जयन्त' था। यह भिन्नता भी ध्यान देने योग्य है।

अपने आश्रयदाता की स्तुति में अभिनन्द ने अनेक शोभन पद्यों को अपने काव्य में दिदिष्ट किया है। इनके आश्रयदाता का नाम था—हारवर्ष युवराज। ये पाल वंश में उत्पन्न तथा विक्रमशील के पुत्र थे[2]। कवियों के आश्रयदाता होने के कारण इनकी प्रशस्त स्तुतियाँ बड़ी रोचक हैं—

नमः श्रीहारवर्षाय येन हालादनन्तरम्।
स्वकोशः कविकोशानामाविर्भावाय संभृतः॥

ये धर्मपाल कुल के कैरव बतलाये गये हैं[3]। ये धर्मपाल पालवंश के द्वितीय शासक थे जिन्होंने नवम शती के प्रथम चतुर्थ भाग (८२५ ई०) तक राज्य किया था। फलतः हारवर्ष भी पालवंश के ही महनीय-राजा थे, परन्तु उपलब्ध वंशावली में इनका नाम नहीं मिलता। सोड्ढल ने अभिनन्द का उल्लेख कवि-प्रशस्ति में राजशेखर (९२५ ईस्वी) से पूर्व ही किया

---

१ तथा तूर्णं कवेः कस्य निर्गतं जीवतो यशः।
हारवर्षप्रसादेन शातानन्देर्यथाऽधुना॥
—रामचरित पृष्ठ ३९

२ विचिन्त्यतामान्तरतापशान्तये स केवलं विक्रमशीलनन्दनः।
वही, पृष्ठ ३१, ६३, ८०।

३ श्रीधर्मपाल-कुल-कैरव-काननेन्दुः। रामचरित, पृष्ठ २५३

है। धर्मपाल के अनन्तर उनके द्वितीय पुत्र देवपाल ने नवम शती के मध्य भाग में बड़ा ही समुज्ज्वल शासन किया। अतएव अनुमान किया जाता है कि हारवर्ष देवपाल का ही नामान्तर था। धर्मपाल की उपाधि थी विक्रमशील तथा उन्होंने राष्ट्रकूट वंश की राजकुमारी रण्णादेवी से विवाह किया था। सम्भव है कि राष्ट्रकूटों के नाम की समता वाला 'हारवर्ष' यह घरेलू नाम था तथा उनका राजकीय नाम देवपाल था। ये युवराज कहलाते थे, परन्तु इन्होंने स्वयं गौडदेश पर शासन किया था[1]। अभिनन्दका भी इस प्रकार आविर्भाव काल नवम शतक का मध्य भाग है।

'रामचरित' एक सरस महाकाव्य है। रामायण के किष्किन्धा काण्ड से आरम्भ कर युद्धकाण्ड तक का कथानक यहाँ ३६ सर्गों में निबद्ध है। परन्तु अधूरा ही है। इसकी पूर्ति के लिए अन्त में दो परिशिष्ट चार-चार सर्गों के हैं जिनमें पहिला परिशिष्ट अभिनन्द की रचना है तथा दूसरा परिशिष्ट कायस्थ-कुल-तिलक किसी भीम कवि की कृति है। 'रामचरित' की शैली विशुद्ध वैदर्भी है। प्रसाद तथा माधुर्य गुणों का यहाँ साम्राज्य विराजता है। गौडदेशीय कवि होने पर भी अभिनन्द में गौडी रीति का दर्शन नहीं होता। ऋतु तथा प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन करने में कवि ने अपनी स्वाभाविक प्रतिभा का निदर्शन प्रस्तुत किया है। कालिदास की स्पष्ट छाया अभिनन्द के ऊपर है। इसलिए सूक्तिमुक्तावली के एक प्रशस्त पद्य में अभिनन्द कालिदास के समकक्ष घोषित किये गये हैं[2]। सोड्ढल अभिनन्द को 'वागीश्वर' मानते हैं। फलतः कथानक को सुन्दर ढंग से रखने में, कमनीय काव्यकला के विन्यास में, प्रसादमयी वाणी की रचना में अभिनन्द की प्रतिभा सर्वदा प्रशंसनीय मानी जावेगी। कालिदास

---

१ कृतेन प्रध्वस्तं कलियुगमकाण्डे बलवता।
कुलेन्दौ पालानामवति युवराजे वसुमतीम्॥

—रामचरित पृष्ठ २१८

२ कविरमरः कविरचलः कविरभिनन्दश्च कालिदासश्च।
अन्ये कवयः कपयः चापलमात्रं परं दधति॥

(प्रथम शती) तथा पद्मगुप्त परिमल (११ शतक) के बीच में अभिनन्द ही रसमयी पद्धति के सुकुमार कवि हैं, यह निःसन्देह कहा जा सकता है। अभिनन्द अनुष्टुप् छन्द के सबसे श्रेष्ठ रचयिता हैं—क्षेमेन्द्र का यह कथन रामचरित में पूर्णतया चरितार्थ होता है।

१०

काश्मीरी कवि

काश्मीर में संस्कृत काव्य तथा उसकी आलोचना की उपासना प्राचीन काल से होती चली आती है। इन प्राचीन काश्मीर के कवियों में भर्तृमेण्ठ अन्यतम है। कल्हण (तृतीय तरंग, २६४-६६) ने अपनी राजतरंगिणी में इनके आश्रयदाता मातृगुप्त (जो काश्मीर के तत्कालीन नरपति थे तथा जो कालिदास से कभी-कभी एकीकृत किये जाते हैं) के द्वारा इनके महनीय काव्य 'हयग्रीव वध' के विशिष्ट संस्कार की घटना का उल्लेख किया है। मातृगुप्त के सभाकवि होने से इनका समय पंचम शतक का पूर्वार्ध माना जाता है। 'हयग्रीव-वध' के श्लोक सूक्तिग्रन्थों में उद्धृत हैं, परंतु कतिपय पद्यों के अतिरिक्त इसका कोई भी अंश आज अवशिष्ट नहीं है। राजशेखर इन्हें वाल्मीकि का नया अवतार मानते हैं—

बभूव वल्मीकभवः पुरा कवि-
स्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया
स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

यह महाकाव्य शोभन तथा प्रतिभासम्पन्न अवश्य होगा, तभी तो मातृगुप्त ने पुस्तक को वेठन में बाँधते समय इनके नीचे सोने का थाल रखवा दिया था कि कहीं इसका रस जमीन पर चू न जाय। भर्तृमेण्ठ के अनन्तर तीन शताब्दियों तक काश्मीर में प्रबन्ध कवियों का पता नहीं चलता। नवम शतक में रत्नाकर ही इस परम्परा को अग्रसर करनेवाले महाकवि हैं।

रत्नाकर

हरविजय के रचयिता रत्नाकर काश्मीर के महाकवियों की रत्नमालिका के मध्यमणि हैं। काव्य का पूर्ण लालित्य इनकी कविता में लक्षित होता है। इनके पिता का नाम 'अमृतभानु' था। ये 'बालबृहस्पति' की उपाधि धारण करनेवाले काश्मीर-नरेश चिप्पट जयापीड (८०० ई०) के सभापण्डित थे। इस बात का उल्लेख उन्होंने अपने को 'बालबृहस्पत्यनुजीविनः' लिखकर किया है। ये दीर्घजीवी प्रतीत होते हैं, क्योंकि कल्हण ने इन्हें अवन्तिवर्मा (८५५–८८४ ई०) के राज्यकाल में प्रसिद्धि प्राप्त करने की घटना का उल्लेख किया है—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

अतः साधारण रीति से हम कह सकते हैं कि ये नवम शतक के प्रथमार्द्ध में विद्यमान थे।

'हरविजय' संस्कृत महाकाव्यों में परिमाण तथा गुण की दृष्टि से श्रेष्ठ माना जाता है। इसमें पूरे पचास सर्ग तथा ४३२१ पद्य हैं। कम से कम इस काव्य का विपुल परिमाण ही इसकी अद्वितीयता का परिचायक है, परंतु काव्यगुणों के चमत्कार के कारण भी यह काव्य सचमुच ही अद्वितीय है। रत्नाकर के समय माघ की विपुल ख्याति थी। उस काव्य को दबा डालने के उद्देश्य से ही रत्नाकर ने इस महाकाव्य का प्रणयन किया है। माघ वैष्णव थे। उन्होंने अपने काव्य को 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु' (अर्थात् भगवान् कृष्ण के चरित-कीर्तन के कारण सुन्दर) कहा है। उसी प्रकार शिवभक्त रत्नाकर ने अपने काव्य को 'चन्द्रार्धचूल-चरिताश्रय-चारु लिखा है। कवि की यह गर्वोक्ति कि उनकी ललित, मधुर, सालंकार, प्रसादमनोहर, विकट यमक तथा श्लेष से मंडित, चित्रमार्ग में अद्वितीय वाणी को सुनकर बृहस्पति के चित्त में भी शंका उत्पन्न हो जाती है, निरी गर्वमयी उक्ति ही नहीं है, उसके सत्य होने का पर्याप्त कारण भी विद्यमान है—

ललितमधुराः सालंकाराः प्रसादमनोहरा
विकटयमकश्लेषोद्धारप्रबन्धनिरर्गलाः ।
असदृशगतीश्चित्रे मार्गे ममोद्गिरतो गिरो
न खलु नृपते चेतो वाचस्पतेरपि शंकते ॥

काव्य का कथानक तो बहुत ही स्वस्थ है—शंकर के द्वारा अन्धक असुर का वध; परन्तु इसे अलंकृत, परिष्कृत तथा मांसल बनाने में कवि ने कुछ उठा नहीं रखा है। जलक्रीड़ा, संध्या चन्द्रोदय, समुद्रोल्लास, प्रसाधन, विरह, पानगोष्ठी आदि के वर्णन में १५ सर्ग खर्च किये गये हैं। भाषा के सौंदर्य में, ललित पदों की मैत्री में, नवीन चमत्कारी अर्थ की कल्पना में, अभिनव वर्णनों के उपन्यास में, शब्दों के अद्भुत प्रभुत्व में यह महाकाव्य संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है, यह कथन पुनरुक्तिमात्र है। माघ सचमुच रत्नाकर के सामने काव्यप्रतिभा के प्रदर्शन में हतप्रभ दीख पड़ते हैं। रत्नाकर का अध्यात्मशास्त्र का ज्ञान भी पूर्ण, बहुमुख तथा परिनिष्ठित था। छठे सर्ग में लगभग दो सौ सुन्दर श्लोकों में भगवान् की बड़ी ही पाण्डित्यपूर्ण स्तुति है जिसके एक एक पद्य से इनका गहरा शास्त्रानुशीलन प्रकट होता है। ४७वें सर्ग की 'चण्डिकास्तुति' इनके शाक्तागम का उच्च ज्ञान अभिव्यक्त कर रही है। इस महनीय काव्य का यद्यपि कल्हण ने उल्लेख किया है (५।३४), अलक ने व्याख्या से इसे मण्डित किया है, क्षेमेंद्र ने वसन्ततिलका वृत्त की प्रशस्त प्रशंसा की है[1] तथा सूक्ति संग्रहों ने इसके पद्यों को उद्धृत किया है, तथापि काश्मीर में भी इसके हस्तलिखित प्रतियों के अभाव से इसकी अवहेलना की घटना स्पष्ट प्रतीत होती है। संस्कृत आलोचक इस काव्य की भूयसी प्रशंसा करते हैं तथा रत्नाकर ने इस काव्य के सेवी अकवि पाठक को कवि तथा महाकवि बनाने की प्रतिज्ञा की है[2], तथापि इस काव्य में पांडित्य

---

१ वसन्त-तिलकारूढा वाग्वल्ली गाढसंगिनी ।
रत्नाकरस्योत्कलिका चकास्त्यनन-कानने ॥—सुवृत्ततिलक

२ हरविजयमहाकवेः प्रतिज्ञां शृणुत कृतप्रणयो मम प्रबन्धे ।
अपि शिशुर कविः कविःप्रभावात् भवति कविश्च महाकविः क्रमेण ॥

का बोझ इतना अधिक है कि उसके भीतर काव्य की चमत्कारी तथा प्रतिभाशाली उक्तियाँ दब सी गई हैं।

शिवस्वामी

शिवस्वामी काश्मीर के ही निवासी थे। ये स्वयं तो शैवमतावलम्बी थे, परन्तु 'चन्द्रमित्र' नामक बौद्धाचार्य की प्रेरणा से इन्होंने बौद्ध-साहित्य में प्रसिद्ध एक अवदान को अलंकृत महाकाव्य के रूप में गुम्फित किया। राज॰ तरंगिणी से पता चलता है कि इनका उदय काश्मीर के विख्यात नरेश अवन्ति वर्मा के (८५८–८८५ ई०) राज्यकाल में हुआ था। इस प्रकार शिवस्वामी आनन्दवर्धन तथा रत्नाकर के समसामयिक हैं। काश्मीर के इतिहास में यह काल साहित्य तथा कला की विशिष्ट उन्नति के कारण 'सुवर्णयुग' माना जाता है। किसी कारण शिवस्वामी का यह बौद्ध काव्य विस्मृत-प्राय हो गया था, परन्तु प्राचीन काल में इसकी पर्याप्त ख्याति थी। सुभाषित ग्रंथों में इनके श्लोक उपलब्ध होते हैं। मम्मट ने ध्वनि के उदाहरण में इनके 'उल्लास्य कालकरवाल महाम्बुवाहम्' (१।२४) को उद्धृत किया है। इससे शिवस्वामी की कविता के प्रसिद्ध होने की सूचना मिलती है।

बौद्ध साहित्य में 'कप्फिण' का आख्यान विशेष रूप से प्रसिद्ध है। 'कप्फिण' दक्षिण देश ('लीलावती') के राजा थे। कारणवश इन्होंने श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित को चढ़ाई कर परास्त किया। प्रसेनजित ने भगवान बुद्ध का ध्यान किया जिससे प्रकट होकर उन्होंने कप्फिण को पराजित कर दिया। अन्ततः यह राजा बुद्ध के शरण में गया और उनके धर्मामृत का पान कर कृत-कृत्य हुआ। इसी कथानक का वर्णन शिवस्वामी ने २० सर्गों में नाना प्रकार के छंदों में किया है। कथा को अलंकृत तथा विकसित करने के लिये कवि ने मलयपवन (६ सर्ग) षट्ऋतु (८ स०) कुसुमावचय (६ स०), जल-क्रीडा (१० स०) सूर्यास्त (११ स०) चन्द्रोदय (१२ स०), मदिरापान (१३ स०), कामपूत्रानुसार शृङ्गारिक क्रीड़ा (१४ स०), प्रभात (१५ स०), का उन-उन सर्गों में बड़ा ही कलापूर्ण वर्णन किया है। १८ वें सर्ग में चित्रयुद्ध के वर्णन में चित्रकाव्य की छटा है, तो

१६ वें सर्ग में बुद्ध की संस्कृतप्राकृत मिश्रित भाषा में प्रशस्त स्तुति होने से शान्त का सदृश प्रवाह है। प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'शिव' शब्द के आने से यह काव्य 'शिवांक' कहा गया है।

शिवस्वामी सचमुच एक महान् प्रतिभाशाली कवि थे। वे शैवमतावलम्बी थे, फिर भी उन्होंने अपने से विभिन्न धर्म के एक सामान्य आख्यान में अपनी प्रतिभा के बल से जान फूँक दी है कि वह पाठकों के सन्मुख परिष्कृत तथा विशिष्ट आकार में चलता-फिरता दीख पड़ता है। उन्होंने अपने को बहुत कथाओं को जानने वाला, चित्रकाव्य का उपदेष्टा 'यमककवि' कहा है। यह कथन अक्षरशः सत्य है। सरस मृदुल शब्दों के गुम्फन की शक्ति इनमें खूब है। काव्य-प्रतिभा का सौंदर्य इनके काव्य में विशेष मुग्धकारी है। शब्दालंकार के समान इन्होंने अर्थालंकारों—विशेषतः उपमा, उत्प्रेक्षा तथा श्लेष—का प्रयोग बड़ी सुंदरता से किया है। इनकी शब्दों पर विशेष प्रभुता है। प्राकृत का ज्ञान भी कम चमत्कारी नहीं है। हमारी दृष्टि में शिवस्वामी का यह महाकाव्य संस्कृत साहित्य का रत्न है, जिसकी प्रभा विशेष अनुशीलन करने पर बढ़ती जावेगी। शिवस्वामी ने रघुकार (कालिदास), मेण्ठ (भर्तृमेण्ठ) तथा दण्डी को अपना उपजीव्य माना है[1]। माघ तथा रत्नाकर के काव्यों का इन्होंने गाढ़ अनुशीलन किया था। इन कवियों की छाया विशेषतः रत्नाकर की कवि के काव्य पर खूब पड़ी है।

विरहिणी की यह उक्ति रमणीय तथा चमत्कारिणी है—

गतोऽस्तं घर्मांशुर्भज सहचरनीडमधुना
सुखं भ्रातः सुप्याः सुजनचरितं वायस कृतम्।
मयि स्नेहाद् बाष्पस्थगितनयनायामपघृणो
रुदत्यां यो यातस्त्वयि स विलपत्येष्यति कथम्॥

१ विदित-बहु कथार्थश्चित्र-काव्योपदेष्टा
यमककविरगम्यश्चारु-सन्दानभानी।
अनुकृतरघुकारोऽभ्यस्तमेण्ठप्रचारो
जयति कविरुदारो दण्डिदण्डः शिवाङ्कः। २०।४७

[हे भाई कौए, सूरज डूब गया। अब अपनी सहचरी के नीड में चले जाओ और वहाँ सुखपूर्वक रहो। तू ने सज्जन का काम किया है। आँसुओं से आँखों के ढक जाने पर भी मेरे रोने का ख्याल न कर चला गया, भला वह निर्दय तुम्हारे शब्द करने पर कभी आवेगा ?]

सूक्ति का सौंदर्य तथा भाव सुतरां अवलोकनीय है। इस प्रकार की सूक्तियों से यह काव्य नितान्त अलंकृत तथा चमत्कारी है।

क्षेमेन्द्र

क्षेमेन्द्र संस्कृत भाषा के महाकवियों में भी अलौकिक प्रतिभा से मण्डित महाकवि थे जिनकी प्रतिभा ने साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में अपना जौहर दिखलाया। सरस्वती का यह वरद पुत्र शारदा देश का, अर्थात् काश्मीर का, निवासी था, परंतु जब यह उत्पन्न हुआ था तब काश्मीर का वातावरण कविता जैसी कोमल कला के अनुशीलन के लिए नितान्त अनुपयुक्त था। काश्मीर के इतिहास में वह युग असंतोष, षड्यन्त्र, नैराश्य तथा रक्तपात का काल था। तत्कालीन राजा अनन्त स्वयं मानसिक दुर्बलता का तथा बौद्धिक शिथिलता का पात्र था। तभी तो उसने १०६३ ई० में अपने ज्येष्ठ पुत्र कलश को राज्य देकर भी थोड़े ही वर्षों के अनन्तर पुनः उसे ग्रहण कर लिया। इसके अनन्तर वह १०७७ ई० में राज्यकार्य से अवश्य ही विरत हुआ और कुछ ही वर्षों के बाद, १०८१ ई० में, उसने आत्महत्या कर ली, और उसकी विदुषी महारानी सूर्यवती भी अपने पति की चिता पर सती हो गई।

इन्हीं पिता-पुत्र अनन्त (१०२८ ई०—१०६३ ई०) तथा कलश (१०६३ ई०—१०८९ ई०) के राज्यकाल में क्षेमेन्द्र की जीवन-लीला व्यतीत हुई। क्षेमेन्द्र के 'समयमातृका' रचनाकाल १०५० ई० तथा अंतिम ग्रंथ 'दशावतारचरित' का रचनाकाल १०६६ ई० स्वयं ग्रंथकार ने दिया है। फलतः १०२५—१०६६ से भी चरित का लेखन काल निश्चित है। इनके पूर्वपुरुष राजा के अमात्य-पद पर प्रतिष्ठित थे। क्षेमेन्द्र अपने युग के अशांत वातावरण से इतने असन्तुष्ट तथा मर्माहत थे कि उसे सुधारने में तथा पवित्र और विशुद्ध बनाने के लिए और दुष्टता के स्थान पर

शिष्टता की और स्वार्थ के स्थान पर परार्थ की भावना को दृढ़ करने के निमित्त, अपनी द्रुतगामिनी लेखनी को काव्य के नाना अंगों की रचना में लगाया। अपने युग के वातावरण को सुधारने के लिए कवि ने श्लाघनीय प्रयत्न किये और उनमें इन्हें सफलता भी मिली। महर्षि वेदव्यास के आदर्श पर रचना करने वाला यह कवि नाम्ना ही नहीं; प्रत्युत यथार्थतः 'व्यासदास' था। संस्कृत में कथा की रचना क्षेमेन्द्र की अलौकिक प्रतिभा के प्रसाद का एक क्षेत्रमात्र था। क्षेमेन्द्र 'सिन्धु' के प्रपौत्र, 'निम्नाशय' के पौत्र, 'प्रकाशेन्द्र' के पुत्र, तथा अभिनवगुप्त के साहित्यशास्त्र में शिष्य थे। शैव-मण्डल में रहकर भी इनके परम भागवत होने का कारण इनके दीक्षागुरु भागवताचार्य 'सोमपाद' की शिक्षा का प्रभाव था (बृहत्कथा मंजरी १६।३७)

जनता के चरित्र के सुधार तथा मनोरंजन की भावना से प्रेरित होकर इस कवि ने रामायण तथा महाभारत की प्रख्यात कथाओं का संक्षिप्त वर्णन **(१) रामायणमंजरी** तथा **(२) भारतमञ्जरी** (रचनाकाल १०३७ ई०) के नाम से प्रस्तुत किया। इनमें कथाओं का संक्षेप इतनी सुन्दरता तथा विवेकिता से किया गया है कि मनोरंजन के साथ ही साथ मूल ग्रंथों का प्राचीन पाठ निर्णीत करने में भी हमें सहायता मिलती है। इन ग्रन्थों के निर्माण के बाद क्षेमेन्द्र ने उस प्राचीन कथारत्नाकर को भी परखने का हमें अवसर प्रदान किया है जो बृहत्कथा के नाम से साहित्य-जगत् में प्रख्यात है। राजा शालिवाहन (या हाल) के सभा-कवि महाकवि गुणाढ्य ने पैशाची भाषा में बृहत्कथा नामक कथा-समुच्चय का निर्माण किया था, जिसकी विचित्रता, अलौकिकता तथा अद्भुत रसपेशलता की ख्याति भारतवर्ष के बाहर कांबोज देश तक फैली हुई थी। इसी कथा का पैशाची भाषा से संस्कृत में **(३) बृहत्कथामञ्जरी** के नाम से सरस पद्यानुवाद प्रस्तुत कर क्षेमेन्द्र ने पाठकों के लिए प्राचीन कहानियों का खजाना ही खोल दिया है।

बृहत्कथामंजरी

इस ग्रंथ में अट्ठारह लम्बक अर्थात् अध्याय हैं, जिनमें प्रधान कथा के साथ-साथ अवान्तर कथाएँ भी कही गई हैं। कथा का नायक है वत्सराज उदयन का पुत्र नरवाहनदत्त, जो अनेक प्रतिद्वन्द्वियों को अपनी बलशाली

भुजाओं के पराक्रम से परास्त कर गंधर्वों का चक्रवर्तित्व प्राप्त करता है। वह अनेक गंधर्वसुंदरियों से विवाह करता है, परंतु उसकी पटरानी है मदनमंचुका। यह उचित ही है कि कथा का आरम्भ वत्सराज उदयन तथा वासवदत्ता की रोमांचक प्रेम-कहानी से होता है। अवंति-नरेश उदयन लावणक नामक स्थान में वासवदत्ता के आग में जल जाने की दुर्घटना से दुःखित होता है तथा पद्मावती से विवाह करता है (३ लम्बक)। अनंतर नरवाहनदत्त का जन्म होता है (४ ल०) जिसके दर्शन के लिए विद्याधर शक्तिवेग आता है और चार विद्याधरियों के साथ अपने विवाह की कथा कहता है। इसके वाद सूर्यप्रभ का विचित्र चरित्र है (६ ल०) कलिंगदत्त की राजपुत्री मदनमंचुका के साथ नरवाहनदत्त का विवाह होता है (७ ल०), परंतु उसके पहले कथा का नायक अन्य चार सुंदरियों से विवाह किये रहता है। मदनमंचुका को वह मानसवेग से युद्ध में विजयी होकर, पत्नी के रूप में ग्रहण करता है, तथा विद्याधरों का चक्रवर्ती सम्राट् बनकर वह अपने जीवन को सानंद बिताता है।

इसकी मुख्य कथा को परिपुष्ट करने के लिए अनेक अवांतर कथाएँ जोड़ी गई हैं। 'वेतालपंचविंशति', अर्थात् सुविख्यात 'वेताल पचीसी' इसी के अंतर्गत वर्णित है। स्थल-विशेषों पर क्षेमेन्द्र ने देवी-देवताओं की भव्य स्तुतियों को भी लिखकर इसे शोभन बनाया है। पंचदश लम्बक में (१५। १६८) श्वेतपति भगवान् नारायण की स्तुति शांतिपर्व की एतत् स्तुति से नितान्त साम्य रखती है। ऋतुओं तथा सौंदर्य का वर्णन विशेषतः पेशल, स्निग्ध तथा चमत्कारपूर्ण है। कथामुख में चण्डमहासेन के गजराज के वर्णन में प्रयुक्त मालोपमाओं की छटा सातिशय हृदयावर्जनीय है (२।३५-३८)। वासवदत्ता के सौंदर्य-वर्णन में कलापक्ष का रुचिर निर्वाह है। इसी प्रकार अंतिम लम्बक में वसंत की सुषमा का भव्य विन्यास बड़ा ही रमणीय है। (१८।४।१६)। उपदेश की हृदयंगमता का परिचय, काल की प्रभावशालिता के वर्णन में, यहाँ (१८।५०।६७) भी मिलता है—

"लक्ष्मीरम्भा-कुठारस्य भोगाम्भोदनभस्वतः।
विलासवनदावाग्नेः को हि कालस्य विस्मृतः॥

न गुणा हीनविद्यानां श्रीमतां क्षीणसम्पदाम् ।
कृतान्तपण्यशालायां समानः क्रयविक्रयः ॥"
[१८।५४-५५]

बोधिसत्त्वावदान

क्षेमेंद्र की अन्य विशाल कथात्मक कृति है (४) **'बोधिसत्त्वावदान-कल्पलता'** जिसमें भगवान् बुद्ध के प्राचीन जन्मों से सम्बद्ध पारमितासूचक आख्यानों का पद्यबद्ध वर्णन है। हीनयान में जो स्थान जातकों का है वही महायान में अवदानों का है। 'अवदान' का अर्थ है शुभचरित्र। इन कथाओं में महायान की षट् पारमिताओं अर्थात् पूर्णताओं का निर्देश है, जिनकी प्राप्ति पर ही बोधिसत्त्व की पदवी निर्भर रहती है। इनमें सबसे महनीय है प्रज्ञापारमिता, ज्ञान की पूर्णता, जिसकी प्राप्ति होने पर ही बोधिसत्व का स्वरूप निष्पन्न होता है। इस कल्पलता में १०८ पल्लव (कथाएँ) हैं, जिनमें अन्तिम पल्लव का निर्माण, पिता की मृत्यु हो जाने पर, क्षेमेंद्र के पुत्र सोमेंद्र ने मंगलमयी पूर्ति की दृष्टि से की।

सोमेंद्र कृत भूमिका से भी अनेक ज्ञातव्य बातों का पता लगता है। 'रामयश' नामक किसी प्रेमी बन्धु तथा 'नक्क' नामक किसी काश्मीर बौद्ध भिक्षु के आग्रह से इसकी रचना आरम्भ की गई। परन्तु ग्रंथ की विशालता को लक्ष्य कर क्षेमेंद्र ने तीन पल्लवों में ग्रंथ समाप्त कर दिया। तदनन्तर स्वप्न में सुगत ने स्वयं कवि को लिखने का आदेश दिया। पूरे ग्रंथ की रचना इसी सौगत आदेश का परिणत फल है। सोमेंद्र की भूमिका से पता चलता है कि कल्पलता की रचना **महाराजा** अनन्त के राज्यकाल में संपन्न हुई। अपनी रचना के डेढ़ सौ वर्षों के भीतर ही इसे तिब्बती भाषा में अनूदित होने का गौरव प्राप्त हुआ। एक वैष्णव कवि की कृति होने पर बौद्ध समाज में इतना आदर पाना क्षेमेंद्र की धार्मिक उदारता, विशाल-हृदयता तथा सुन्दर कार्यशैली का पर्याप्त द्योतक है। १२०२ ईस्वी में तिब्बत के एक मान्य पण्डित कुन्दगह-र्ग्याल-म्तशन् को काश्मीर-यात्रा में काश्मीरी विद्वान् शाक्यश्री पण्डित ने इस ग्रंथ को उपहार में दिया और लगभग ७० वर्षों के

अनन्तर भारतीय पण्डित महाकवि लक्ष्मीकर की सहायता से तिब्बत के विख्यात विद्वान् 'सोन्तोन् लोचव (भोटिया अनुवादक) ने चंगेज खाँ के पौत्र चीन सम्राट कुवले खाँ के धार्मिक गुरु 'फगूफा' की आज्ञा से इसका पद्यानुवाद प्रस्तुत किया। संतोन् की शैली इतनी सुंदर तथा रोचक बताई जाती है कि कल्पलता का यह अनुवाद तिब्बती भाषा का एक नितांत श्लाघनीय, अनुकरणीय और उदात्त काव्य माना जाता है।

सोमेंद्र

क्षेमेंद्र के पुत्र **सोमेंद्र** को कतिपय विद्वान् कथासरित्सागर के रचयिता सोमदेव से अभिन्न व्यक्ति मानते हैं, परंतु इस कथन में तनिक भी सार नहीं है। यदि इस मान्यता के लिए कोई आधार होता, तो पिता के द्वारा किये गये प्रौढ़ अनुवाद के रहते पुत्र को उसी ग्रंथ का अनुवाद करने की आवश्यकता ही क्यों होती? दूसरी बात यह है कि सोमेंद्र द्वारा रचित 'जीमूतवाहन' का अवदान सरित्सागर के तद्विषयक आख्यान से, शैली तथा घटनाचक्र की दृष्टि से एकदम पृथक् है। कल्पलता की शैली नितांत स्निग्ध, रसपेशल तथा हृदयावर्जक है। इसी लिए सोमेंद्र ने इस ग्रंथ की तुलना उस अविनश्वर 'विहार' से की है, जो अपने वर्णमय विग्रह के द्वारा श्रद्धालु बौद्धों तथा काव्यप्रेमी सहृदयों का सर्वदा अनुरंजन करता रहेगाः—

"संसक्तनेत्रामृतचित्राः कालेन ते ते विगता विहाराः।
सरस्वतीतूलिकया विचित्रवर्णक्रमैर्कोल्लिखितावदानाः॥
तातेन योऽयं विहितो महार्थैः सन्नन्दनः पुण्यमयो विहारः।
न तस्य नाशोऽस्ति युगद्वयेऽपि जनानलोल्लासपरिप्लवेन॥"

क्षेमेंद्र कथा लिखने की कला में नितांत दक्ष हैं। कथा में यह केवल घटनाओं के विन्यास को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देते। इसी लिए कथासरित्सागर से तुलना करने पर उनकी बृहत्कथामंजरी अवश्य ही निरी घटनाओं के उल्लेख में अपूर्ण प्रतीत हो सकती है। क्षेमेंद्र की प्रतिभा का क्षेत्र दूसरा है। उनमें कलापक्ष की इतनी प्रधानता है कि वे अपने आख्यानों के वर्ण्य पदार्थों पर टिकते हैं, उन्हें भव्य वर्णनों से सजाते हैं तथा पाठकों के हृदय पर चिरस्थायी प्रभाव डालते हैं। क्षेमेंद्र की कथाएँ वृत्तप्रधान न

होकर चरित्रप्रधान हैं। रसपेशल वर्णन का रसिक कवि हृदयग्राही अवसरों को हाथ से जाने नहीं देता, प्रत्युत वह उसे अपने काव्य-कौशल से एक चिरन्तन सुंदर वस्तु बना देता है। तीनों मंजरियाँ तथा अवदानकल्पलता इसके उज्ज्वल प्रमाण हैं। 'हास्यकथा' के तो क्षेमेंद्र अधीश्वर हैं। आलोचक इनके वर्णन और चरित्र-चित्रण पर रीझ जाता है। हास्यकथा का ऐसा सिद्धहस्त लेखक संस्कृत में दूसरा नहीं है, यह निःसंदेह कह सकते हैं। क्षेमेंद्र की सिद्ध लेखनी पाठकों पर चोट करना जानती है, परंतु उसकी चोट मीठी होती है। हास्य का आघात बड़ा सधा हुआ होता है, परंतु इतनी सुंदरता से होता है कि समाज का नग्न चित्र हमारे सामने खुलकर खड़ा हो जाता है।

क्षेमेंद्र विदग्धों के ही कवि न होकर साधारण जनता के भी कवि हैं। उनकी रचना का उद्देश्य ही मनोरंजन के साथ जनता का चरित्र-निर्माण है और कि वे अवश्य ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति में पूर्णतः सफल हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर लिखे गये 'कलाविलास', चतुर्वर्गसंग्रह, चारुचर्या, नीतिकल्पतरु, समयमातृका तथा सेव्यसेवकोपदेश जैसे लघुकाय ग्रंथ लोकव्यवहार के परिज्ञान के लिए नितांत उपादेय तथा सरस ग्रंथ हैं। 'दशावतार चरित' इनकी अन्तिम रचना है (समाप्तिकाल ४१ लौकिकाब्द= १०६६ ई०)। इस स्वतंत्र, प्रौढ़ महाकाव्य में विष्णु के दशावतारों का बड़ा ही रोचक तथा विस्तृत वर्णन किया गया है। इसकी भाषा बड़ी ही मीठी, सरस तथा सुबोध है। न तो कहीं पांडित्य का प्रदर्शन है और न कहीं शब्द में अनावश्यक चमत्कार उत्पन्न करने का व्यर्थ प्रयास। इनकी भाषा में प्रवाह है। पदावली इतनी स्निग्ध है कि कहीं भी अनमेल शब्दों का प्रयोग नहीं दीखता।

अरण्यवास के आनंद का यह वर्णन कितना सुन्दर है—

दयितजनवियोगोद्वेगरोगातुराणां
विभवविरहदैन्यम्लानमानाननानाम्
शमयति शितशल्यं हन्त नैराश्यलक्ष्य-
द्भवपरिभवतान्तिः शान्तिरन्ते वनान्ते ॥

[जिन लोगों का हृदय दयितजनों के वियोग के उद्वेगरूपी रोग से आक्रांत है और धन के नाश से उत्पन्न होनेवाली दीनता के कारण जिनका मुख फीका पड़ गया है, उनके हृदयगत तेज बाण को दूर हटाने में एक ही वस्तु समर्थ होती है और वह है अन्त में वन में निवास। उनके चित्त में निराशा के कारण संसार के परिभव का क्लेश दूर भाग जाता है और वे शांति का आनंद लेने लगते हैं।]

मंखक

क्षेमेंद्र के बाद एक शताब्दी के भीतर ही काश्मीर के एक दूसरे महाकवि ने नवीन महाकाव्य रचा। इनका नाम मंखक है। 'श्रीकण्ठचरित' में मंखक ने भगवान् शंकर और त्रिपुर के युद्ध का साहित्यिक वर्णन प्रस्तुत किया है। अपने कैलासवासी पिता के आदेश से कवि ने इसका प्रणयन किया था। प्रसिद्ध आलंकारिक 'रुय्यक' इनके गुरु थे। ये गुरु-शिष्य कश्मीर के राजा जयसिंह (११२६–५० ई०) के सभा पण्डित थे।

श्रीकंठचरित में २५ सर्ग हैं। मूल कथानक तो छोटा है, पर महाकाव्य की पूर्ति के लिए दोला, पुष्पावचय, जलक्रीड़ा, संध्या, चंद्र, चंद्रोदय, प्रसाधन, पानकेलि, क्रीड़ा तथा प्रभात का विस्तृत वर्णन ७वें सर्ग से लेकर १६वें सर्ग तक क्रमशः किया गया है। २५वाँ सर्ग तो तत्कालीन काश्मीरक कवियों का साहित्यिक वर्णन है जो कवि के ज्येष्ठ भ्राता अमात्य 'अलंकार' की सभा को अलंकृत करते थे। यह बड़ा ही जीवंत तथा रोचक वर्णन है। इसका साहित्यिक मूल्य बहुत ही अधिक है। कविता उच्चकोटि की है। काश्मीरी कवियों की कविता का एक राग ही अलग है जिसकी माधुरी सहृदयों को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करती है। पदों का सुन्दर विन्यास, अर्थों की मनोहर कल्पना, भक्ति का उद्रेक—इसकी कुछ विशिष्टतायें हैं। द्वितीय सर्ग में कवि और काव्य की मार्मिक समीक्षा है। रमणीय उक्तियों में दोष का पता उसी प्रकार जल्दी चलता है जिस प्रकार धुले हुए वस्त्र में जरा सा धब्बाः—

सूक्तौ शुचावेव परे कवीनां सद्यः प्रमादस्खलितं लभन्ते।
अधौतवस्त्रे चतुरं कथं वा विभाव्यते कज्जलबिन्दुपातः ॥२।२६॥

बिना कठिन परीक्षा के कविता का गुण नहीं ज्ञात होता। बिना आँधी के मणिदीप और साधारण दीपक का अन्तर मालूम नहीं पड़ता—

नो शक्य एव परिहृत्य दृढ़ां परीक्षां
ज्ञातुं मितस्य महतश्च कवेर्विशेषः।
को नाम तीव्रपवनागममन्तरेण
भेदेन वेत्ति शिखिदीपमणिप्रदीपौ ॥—२।३७

ये उक्तियाँ मंखक के समीक्षात्मक विचार को प्रकट करती हैं।

मंखक ने काव्यशैली के लिए कालिदास का अनुगमन किया है और इसलिए इनके काव्य में कोमल पदावली के सरस भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। अन्धकार का यह वर्णन मौलिक, चमत्कारपूर्ण और मनोरम है। कवि कहता है कि सायंकाल का सूर्य जगत् के व्यवहार की गणना करने वाले भगवान् काल का सोने का बना हुआ मसीपात्र (दावात) है। सायंकाल में जब वह (सूर्य) उल्टामुख करके गिर पड़ता है तो वही काली स्याही दावात से निकल कर सारे संसार में अन्धकार के रूप में फैल जाती है—

किन्नु कालगणनापतेर्मषीभाण्डमर्थमवपुर्हिरण्मयम्।
तत्र यद्विपरिवर्तिताननो लिम्पति स्म धरणीं तमोमषी ॥

—श्रीकण्ठचरित १०।११

११

श्रीहर्ष

श्री हर्ष के पिता नाम 'हीर' तथा माता का नाम 'मामल्लदेवी' था। हीर पण्डित काशी के राजा गहड़वालवंशी विजयचन्द्र की सभा के प्रधान पण्डित थे। सभा में किसी एक विशिष्ट पण्डित के साथ इनका शास्त्रार्थ हुआ। सुनते हैं कि यह विशिष्ट विद्वान् मिथिला देश के प्रसिद्ध नैयायिक

उदनाचार्य थे। शास्त्रार्थ में हीर हार गये। मरते समय श्रीहर्ष से कह गये कि मुझे पराजय होने का बड़ा दुःख है। यदि तुम सुपुत्र हो तो उस पण्डित को शास्त्रार्थ में अवश्य जीतना। श्रीहर्ष ने गंगातीर पर 'चिन्तामणि' मंत्र का वर्ष भर तक जप किया। भगवती त्रिपुरा प्रत्यक्ष हुईं। अप्रतिभ पाण्डित्य का वरदान दिया। श्रीहर्ष की वैदुषी ऐसी प्रखर निकली कि इनकी कविताओं को कोई समझता ही न था। पुनः तपस्या की। भगवती ने कहा—आधी रात के समय माथे को जल से गीला रखो और दही पीओ। श्रीहर्ष ने वैसा ही किया। तब कहीं जाकर लोग इनके काव्यों को समझने में समर्थ हुये। विजयचन्द्र की सभा में गये। सभा में जाते ही राजा की स्तुति में यह सुन्दर पद्य कह सुनाया—

गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च
मास्मिन् नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्री-
रस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्री।

काश्मीर में इनके ग्रंथों का बड़ा आदर किया गया। प्रसिद्ध है कि ये मम्मट के भांजे थे। चांडू पंडित ने अपनी टीका के आरम्भ में श्रीहर्षः स्वपितुर्विजेतुरुदयनस्य कृतीः खंडनखंडखाद्य—नामकग्रन्थेनाखंडयत्' लिखकर उक्त प्रसिद्धि का समर्थन किया है। अतः इसके ठीक होने में अब सन्देह नहीं मालूम पड़ता।

श्री हर्ष के ऊपर लिखित वृत्तान्त की परिपुष्टि नैषध में उल्लिखित कथनों से ठीक ठीक होती है। पिता का 'हीर' तथा माता का मामल्लदेवी नाम था[1]। कान्यकुब्ज के राजा की सभा में इनका बड़ा सम्मान होता था क्योंकि इन्होंने कान्यकुब्जेश्वर से आसन तथा पान के बीड़ा मिलने की बात लिखी है।

---

१ श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालंकारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
यह पद्यार्ध प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में आता है।

कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राजा जयचन्द्र की सभा में श्रीहर्ष रहते थे। सम्भवतः जयचन्द्र के पिता विजयचंद्र के दरबार में भी बहुत दिन तक रहे होंगे, क्योंकि इन्हीं के नाम पर कविवर ने 'विजय-प्रशस्ति' लिखी थी।[1] काश्मीर में इनके काव्य की बड़ी प्रशंसा हुई थी। इस वृत्तांत को कविवर ने स्वयं लिखा है[2]। इस प्रकार ऊपर लिखित घटनायें सत्य प्रमाणित होती हैं और श्रीहर्ष कान्यकुब्ज के नरेश विजयचन्द्र (११५४ ई०–११६६ ई०) तथा जयचन्द्र की सभा के एक परम मूल्यवान रत्न ठहरते हैं।

वैदुषी

श्री हर्ष केवल प्रथम कक्षा के महाकवि ही न थे, प्रत्युत ऊँचे दर्जे के प्रकाण्ड पण्डित भी थे। श्रीहर्ष में पाण्डित्य तथा वैदग्ध्य का अनुपम सम्मिलन था। ये जिस प्रकार हृदय कली को खिलानेवाली स्वभाव-मधुरा कविता लिखने में नितान्त दक्ष थे, उसी प्रकार मस्तिष्क को आश्चर्यान्वित करनेवाली अनेक पण्डितों का मद चूर्ण करनेवाली, तर्क-कर्कशा वाणी के गुम्फन में भी अत्यन्त प्रवीण थे। जिस श्रीहर्ष ने काव्यकला के अनुपम शृंगारभूत नैषधीय-काव्य की रचना की है, उसी श्रीहर्ष ने प्रखर पाण्डित्य के चूडान्त निदर्शन रूप 'खण्डनखण्डखाद्य' की सृष्टि है। जिस श्रीहर्ष ने अपनी मनोहारिणी कविता के कारण काश्मीरदेश में अपनी विमलकीर्ति-पताका फहराई, उसीने जयचन्द्र के दरबार में अपने पूज्य पिता को परास्त करनेवाले मानी तार्किक-प्रकाण्ड उदयन का भी मद चूर्ण कर डाला। कविवर की यह उक्ति नितान्त युक्ति-युक्त है—

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भांकुरैरास्तृता।
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम्॥

१ तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनाताततस्य............(५।१३८)
२ काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिर्महा-(१६।१६१)

इस वचन को सुनकर ही उस तार्किक को हार मानकर इनकी श्रेष्ठता स्वीकार करनी पड़ी थी—

हिंस्राः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्यता-
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम् ।
केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः
संहर्षो महिषैश्च यस्य मुमुचे साहंकृते हुंकृते ॥

सच तो यह कि श्रीहर्ष को हुये आज लगभग आठ सौ वर्ष व्यतीत हो गये, परन्तु दीर्घ काल में केवल पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़ इनके जोड़ का कवि विरला ही होगा ।

हमारे चरितनायक केवल कवि-पण्डित ही न थे, प्रत्युत एक प्रचण्ड साधक तथा उन्नत योगी थे। कहा जा चुका है कि गुरु से दीक्षा लेकर श्रीहर्ष के चिन्तामणि मन्त्र को सिद्ध किया था जिससे प्रसन्न हो भगवती सरस्वती ने इन्हें अलौकिक प्रतिभा प्रदान की थी। चिन्तामणि मंत्र का उद्धार तथा मंत्र जपने का उच्च फल कवि ने स्वयं नैषध में सरस्वती मुख से कहलाया है (१४।८८)। जब चिन्तामणि मंत्र के जापक द्वारा किसी व्यक्ति के सिर पर हाथ रख देने से वह सुन्दर श्लोकों की अनायास ही रचना करने लगता है (१४।८६), तब पावन गंग के तीर पर इस परम प्रसिद्ध मंत्र को सिद्ध करने वाले श्रीहर्ष ने अद्भुत कल्पनामय नैषधकाव्य की रचना कर डाली, इसमें कौन आश्चर्य है ? श्रीहर्ष उच्चकोटि के योगी भी थे। अपने ही लिखा है कि वे समाधि में ब्रह्मानन्द का आस्वादन लिया करते थे। धन्य है ऐसा परम श्लाघनीय महात्मा कवि और धन्य है उसकी लोकोत्तर कल्पना का विकास तथा अद्भुत पांडित्य की प्रखरता ! अपने आदरणीय महाकाव्य के अन्त में श्री हर्ष ने अपने विषय में जो यह लिखा है वह निःसन्देह सत्य है (२२।१५५):—

ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्
यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम् ।

यत्-काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्री श्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम्।

ये कान्यकुब्ज नरेश जयचन्द्र की सभा में विद्यमान थे। जयचन्द्र के वंशवाले राजपूत गहड़वाल कहलाते थे। ग्यारहवीं तथा बारहवीं सदी में इस वंश का उत्तरी भारत में बड़ा नाम था। ये लोग कन्नौज के राजा कहलाते थे। परन्तु पीछे चलकर इन्होंने काशी को अपनी राजधानी बनाई। जयचन्द्र काशी से ही अपने विस्तृत साम्राज्य पर शासन करते थे। इनके पिता विजयचन्द्र ने तथा इन्होंने मिलकर ११५६ ईस्वी से लेकर ११६३ ईस्वी तक राज्य किया था। अतएव कविवर श्रीहर्ष का आविर्भाव काल विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र के सभापण्डित होने के कारण द्वादश शताब्दी का उत्तरार्ध ठहरता है।

ग्रन्थ

श्रीहर्ष ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। इन सब ग्रंथों का नाम कविवर ने अपने नैषधीयचरित में उल्लिखित किया है। नैषध में उल्लेख-क्रम से ग्रंथों नाम नीचे दिये जाते हैं:—

(१) **स्थैर्य-विचारण-प्रकरण**—नाम से ही यह ग्रंथ दार्शनिक विषय पर लिखा हुआ जान पड़ता है। अनुमान से कहा जा सकता है कि इसमें क्षणिकवाद का निराकरण होगा। (४।१२३)

(२) **विजय प्रशस्ति**—जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ में जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र की, जो उस समय के प्रसिद्ध योद्धा तथा विजयी वीर थे, प्रशंसात्मक प्रशस्ति लिखी गई थी। (५।१३८)

(३) **खण्डनखण्ड**—श्रीहर्ष का यही प्रसिद्ध खण्डनखण्डखाद्य नामक वेदान्त-ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ वेदान्त शास्त्र का एक अनुपम रत्न है। इसमें नैयायिक तर्क-प्रणाली का अनुकरण कर लेखक ने न्याय के सिद्धान्तों का खण्डन तथा अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का मण्डन किया है। पाण्डित्य

की दृष्टि से यह ग्रंथ उच्च कोटि का है और श्रीहर्ष की अलोकसामान्य शास्त्र चातुरी प्रदर्शन कर रहा है (६।११३)।

(४) गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति—नं० २ की तरह यह भी प्रशस्ति है जिसको ग्रन्थकार ने गौड़ भूमि (बंगाल) के किसी राजा की प्रशंसा में बनाया था (७।११०)।

(५) अर्णववर्णन—नाम से यह समुद्र का वर्णन जान पड़ता है (६।१६०)।

(६) छिन्द प्रशस्ति—छिन्द नामक किसी राजा के विषय में लिखी गई काव्य-पुस्तक जान पड़ती है (१७।२२२)। 'छिन्द' किस देश का राजा था और उसका निवास-स्थान कहाँ था ? यह आजकल बिलकुल अज्ञात है।

(७) शिवशक्तिसिद्धि—यह ग्रंथ शिव तथा शक्ति की साधना के विषय में लिखा गया प्रतीत होता है। कहीं-कहीं शक्ति के स्थान पर 'भक्ति' पाठ है। तदनुसार इसका 'शिवभक्तिसिद्धि' भी नाम हो सकता है (१८।१५४)।

(८) नवसाहसांकचरितचम्पू—श्रीहर्ष के शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने नवसाहसांक के चरित को चम्पू के रूप में वर्णन किया था (२२।१५१)। 'नवसाहसांक' राजा भोज के पिता सिन्धुराज का विरुद विख्यात है। पद्मगुप्त ने 'नवसाहसांकचरित' नामक महाकाव्य में सिन्धुराज के ही चरित का वर्णन किया है। नहीं कहा जा सकता कि श्रीहर्ष का यह चम्पू सिन्धुराज के विषय में था अथवा 'नवसाहसांक' विरुदधारी किसी अन्य राजा के विषय में।

(९) नैषधीयचरित—इस महाकाव्य में निषध देश के अधिपति राजा नल का पावन चरित बड़ी ही उत्तम रीति से वर्णन किया गया है। इसमें २२ लम्बे-लम्बे सर्ग हैं जिसमें २८३० श्लोक हैं। तिसपर नल-चरित का एक देश ही श्रीहर्ष ने यहाँ वर्णन किया है। आरम्भ में राजा नल का विशद

वर्णन है, नल का मृगया-विहार, हंस का ग्रहण तथा मुक्ति का वर्णन है। राजा हंस को दमयंती के पास भेजते हैं। हंस वहाँ जाता है और अकेले में जाकर नल के सौन्दर्य का वर्णन करता है। दमयन्ती के पूर्वानुराग का बड़ा ही प्रशस्त वर्णन है। राजा भीम अपनी कन्या दमयन्ती के लिए स्वयंवर की रचना करते हैं। इंद्र, वरुण, अग्नि और यम देवता भी दमयन्ती के अलोक-सामान्य रूपवैभव की कथा सुन स्वयंवर में पधारना चाहते हैं। राजा नल को ही तिरस्कारिणी विद्या के सहारे अपना दूत बना महल में भेजते हैं। नल देवताओं की ओर से खूब पैरवी करते हैं, परंतु दमयंती का नल-विषयक निश्चय तनिक भी नहीं डिगता। स्वयंवर रचा जाता है। चारों देवता नल का ही रूप धारण कर सभा में उपस्थित होते हैं। सरस्वती स्वयं उसी सभा में आती है और राजाओं का परिचय देती है। नल की प्रतिकृति-वाले पाँच पुरुषों को देख दमयंती घबड़ा जाती है। अंत में देवतागण उसकी पतिभक्ति से प्रसन्न होकर अपने विशिष्ट चिन्हों को प्रकट करते हैं, जिससे दयमंती राजा नल को सहज ही पहचान लेती है। दोनों का विवाह होता है। अब देवतागण स्वर्ग को लौटते हैं। तब कलि के साथ घनघोर वाग्युद्ध छिड़ जाता है। देवता कलि को हराकर नास्तिकवाद का मुँहतोड़ उत्तर देते हैं। नल-दमयंती के प्रथम मिलन रात्रि का रुचिर वर्णन कर ग्रंथ समाप्त होता है। संक्षेप में नैषध का यही सार है। जिस प्रकार खंडनखंडखाद्य श्रीहर्ष के दार्शनिक ग्रंथों में मुकुट-मणि है, उसी प्रकार यह नैषध उनके काव्यों का अलंकार है।

श्रीहर्ष की दार्शनिकता

श्रीहर्ष का दार्शनिक ज्ञान नितांत प्रौढ़ तथा उच्चकोटि का है। संस्कृत साहित्य में श्रीहर्ष को छोड़कर शायद ही कोई दूसरा कवि मिले जिसमें कवित्व तथा दार्शनिकत्व का, प्रतिभा तथा पाण्डित्य का, इतना मंजुल सम्मिलन हो। नाना दर्शनों के विषय में उसका ज्ञान चतुरस्त्र था। वे अद्वैत वेदांत के पौढ़ आचार्य हैं जिनका 'खंडन खंड खाद्य' नैयायिकों की विशिष्ट शैली में लिखा गया अद्वैत वेदांत का चूडांत ग्रंथ हैं। श्रीहर्ष का दार्शनिक

दृष्टिकोण पूर्ण अद्वैती है। वह अपनी व्यंग्यमयी शैली में अन्य दार्शनिकों की खिल्ली उड़ाने में बड़े ही पटु हैं। नैषध का १७ वाँ सर्ग दार्शनिक पाण्डित्य का निकष ग्रीवा है। चार्वाक मत का मंडन तथा खंडन इतनी प्रौढ़ता से किया गया है कि यह सर्ग किसी दर्शन ग्रंथ का अंश प्रतीत होता है, काव्य ग्रंथ का नहीं। समग्र काव्यों में यह सर्ग कुछ बेतुका सा भले ही प्रतीत हो, परंतु पांडित्य की दृष्टि से यह नितांत सुंदर है। चार्वाक की ओर से जो विचार उपस्थित किये गए हैं वह आज के भौतिकवादियों के तर्कों तथा सिद्धांतों को भी परास्त करनेवाले हैं।

कुलों में अनंत दोषों की सद्भावना के कारण जाति की सदोषता, यज्ञ में पशुहिंसा, अग्निहोत्र तथा त्रयी की जीविकोपयोगिता आदि चार्वाक की ओर से प्रस्तुत किये गए प्रौढ़ सिद्धांत हैं। मुक्ति के लिए उद्योग न पुरुष को करना चाहिए और न स्त्री को परंतु उसका अधिकारी तो तृतीय प्रकृति (नपुंसक) ही होता है—इसे सिद्ध करने के लिए 'अपवर्गे तृतीया' सूत्र के रचयिता महर्षि पाणिनि ही खींच लाये गए हैं। श्रीहर्ष ने वैशेषिक दर्शन को अंधकार निरूपक दर्शन मानकर उसकी बड़ी हँसी उड़ाई है। उनका कहना है कि जिस दर्शन का आद्य प्रवर्तक ही 'उलूक' नामधारी आचार्य हैं, वही तो अंधकार के विचार करने में समर्थ हो सकता है (नैषध २२।३६) इस उक्ति में मजेदार व्यंग्य के साथ पांडित्य का भी विशेष पुट है। 'ननु दशमं द्रव्यं तमः कुतो नोक्तम्' का पूर्वपक्ष कर तम का दशम द्रव्यत्व खंडन करनेवाले वैशेषिकों पर उलूक होने की बात–व्यर्थ के विचारों के मीमांसक होने की घटना—बड़े सुंदर ढंग से सिद्ध की गई है। वह न्याय शास्त्र के रचयिता महर्षि गोतम को इसलिए 'गोतम' (पक्का बैल) मानता है कि वह मुक्त दशा में चेतन प्राणियों को विशेषगुण से हीन बतलाकर उनकी पत्थर के समान निर्जीव स्थिति को स्वीकार करते हैं।[1] मुक्त दशा में जीव

---

१ मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥
—१७।७५

में सातिशय आनंद के प्रतिपादक अद्वैत की दृष्टि से नैयायिक मुक्ति के ऊपर रमणीय व्यंग्योक्ति है। श्रीहर्ष का अपना मत अद्वैत वेदांत है और इसका उन्होंने स्थान स्थान पर ध्वनि रूप से तथा प्रत्यक्षरूप से प्रतिपादन किया है। स्वयम्वर में नल की आकृति धारण करनेवाले पाँच नलों में से सत्यभूत पंचम नल में दमयन्ती की श्रद्धा नहीं उत्पन्न हुई, क्योंकि मायानलों का रूप इतना चाकचिक्य-युक्त था कि उसकी दृष्टि इन्हीं के देखने में फँसी रह गयी जिस प्रकार पंचमकोटि में आनेवाले परमार्थभूत अद्वैत तत्त्व में लोगों की श्रद्धा नहीं जमती। सत्, असत्, सदसत् तथा सदसद्-विलक्षण—इस पक्ष-चतुष्टय को लेकर ही सांख्य आदि दर्शन अपने सिद्धांतों को प्रतिपादित कर लोगों को मतिभ्रांत किया करते हैं। इनसे विलक्षण है अद्वैत जो इस चतुष्टय से भिन्न होने के कारण पाँचवीं कक्षा में आता है।

साप्तुं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां
तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे।
श्रद्धां दधे निषधराड्विमतौ मताना
मद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः। (१३।३६)

इस परम दार्शनिक पद्य से यही अर्थ निकलता है कि सब मतों में अद्वैततत्त्व ही अधिक ठीक है। अन्य मतों की बात सत्य हो सकती है परंतु वेदांत-प्रतिपादित अद्वैततत्त्व ही **सत्यतर** है—उससे अधिक ठीक है। यह उक्ति खंडनखंडखाद्य के रचयिता के अनुरूप ही है।

श्रीहर्ष ने अपने दार्शनिक रूप का भी परित्याग कर एक नवीन चोला कहीं कहीं पहन लिया है। वे मीठी चुटकी लेने और चुहलबाजी करने के बड़े ही शौकीन हैं परंतु उनका लक्ष्य होता है गंभीर शास्त्र तथा प्रौढ़ शास्त्रचर्चा। लेकिन सर्वत्र वे छिपी हुई पते की बात बड़े सुन्दर ढंग से कह डालते हैं। वैयाकरणों की यह चुटकी बड़ी मजेदार है—

भङ्क्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पं पदप्रयोगाध्वनि लोक एषः।
शशो यदस्यास्ति शशी ततोऽयमेवं मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः॥
(२२।८४)

लोक और व्याकरण में पद-प्रयोग के विषय में सदा से विवाद चलता आ रहा है। व्याकरण को बड़ा घमंड है कि जो शब्द मैं सिद्ध करूँगा, लोक को उसे ही प्रयोग में लाना पड़ेगा। परंतु इस विषय में व्याकरण से बढ़कर लोक का ही प्रामाण्य अधिक है। लोक व्याकरण के पद प्रयोगविषयक घमंड को चूर चूर कर डालने में खूब ही समर्थ हुआ है। तभी तो मृग धारण करने पर भी तथा व्याकरण की रीति से सुसंगत होने पर भी लोक 'शशी' के जोड़-तोड़पर चन्द्रमा को 'मृगी' कह नहीं पुकारता। फल यही निकला कि पद के प्रयोग के लिये लोक का ही अधिक प्रामाण्य है। बेचारे व्याकरणवाले 'मृगोऽस्यास्ति' विग्रह कर 'मृगी' शब्द की व्युत्पत्ति करते ही रह गये, परन्तु लोक ने इनका तनिक भी ख्याल नहीं किया और अपनी मनमानी ही की, 'मृगी' का चन्द्रमा के अर्थ में प्रयोग होने ही न दिया। वैयाकरणों पर क्या ही सुन्दर चुटकुला है।

कलि के मुँह से श्रीहर्ष ने पाणिनि के एक सूत्र का विचित्र ही अर्थ करवा डाला है। जरा पाणिनि के सूत्रों को रटनेवाले इस नवीन अर्थ को समझें और कवि की अनोखी सूझ को सराहें—

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ॥ १७।७०।

स्त्री तथा पुरुष प्रकृति दोनों काम में ही आसक्त रहा करें—अपवर्ग (मोक्ष) तो केवल तृतीया प्रकृति (नपुंसकों) के ही लिये है। 'अपवर्गे तृतीया' सूत्र बनाकर पाणिनि ने भी पूर्वोक्त बात को स्वीकार किया है। कवि की सूझ अनूठी है, बिचारे पाणिनि को भी अछूता नहीं छोड़ा। उन्हें भी इस दल-दल में ला घसीटा।

श्रीहर्ष के ऊपर प्राचीन कवियों में से कालिदास तथा माघ का प्रभाव विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। दमयन्ती स्वयम्वर की कल्पना का जनक इन्दुमती स्वयम्वर ही निःसंदेह है। कालिदास ने जहाँ एक सर्ग के भीतर ही इंदुमती के स्वयम्वर का वर्णन प्रस्तुत किया है, वहाँ श्रीहर्ष ने लम्बे लम्बे चार सर्गों में (११–१४ सर्ग) दमयंती का स्वयम्वर बड़े ही घटाटोप

के साथ किया है जहाँ भारतवर्ष के ही गरायमान्य महीपाल नहीं आते, प्रत्युत नाग, यक्ष, राक्षस लोग भी पधारते हैं। यह सर्ग-चतुष्टय स्वयं एक प्रशस्ति काव्य प्रतीत होता है। यह वन्दीजनों की शैली में निर्मित प्रशस्त प्रशस्ति-काव्य होने पर भी पूरे काव्य की अन्विति में पूर्ण रूप से नहीं घटता। माघ का प्रभाव प्रभात-वर्णन (नैषध सर्ग १६) के ऊपर स्पष्टतः विद्यमान है। अन्तर है शैली का। माघ के प्रभात वर्णन में स्वाभाविकता का साम्राज्य है, तो श्रीहर्ष के वर्णन में अतिशयोक्ति का भव्य विन्यास है। परन्तु नैषध का यह पूरा सर्ग माघ के एकादश सर्ग के लिए ऋणी है।

समीक्षण

संस्कृत काव्य के अपकर्षकाल में आलोचकों की दृष्टि श्रीहर्ष के महनीय काव्य की ओर गड़ी हुई है, क्योंकि अन्धकार युग को आलोक प्रदान करने वाला यही गौरवमय प्रशंसनीय काव्य है। श्रीहर्ष अपनी अलौकिक प्रतिभा तथा अपने काव्य की मधुरता से स्वतः परिचित थे और इनका उन्हें गर्व भी था। अपने काव्य के लिए 'कविकुलादृष्टाध्वपान्थ' (८।१०६) तथा 'अन्याक्षुण्ण-रसप्रमेय-भणिति' (२० सर्ग का अन्तिम पद्य) का प्रयोग उनके नवीन रसमय मार्ग के आश्रयण का संकेत कर रहा है। उन्होंने 'नवार्थघटना' की अपनी प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह इस काव्य में किया है (एकामत्यजतो नवार्थ-घटनाम्)। तथ्य यह है कि नैषधचरित में वैदग्धी तथा पाण्डिती का परम मंजुल योग काव्य की उदात्तता का पूर्ण परिचायक है। श्रीहर्ष विशुद्ध-विदग्ध पदावली के आदरणीय आचार्य हैं। सामान्य अर्थ की 'वक्रोक्ति' के द्वारा अभिव्यंजना-कला के वे पूर्ण पण्डित हैं। वे पामरजनश्लाघ्य पदावली को काव्य के लिए नितान्त हेय तथा गर्हणीय मानते हैं। नल की वियोग पीड़ा से विह्वल तथा कटाक्षक्षेप को भी भूल जानेवाली आँखों के लिए कवि अपाङ्गरूपी अपनी आँगन में थोड़े से घूमने में लँगड़ानेवाले खंजन की उपमा का प्रयोग कर 'वक्रोक्ति' का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता है[1]। अलौकिक

---

१ अजनि पङ्गुरपाङ्ग-निजाङ्गण-भ्रमिकणोऽपि तदीक्षणखञ्जनः।

—नैषध ४।४

सूझ के कारण अर्थघटना में न कहीं फीकापन दीख पड़ता है और न पुनरुक्ति। कल्पना की भव्यता के कारण वर्णन की नवीनता सर्वत्र चमत्कारिणी है। चन्द्रमा के कलंक को कवि की भावनामयी दृष्टि नाना रूपों में अंकित करती है। नल के यात्रा प्रसंग में सेनाओं के द्वारा उत्थापित धूलिराशि से पंकिल समुद्र के मंथन से उत्पन्न चंद्रमा कहीं उसी पंक को धारण करता है[1] तो कहीं दमयन्ती के मुख बनाने के लिए ब्रह्मा के द्वारा सार-भाग काट लेने पर चन्द्रमा के छेदों से नीला आकाश झलकता हुआ दीख पड़ता है[2]। एकत्र वह कलंक पंक का प्रतीक है, तो अन्यत्र वही नीले आकाश के रूप का प्रतिनिधि है।

श्रीहर्ष नारीरूप के वर्णन में बड़े प्रवीण हैं। दमयन्ती का रूप अनेक अवसरों पर वर्णित है और प्रत्येक अवसर पर एक नवीनता है। कवि में कल्पना का दारिद्र्य नहीं है। फलतः वह किसी कल्पना की पुनरुक्ति कर उसे बासी तथा फीका नहीं बनाता। विप्रलम्भ श्रृंगार के वर्णन में भी श्रीहर्ष की चातुरी (चतुर्थ सर्ग) अद्भुत तथा मनोहारिणी है। इस प्रसंग में 'चन्द्रोपालम्भ' के विषय में इनकी उक्तियाँ बड़ी ही अनूठी तथा मौलिक है। दमयन्ती ने विषम पीड़ा के उत्पादक चन्द्रमा को नाना प्रकार से इतना अधिक उलाहना दिया है कि किन्हीं आलोचकों को इसमें कृत्रिमता की भावना उत्पन्न हो सकती है, परन्तु कवि की मौलिकता में किसी को संशय नहीं हो सकता। कवि ने अपनी प्रतिभा का परिचय शब्दों के चमत्कारी नवीन अर्थों को दिखलाकर बहुत स्थलों पर किया है कृष्ण पक्ष की 'बहुल' संज्ञा का रहस्य इस घटना में है कि चन्द्रमा जैसे दुःखोत्पादक पदार्थ से हीन होने

---

१ यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत् प्रतापानलधूममञ्जिम।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ॥
—नैषध चरित १।८

२ हृतसारमिवेन्दु-मण्डलं दमयन्ती—वदनाय वेधसा।
कृतमध्य-बिलं विलोक्यते धृतगम्भीर-खनी-खनीलिम॥
—वही २।२५

के कारण इस पक्ष का बहुत ही अधिक आदर विरही जनों के द्वारा किया जाता है तथा जिस रात में चन्द्र के एकदम अभाव के कारण सत्कार की अपरिमिति (अत्युत्कर्ष) होती है वही रात इसी कारण 'अमा' (मानहीन) के नाम से पुकारी जाती है—

विरहिभिर्बहु मानमवापि यः स बहुलः खलु पक्ष इहाजनि ।
तदमितिः सकलैरपि यत्र तैर्व्यरचि सा च तिथिः किममीकृताः ॥

—नैषध ४।६३

ब्राह्मणों के राजा होने के कारण—'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' श्रुति के अनुसरण पर चन्द्रमा 'द्विजराज' नहीं कहलाता, प्रत्युत विरहियों को अपनी दंष्ट्रा रूपी कला से चर्वण करने के कारण ही वह दाँतों में श्रेष्ठ होने से इस नाम से मण्डित किया जाता है (४।७२)। इसी प्रकार श्रीहर्ष की दृष्टि में 'पञ्चशर' पद में 'पञ्च' शब्द संख्या वाचक न होकर 'प्रपञ्च' अथवा 'विस्तार' का बोधक है—

पञ्चास्यवत् पञ्चशरस्य नाम्नि प्रपञ्चवाची खलु पञ्च-शब्दः ।

श्रीहर्ष की काव्यप्रतिभा

श्रीहर्ष ने नैषधकाव्य की रचना काशी में रहते हुए किया। अतः कवि का काशी के लिए पक्षपात होना स्वाभाविक है (नैषध ११।११८-११९)। इस काव्य के अध्ययन का अधिकारी सामान्यजन न होकर विदग्धजन ही हैं। श्रीहर्ष इस बात की तनिक भी परवाह नहीं करते कि अरसिक जन इसका अनादर करेंगे। वे तो उन सुधीजनों के सम्मान को अपने काव्य की प्रतिष्ठा मानते हैं जो इस काव्य की उक्तियों के मर्म को समझने वाले हैं (नै० २२।१५०)। उनकी दृष्टि में अप्रौढ़ बुद्धिवाले पुरुष निरे बालक हैं। तथ्य यह है कि नैषध की रचना पण्डितों के निमित्त है, 'पण्डितम्मन्यों' (झूठे पाण्डित्य वाले गर्वीलों) के लिए नहीं। श्रीहर्ष ने स्वीकार किया है कि इसके भीतर स्थान-स्थान पर उन्होंने स्वयं 'ग्रंथग्रंथि' रख दिया है जिससे पण्डितम्मन्य जन इसके साथ खेलवाड़ न करें। वही सज्जन इसके आनन्द को

पाने में समर्थ हो सकता है जिसने श्रद्धापूर्वक गुरु की आराधना कर उसकी कृपा से इन ग्रन्थियों को ढीला कर लिया है। (नैषध २१।१५२) इससे नैषध का स्वरूप स्पष्ट तो हो जाता है—यह 'विद्वज्जन-बोध्य' काव्य है, पामरजन-श्लाघनीय नहीं। इसीलिए आलोचकों की दृष्टि में पर्याप्त अन्तर है। प्राचीन कविपण्डितों की दृष्टि में तो यह माघ तथा भारवि दोनों को परास्त करनेवाली साहित्यिक रचना है (उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः), परन्तु आधुनिकों की दृष्टि में कृत्रिमता का भण्डार होने के कारण यह एकदम साधारण कोटि की कृति है। सत्य इन दोनों मतों के बीच में है। 'सूक्तियों' के चमत्कार के कारण यह महाकाव्य से बढ़कर अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु काव्य में 'सूक्ति' का ही चमत्कार सर्वोपरि नहीं रहता।

श्रीहर्ष में कवि प्रतिभा अवश्य है और वह भी ऊँचे दर्जे की है; परन्तु कालिदास की रसभावमयी पद्धति से उसकी कथमपि तुलना नहीं की जा सकती। कालिदास नैसर्गिकता तथा रसभाव के द्युतिमान कवि हैं, श्रीहर्ष अलंकृत शैली के सर्वश्रेष्ठ काव्य-रचयिता हैं। श्रीहर्ष शृंगारकला के कवि हैं, परन्तु उनका शृंगारवर्णन कविहृदय का स्वाभाविक उद्गम न होकर वात्स्यायन के 'कामसूत्र' पर आधारित शास्त्रीय विवेचन की अपेक्षा रखता है। शृंगार के संयोग तथा वियोग उभय पक्षों का चित्रण यहाँ बड़े घटाटोप के साथ किया गया है, परन्तु इनमें हृदयपक्ष का अभाव है, और कलापक्ष का प्राधान्य है। विप्रलम्भ की उक्तियाँ (चतुर्थ सर्ग) बड़ी चमत्कारिणी हैं अवश्य, परन्तु वे मस्तिष्क का पोष करती हैं, मन का तोष नहीं। चन्द्र के उपालम्भ में रचित उक्तियाँ इसी प्रकार की हैं। सूक्ति के चमत्कार तथा नवीन कल्पना का प्रशंसक कौन आलोचक नहीं है परन्तु उसमें हृदय को स्पर्श करने की क्षमता बहुत ही कम है। दमयन्ती की यह उक्ति अवश्य चमत्कार-जनक है जिसमें वियोगी वधुओं के मारने के कारण अपराधी चन्द्रमा घुमा कर आकाश से कृष्णरात्रि रूपी पत्थर के ऊपर पटका जाता है जिससे तारा-रूपी छोटे-छोटे सफेद टुकड़े आकाश में उड़ कर चले गये हैं (नैषध ४।४६), परन्तु दुःख के समय इतना तर्क-वितर्क अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है।

परन्तु श्रीहर्ष वास्तव में एक सच्चे कवि हैं। वे नवार्थघटना में चतुर हैं—यह केवल डींग नहीं है, बल्कि वस्तुतः सत्य है। नख-शिख-वर्णन इसका स्पष्ट प्रमाण है। उन्हीं अंगों के वर्णन में एक नवीन स्फूर्ति दीख पड़ती है। कहीं कहीं श्लेष के माहात्म्य से सूक्तियाँ बड़ी विलक्षण हो गई हैं। तभी तो दमयन्ती के रूप को देखकर मुनि लोग भी मोहित हो रहे हैं—

अस्यां मुनीनामपि मोहमूहे
भृगुर्महान् यत् कुचशैलशीली।
नाना-रदाह्लादि मुखं श्रितोरु-
र्व्यासो महाभारत-सर्ग-योग्यः॥

(नैषध ७।९६)

अलङ्कारों में श्रीहर्ष श्लेष, यमक तथा अनुप्रास के विशेष शौकीन हैं। श्लेष की पराकाष्ठा वहाँ दीखती है जहाँ एक ही पद्य में पाँचों नलों का पृथक् वर्णन एकाकार शब्दावली में किया गया है (नैषध १३।२४)। इन अलंकारों की छटा से कविता बड़ी सुन्दर हो गई है। ये वैदर्भी रीति के कवि हैं जिसकी इन्होंने स्वयं 'धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैः' के द्वारा सुन्दर प्रशंसा की है। प्रकृति-वर्णन में भी इन्होंने जहाँ लोकव्यवहार से अप्रस्तुत विधान का संग्रह किया है, वह अवश्य ही रुचिकर हुआ है। सायंकाल के समय चारों ओर फैलनेवाले अन्धकार के ऊपर बड़ी ही सुन्दर उक्ति कवि ने की है—

ऊर्ध्वार्पितन्युब्ज-कटाह-कल्पे
यद् व्योम्नि दीपेन दिनाधिपेन।
न्यधायि तद्धूममिलद्गुरुत्वं
भूमौ तमः कज्जलमस्खलत् किम्॥

(नैषध २२।३२)

सूरज दीप के समान है जिसके ऊपर कजल बटोरने के लिए आकाश उलटे टँगे हुए कटोरे की तरह जान पड़ता है। इसमें कजल इतना अधिक हो गया है कि वह जमीन पर गिर पड़ता है और चारों ओर फैल जाता है।

लोक व्यवहार से लिया गया यह अप्रस्तुतविधान बहुत ही सुन्दर तथा हृदयावर्जक है।

सन्ध्याकाल की लालिमा पर कवि ने एक साथ ही चमत्कारिणी कल्पनायें प्रस्तुत की हैं जिनकी रोचकता से कविहृदय आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता—

कालः किरातः स्फुटपद्मकस्य वधं व्यधाद्यस्य दिनद्विपस्य।
तस्यैव सन्ध्या रुचिरास्रधारा ताराश्च कुम्भस्थलमौक्तिकानि॥
(२२।६)

कालरूपी किरात ने विकसित कमल रखनेवाले दिवसरूपी (सूंड पर लाल बिन्दुओं को धारण करने वाले) हाथी को मार डाला है। यही कारण है कि सन्ध्या के रूप में उसकी रुचिर रुधिरधारा दीख पड़ती है तथा उसके मस्तक के जो मोती बिखरे हैं वही गगनमण्डल में उदित तारे हैं।

आदाय दण्डं सकलासु दिक्षु योऽयं परिभ्राम्यति भानुभिक्षुः।
अब्धौ निमज्जन्निव तापसोऽयं सन्ध्याभ्रकाषायमधत्त सायम्॥
(२२।१२)

यह भानुरूपी भिक्षु (संन्यासी) दण्ड लेकर सब दिशाओं में दिनभर घूमता रहा है। अब सायंकाल को जलाशय में स्नान करने के लिये मानो वह सन्ध्या काल के लाल गगनमण्डल रूपी कषाय वस्त्र को ऊपर (अपने शरीर के ऊपरी भाग पर) धारण कर रहा है। सूर्य के अस्त होने के समय का यह रक्त आकाश नहीं है; बल्कि किसी स्नानार्थी संन्यासी का रक्त कषाय रखा हुआ जान पड़ता है। यह शास्त्र सम्बन्धी मौलिक सूक्ति है! एक पद्य में कविवर ने सन्ध्या-कालीन रक्त आकाश का बड़ा विलक्षण कारण ढूँढ़ निकाला है। उनका कहना है कि अस्ताचलरूपी शवरालय के पास यामान्त की सूचना देने के लिये बांग देने वाले मुर्गों के समूह के कारण पश्चिम दिशा उनकी शिखा की ललाई के कारण लाल हो रही है। यह सूक्ति अनूठी अवश्य है; परन्तु इसमें प्रकृति के निरीक्षण का सर्वथा अभाव है। प्रकृति के किसी मर्म का उद्घाटन नहीं है।

अस्ताद्रिचूडालयपक्कणालि-
च्छेकस्य किं कुक्कुटपेटकस्य।
यामान्तकूजोल्लसितैः शिखौघै-
र्दिग् वारुणी द्रागरुणीकृतेयम्। (नैषध २२।५)

मार्मिक आलोचक की दृष्टि में नैषध काव्य केवल लौकिक प्रेम का प्रशंसक प्रशस्ति-काव्य नहीं है। वह अलौकिक प्रेम की भव्य भावना तथा साधना प्रस्तुत करनेवाला अद्वैतवादी कवि का एक रहस्यमय काव्य है। विश्वास नहीं होता कि 'खण्डनखण्डखाद्य' का लेखक कवि भौतिक प्रेम के वर्णन में ही अपनी सरस्वती की कृतार्थता चाहता है। दमयन्ती का सन्देश लेकर नल के पास हंस का जाना तथा दोनों का परस्पर अविच्छिन्न मिलन कराना आध्यात्मिक जगत् के तथ्य की ओर संकेत कर रहा है। दमयन्ती तथा नल का हंस के द्वारा मिलन गुरु के द्वारा जीव तथा ब्रह्म के परम मंगलमय संयोग का भव्य निदर्शन है। इस दृष्टि से अनुशीलनकर्ता के लिए काव्य में वर्णित अन्य घटनाओं का रहस्यात्मक महत्त्व समझना कठिन न होगा।

तथ्य यह है कि नैषध काव्य एक विशाल सुसज्जित प्रासाद के समान है जिसमें सब वस्तुयें यथास्थान सुचारु रूप से अलंकृत कर रखी गई हैं तथा जिनके चुनाव तथा रमणीयता में सर्वत्र सुसंस्कृति तथा नागरिकता झलकती है। श्रीहर्ष अपने अलौकिक पाण्डित्य के लिए जितने प्रसिद्ध हैं, उतने ही वे अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा, विलक्षण वर्णन-चातुरी तथा रसमयी अनूठी उक्तियों के लिए भी विख्यात हैं। आज के आलोचक को 'परमाणुमध्याः' 'अणिमैश्वर्य-विवर्तमध्या' पदों में कृत्रिमता की गन्ध भले आवे, परन्तु पण्डित आलोचक नैषध काव्य की पाण्डित्यमयी उपमाओं पर, रमणीय रूपकों पर तथा हृदयावर्जक श्लेषों के ऊपर सदा रीझता रहा है तथा भविष्य में भी रीझता रहेगा। कालिदास की कोमल सूझ तथा नैसर्गिक कमनीयता के अभाव होने से हम श्रीहर्ष को उच्चकोटि में अवश्य नहीं रख सकते, परन्तु पण्डित-कवियों में इनका स्थान निरापद, नितान्त ऊँचा तथा महत्त्वशाली है और भविष्य में बना रहेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। ऐसे ही रसिक आलोचकों की ओर कवि ने स्वयं संकेत किया है (नैषध २२।१५२)।

इतर कवि

इन बड़े कवियों के अतिरिक्त अन्य कविजनों के काव्य कम रोचक नहीं है। **अभिनन्द** का 'कादम्बरीकथासार' काश्मीर में १० वें शतक में लिखा था। ये नैयायिक जयन्तभट्ट के पुत्र थे। सुन्दर अनुष्टुप् छन्दों में कादम्बरी की पूरी कथा कही गई है। क्षेमेन्द्र ने अभिनन्द के अनुष्टुपों की प्रशंसा की है। महाकवि **वेंकटनाथ** (१३ शतक) का 'यादवाभ्युदय' कृष्ण चरित के वर्णन में लिखा गया है। ये कवि तार्किक-शिरोमणि की उपाधि से विभूषित थे। ये कवि होने की अपेक्षा बड़े दार्शनिक थे। इन्होंने रामानुजीय दर्शन तथा मत को अपने शताधिक ग्रन्थों से इतना पुष्ट किया कि ये द्वितीय रामानुज माने जाते हैं। १७ वीं शताब्दी तथा उसके बाद द्रविड़ देश में अनेक मान्य काव्यकर्ता उत्पन्न हुए जिनमें **नीलकंठ दीक्षित** की प्रतिभा सर्वातिशायिनी है। ये उच्च विद्वत्कुल में उत्पन्न हुए थे। इनके पितामह प्रसिद्ध वेदान्ती अप्पय दीक्षित के कनिष्ठ भ्राता अच्चा दीक्षित थे। इनके 'नीलकण्ठविजयचम्पू' का निर्माण ४१३८ कलिवर्ष में (१६३७ ई०) हुआ था। अतः इनका समय १७ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। इनकी प्रख्यात कृति 'शिवलीलार्णव' महाकाव्य है जिसके २२ सर्गों में शंकर की पुराणवर्णित लीलाओं का सरस सन्निवेश है। **रामभद्रदीक्षित** का 'पतञ्जलिचरित' (८ सर्ग) इसी युग की रचना है जिसमें महाभाष्यकार का चरित ललित पद्यों में वर्णित है **कृष्णानन्द** का 'सहृदयानन्द' १५ सर्गों में नल का चरित वर्णन करता है। ये प्राचीन कवि हैं। १४ वें शतक में जगन्नाथपुरी के निवासी थे क्योंकि साहित्य-दर्पण में इनका एक पद उद्धृत है।

जैन कवि

संस्कृत महाकाव्य के इतिहास में जैन पण्डितों की रचनायें कुछ कम महत्त्व की नहीं हैं। जैन पण्डितगण प्राचीन काल से संस्कृत भाषा तथा साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् होते आये हैं। उन्होंने अपने तीर्थङ्करों का चरित्र अलंकृत शैली में लिखकर जैनधर्म की महती सेवा की है। इन पुस्तकों में

कतिपय अपवाद को छोड़कर धर्म-प्रचार की प्रवृत्ति ही अधिक पाई जाती है, शुद्ध साहित्यिक चेतना को जागरित करने का प्रयास कम है। जैन कवियों की संख्या बहुत अधिक है। कुछ चुने हुये कवियों ही का वर्णन यहाँ दिया जाता है—

धनेश्वर सूरि (६१० ई०)—शत्रुञ्जय महाकाव्य। इस महाकाव्य में १४ सर्ग हैं जिनमें राजाओं के विषय की प्रसिद्ध दन्तकथायें काव्यरूप से वर्णित हैं।

वाग्भट्ट (११४० ई०)—नेमिनिर्वाणकाव्य। इस महाकाव्य के १५ सर्गों में जैनतीर्थङ्कर नेमिनाथ का चरित्र वर्णित है। हेमचन्द्र के समकालिक इस कवि की कविता प्रसाद से स्निग्ध तथा माधुर्य से पूर्ण है।

अभयदेव (१२२१ ई०)—जयन्त विजय काव्य। इस महाकाव्य में १६ सर्ग हैं जिसमें मगध देश के राजा जयन्त का विजय लगभग दो सहस्र श्लोकों में वर्णित है।

अमरचन्द्र सूरि (१२४१–६० ई०)—बाल-भारत। यह ग्रन्थकार जिनदत्त सूरि का शिष्य तथा अणहिलपट्टन के राजा वीसलदेव का सभा-पण्डित था। इनके बालभारत में ४४ सर्ग हैं तथा ६६५० श्लोक हैं। महाभारत की कथा संक्षेप में इस ग्रन्थ में वर्णित है। भाषा सुबोध तथा रीति विशेषतः वैदर्भी है। अमरचन्द्र की ख्याति केवल जैनों तक सीमित न होकर ब्राह्मणों में भी व्याप्त थी। इनके बालभारत तथा कवि कल्पलता (काव्य रचना का शिक्षक ग्रन्थ) अत्यन्त प्रख्यात हैं। छन्दोरत्नावली, स्याद्-शब्द समुच्चय तथा पद्मानन्द काव्य (जो पट्टन के बनिया कोष्ठागारिक पद्म के आग्रह पर रचा गया था) इनकी अन्य रचनायें हैं। उन्होंने बालभारत में एक स्थल पर वेणी की तुलना तलवार से की है और इसी कारण ये **वेणी-कृपाण अमर** के नाम से कविगोष्ठी में प्रसिद्ध हैं।

वीरनन्दी (१३०० ई०)—चन्द्रप्रभ चरित। इस महाकाव्य के १८ सर्गों में सप्तम जैन तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ का जीवन-चरित सरस भाषा में निबद्ध है।

देवप्रभसूरि (१२५० ई०)—पाण्डव चरित्र। इस काव्य में महाभारत की कथा संक्षेप में दी गई है। इसके १८ सर्ग अनुष्टुप् में निबद्ध हैं। कविता सरल तथा रोचक है।

वस्तुपाल (१३ शतक)—नरनारायणानन्द। गुजरात के राजा वीरधवल (१२१६–३६ ई०) का प्रसिद्ध मन्त्री वस्तुपाल विद्वानों के आश्रय देने के कारण 'लघुभोजराज' कहा जाता था। सोमेश्वर, हरिहर, अरिसिंह आदि कवि इसके आश्रय में रहते थे। अमात्य के उपकार को इन कवियों ने काव्य में निबद्ध कर इन्हें अमर बना दिया है। इस महाकाव्य में १६ सर्ग हैं जिनमें कृष्ण और अर्जुन की मैत्री, गिरनार पर्वत पर उनकी क्रीड़ा तथा सुभद्रा-हरण का वर्णन है।

बालचन्द्र सूरि (१३ शतक)—वसन्त-विलास। यह ग्रन्थ वस्तुपाल का जीवन चरित है जो उनके पुत्र जैत्रसिंह के मनोविनोद के लिए लिखा गया था। प्रबन्ध-चिन्तामणि से ज्ञात होता है कि यह काव्य वस्तुपाल को इतना पसन्द आया कि इन्होंने कवि को आचार्य-पद के अभिषेक के लिए एक हजार स्वर्ण मुद्रायें दीं।

देवविमलगणि (१७ शतक)—हीर-सौभाग्य। इस ग्रन्थ में हरि विजय सूरि के चरित्र का विस्तृत वर्णन है। सूरिजी ने अकबर को जैन धर्म का उपदेश दिया था जिसका उसने पालन कर धार्मिक पर्वों पर हिंसा बन्द कर दी थी। अतः अकबर का इतिहास जानने के लिये १७ सर्गात्मक इस काव्य का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है।

हरिचन्द्र (१२ शतक)—इन कवियों से प्राचीन कवि हैं जैन महाकवियों में **'धर्मशर्माभ्युदय'** के रचयिता महाकवि हरिचन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जैन साहित्य में इस महाकाव्य का वही स्थान तथा आदर है जो ब्राह्मण कवियों के माघ-काव्य तथा नैषध-काव्य को प्राप्त है। ग्रंथकार का समय निश्चित नहीं है। ग्रन्थ की प्रशस्ति से पता चलता है कि ये मक नामक वंश में उत्पन्न हुए थे। ये जाति के कायस्थ थे। इनके पिता का नाम आर्द्रदेव और माता का नाम रथ्या देवी था। हर्ष चरित के आरम्भ में

बाणभट्ट ने जिस गद्यबन्ध वाले भट्टारहरिचन्द्र का उल्लेख किया है[1] उससे तो इन्हें भिन्न ही मानना पड़ेगा क्योंकि भट्टारहरिचन्द्र गद्य के लेखक थे, महाकाव्य के नहीं। कर्पूरमंजरी की प्रथम जवनिकान्तर में हरिचन्द्र का नाम सादर उल्लिखित है। ये कवि ही 'धर्मशर्माभ्युदय' काव्य के रचयिता हैं, यह भी कथन सन्देह से रहित नहीं है। परन्तु ये कवि पुराने अवश्य हैं। संभवतः ये एकादश शताब्दी में उत्पन्न हुए थे। इनके ग्रन्थ की एक हस्त-लिखित प्रति का समय १२८७ वि० सं० (१२३० ई०) है। अतः इस संवत् से पूर्व ही इनका आविर्भाव हुआ होगा।

धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य के निर्माता हरिचन्द्र तथा जीवन्धर चम्पू के प्रणेता हरिचन्द्र निःसन्देह अभिन्न व्यक्ति हैं। दोनों ग्रन्थों में भाषा तथा भाव की अत्यधिक समता दोनों लेखकों की अभिन्नता सिद्ध करती है। 'जीवन्धर चम्पू' की कथा वादीमसिंह के 'गद्यचिन्तामणि' और 'क्षत्र-चूडामणि' के आधार पर लिखी गई है। 'क्षत्रचूडामणि' के अनेक श्लोक बहुत ही कम परिवर्तनों के साथ 'जीवन्धर चम्पू' में स्वीकृत कर लिये गये हैं।[2] श्री हर्ष के नैषधीय चरित की भी छाया इस चम्पू के अनेक पद्यों पर पड़ी है। फलतः हरिचन्द्र का समय वादीमसिंह (११ शती) के अनन्तर तथा १२३० ईस्वी से पूर्ववर्ती होना चाहिए। १२ वीं शती का मध्यकाल (लगभग ११२५–११७५ ईस्वी) कवि का समय माना जा सकता है। 'धर्मशर्माभ्युदय' २१ सर्गों में विभक्त एक कमनीय महाकाव्य है जिसमें पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ जी का चरित्र विस्तार से काव्यशैली में वर्णित है। कवि अपने को रसध्वनि का पथिक (रस ध्वनेरध्वनि सार्थवाहः प्रशस्ति श्लोक ७) बतलाता है और इस काव्य में नवीन कल्पना, सुन्दर शब्द-विन्यास, तथा हृदयावर्जक वर्णन के प्रस्तुत करने में वह सचमुच सफल

१ पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥

२ द्रष्टव्य जीवन्धर चम्पू (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८) की प्रस्तावना पृष्ठ ४२–४३

हुआ है। वैदर्भी रीति में निबद्ध इस महाकाव्य की भाषा में आकर्षण है तथा पदशय्या की माधुरी है।[1]

ऐतिहासिक महाकाव्य

रामायण-महाभारत के वर्णन प्रसंग में 'इतिहास' की भारतीय कल्पना का कुछ वर्णन ऊपर किया गया है। इतिहास का आश्रय लेकर काव्य लिखने की परिपाटी संस्कृत साहित्य में नई नहीं है। कवियों ने अपने आश्रयदाता की कीर्ति अक्षुण्ण बनाये रखने के विचार से उनका जीवन-चरित रोचक भाषा में लिखने का उद्योग किया है। परन्तु उनका यह उद्योग शुद्ध साहित्य-कोटि में ही आता है, इतिहास-कोटि में नहीं; क्योंकि वे अपने आश्रयदाता के विषय में अत्यावश्यक ऐतिहासिक सामग्री भी देने का प्रयत्न नहीं करते। गुप्तकाल के कवि वत्सभट्टि ने कतिपय प्रशस्तियाँ ही प्रस्तुत की हैं। बाणभट्ट ने 'हर्ष चरित' लिखकर ऐतिहासिक काव्य के निर्माण का प्रथम अवतार किया है, परन्तु महाकाव्य की दृष्टि से पद्मगुप्त परिमल काव्य प्रथक ऐतिहासिक महाकाव्य कहा जा सकता है।

पद्मगुप्त परिमल

संस्कृत का सबसे पहला ऐतिहासिक महाकाव्य 'नवसाहसाङ्कचरित' है जिसमें धारा के प्रसिद्ध नरेश भोजराज के पिता सिन्धुराज (नवसाहसाङ्क) का विवाह शशिप्रभा नामक राजकुमारी के साथ वर्णित है। रचयिता का नाम है पद्मगुप्त परिमल। ये पहले सिन्धुराज के जेठे भाई वाक्पतिराज उपाधिधारी राजा मुञ्ज के सभाकवि थे। मुञ्ज बड़े गुणग्राही तथा स्वयं सरस्वती के उपासक थे। उनकी मृत्यु के अनन्तर पद्मगुप्त ने अपने को निराश्रय पाया। परन्तु सिन्धुराज ने कविवर का इतना सत्कार किया कि उनकी प्रसन्नता कविता के रूप में प्रकट हुई। इस प्रकार यह ग्रन्थ १००५ ईस्वी के लगभग लिखा गया। इस महाकाव्य में १८ सर्ग हैं। इसके १२ वें सर्ग में सिन्धुराज के

---

१ काव्यमाला (नं० ८) में बम्बई से प्रकाशित, १८९९।

पूर्ववर्ती समस्त परमारवंशी राजाओं का कालक्रम से वर्णन है जिसकी सत्यता शिलालेखों से प्रमाणित हो चुकी है। काव्य की दृष्टि से यह महाकाव्य वैदर्भी रीति का उत्कृष्ट उदाहरण है। वैदर्भी अपने पूर्ण शृंगार के साथ इसमें प्रकट हुई है। प्रसाद गुण की चारुता अवलोकनीय है। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कवि सिद्धहस्त है। कालिदास की कविता का जितना सफल अनुकरण इस महाकाव्य में दृष्टिगोचर हो रहा है, उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। उपमा आदि अलंकारों का सन्निवेश भी नितान्त मनोरम है। इस प्रकार यह काव्य परमारों के इतिहास के लिये जितना उपादेय है, काव्य की दृष्टि से भी यह उतना ही मनोरम है।

कालिदास की रसमयी पद्धति, सुकुमार मार्ग, का पूर्ण सौन्दर्य पद्मगुप्त के मनोरम काव्य में स्फुटित हो रहा है। इन्होंने अपनी अनुपम प्रतिभा के बल पर कालिदास की कीर्ति को पुनः जीवित किया है। साहित्य तथा इतिहास दोनों दृष्टियों से पद्मगुप्त परिमल के काव्य में रसिक भ्रमरों को मुग्ध बनाने वाले परिमल का सर्वथा सद्भाव है। इनका कथन है कि कालिदास की सरस्वती अत्यन्त उज्ज्वल, प्रसन्न तथा हृदयंगम अलंकारों से सर्वथा विभूषित है—

प्रसादहृद्यालंकारैस्तेन भूतिरभूष्यत।
अत्युज्ज्वलैः कवीन्द्रेण कालिदासेन वागिव॥

पद्मगुप्त की कविता के गुणों का भी संकेत इस पद्य में किया गया है। मम्मट के द्वारा काव्यप्रकाश में पद्यों के उद्धृत होने के कारण इनकी लोकप्रियता का अनुमान भली भाँति लगाया जा सकता है।

बिल्हण

महाकवि बिल्हण द्वारा रचित 'विक्रमांकदेव चरित' नामक दूसरा ऐतिहासिक महाकाव्य इतिहास के घटनाचक्र पर विशेष जोर देता है। अन्तिम (१८ वें) सर्ग में कवि ने अपने जीवनचरित का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। उनके प्रपितामह का नाम मुक्तिकलश था, पितामह का राजकलश

तथा पिता का ज्येष्ठकलश। उनकी माता का नाम नागदेवी था। इष्टराय और आनन्द उनके दो भाई थे। आश्रयदाता की खोज में बिल्हण काश्मीर से निकल पड़े और मथुरा, कन्नौज, प्रयाग, काशी आदि अनेक स्थानों को पार करते हुए वे दक्षिण भारत के कल्याण नगर के चालुक्यवंशीय प्रसिद्ध नरेश विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६ ई०—११२७ ई०) के दरबार में जा पहुँचे। गुणग्राही राजा ने इनका खूब स्वागत किया। इनके धारा में पहुँचने से पूर्व ही राजा भोज का देहान्त हो चुका था।

'विक्रमांकदेव-चरित' में इन्हीं विक्रमादित्य तथा उनके वंश का विस्तृत वर्णन दिया हुआ है। ऐतिहासिक घटनाओं के निर्देश करने में बिल्हण ने इतनी तत्परता दिखलाई है कि यह काव्य कल्याण के चालुक्यवंशी नरेशों का इतिहास जानने के लिए परम उपयोगी हो गया है। काव्य-दृष्टि से बिल्हण वैदर्भी मार्ग के कवि हैं। १७ सर्गों के इस काव्य में माधुर्य तथा प्रसाद का पर्याप्त पुट है। इस कवि की प्रौढ़ि प्राचीन साहित्यकों में चिरकाल से प्रसिद्ध है। इनकी अनूठी सूक्तियाँ विदग्धों की जिह्वा पर नाचा करती हैं। रसों में वीर तो प्रधान है ही, परन्तु श्रृंगार तथा करुण का पुट भी कम मनोरंजक नहीं है। बिल्हण के काव्य में कुछ विलक्षण प्रौढ़ि है जिससे विदग्ध हृदय सदा से इनकी कविता पर रीझता आता है। इनका कहना है कि कवीश्वरों के भावों को अन्य कवि कितना भी ग्रहण करते जायँ उनमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती। दैत्यों ने असंख्य रत्नों को छीन लिया, तथापि आज भी समुद्र ही रत्नाकर बना हुआ है:—

गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेष्टं नास्ति क्षतिः कापि कवीश्वराणाम्।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः॥

ये राज दरबार में कविजनों के रखने के तथा प्रतिष्ठा देने के बड़े भारी पक्षपाती हैं। इनका कथन है कि राम का यश जगत् में फैलाने का तथा रावण के यश के संकुचित होने का एकमात्र कारण महर्षि वाल्मीकि ही हैं। इसलिये कविजनों का तिरस्कार कभी न करना चाहिये—

लङ्कापतेः संकुचितं यशो यत् यत् कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः ।
स सर्वं एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीया कवयः क्षितीन्द्रैः ॥

सुन्दर रसीली कविता को सुनकर भी उसके दोषों को खोजने में ही दुर्जन लोग लगे रहते हैं। सुन्दर केलिवन में आने पर भी ऊँट केवल काँटों को ही खोजता है। कोमल फलों तथा पत्तों की ओर उसकी दृष्टि कदापि नहीं जाती :—

कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान् खलानाम् ।
निरीक्षते केलिवनं प्रविष्टः क्रमेलकः कण्टकजालमेव ॥१।२९॥

कल्हण

आधुनिक ऐतिहासिक रीति से साधनों के पर्याप्त पर्यालोचन के आधार पर निर्मित **राजतरंगिणी** प्राचीन कश्मीर का एक महनीय इतिहास-ग्रंथ है और इसके विद्वान् रचयिता का नाम **कल्हण** है। राजतरंगिणी काश्मीर के राजनैतिक इतिहास, भौगोलिक विवरण, सामाजिक व्यवस्था, साहित्यिक समृद्धि तथा आर्थिक दशा जानने के लिए सचमुच एक विश्वकोश है। बीसवीं शती की वैज्ञानिक ऐतिहासिक पद्धति से परीक्षा करने पर यह बिल्कुल ठीक, प्रामाणिक तथा खरा नहीं ठहर सकता, तथापि अपनी व्यापक दृष्टि तथा आधारभूत ग्रन्थों के पर्याप्त उपयोग के कारण राजतरंगिणी वस्तुतः संस्कृत साहित्य में अद्वितीय है। इसके मर्मज्ञ रचयिता कल्हण काश्मीर के निवासी थे। आढ्य ब्राह्मणवंश में उत्पन्न होने के कारण तथा राजदरबार के जीवन को नजदीक से देखने के हेतु कल्हण का अनुभव विशेष रूप से विशाल तथा विस्तृत था। इनके पिता **चणपक** तत्कालीन कश्मीर नरेश हर्ष (१०४८—११०१ ई०) के प्रधान अमात्य थे जो अपने आश्रयदाता के सुख में तथा दुःख में, उन्नति में तथा अवनति में, ह्रास में तथा विलास में समभावेन एकनिष्ठा से सेवा करना जानते थे तथा राजा की हत्या किये जाने पर जिन्होंने सेवाकार्य से सदा के लिए संन्यास ले लिया। इनके पितृव्य **कनक** भी हर्ष के कृपापात्रों में तथा विश्वासी अनुजीवियों में से थे जिन्होंने जीवन की

सन्ध्या में कश्मीर से नाता तोड़कर काशी में आकर निवास किया था। कल्हण का वास्तव संस्कृत नाम कल्याण था जिन्होंने अलकदत्त नामक किसी विशेष पुरुष की छत्रछाया को अपने कल्याण तथा ग्रन्थ-निर्माण के लिए अपनाया था। यदि ये चाहते तो अपने पिता के समान ही राज्य के उच्च अधिकार पद पर प्रतिष्ठित हो सकते थे, परन्तु तत्कालीन राजनैतिक संघर्ष तथा परिवर्तन के युग में इन्होंने अपने को अधिकार-पद से वंचित रख कर राजदरबारों की गाथा निबद्ध करने में ही अपने को निमग्न किया। इसलिए वह निष्पक्ष दृष्टि से घटनाओं के अवलोकन में सर्वथा समर्थ हैं। इन्होंने राजतरंगिणी की रचना सुस्थल के पुत्र राजा जयसिंह (११२७-११५९ ई०) के राज्यकाल में की। सन् ११४८ ईस्वी में कल्हण ने इतिहास लिखना आरम्भ किया तथा सन् ११५० ईस्वी में उन्होंने दो वर्षों के भीतर ही इसे समाप्त किया।

ग्रन्थ

राजतरंगिणी में आठ तरंग हैं जिनमें आठवाँ तरंग समग्र ग्रंथ के आधे से भी मात्रा तथा परिमाण में बढ़कर है। कल्हण का श्लाघनीय उद्योग था कश्मीर के अत्यंत प्राचीन काल से आरंभ कर अपनी १२ वीं शती तक के इतिहास का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करना। राजतरंगिणी के आरंभ तरंगों में वर्णित भूपाल पौराणिक गाथा के आधार पर आश्रित होने के कारण अनेकों अंशों में कल्पना-जगत् के ही जीव हैं, प्रामाणिक इतिहास के पात्र नहीं। परंतु ज्यों ज्यों कवि अपने समय की ओर ढलता गया है त्यों त्यों उसका इतिहास प्रामाणिक, खरा तथा सच्चा उतरता गया है। आरम्भ तो होता है विक्रमपूर्व द्वादश शती के किसी गोनंद नामक राजा के वर्णन से, परंतु ग्रन्थ के आरम्भिक तीन परिच्छेदों में राजाओं का निर्देश बिना किसी काल या तिथि के उल्लेख से ही किया गया है। सर्वप्रथम निर्दिष्ट की गई तिथि ८१३-१४ ईस्वी है और यहाँ से आरम्भ कर ११५० ईस्वी तक की घटनायें—अर्थात् चार सौ वर्षों का इतिहास नितान्त पूर्ण, विशेष प्रामाणिक तथा एकान्त वैज्ञानिक प्रतीत होता है, क्योंकि यह पूर्ण ऐतिहासिक शैली पर

निर्मित हुआ है। अष्टम तरंग की घटनायें तो कवि के साक्षात् दर्शन तथा प्रभूत अनुभव के ऊपर आश्रित होने से विशेषतः प्रामाणिक हैं।

कल्हण की ऐतिहासिक दृष्टि अर्वाचीन इतिहासवेत्ता की शोधक दृष्टि के समान है जो अपने उपकरणों तथा साधनों को पर्याप्त परीक्षण के अनन्तर ही ग्रहण करता है। वे अपने देश के इतिहास तथा भूगोल से गाढ़ परिचय रखते हैं। उन्होंने प्राचीन इतिहास-सम्बन्धी ग्यारह ग्रन्थों का उपयोग इस इतिहास में पूरी छानबीन के बाद किया है जिनमें केवल 'नीलमत पुराण' ही आज उपलब्ध है। सुव्रत पण्डित का ग्रन्थ दुष्ट वैदग्धी से तीव्र होने के कारण विशेष उपयोगी सिद्ध न हो सका (१।११–१२) क्षेमेन्द्र की 'नृपावली' कवि की रचना होने से रमणीय अवश्य थी, परन्तु अनवधानता के कारण इसका कोई भी अंश दोष-विरहित नहीं था[1]। हेलाराज के ग्रन्थ पार्थिवाली से भी अनेक राजाओं के नाम तथा धाम संकलित किये गये हैं। परंतु कल्हण पण्डित मार्मिक शोधक थे, फलतः उन्होंने शिलालेख, दानपत्र; प्रशस्ति आदि अन्य ऐतिहासिक उपकरणों की सहायता से अपने ग्रन्थ को भरपूर पूर्ण तथा प्रामाणिक बनाया है। उदार दृष्टि होने के कारण कल्हण संकीर्णता तथा एकदेशीयता के जाल से बिल्कुल बचे हैं। वे प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुयायी शैव थे; तन्त्रों में उनकी पूरी आस्था थी, परन्तु कदाचारी तान्त्रिकों के दुराचारों तथा दुष्ट प्रवृत्तियों की निन्दा करने में वे तनिक भी पराङ्मुख नहीं हुए हैं।

शैव होने पर भी वे बौद्धधर्म पर अविश्वास तथा अनास्था की दृष्टि नहीं रखते, प्रत्युत उसके अहिंसातत्व के पूर्ण प्रशंसक हैं। बौद्धधर्म ने कश्मीर की घाटी में विशेष रूप से घर कर लिया था तथा जनता के हृदय में प्रतिष्ठित हो गया था। इस लिए कल्हण ने महाराज अशोक के बौद्धधर्माश्रयी कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है तथा कश्मीर नरेशों के द्वारा बौद्ध मन्दिरों तथा विहारों के निर्माण का उल्लेख प्रशंसात्मक शब्दों में किया है। कल्हण ने

---

१ केनाप्यनवधानेन कवि-कर्मणि सत्यपि।
अंशोऽपि नास्ति निर्दोषः क्षेमेन्द्रस्य नृपावलौ ॥ १।१३

लिखा है कि उदाराशय कश्मीर नरेश अधिकार पद पर प्रतिष्ठा के लिए योग्यता की कद्र करते थे। योग्य व्यक्तियों को भिन्न धर्मानुयायी होने पर भी उच्च पदों पर रखने से कभी वंचित नहीं रखते थे। ललितादित्य कश्मीर के विशेष मान्य शैव राजा थे, परन्तु इनका अग्रमन्त्री तुषार देश का निवासी था। नाम था चंकुण। इसने अष्टम शतक में अपने नाम पर 'चंकुण विहार' नामक एक सुन्दर विहार बनवाया और मगधदेश से राजा के द्वारा लाई गई विशालकाय बौद्ध प्रतिमा को अपने विहार में प्रतिष्ठित किया था। इस प्रकार की धार्मिक सहिष्णुता तथा बौद्ध-शैव सहयोग के अनेक दृष्टांत प्रस्तुत कर कल्हण पण्डित ने अपनी उदार बुद्धि तथा विवेक का गाढ़ परिचय हमें दिया है।

योग्यता

कल्हण खरा निष्पक्ष ऐतिहासिक था। आजकल के पाश्चात्य ऐतिहासिकों में यह दोष विशेषतः जागरूक रहता है कि ये अपने ही देश की गौरव-गाथा गाने में चाहे वह कितना भी छिद्रों तथा दोषों का शिकार हो कभी नहीं चूकते, परन्तु वह पक्षपात और संकीर्ण जातीयता से एकदम उन्मुक्त तथा स्वतन्त्र है। काश्मीरी होने पर कल्हण काश्मीरियों की भीरुता तथा मिथ्याभाषण, संग्राम से पलायन वृत्ति, परस्पर कलह तथा विद्रोह, पक्षपात तथा दुराग्रह, संघर्ष तथा संग्राम, क्षुद्रता तथा हृदय-दौर्बल्य के विवरण देने में कभी नहीं चूकता। ब्राह्मणों के दोषों को बतलाने तथा निकालने में भी वह पराङ्मुख नहीं होता। वह काश्मीरी सैनिकों की भीरुता तथा दगाबाजी की खूब निन्दा करता है, परन्तु अन्य प्रान्तीय राजपूत सिपाहियों की वीरता की प्रशंसा करने में वह सदा अग्रसर है। वह अपने आदर्श को लक्ष्य रख कर कहता है—

> श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेष-बहिष्कृता
> भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती ॥१।७

प्रशंसा का पात्र वही गुणवान् पुरुष होता है, उचित न्याय करने वाले जज के समान जिसकी वाणी बीते हुये अर्थ तथा घटना के वर्णन करने में दृढ़ रहती है और वह न किसी के ऊपर पक्षपात करती है और न किसी के

साथ द्वेष ही रखती है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि कल्हण पण्डित ने अपने इतिहास में इस आदर्श का परिपालन पूर्ण रूप से किया है। इसी कारण राजतरंगिणी मानवों के हृदय परखने के लिए, अतीत को बिल्कुल प्रत्यक्ष बनाने के लिए तथा इतिहास की मार्मिक घटनाओं से उपयोगी शिक्षा तथा मननीय उपदेश ग्रहण करने के लिए आज भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथरत्न है। कल्हण के अर्वाचीन दृष्टिकोण में तथा उसके सहानुभूतिपूर्ण हृदय में इस महत्व का रहस्य छिपा हुआ है। इस प्रकार कल्हण इतिहास की कल्पना में पक्का यथार्थवादी है जो कल्पना-जगत् में विचरण न कर अपने ठोस अनुभव के ऊपर ही घटनाओं के वर्णन को श्रेयस्कर समझता है। वह इतिहास के कारुणिक मानव पक्ष का अनुयायी है। उच्च धनाढ्य कुल में उत्पन्न होने से वह स्वयं कमी तथा आवश्यकताओं को नहीं जानता था तथापि समाज के दीन-हीन पददलित लोगों से उसे पूर्ण सहानुभूति है। इसी लिए उसका यह ग्रन्थ राजाओं के उथल-पुथल का इतिहास होने के अतिरिक्त मानवीय उदात्त भावनाओं को अंकित करने वाला एक श्लाघनीय प्रयत्न है और यही इसका ऐतिहासिक मूल्यांकन है। हरिजनों के साथ बर्ताव, राजनैतिक उद्देश्य से उपवास करना आदि अनेक घटनायें वर्तमान युग की राजनैतिक समस्याओं के सुलझाने की दिशा की ओर पूर्ण संकेत बतलाती है।

काव्यसुषमा

कल्हण अपने को इतिहासवेत्ता न मानकर विशेष रूप से कवि मानता है। वह कवि के महनीय गुणों से पूर्ण परिचित है। वह जानता है कि सुकवि की वाणी अमृत रस को भी तिरस्कार करनेवाली होती है। अमृत के पीने से केवल पीने वाला ही अमर बन जाता है, परन्तु कवि की वाणी दोनों के (अपने तथा अपने वर्णित पात्रों के) यश रूपी शरीर को अमर बना देती है—

> वन्द्यः कोऽपि सुधास्यन्दास्कन्दी स सुकवेर्गुणः।
> येनायाति यशःकाये स्थैर्यं स्वस्य परस्य च॥ १।३

वह कवि की तुलना प्रजापति ब्रह्मा के साथ करता है क्योंकि दोनों रम्य

निर्माणशाली होते हैं तथा अतीत काल को साक्षात् प्रस्तुत करने की अलौकिक क्षमता से मण्डित होते हैं —

कोऽन्यः कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यक्षतां क्षमः।
कविप्रजापतींस्त्यक्त्वा रम्यनिर्माणशालिनः॥—१।४

राजतरंगिणी काव्यदृष्टि से भी एक महर्घ रत्न है जिसकी प्रभा आज भी उतनी ही आनन्ददायिनी है तथा जिसकी वर्णनशैली सहृदयों को आज भी अपनी सरलता तथा सरसता से सद्यः आवर्जित कर रही है। कल्हण वाल्मीकि तथा व्यास के काव्यरत्नों से पूर्ण परिचित तथा प्रभावित हैं। कश्मीरी कवियों में उन्होंने बिल्हण के विक्रमांकदेवचरित का गाढ़ अनुशीलन किया था और इसका प्रभाव उसकी कविता पर पूर्ण रूप से पड़ा है। श्रीकंठ-चरित के लेखक मंखक ने स्पष्ट ही लिखा है कि कल्हण ने अपने काव्य-दर्पण को इतना रमणीय तथा साफ कर रखा है कि उसमें बिल्हण की प्रौढ़ोक्ति सद्यः प्रतिबिंबित होती है।[1] अपने प्रतिभाप्रसार तथा वैचित्र्य-वर्णन के लिए पूर्ण अवसर न पाकर खेद प्रकट किया है, परन्तु उनकी यह माध्यस्थ-वृत्ति हानि उत्पन्न न कर कविता के लिए लाभकारी ही सिद्ध हुई है। हर्ष की कुटिलता तथा दुष्टता को उन्होंने अपनी आँखों देखा और देखा था उच्चल तथा सुस्सल के परस्पर संघर्ष तथा मारकाट को। फलतः जगत् के व्यापारों से उन्हें नैसर्गिक उपरति हो गई थी। इसीलिए वे शान्तरस को अपने काव्य का प्रधान रस मानते हैं। संसार के पचड़े को सूक्ष्म दृष्टि से निरखने वाला कल्हण भाग्य की दुर्दमनीयता तथा अवश्यंभाविता में पूर्ण विश्वास रखता है। वह अपने इतिहास को अपने काव्यकौशल प्रदर्शित करने तथा जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है। वह अपनी कविता को अलंकारों की सजावट, शब्दों के चमत्कार तथा चाकचिक्य से कोसों दूर रखता है। उसके काव्य में एक विलक्षण सरलता तथा हृदय आकर्षण करने वाली साक्षात्वृत्तिता है।

---

१ तथापचस्करे येन निजं वाङ्मयदर्पणः।
बिल्हण-प्रौढि-संक्रान्तौ यथा योगत्वमग्रहीत॥
—श्रीकण्ठचरित २५।७९

कल्हण की कविता वर्णनात्मिका है, परन्तु उसमें पर्याप्त गति है, मनोहरता है और सबसे अधिक है लेखक की स्वतः अनुभूति का अंकन जो उसमें जीवन-शक्ति डालने में सर्वथा समर्थ हुआ है। चरित्र-चित्रण में वह नितान्त सफल है। आरम्भिक नरपति तो केवल कल्पना-प्रसूत चरित्रों की कोटि में आते हैं, परन्तु पिछले राजाओं जैसे अनन्त, अवन्तिवर्मा, हर्ष आदि का चित्रण वैयक्तिकता तथा यथार्थता से परिपूर्ण है। वर्णन में वह कविता के क्षुण्ण मार्ग से अपने आपको स्वतन्त्र रखता है और इस दृष्टि से उसका काव्य बाण तथा बिल्हण के काव्यों के प्रभूत आलंकारिक वैचित्र्य से कहीं अधिक मनोहर तथा हृदयावर्जक है। तथ्य यह कि कल्हण की अपनी एक विशिष्ट शैली है जिसमें अर्थ की अभिव्यक्ति ही प्रधान लक्ष्य है, घटना का अनुभूतिपूर्ण विवरण ही मुख्य उद्देश्य है, और इसी से शब्दों की सजावट तथा स्निग्धता की ओर दृष्टि नहीं है।

कवि कविकर्म की महत्ता का प्रतिपादन करता हुआ कह रहा है कि अपने प्रताप से भूमण्डल को निर्भय करने वाले राजाओं का नाम तथा काम कहाँ रहता यदि कवि की वाणी उनके चरित्र का रम्य विवरण प्रस्तुत नहीं करती—

भुज-वनतरुच्छायां येषां निषेव्य महौजसां
जलधिरशना मेदिन्यासीदसावकुतोभया
स्मृतिमपि न ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रहं
प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै नमः कविकर्मणे।

राजा तारापीड के दुष्ट कर्मों का अन्त हुआ ब्राह्मणों के ऊपर आक्रमण करने से और अपनी मृत्यु से। इस वर्णन में अग्नि और मेघ का दृष्टांत बड़ा ही सुन्दर तथा रुचिकर है :—

योऽयं जनापकरणाय भयत्युपायं
तेनैव तस्य नियमेन भवेद् विनाशः।
धूपं प्रसौति नयनान्ध्यकरं यमग्निः
भूत्वाम्बुदः स शमयेत् सलिलैस्तमेव।

अनुष्टुप् छन्द में ही समस्त ग्रंथ की रचना है परन्तु स्थान-स्थान पर बड़े छन्दों का भी प्रयोग वर्णन को रुचिर तथा शैली को मंजुल बनाने के लिए किया गया है। स्निग्ध काव्य शैली में काश्मीर राजाओं का संघर्षमय जीवन चित्रित करने में तथा सामान्य जनता के साथ प्रचुर सहानुभूति दिखलाने में राजतरंगिणी भारतीय दृष्टि से आदर्श इतिहास प्रस्तुत करने में समर्थ होती है। उसकी यह विशिष्टता भारतीय साहित्य में कल्हण की अपूर्व कृतित्व है[1]।

इसका प्रथम फारसी अनुवाद कश्मीर के राजा जैन उल-आबीदीन (१४२१ ई०–१४७२ ई०) की आज्ञा से किया गया, परंतु कठिन भाषा में होने के कारण अकबर ने कश्मीर विजय के अनन्तर अल-बदाऊँनी से चलती फारसी में अनुवाद कराया। जहाँगीर के समय में कश्मीर के ही एक उच्चकुलीन मुस्लिम विद्वान् हैदर मलिक ने इसका फारसी में संक्षिप्त संस्करण किया।

इतर कवि

जैन कवि ऐतिहासिक विषय पर निबद्ध महाकाव्यों की रचना में नितान्त दक्ष हैं परन्तु इनका साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मूल्य परिवर्तनशील है। जैन आचार्य हेमचन्द्र (१०८९ ई०—११७३ ई०) ने 'कुमारपाल चरित' (द्व्याश्रय काव्य)[2] में गुजरात के राजाओं का चरित अपने आश्रयदाता कुमारपाल तक निबद्ध किया है। कुमारपाल ११४४ ई० में सिंहासनारूढ़ हुए और ११५२ ई० में हेमचन्द्र ने जैनधर्म में दीक्षित किया। आरम्भ के बीस

---

१ मूल का संस्करण और अनुवाद—बंगाल की एशिएटिक सोसाइटी के द्वारा, कलकत्ता १८३५, डाक्टर स्टाइन का संस्करण १८९२ में तथा अनुवाद १९०० में, इसी समय पण्डित दुर्गाप्रसाद का सं० निर्णयसागर प्रेस बम्बई १८९२, रणजीत पण्डित का राजतरंगिणी का पूर्ण तथा प्रामाणिक अनुवाद इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद १९३५; केवल आधे भाग का (१–७ तरंगों का) हिन्दी अनुवाद, काशी १९९८ विक्रमी संवत्।

२ बाम्बे संस्कृत सीरीज में प्रकाशित (संख्या ६०, ६९, ७६)

सर्ग संस्कृत में तथा अन्त के आठ सर्ग प्राकृत में लिखे गये हैं, तथा हेमचन्द्र के संस्कृत तथा प्राकृत व्याकरणों के उदाहरणों को भी प्रदर्शित करते हैं। इसीलिए इस काव्य को 'द्व्याश्रय' काव्य कहते हैं। इस महाकाव्य का साहित्यिक मूल्य कम होने पर भी गुजरात के इतिहास का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करने के कारण से इसका ऐतिहासिक मूल्य बहुत ही अधिक है।

गुजरात के राजा वीरधवल तथा वीसलदेव के उदार मंत्री वस्तुपाल-तेजपाल के जीवन से सम्बद्ध अनेक काव्य और नाटक उपलब्ध होते हैं। **सोमेश्वर** (११७६—१२६२ ई०) ने वस्तुपाल का जीवन चरित अपने 'कीर्ति कौमुदी' काव्य में किया है। यह काव्य की अपेक्षा अधिकतर चम्पू ही है। **अरिसिंह** का 'सुकृत संकीर्तन' नामक काव्य एकादश सर्गों में वस्तुपाल की तीर्थयात्रा तथा धार्मिक कृत्यों का विशेष वर्णन करना है।

अरिसिंह—अमरचन्द्र के समकालीन तथा वीसलदेव के सभापण्डितों में थे अन्यतम थे। प्रबन्ध कोष के अनुसार तो अमरचन्द्र ने अरिसिंह से सिद्ध सारस्वत कवच प्राप्त किया तथा वीसलदेव के दरबार में प्रवेश भी। इन दोनों कवियों में परस्पर बड़ा ही अधिक सौहार्द था। इसलिए अमरचन्द्र ने अरिसिंह के काव्यग्रन्थ **सुकृत संकीर्तन** के प्रत्येक सर्ग के अन्त में चार नवीन श्लोकों की रचना कर जोड़ा है। इसी प्रकार 'कविकल्पलता वृत्ति' इन दोनों लेखकों की सम्मिलित रचना है। 'कवितारहस्य' भी इनका ग्रन्थ निर्दिष्ट मिलता है। **सुकृत संकीर्तन** ११ सर्गों में विभक्त एक चरितप्रधान महाकाव्य है।[1] इस काव्य ने गुजरात के प्रख्यात अमात्य वस्तुपाल के धार्मिक कृत्यों तथा उनके नाना मन्दिर-निर्माणों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ ऐतिहासिक है जिसके आधार पर वस्तुपाल के जीवन-चरित के प्रधान घटनाओं का प्रामाणिक अध्ययन किया जा सकता है।

---

१ प्रकाशक श्रीजैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९१७।

बालचंद्रसूरि का 'वसन्त विलास' इसी विषय पर है। लगभग दो शताब्दी पीछे नयनचन्द्रसूरि ने चौहान नरेश हम्मीर के वर्णन में चौदह सर्गों में 'हम्मीर महाकाव्य' लिखा। इसमें ऐतिहासिक बातों का विशेष समावेश न होकर साहित्यक सामग्री ही अधिक है। ऐसी ऐतिहासिक रचना का एक सुन्दर निदर्शन 'सुरजन चरित' महाकाव्य है[1] जिसे गौड़देशीय कवि चन्द्रशेखर ने १६ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में काशी में लिखा। इसमें वर्णित राजा सुरजन अकबर के बड़े विश्वासपात्र सामंत थे तथा उनके द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण स्थानों में युद्ध के निमित्त भेजे गये थे। इस काव्य में बीस सर्ग हैं जिनमें बूँदी के हाडावंशीय राजाओं का चरित बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया गया है। अतः साहित्यिक सौंदर्य के साथ इसका ऐतिहासिक मूल्य कम नहीं है। चन्द्रशेखर कवि ने कालिदास के शैली का सफल अनुकरण यहाँ किया है।

संस्कृत के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के चरित निबद्ध करने में विशेष उदारता का परिचय दिया है। ऐसे काव्यों का प्रकाशन धीरे धीरे अब हो रहा है। विजयनगर के राजाओं के ऊपर भी अनेक चरित-काव्य हैं जिनमें राजनाथ डिंडिम कवि का 'अच्युतरायाभ्युदय' १२ सर्गों में निबद्ध एक इतिहास-प्रधान महाकाव्य है[2]। इसका अनुशीलन अच्युतराय के राज्य-कालीन घटना, विजय तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की जानकारी के लिये नितांत उपादेय है। अच्युत के सभापंडित होने से इस ग्रंथ का रचनाकाल १६ शतक का मध्य भाग है। कविता साधारणतया प्रसादमयी तथा सुंदर है। गंगा देवी का 'मधुराविजय' अथवा 'वीरकम्पराय चरित' विजयनगर साम्राज्य के आरम्भिक काल से सम्बद्ध घटनाओं के परिचय के लिए नितांत उपादेय है क्योंकि इसकी लेखिका कम्पराय की रानी थी तथा इसने स्वयं ही अपने पति के विजयों का जीता जागता सच्चा चित्र खींचा है। रचनाकाल

---

१ श्री चन्द्रधर शर्मा द्वारा सम्पादित, काशी १६५२।

२ वाणी विलास प्रेस से आदि के ६ सर्ग तथा ७–१२ सर्ग अड्यार लाइब्रेरी से प्रकाशित है (१६४५)।

१४ शतक है। **सन्ध्याकरनन्दी** का 'रामपाल चरित' पालवंशीय नरेश रामपाल (१०८४–११३०) की जीवनी श्लिष्ट पद्यों द्वारा प्रस्तुत करता है; परन्तु ऐतिहासिक घटनाओं की विशेष जानकारी न होने से हम तन्निर्दिष्ट घटनाओं का विशेष मूल्य नहीं आँक सकते।

उस दुर्दैव को हम किन शब्दों में कोसें जिसने हिन्दू साम्राज्य के अंतिम सम्राट् पृथ्वीराज का जीवन-चरित 'पृथ्वीराज विजय' एक ही अधूरी हस्त-लिखित प्रति में सुरक्षित रखा है। इस महाकाव्य के टीकाकार **जोनराज** (१४४८ के आसपास) ही काश्मीरी नहीं है, प्रत्युत उसका रचयिता भी उसी देश का निवासी था। जब पृथ्वीराज की कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो रही थी उसी समय इस ग्रन्थ की रचना हुई थी। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है[1]। **सर्वानन्द** ने 'जगडू-चरित' काव्य लिखकर उस परोपकारी जगडूशाह की कीर्ति को अमर बना दिया है जिसने १२५६-५८ ई० के भीषण दुर्भिक्ष में अन्नकष्ट से मरते हुए प्राणियों को अपनी उदारता से बचाया था। गुजरात में होने वाले इस दुर्भिक्ष का बड़ा ही रोचक वर्णन करने से इसका सामाजिक मूल्य बहुत अधिक है।

वाक्पतिराज

'गउडवहो' प्राकृत में निबद्ध ऐतिहासिक काव्यों में अपनी शैलीगत विशिष्टता के कारण नितांत प्रख्यात है। प्राकृत में विरचित होने पर भी यह संस्कृत महाकाव्यों की ही वर्णनरीति का अनुसरण करता है। इसके रचयिता वाक्पतिराज कन्नौज के अधिपति यशोवर्मा के सभापति थे और इस काव्य में उनकी ही गौड (मगध) नरेश के ऊपर किये गये विजय की विशिष्ट प्रशस्ति है। वाक्पति के निजी कथन से उनका भवभूति के द्वारा विशेष रूप से प्रभावित होना ध्वनित होता है। इस काव्य का निर्माणकाल अभी तक आलोचकों में सन्देह का विषय बना हुआ है। काश्मीर-नरेश ललितादित्य (७२४ ई०–७६० ई०) ने ७३४ ई० में यशोवर्मा को परास्त किया था।

---

१ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा द्वारा प्रकाशित, अजमेर।

अतः मगधनरेश पर विजय तथा उसका वर्णनपरक यह काव्य ७३४ ई० से पूर्व ही निर्मित हो चुका था। डा० याकोबी ने गउडवहो में निर्दिष्ट सूर्यग्रहण का काल ७३३ ई० सिद्ध किया है। अतः इस काव्य की रचना इसी समय के कुछ पीछे होनी चाहिए। वाक्पति के उल्लेख से यही तात्पर्य निकाला जा सकता है कि महाकवि भवभूति इनके मार्गदर्शक तथा गुरु थे जिसके काव्यामृत के कण इस रमणीय काव्य में स्फुरित होते हैं:—

भवभूइ-जलहि-णिग्गय-कव्वामय रसकणा इव फुरन्ति।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेषु कहा-णिवेसेसु ॥ श्लोक ७९९

वाक्पतिराज के अन्य प्राकृत काव्य 'मधुमह विजय' (गाथा ७९) की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई है, परन्तु इनका एकमात्र उपलब्ध महाकाव्य—गउडवहो (गौड़वधः) इनकी ख्याति को अक्षुण्ण रखने में सर्वथा समर्थ है। ऐतिहासिक महत्त्व की अपेक्षा इस काव्य का साहित्यिक मूल्य कहीं अधिक है। थोड़ी घटना के वर्णन को कवि ने प्राकृतिक दृश्य, भौगोलिक स्थान तथा अवांतर विषयों के विवरणों से खूब ही पुष्ट, परिमार्जित तथा उपबृंहित किया है। विन्ध्यवासिनी भगवती के पूजाविधान का वर्णन बड़ी सजीवता तथा मर्मज्ञता से चित्रित किया गया है। वाक्पतिराज बड़े ही प्रतिभा-सम्पन्न भावुक कवि थे। इनकी कल्पनाएँ स्थान-स्थान पर इतनी अनोखी, अपूर्व तथा रसमयी है कि इनका दर्शन संस्कृत साहित्य में भी नितांत दुर्लभ है। कवि ने संस्कृत के महाकाव्यों का गाढ़ अनुशीलन किया है और उनकी ही स्वीकारोक्ति से (गाथा ८००) भास, रघुकार (कालिदास), सुबन्धु तथा हरिचन्द्र के काव्यों से स्फूर्ति-ग्रहण करने की घटना का संकेत हमें मिलता है, परन्तु इनके प्रधान उपजीव्य भवभूति ही हैं। १२०९ गाथाओं में निबद्ध इस महाकाव्य के रचयिता की 'कविराज' उपाधि (कइराअलंछण) यथार्थ तथा वास्तव है।



शास्त्र काव्य तथा देवकाव्य

शास्त्र काव्य

व्याकरण के पद प्रयोगों की यथार्थ रूप से शिक्षा देने के निमित्त निर्मित काव्य **शास्त्रकाव्य** के नाम से व्यवहृत किये जाते हैं। ऐसे काव्यों का प्रथम निदर्शन भट्टिकाव्य है जिसकी रचना विक्रम के षष्ठ शतक में की गई। भट्टि का यह काव्य एक मौलिक कल्पना की प्रसूति है और इसकी सफलता से प्रेरित होकर पिछले कवियों ने ऐसे काव्यों का निर्माण कर विशेष योग्यता प्रदर्शित की है। काश्मीर के निवासी **भट्ट भीम** (भौम या भौमक) रचित 'रावणार्जुनीय' काव्य रावण तथा कार्तवीर्यार्जुन के युद्ध वर्णन में निबद्ध है जिसके २७ सर्गों में अष्टाध्यायी के क्रम से पदों का निदर्शन है। क्षेमेंद्र ने शास्त्रकाव्य के उदाहरण में भट्टिकाव्य के साथ इस महाकाव्य के नाम का उल्लेख किया है (सुवृत्त तिलक ३।४)। इस निर्देश से भौमक का समय एकादश शतक से प्राचीन सिद्ध होता है। **हलायुध** का 'कविरहस्य' संस्कृत धातुओं के नानार्थ तथा समानाक्षर होने पर भी भिन्नार्थ का बड़ा ही सुंदर विवेचक काव्य है। कवि हलायुध राष्ट्रकूट-वंशीय कृष्णराज तृतीय (९४०-९५३ ईस्वी) के सभापण्डित थे और इसीलिए इन्होंने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में ही समग्र उदाहरण दिये हैं। केरल के कवि **वासुदेव** ने भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति में तीन सर्गों में 'वासुदेव विजय' नामक अपूर्ण काव्य लिखा है। इसमें पाणिनि के सूत्रों के दृष्टांत प्रस्तुत किये गये हैं। इसकी पूर्ति केरल के ही **नारायन** कवि ने तीन सर्गों में 'धातु काव्य' नामक काव्य लिखकर की जिसमें धातुओं का प्रयोग अधिकांश रूप से किया गया है तथा कथानक का अंत कंस के वध से होता है।

वासुदेव के व्यक्तित्व के विषय में पर्याप्त मतभेद है। 'वासदेव विजय' तथा 'युधिष्ठिर विजय' के रचयिता के समान नाम तथा समान जन्मस्थान (कोचीन में पेरुवन) होने के कारण दोनों अभिन्न माने गये हैं। परन्तु कुछ आलोचक इन दोनों को भिन्न व्यक्ति मानते हैं। केरल के एक अन्य कवि भी

वासुदेव नामक थे जिन्होंने गोविन्द चरित, संक्षेप भारत, संक्षेप रामायण तथा कल्याण–नैषध नामक काव्यों की रचना की थी। दोनों के ग्रन्थों में साम्य होने के हेतु दोनों एक माने गये हैं। परन्तु 'वासदेव विजय' तथा 'युधिष्ठिर विजय' के कर्ता को एक ही अभिन्न व्यक्ति मानना उचित प्रतीत होता है[1]। नाम तथा जन्मस्थान की समता तथा काव्य शैली की समता के आधार पर यह अभेद आधारित है।

हेमचन्द्र का 'कुमारपाल चरित' ऐतिहासिक काव्य होने से पहिले ही निर्दिष्ट किया गया है परन्तु ऐतिहासिक होने के साथ ही साथ यह 'शास्त्र-काव्य' भी है। इसके २८ सर्गों में प्रथक बीस सर्गों में तो हैम व्याकरण के नियमों के अनुसार संस्कृत व्याकरण के रूपों का प्रयोग किया गया है, परन्तु अन्तिम आठ सर्गों में प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा के व्याकरण सम्बद्ध रूपों का प्रयोग उपलब्ध होता है। इस प्रकार यह काव्य उभय भाषाओं के व्याकरण जानने के लिए नितान्त उपयोगी है।

शैव-काव्य

भगवान शंकर की अनेक लीलाओं का वर्णन पुराणसाहित्य में उपलब्ध होता है। शंकर–पार्वती के विवाह को प्रधान वृत्त मानकर 'कुमार सम्भव' की रचना ने विदग्धों का हृदयावर्जन तो कर ही रखा था। इस युग के कविजनों ने भी इस आख्यान के ऊपर अनेक महाकाव्यों का प्रणयन किया। ऐसे काव्यों में 'उत्प्रेक्षा वल्लभ' के नाम से प्रख्यात **गोकुलनाथ** का 'भिक्षाटन' काव्य माननीय है। १४ शतक से पूर्व रचित इस काव्य में शिव का चित्रण श्रृंगारिक वातावरण में किया गया है। शंकर भिक्षा माँगने के लिए इन्द्राणी आदि देवांगनाओं के पास जाते हैं जो इनका रूप देखकर नाना प्रकार की श्रृंगारी कल्पनायें करती हैं। परन्तु इससे कहीं अधिक प्रख्यात तथा कोमल भावना-प्रधान है **नीलकण्ठ दीक्षित** 'शिव लीलार्णव'

---

१ द्रष्टव्य Dr. Kunhan Raja Presentation volume, Madras, १९५७, पृ० ३७४–३८५

महाकाव्य ।[१] दीक्षित जी प्रख्यात दार्शनिक अप्पय दीक्षित के भ्राता अच्चा दीक्षित के पौत्र थे और मदूरा के राजा तिरुमल नायक (१७ शतक का आरंभ काल) के सभा-पण्डित थे। इनके 'नील कण्ठ विजय चम्पू' का रचनाकाल ४७३८ कलि शताब्द अर्थात् १६३७ ई० है। अतः इनका समय १७ वीं शती का पूर्वार्ध मानना उचित है। इनका 'शिवलीलार्णव' महाकाव्य २२ सर्गों में मदूरा के सुन्दरनाथ शिव की स्थानीय विख्यात् ६४ लीलाओं का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करता है। ये लीलायें स्कन्ध पुराण के अन्तर्गत 'हलास्य माहात्म्य' में वर्णित बतलाई जाती हैं। इनका इससे परिमाण में स्वल्प अष्टसर्गात्मक काव्य गंगावतरण है जिसमें भगीरथ की कठिन तपस्या के फल-रूप भगवती गंगा के भूतल पर अवतरण का सुन्दर वर्णन है। नीलकण्ठ दीक्षित की शैली प्रसादमयी है। छोटे छोटे सरल शब्दों में भूरि भावों के भरने में यह शैव कवि सफल माना जा सकता है। द्रविड़ कवियों में ऐसा सुन्दर प्रतिभा-सम्पन्न, कविता लिखने वाला कवि विरला ही होगा। इन्होंने लोकशिक्षा के लिए कलि विडम्बन, सभारंजन, अन्यापदेश शतक आदि अनेक लघुकाव्यों का भी प्रणयन किया है, परन्तु 'शिव लीलार्णव' ही इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है।

कश्मीर के निवासी, जयद्रथ रचित 'हरचरित-चिंतामणि' भगवान् शङ्कर के नाना चरित्रों तथा लीलाओं का वर्णनात्मक तथा अनुष्टुप छन्द में निबद्ध एक महनीय काव्य है। ये अलङ्कार-विमर्शिणी के रचयिता प्रसिद्ध आलंकारिक जयरथ के भाई थे। ये दोनों भाइयों के संरक्षक कश्मीर के राजा राजराज या राजदेव (१२०३ ई०-१२२६ ई०) थे। अतः इनका समय त्रयोदश शतक का आरम्भ काल मानना चाहिए। 'चिन्तामणि' की भाषा सरल तथा सुबोध है।

कृष्ण काव्य

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की ललित लीलाओं के वर्णन के विषय में भी अनेक काव्यों का निर्माण होता रहा है। ऐसे काव्यों में 'वैद्य जीवन'

१ वाणीविलास से प्रकाशित।

के कर्ता लोलिम्बराज का 'हरि विलास' स्वल्पकाय होने पर भी गुणों के कारण विशिष्ट है। ये लोलिम्बराज दक्षिण भारत के किसी हरिहर नामधारी राजा के, जो धारा नरेश भोजराज का समकालीन था, समकालीन थे। फलतः इनका काल ११ शतक का मध्यकाल है। ये अनेक वैद्यक ग्रंथों की रचना के लिए विख्यात हैं। ये बड़े रसिक तथा भावुक कवि थे। इसीलिए इस पंचसर्गात्मक काव्य में कृष्ण की बाललीला का शृंगारी वर्णन नितान्त हृदयावर्जक है। इसकी अपेक्षा परिमाण में बृहत्तर होने पर भी वेदान्त देशिक (१२५० ई०–१३५० ई०) का 'यादवाभ्युदय' पाण्डितपूर्ण प्रबन्ध काव्य है जो हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क को ही अधिक आकर्षण करता है। रुक्मिणीहरण की विख्यात कथा को काव्यात्मक रूप देनेवाला, राजचूड़ामणि दीक्षित का 'रुक्मिणी-कल्याण' काव्य भी पाण्डित्य का ही विशेष निदर्शन है। ये अपने समय के द्रविड कवियों में अनेक ग्रन्थों के रचयिता रूप में विशेष ख्यातनामा थे। तंजोर के राजा रघुनाथ नायक (१७ शतक का पूर्व भाग) के सभा–पण्डित थे। चैतन्य-मतानुयायी गौडीय वैष्णव कवियों ने श्रीकृष्ण के जीवन के चारु लीलाओं का रुचिर चित्रण अपने काव्यों में किया है। ऐसे काव्यों में कृष्णदास कविराज का 'गोविन्द लीलामृत' महाकाव्य पर्याप्त विस्तृत (२३ सर्ग; २५११ श्लोक) है। इसमें कवि ने राधाकृष्ण की अष्टकालिक लीलाओं का बड़ा ही सूक्ष्म वर्णन किया है। ये कृष्णदास चैतन्यमहाप्रभु की सर्वश्रेष्ठ जीवनी 'चैतन्य चरितामृत' (बंगला) के रचयिता होने से कहीं अधिक प्रख्यात हैं। इस काव्य में भक्त कवि की वाणी भक्तिमय पद्यों के गुम्फन में सर्वथा कृतकार्य होती है।

महाभारत के कथानक तथा अवान्तर आख्यानों के ऊपर ब्राह्मण तथा जैन कवियों ने नवीन काव्यों का निर्माण किया। अमरचंद्र सूरि का बाल-भारत' समग्र महाभारत को एक ही ग्रन्थ के भीतर निबद्ध करने का सफल प्रयास है। जिनदत्त सूरि का यह शिष्य गुजरात के राजा वीसलदेव (१३ श० का मध्यकाल) का सभापण्डित था। महाभारत के समान ही यह भी १८ पर्वों में तथा ४४ सर्गों में विभक्त है। वैदर्भी रीति में निबद्ध लगभग सात हजार पद्यों में महाभारत का यह संक्षेप सुन्दर तथा उपयोगी है। मलधारी

देवप्रभ सूरि का 'पाण्डव चरित' भी इसी शती की रचना है जिसमें १८ पर्वों की कथा १८ सर्गों में संक्षिप्तरूपेण वर्णित है। ये भी गुजरात के राजा के आश्रित थे तथा १३ शतक में विद्यमान थे। महाभारत के आख्यानों में नल की कथा पर्याप्त प्रसिद्ध थी और इसीलिए इस विषय के ऊपर अनेक काव्यों का निर्माण हुआ है।

कपिञ्जल कुल में उत्पन्न तथा पुरी के महाराजा के संधिविग्रहिक उत्कल-देशीय **कृष्णानन्द** का 'सहृदयानन्द' काव्यशैली की दृष्टि से रोचक तथा सुबोध है।

कृष्णानन्द की जाति का पता नहीं चलता। कुछ लोग इन्हें कायस्थ मानते हैं, परन्तु इसके लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। सान्धिविग्रहिक तो दोनों हुआ करते थे—ब्राह्मण और अब्राह्मण। विश्वनाथ कविराज ने 'सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणास्त्वं' (सहृदयानन्द ३।५२) पद्य को साहित्य-दर्पण (८।८) में उद्धृत किया है। यही इनके समय की पिछली सीमा है। नैषधकाव्य पर इन्होंने टीका बनाई थी। ऐसी अनुश्रुति प्रचलित है। फलतः कृष्णानन्द को श्रीहर्ष (१२ श०) तथा विश्वनाथ कविराज (१४ श०) के बीच में मानना उचित है। इसलिए इनका समय १३ वीं शती मानना ठीक है। ये जगन्नाथपुरी के निवासी थे तथा इनके इष्टदेव नरसिंह थे; ऐसी कल्पना ग्रंथ के मंगलश्लोकों के आधार पर की जा सकती है। इनके काव्य में नल का समग्र चरित चित्रित किया गया है यह वर्णन-प्रधान काव्य है तथा वैदर्भी में निबद्ध होने के कारण पर्याप्त रूप से रोचक और आकर्षक है।

'सहृदयानन्द' के १५ सर्गों में राजा नल तथा दमयंती की महाभारता-नुसारी पूरी कथा निबद्ध की गई है। शैली रोचक तथा भाषा सुबोध है। **वामनभट्ट बाण** का 'नलाभ्युदय' महाकाव्य आठ सर्गों में राजा नल के चरित्र का वर्णन करता है। भाषा सरल, सुबोध परंतु आलंकारिक है। इसके रचयिता वामनभट्ट बाण तैलंगदेश के राजा वेमभूपाल (१५ शतक का मध्य भाग) के सभापण्डित थे जिनका परिचय **'वेमभूपाल चरित'** नामक

गद्यग्रन्थ से भलीभाँति चलता है। इनकी अनेक रचनायें हैं जिनमें **पार्वती-परिणय'** नामक नाटक **'कुमार-सम्भव'** के सफल अनुकरण होने के कारण विशेष विख्यात है। कृष्ण तथा अर्जुन की परस्पर मैत्री के विषय में **वस्तुपाल** रचित 'नरनारायणानन्द' एक प्रख्यात काव्य है जिसमें सुभद्राहरण तक की कथा संक्षेप में दी गई है। यह कवि गुजरात में ढोलका के राजा वीरधवल का प्रधान मन्त्री था तथा अपनी दानशीलता तथा कवियों के आश्रयदान के कारण विशेष विख्यात था। वीरधवल का शासनकाल सन् १२१६ ई० से लेकर १२३६ ई० तक है। अतः इस काव्य की रचना त्रयोदश शतक के पूर्वार्ध में हुई। रामकथा के ऊपर भी कई काव्य रचे गये हैं जिनमें लोकनाथ तथा अम्मा के पुत्र **चक्रकवि** की रचना 'जानकी-परिणय' प्रख्यात है। १७ शतक में निबद्ध यह काव्य ८ सर्गों में समाप्त होता है तथा सीता के स्वयम्वर तथा विवाह की कथा को विस्तार से प्रस्तुत करता है। **साकल्यमल्ल** रचित 'उदारराघव' सम्पूर्ण रामायण का सारांश होने से कथा की जानकारी के लिए विशेष उपयोगी है। शिंगभूपाल (१३३० ई०) के समकालीन होने से इनका समय १४ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। **सोमेश्वर** कवि का सुरथोत्सव काव्य दुर्गासप्तशती में उल्लिखित कथानकों का सुविस्तृत वर्णन करता है। इसमें १५ सर्ग हैं। सोमेश्वर गुजरात के राजा वीरधवल तथा वीसलदेव (१२१६ ई०—१२७१ ई०) के पुरोहित तथा सभापण्डित थे। ये अपने समय के नितान्त प्रख्यात कवि थे जिन्होंने अपने दूसरे काव्य कीर्तिकौमुदी में वीरधवल के अमात्य वस्तुपाल के औदार्य्य तथा सरस्वतीसेवा का विस्तृत वर्णन किया है। **गोविन्द मखी** (१६ शतक) का **'हरिवंश-सारचरित'** 'हरिवंश' पुराण में निबद्ध कथाओं का संक्षेप में वर्णन करता है। इस काव्य में २३ सर्ग हैं जिनमें वैदर्भी रीति की प्रचुरता विशेष लक्षित होती है। ये दक्षिण भारत के निवासी थे। इससे कुछ पीछे वेंकटेश्वर कवि ने **'रामचंद्रोदय'** नामक महाकाव्य (३० सर्ग) में रामायण की कथा का वर्णन किया है। ये काँची के निवासी थे; परन्तु इस काव्य की रचना काशी में १६३५ ई० में हुई थी।

'रघुवीरचरित' महाकाव्य अभी हाल ही में अनन्त शयन ग्रन्थावली

में प्रकाशित हुआ है जिसमें रामचंद्र के वनवास से लेकर राज्याभिषेक तक की कथा वर्णित है। इसमें १७ सर्ग हैं जिनमें प्रौढ़ि तथा व्युत्पत्ति का प्रदर्शन है। इसके रचयिता के नाम का पता नहीं चलता। आउफ्रेक्ट् की पुस्तकसूची में 'रघुवीर चरित' के रचयिता कोई मल्लिनाथ बताये गये हैं। कहा नहीं जा सकता कि ये दोनों काव्य एक हैं या भिन्न। यदि प्रसिद्ध कोलाचल मल्लिनाथ इसके रचयिता हों, तो इसका रचनाकाल १४ शतक से हटकर नहीं हो सकता।

यमक तथा श्लेष काव्य

संस्कृत आलंकारिकों ने यमक तथा श्लेष के अनेक भेदों का वर्णन कर काव्य को चमत्कृत तथा सुसज्जित करने के प्रचुर प्रकारों का दर्शन अपने ग्रन्थों में कराया है। वस्तुतः इन अलंकारों का प्रयोग वहीं तक श्लाघ्य तथा आदरणीय है जहाँ कि वे मूलभूत रस का न तो व्याघात करें और न उसके उन्मीलन में किसी प्रकार का विघ्न प्रस्तुत करें। इस युग के कवियों का ध्यान इसी दिमागी कसरत दिखलाने की ओर इतना अधिक था कि उन्होंने इन्हीं अलंकारों के प्रदर्शन की ओर अपनी समग्र शक्ति लगा दी। दण्डी ने यमक के अनेक प्रकारों का वर्णन 'काव्यादर्श' में किया है और इसी युग के कवि भट्टि ने अपने काव्य के १० वें सर्ग में बीस श्लोक यमक काव्य के रूप में लिखा है। **घटखर्पर** का 'यमक काव्य' केवल बाइस श्लोकों में है जिसमें कोई विरह विधुरा सुन्दरी अपने प्रियतम के पास वर्षा के आरम्भ में सन्देश भेजती है। इस काव्य को कालिदास की रचना मानना एक विडम्बनामात्र है। इसके ऊपर आठ टीकाएँ मिलती हैं जिससे ग्रंथ की क्लिष्टता की प्रसिद्धि का परिचय मिल सकता है। यमक काव्य का सबसे सुन्दर निदर्शन है **नीतवर्म्मन्** रचित 'कीचकवध काव्य'[1] है। इसके रचयिता भारत के किसी पूर्वी प्रान्त के निवासी थे। समय इनका ग्यारह शतक के पूर्वतर है। 'कीचकवध' में केवल पाँच सर्ग तथा १७७

---

१ जनार्दन सेन की टीका तथा सर्वानन्दनाग की टीका के उदाहरण के साथ ढाका विश्वविद्यालय से प्रकाशित, ढाका, १९२९.

श्लोक हैं जिसमें चार सर्गों में तो पूरा यमक है। तीसरे सर्ग में श्लेष का पूर्ण साम्राज्य है जहाँ द्रौपदी द्व्यर्थक वाक्यों के द्वारा पाण्डवों का प्रकृत परिचय कराती है। कठिन होने के कारण ही यह काव्य प्रायः विस्मृतप्राय था और अभी हाल में प्रकाशित हुआ है।

वासुदेव का 'युधिष्ठिर विजय' यमक काव्य का एक उत्कृष्ठ नमूना माना जाता है। वासुदेव के जन्मस्थान के विषय में अब संदेह नहीं किया जा सकता। कभी वे कश्मीर के निवासी माने जाते थे, परंतु नये प्रमाणों के आधार पर उनका निवासस्थल केरल ही प्रतीत होता है। इनके गुरु भारत-गुरु थे जो कुलशेखर के राज्यकाल में उत्पन्न हुए थे।[1] कुलशेखर केरल के राजाओं की एक उपाधि है। इस काव्य की अच्युतरचित 'विजयदर्शिका' टीका में तथा शिवदास रचित 'रत्नप्रदीपिका' व्याख्या में 'वसुधामवतः पद' का श्लिष्ट अर्थ महोदयपुर का शासक किया गया है। यह महोदयपुर (आजकल कोचीन राज्य का तिरुवञ्चिक्कुल) केरल देश की प्राचीन राजधानी था। केरल के अनेक कवियों ने इस काव्य की प्रशस्त प्रशंसा की है[2]। ये कोचीन राज्य के पेरुवन नामक स्थान के निवासी थे जहाँ के अधिष्ठातृ देव शास्ता की कृपा से वासुदेव की प्रतिमा के उन्मेष की कथा केरल में नितांत प्रसिद्ध है। फलतः ये केरलदेशीय कवि निःसंदेह थे। 'युधिष्ठिर विजय' के अतिरिक्त 'त्रिपुरदहन' तथा 'शौरिकथोदय' नामक काव्य के निर्माण का श्रेय इन्हें दिया जाता है। ये दोनों काव्य अभी तक हस्तलिखित रूप में ही उपलब्ध हैं। कुछ लोग 'नलोदय काव्य' (चार सर्गों में २१० श्लोक) की रचना का श्रेय इन्हीं को देते हैं, परंतु यह अभी संदिग्ध ही है। कालि-दास ही इस काव्य के निर्माता माने जाते थे, परंतु इसके टीकाकार रामर्षि

---

१ तस्य च वसुधामवतः काले कुलशेखरस्य वसुधामवतः।
वेदानामध्यायी भारतगुरुरभवदादि-नामध्यायी ॥ ६ ॥
—युधिष्ठिर विजय—काव्य माला नं० ६० ।

२ तस्मै नमोऽस्तु कवये वासुदेवाय धीमते।
येन पार्थकथा रम्या यमिता लोकपावनी ॥

(समय १६०० ई० के आसपास) की मान्यता के अनुसार इसके रचयिता रविदेव माने जाते हैं और इस कथन पर विद्वानों की आस्था स्थिर है।

'युधिष्ठिर विजय' यमक काव्य का एक बहुत ही भव्य दृष्टांत है। यमक काव्य कभी कभी बड़े क्लिष्ट तथा विषम हुआ करते हैं, परंतु युधिष्ठिरविजय का यमक बहुत प्रसन्न, सरस तथा सरल है। ग्रंथ में आठ उच्छ्वास हैं जिसमें महाभारत की कथा संक्षेप में; परंतु सरसता के साथ, वर्णित है। वसंत की शोभा इस पद्य में बड़ी रोचकता से दिखलाई गई है—

पथिकजनानां कुरवान् कुर्वन् कुरवो बभूव नवांकुरवान्।
प्रेक्ष्य रुचं चूतस्य स्तबकेषु पिकश्चकार चञ्चू तस्य॥ (२।४३)

[आशय है कि कुरव वृक्ष पथिक जनों के प्रलापों को उत्पन्न करता हुआ नये अंकुर से सम्पन्न हो जाय। आम के स्तवक के ऊपर बैठे हुए पिक ने उसकी शोभा देख अपने चञ्चुपुटों को खोल दिया।]

इस काव्य के ऊपर काश्मीर के राजानक रत्नकण्ठ की टीका काव्यमाला में प्रकाशित है। टीका का रचनाकाल १५९३ शाके (=१६७१ ईस्वी) है जब अवरंगशाली (अर्थात् औरंगजेब) दिल्ली में शासन कर रहा था। इसके ऊपर अच्युत रचित 'विजयदर्शिका' तथा शिवदास की 'रत्नप्रदीपिका' हस्तलिखित रूप में ही उपलब्ध हैं, परंतु अभी तक अप्रकाशित हैं।

संस्कृत में एक विचित्र रहस्यात्मक तथा शब्द चमत्कारी काव्य है जिसका नाम राक्षस'काव्य है। पद्यों की संख्या बीस है, परन्तु यह बड़ा ही लोकप्रिय था। अनेक टीकायें इसके ऊपर उपलब्ध होती हैं, परंतु न तो इसके रचयिता का ही ठीक पता है न इसके रचना काल का। कालिदास के नाम से बहुशः संबद्ध होने पर भी इसमें कालिदास की शैली का पूर्णतः अभाव है। रविदास या केरलीय कवि वासुदेव भी इसके कर्ता माने गये हैं। किसी 'राक्षस' नामधारी कवि का श्लोक 'सदुक्ति कर्णामृत' (र० का० १२०३ ई०) में उद्धृत मिलता है। प्रेमधर, शंभुभास्कर, कविराज, कृष्णचन्द्र, उभयाकर मिश्र तथा बालकृष्ण पायगुण्ड (१६०० ई० के अनन्तर) के द्वारा

१ निर्णयसागर से प्रकाशित।

निर्मित टीकायें इस काव्य पर मिलती हैं। राक्षस काव्य की एक टीका के हस्तलेख का समय १२१५ सं०=११५६ ईस्वी है। फलतः टीकाकार का समय ११०० के आस पास होना चाहिए तथा मूल ग्रंथ का काल १००० ईस्वी में लगभग मानना उचित होगा। 'जलद' के लिये यहाँ 'तर्वर्यरिप्रद' जैसे विलक्षण शब्दों के प्रयोग से यह काव्य नितान्त कठिन हो गया है। 'कविराक्षसीय' नामक एक सौ श्लोकों वाला अन्य काव्य है। इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध का ठीक ठीक पता नहीं चलता। इसके ऊपर देवनाराध्य के पुत्र नागणाराय रचित टीका भी मिलती।[1]

श्लेषकाव्यों में सन्ध्याकरनन्दी का 'रामचरित[2]' प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। ये उत्तरी बंगाल में पुण्ड्रवर्द्धन के पिनाकनन्दी के पौत्र तथा प्रजापति नन्दी के पुत्र थे। इन्होंने इस काव्य की पूर्ति रामपाल के पुत्र मदनपाल (एकादश शतक का अन्तिम भाग) राज्यकाल में की। इस काव्य में भगवान् रामचन्द्र तथा पालवंशी नरेश रामपाल का एक साथ वर्णन श्लेष के द्वारा बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। कवि के पिता राज्य के उच्च अधिकारी थे। अतः इन्हें राजदरबार की सच्ची घटनाओं का पूर्ण परिचय था। इसलिए यह काव्य बंगाल का मध्ययुगीय इतिहास जानने के लिए विशेष महत्त्वशाली है। इसमें पाँच सर्ग तथा दो सौ बीस आर्याएँ हैं जिनको समझना तत्कालीन ऐतिहासिक वृत्त के परिचय न होने से एक टेढ़ी खीर है। रामपाल का समय ही (१०८४ ई०—११३० ई०) कवि का समय भी होना चाहिए। रामायण तथा महाभारत की कथा को एक ही साथ एक काव्य में प्रतिपादित करने की ओर कवियों का ध्यान विशेष आकृष्ट हुआ। ऐसे द्व्यर्थक काव्यों को दण्डी ने 'द्विसंधान' काव्य नाम दिया है।

---

१ महालिंगशास्त्री ने इसे सम्पादित कर अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित किया है। द्रष्टव्य, कलकत्ता ओरियण्टल जर्नल, १९३५ ई०।

२ हरप्रसादशास्त्री द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, १९१०। इसका नवीन संस्करण डा० रमेशचन्द्र मजुमदार के सम्पादकत्व में वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी से प्रकाशित हुआ है, १९३९।

धनञ्जय का **द्विसंधान काव्य** (अपर नाम राघवपाण्डवीय) द्वयर्थी काव्यों के इतिहास में प्राचीन होने के कारण महत्त्वपूर्ण माना जाता है। राजा भोज ने सरस्वती कण्ठाभरण में महाकवि दण्डी तथा धनञ्जय के द्विसंधान काव्य का निर्देश किया है, परन्तु दण्डी की एतन्नामक कोई कृति आजतक उपलब्ध नहीं हुई है। धनञ्जय की कृति उपलब्ध तथा प्रख्यात है। विनयचन्द्र के शिष्य नेमिचन्द्र ने इसके ऊपर एक विस्तृत टीका लिखी थी जिसका सार संकलन कर जयपुर के पण्डित बदरीनाथ दाधीच ने सुधानाम्नी टीका लिखी है[1]। प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'धनञ्जय' का नाम निर्दिष्ट है और इसीलिए यह द्विसन्धान काव्य 'धनञ्जयाङ्क' नाम से प्रख्यात है।

राजशेखर का इनकी स्तुति में निबद्ध यह पद्य 'सुक्तिमुक्तावली' में उपलब्ध होता है।

> **द्विसंधाने निपुणतां सतां चक्रे धनञ्जयः।**
> **यया जातं फलं तस्य सतां चक्रे धनंजयः॥**

इस स्तुतिपरक पद्य से धनञ्जय का दशमी शती के पूर्वार्ध से प्राचीन होना निश्चित है। 'नाममाला' कोष के रचयिता होने से ये नैघण्टुक धनञ्जय भी कहे जाते हैं। ये जैन थे और इसीलिए रामायण तथा महाभारत के विषय में प्रख्यात जैन कथाओं का ही आधार इस काव्य में मिलता है। १८ सर्गों में विभक्त यह काव्य श्लेष-पद्धति से रामायण तथा भारत दोनों की कथाओं को एक साथ ही वर्णन करता है। श्लेष में सभंग श्लेष का आश्रय लिये जाने पर भी काव्य में विशेष दुरूहता नहीं आने पाई है। प्रसाद गुण की स्थिति विशेष रूप से लक्षित होती है।

राघवपाण्डवीय के कर्ता **कविराज सूरि** के साथ धनञ्जय का पौर्वापर्य विचारणीय विषय है। कविराज के व्यक्तित्व तथा आविर्भाव काल के विषय

---

१ सं० काव्यमाला ग्रंथसंख्या ४९, बम्बई, १८९५। सुधाटीका के साथ प्रकाशित।

में आलोचकों में पर्याप्त मतभेद है। के० बी० पाठक की सम्मति में कवि का व्यक्तिगत नाम माधवभट्ट था; कविराज उपाधि थी और जयन्तीपुर के कादम्ब नरेश कामदेव (११८२ ई०–११८७ ई०) के सभापण्डित होने से इनका समय १२ वीं का उत्तरार्ध था। डा० कीथ तथा विन्टरनित्स ने इस मत का अंगीकार किया है, परन्तु डाक्टर सुब्बैया ने प्रमाणित किया है कि इस कवि का वास्तव नाम ही 'कविराज' था; यह उपाधि नहीं थी। क्योंकि 'सूरि' शब्द (१।२५) नाम के अन्त में ही जोड़ा जाता है, किसी उपाधि के अन्त में नहीं। पाठक के द्वारा निश्चित समय के विषय में भी पर्याप्त सन्देह विद्वानों को है। कविराज ने अपने आश्रयदाता वीर कामदेव की तुलना राजा मुंज (१० वीं शती का अन्तिम चरण) के साथ बड़े आग्रह के साथ की है। सम्भव है इस तुलना का स्वारस्य कवि को मुंज के समकालीन तथा सभासद होने में है। फलतः इनका समय दशवीं शती का उत्तरार्ध है। कविराज सूरिका 'राघव पाण्डवीय'[1] तेरह सर्गों में विभक्त ६६८ श्लोकों में विरचित है। हमारी दृष्टि में धनञ्जय कविराज से निःसन्देह पूर्ववर्ती कवि हैं। ये अपने को सुबन्धु तथा बाणभट्ट जैसे वक्रोक्तिनिपुण कवियों की परम्परा में मानते हैं—

सुबन्धु बणिभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्ग-निपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा॥

(राघव पाण्डवीय १।४१)

हरदत्तसूरि ने 'राघवनैषधीय'[2] काव्य में राम तथा नल का चरित्र श्लेष के द्वारा एकत्र निबद्ध किया है। भट्टोजिदीक्षित (१६५० ई०) के उल्लेख करने से तथा १८०० ई० के आसपास इनके काव्य की प्रति उपलब्ध होने से इनका समय १८ वीं शती प्रतीत होता है। चालुक्य सोमदेव

---

१. काव्यमाला सं० ६२, १८९७, शशधर की टीका के साथ। प्रेमचंद्र तर्कवागीश की टीका कलकत्ता से प्रकाशित, १८८५।

२. काव्यमाला सं० ५८ में प्रकाशित, १९२६

(११२३ ई०–११३८ ई०) के सभापण्डित **विद्यामाधव** ने 'पार्वतीरुक्मणीय'[1] नामक नव सर्गात्मक काव्य में पार्वती और रुक्मणी के विवाह का विशद वर्णन एक साथ किया है। **वेंकटाध्वरी** (१६ शतक के पूर्वार्ध) ने **'यादव राघवीय'** नामक लघुकाव्य (३०० श्लोक) में विलोम पद्धति से राम और कृष्ण दोनों के चरित्र का एकत्र वर्णन किया है। यह श्लेषकाव्य न होकर विलोमकाव्य है जिसमें साधारण क्रम से पढ़ने पर राम का चरित्र निकलता है और श्लोकों को उलटे क्रम से पढ़ने पर कृष्ण का चरित्र। **चिदम्बर** सुमति का प्रयास श्लेष-काव्य का चूड़ान्त निदर्शन कहा जा सकता है जिन्होंने **'राघवपाण्डवयादवीय'** नामक काव्य में रामायण, महाभारत तथा भागवत की कथा—त्रिवेणी को एक साथ ही निबद्ध किया। ये विजयनगर के राजा व्यंकट (१५८६–१६१४ ई०) के सभापण्डित थे। इस काव्य में केवल तीन सर्ग हैं और यह अभी तक अप्रकाशित ही है। पार्थपुर के ज्ञानाधिराज के पुत्र **दैवज्ञ सूर्य्य** ने अपने **'रामकृष्णविलोम काव्य'**[2] में श्लेष के बिना सहायता के ही द्व्यर्थक काव्य का निर्माण किया है। इसमें केवल ३६ या ३८ श्लोक हैं जिसके प्रथमार्द्ध में राम की और द्वितीयार्द्ध में कृष्ण की प्रशस्ति है। यहाँ श्लोक का उत्तरार्द्ध पूर्वार्द्ध का ही विपरीत क्रम से निबद्ध पाठ है जिसे विलोम काव्य कहते हैं। दैवज्ञ सूर्य ने 'सूर्यप्रकाश' नामक ज्यौतिष ग्रन्थ १५३६ ई० में तथा लीलावती की टीका १५४२ ई० में लिखी। अतः इनका समय १६ वें शतक का पूर्वार्ध है।

चिदम्बर कवि ने **पञ्चकल्याण चम्पू** नामक एक विचित्र चम्पू की रचना की है जिसमें एक ही श्वास में राम, कृष्ण, शिव, विष्णु तथा सुब्रह्मण्य के विवाह का कथानक वर्णित है। यह दो स्तबकों में हैं और कवि ने इसके ऊपर

---

१. ये तीनों ग्रन्थ अप्रकाशित हैं। इनके हस्तलेख मद्रास तथा तंजोर के पुस्तकालय में हैं।

२. काव्यमाला गुच्छक ९, नि० सा० प्रे०, १८९९, पृ० ८०-१२१।

स्वयं ही 'शब्दशाखोपल' नामक टीकाग्रंथ लिखा था। श्लेष के चमत्कार-प्रदर्शन का यह सबसे विलक्षण प्रयास है जहाँ एक ही श्लोक के पाँच अर्थ निकलते जाते हैं। बहुलार्थक काव्य लिखने का प्रयास इसी ग्रंथ की रचना के साथ समाप्त होता है। स्पष्ट है कि इन कवियों को संस्कृत भाषा के ऊपर प्रगाढ़ आधिपत्य है, परन्तु ये भाषा की वेदी पर भाव के समर्पण में ही काव्य का चमत्कार मानते हैं।

सूक्तिसंग्रह

चमत्कारपूर्ण चुटीली उक्तियों के चुनने का कार्य संस्कृत में बहुत दिनों से होता चला आया है। इन संग्रह ग्रंथों में मुक्तकों का संग्रह है। साथ ही साथ प्रबन्ध काव्य के भी भावपूर्ण कतिपय पद्यों का संकलन किया गया है। इन सूक्ति-ग्रंथों की सहायता से हम संस्कृत साहित्य के अनेक मान्य कवियों का परिचय पाते हैं जिनकी कविता ग्रन्थ के रूप में मिलती नहीं और जिनका नाम भी इन्हीं ग्रन्थों में ही रह गया। भोजराज के सभाकवि **चित्तप** का नाम तथा पद्य सूक्ति-ग्रंथों की कृपा से ही उपलब्ध होता है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य की दृष्टि में इन ग्रंथों का अनुशीलन बड़ा ही उपयोगी है।

सबसे प्राचीन संस्कृत सूक्ति ग्रंथ जो आजकल उपलब्ध है—**कवीन्द्र-वचन-समुच्चय** है। उस संग्रह के कर्ता का पता नहीं कि वह कौन था और किस देश का रहनेवाला था। जिन कवियों की कविता का संकलन इस ग्रंथ में है उनमें से कोई भी एक हजार ईस्वी के इधर का नहीं है। अतः इसका रचना-काल ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में माना जाता है। इसमें अप्रसिद्ध बौद्ध कवियों के भी पद्य होने के कारण अनेक आलोचक इसके संग्रहकर्ता को बौद्ध मानते हैं।

इसके अनन्तर महत्त्वशाली संग्रह ग्रंथ-काश्मीरक वल्लभदेव की 'सुभाषितावलि'[१] है जिसे वन्द्यघटीय सर्वानंद ने अपनी अमर-कोश व्याख्या में साक्षात् रूप से उद्धृत किया है, परन्तु वर्तमान ग्रंथ १५वीं शती से पहले नहीं रखा जा सकता, क्योंकि इसमें बहुत से अवांतर कालीन कवियों के पद्य संगृहीत हैं। यह विशाल संग्रहग्रंथ है जिसमें १०१ पद्धतियों में विभक्त ३५२७ पद्यों का संकलन है। और कवि तथा काव्यों की संख्या ३६० है। विषयों की विभिन्नता विशेष दीखती है। देवता, ऋतु तथा प्रणय सम्बन्धी पद्यों के अतिरिक्त नीति और आचार सम्बन्धी भी पद्यों का सुंदर संकलन इसकी उपयोगिता प्रकट करता है।

तीसरा प्रख्यात ग्रन्थ **सदुक्तिकर्णामृत** है। इसको बंगाल के प्रसिद्ध राजा लक्ष्मण सेन के धर्माध्यक्ष बटुदास के पुत्र श्रीधरदास ने ११२७ शती (१२०५ ई०) में संकलित किया था। अतः इसका समय बारहवीं शताब्दी का अन्त तथा तेरहवीं शताब्दी का प्रारम्भ है। बंगाल आदि पूर्वीय देश के उस समय के प्रसिद्ध और आजकल नितांत अज्ञात कवियों के पद्यों का संग्रह इसकी विशेषता है। सूक्ति संग्रहों में सदुक्तिकर्णामृत सचमुच अपनी महत्ता तथा उपादेयता के कारण अद्वितीय माना जा सकता है। इसके विषयों की व्यापकता अद्भुत है। समग्र ग्रंथ अमर, शृंगार, चाटु, अपदेश तथा उच्चावच नामक पाँच प्रवाहों में विभक्त है, प्रति प्रवाह में बीचियाँ हैं जिनकी संख्या ४७६ है तथा प्रतिबीचि पाँच पद्यों की व्यवस्था होने से पूरे श्लोकों की संख्या २३८० है। इस ग्रंथ में उद्धृत कवियों की संख्या ४८५ है जिनमें से पचास से अधिक कवि ही हमारे परिचित नहीं हैं। शेष चार सौ से ऊपर कवियों के चुने हुये पद्यों का एकत्र संकलन इस बात का स्पष्ट साक्षी है कि मध्ययुग में संस्कृत काव्य की रचना अधिक मात्रा में होती थी। वसुकल्प, योगेश्वर, उमापतिधर, बल्लभदेव, वररुचि, लक्ष्मीधर, रविगुप्त, मधु (धर्माधिकरण), मनोक, प्रद्युम्न,

१. बाम्बे संस्कृत सीरीज में प्रकाशित

वीरनाग, धर्मकीर्ति, धर्मपाल, धर्मयोगेश्वर आदि शतशः कवियों के नाम भी विस्मृति–गर्त में डूब गये रहते यदि उनका निर्देश इस संग्रह में नहीं किया गया रहता। वैष्णव कविता का संकलन इसका प्रकृष्ट वैशिष्ट्य है। राजा लक्ष्मणसेन के कवि हृदय का भी इससे परिचय मिलता है।[1]

सूक्ति साहित्य का चतुर्थ ग्रंथ **सूक्ति मुक्तावलि** है। इसके रचयिता का नाम जह्लण था। ये अपने पिता लक्ष्मीदेव के समान ही दक्षिण भारत के राजा कृष्ण के मन्त्री थे। इनका समय १३ वीं सदी है। संस्कृत के प्राचीन कवियों के विषय में प्रशंसात्मक पद्यों का संकलन इसमें विशेषतया पाया जाता है। पञ्चम ग्रंथ **शार्ङ्गधरपद्धति** है जिसकी रचना दामोदर के पुत्र शार्ङ्गधर ने १३६२ ई० में की थी। यह सबसे बड़ा सुभाषित श्लोकों का संग्रह है जिसमें ४६८६ श्लोक १६३ विषयों में विभक्त संगृहीत हैं। इसमें वैद्यक, नीति, आदि अनेक ज्ञातव्य विषयों का समुचित संग्रह किया गया है।

पंद्रहवीं शताब्दी के बाद भी सूक्तियों का संग्रह होता चला आया। बंगाल के **रूप गोस्वामी** ने भी कृष्णपरक के सुंदर सूक्तियों का एक संग्रह **पद्यावली**[2] के नाम से किया था। इस ग्रंथ में राधाकृष्ण की ललित लीलाओं के विषय में रचित पद्यों का बड़ा ही कमनीय संकलन है। उस युग के अनेक बंगीय कवियों की सूक्तियाँ यहाँ संग्रहीत हैं जिनके विषय में हमारी जानकारी बहुत ही कम है या बिलकुल ही नहीं है। इस छोटे संग्रह में १२५ कवियों से संकलित केवल ३८६ पद्य हैं। बंगीय अथवा वैष्णव कवियों से अतिरिक्त अमरुक, भवभूति आदि प्राचीन कवियों के पद्य संगृहीत हैं, परन्तु उन्हें राधाकृष्ण के सन्दर्भ में ही संकलित किया गया है। पद्यवेणी से प्राचीनतर संग्रह सूर्य कलिंगराय कृत **'सूक्तिरत्नहार'**[3] है जिसका संकलन १४ वीं शती

---

१. पंजाब ओरियण्टल सीरीज नं १५। म० म० रामावतार शर्मा द्वारा सम्पादित।

२. सं० ढाका विश्वविद्यालय से १६३४।

३. सं० अनन्तशयन ग्रन्थमाला, १६३६।

के पूर्वार्ध में किया गया। संकलनकर्ता दक्षिण भारत के निवासी हैं और इसलिए तद्देशीय कवियों के रोचक पद्यों के संग्रह करने का गौरव इन्हें प्राप्त है।

पद्यवेणी से कुछ पहिले १५ वें शतक के उत्तरार्ध में जोनराज के शिष्य काश्मीर निवासी **श्रीवरने** 'सुभाषितावलि' का संकलन किया जिसमें लगभग ३८० कवियों के पद्य उद्धृत हैं। १७ वें शतक में अनेक सूक्तिसंग्रह प्रस्तुत किये गये जिनमें जगज्जीवन के पुत्र वेणीदत्त का **'पद्यवेणी'** लक्ष्मण भट्ट अंकोलकर की **'पद्य रचना'** (१६२५–१६५० के बीच में), तथा हरि कवि की **सुभाषित हारावलि** मुख्य हैं।

पद्यवेणी[1]—इस ग्रंथ के संकलनकर्ता वेणीदत्त नीलकंठ के पौत्र तथा जगज्जीवन के पुत्र थे जिनके अनेक पद्य इस ग्रंथ में संगृहीत होने से ये दोनों स्पष्टतः कवि प्रतीत होते हैं। वेणीदत्त ने अपने 'पंचतत्व प्रकाशिका' की रचना १६४४ ईस्वी में की। हरिनारायण मिश्र के द्वारा लिखित शाहजहाँ (१६२८–१६५८ ई०) की प्रशंसा में एक पद्य यहाँ उद्धृत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि वेणीदत्त के आविर्भाव का काल १७ शती का उत्तरार्ध है। इस संग्रह में ८८६ पद्यों में से चतुर्थांश के लगभग श्लोक (२३१ पद्य) संग्रहकर्ता की ही रचना हैं। पद्यवेणी मध्ययुगीन कवियों की रचनाओं का एक प्रतिनिधि संग्रह है जिसमें उद्धृत ११४ कवियों में से लगभग बीस से अधिक हमारे परिचित कवि नहीं हैं। इन कवियों में से केरली, गौरी, पद्मावती, मोरिका और विकटनितम्बा जैसे स्त्री-कवियों की भी रचनायें यहाँ उद्धृत हैं। मुसलमान बादशाहों के विषय में पण्डितों द्वारा रचित प्रशस्तियाँ इसकी दूसरी विशेषता है। इस संग्रह के अवलोकन से स्पष्ट है कि मध्ययुग में संस्कृत काव्यों का आदर ही न था, प्रत्युत उसके उपासक कविजनों का भी अभाव न था।

---

१. डा० चौधरी द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, १९४४।

'पद्यरचना'[1] सुन्दर सूक्तियों का एक मनोरम संग्रह है। इसके रचयिता का नाम है—लक्ष्मणभट्ट आंकोलकर। इसमें पंद्रह परिच्छेद (व्यापार) हैं जिसमें देवस्तुति, राजवर्णन, नायिका वर्णन, ऋतु तथा रस, नाना अन्योक्ति आदि के विषय में प्राचीन कवियों के सुन्दर पद्यों का संकलन किया गया है। लक्ष्मणभट्ट स्वयं प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे और यहाँ नाना विषयों पर उनके सुन्दर पद्य बड़े ही हृदयावर्जक हैं। पूरे पद्यों की संख्या ७५६ है। मध्ययुगीय अनेक कवियों के श्लोक यहाँ उद्धृत मिलते हैं, विशेषतः भानुकर (भानुदत्त) के श्लोकों की संख्या अधिक है। इन्होंने राजाओं के कीर्तिप्रसंग में चक्रवर्ती बघेल की प्रशंसा में अकबरीय कालिदास के पद्य को उद्धृत किया है (पृ० ११, श्लोक १४)। फलतः इनका समय अकबर के अनंतर है। १७ वीं के प्रथमार्ध में इनका समय मानना उचित है। मध्ययुग में अनेक सूक्तिसंग्रह रचे गये जिनमें सुन्दरदेव की सूक्तिसुन्दर तथा हरिभास्कर का पद्यामृत तरंगिणी प्रमुख हैं। सूक्तिसुन्दर अपेक्षाकृत छोटा है। इसमें शाहजहाँ के विषय में एक स्तुतिपरक पद्य का उल्लेख है। शाहजहाँ १६५८ ईस्वी में गद्दीपर बैठा। इस ग्रन्थ का एक हस्तलेख १७१० ईस्वी का है। फलतः इसका काल दोनों के बीच में १७ शती का उत्तरार्ध है। **हरिभास्कर** भी सुन्दरदेव के समकालीन ही थे। काश्यपवंशी आपाजिभट्ट के पुत्र भास्कर का उपनाम 'हरि' था और इसीलिये ये 'हरिभास्कर' के नाम से प्रख्यात है। इनकी 'पद्यामृत-तरंगिणी' एक उत्कृष्ट सूक्तिसंग्रह है जो पाँच तरंगों में विभक्त है—देव, नृप, रस, अन्योक्ति तथा प्राशस्त्यादि तरंग। पद्यों की संख्या ३०१ है। इन दोनों संग्रहों में मध्ययुगीन अनेक अज्ञात कवियों के काव्य संरक्षित हैं। हरिभास्कर स्वयं एक अच्छे कवि थे, फलतः सूक्तियों का चुनाव बहुत ही अच्छा है। काव्यगत सौन्दर्य की अपेक्षा इसका ऐतिहासिक मूल्य कहीं अधिक है। इस ग्रन्थ की रचना काशी में १७३० विक्रमी (=१६७४ ईस्वी) में हुई। इस प्रकार ये दोनों सूक्तिसंग्रह समसामयिक हैं।[2]

---

१ सं० काव्यमाला ग्रन्थसंख्या ८९, बम्बई, १९०८।

२ दोनों का प्रकाशन डा० चौधरी ने प्राच्य वाणी ग्रंथमाला में कलकत्ते से किया है।

इन सूक्तिसंग्रहों के अनुशीशीलन से स्पष्ट होता कि मध्ययुग में, विधर्मी मुसलमान बादशाहों के समय में भी, संस्कृत काव्य की धारा सूखने नहीं पाई प्रत्युत उसे बढ़ाने वाले सैकड़ों कवियों ने अपने मनोरम काव्यों की रचना से उसे सम्पन्न बनाया। इन कवियों का नाम भी आज हमारे लिए विस्मृति का विषय बन गया रहता, यदि ये सूक्तिसंग्रह आज उपलब्ध नहीं होते। फलतः ये ग्रंथ साहित्यिक तथा ऐतिहासिक उभय दृष्टियों से उपादेय तथा संग्रहणीय हैं।

स्त्री कवि

कविता, संगीत, चित्रकला आदि मधुर हृदयहारी कलाओं का बीज नारियों के सहानुभूति-पूर्ण रस से सिक्त हृदय में पुरुषों के कठोर हृदय की अपेक्षा अपने उगने के लिये अधिक सहकारी सामग्री पाता है। वहीं यह सदा हरा भरा पाया जाता है। संस्कृत साहित्य में स्त्री-कवियों ने भी बड़ी कमनीय तथा कोमल कविता, फुटकल या प्रबन्ध रूप में निर्मित की है। ऋग्वेद में अनेक स्त्रियों की बनाई हुई ऋचाएँ संगृहीत हैं जिन्हें **ऋषिका** के नाम से पुकारते हैं। कविता की दृष्टि से भी ये ऋचाएँ उच्चकोटि की मानी जाती हैं। पाली साहित्य में भी स्त्री-कवियों के द्वारा रचित सूक्तियों का संग्रह **थेरीगाथा** नामक ग्रन्थ में किया गया है। इन स्त्रियों ने सांसारिक भोगविलास को लात मारकर बौद्ध धर्म की शान्ति को ही अपने जीवन का अन्तिम लक्ष्य बनाया था। प्राचीन कवियों के प्रशंसात्मक पद्यों से इस संस्कृत की स्त्री कवियों के नाम का पता चलता है तथा सूक्ति-संग्रहों में संगृहीत कविताओं से ही इनकी उत्पन्न प्रतिभा का हमें परिचय मिलता है। ऐसी ४० स्त्री कवियों के लगभग डेढ़ सौ पद्य इधर उधर बिखरे पड़े हुए हैं जिनमें विज्जका, सुभद्रा फल्गुहस्तिनी, इन्दुलेखा, मारुला, त्रिकट-नितम्बा, शीला—भट्टारिका के नाम मुख्य हैं। इनमें विज्जका की कविता परिमाण तथा लालित्य की दृष्टि से बढ़कर है। स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसने कोई वृहद् प्रबन्ध-काव्य भी लिखा था जो आजकल उपलब्ध नहीं है।

विज्जका

मम्मटाचार्य ने अपने शब्दव्यापार-विचार में इनके 'दृष्टि हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि (नं० ५०० कवींद्र वचनसमुच्चय) और धन्यासि या कथयति (२९८ कवीन्द्र०) को उद्धृत किया है। दूसरा पद्य काव्य प्रकाश के चतुर्थ उल्लास में अर्थमूलक वस्तुप्रतिपाद्य अलंकारध्वनि के उदाहरण में दिया गया है। पहला पद्य धनिक के दशरूपावलोक तथा मुकुल भट्ट के 'अभिधावृत्तिमातृका' में उद्धृत किया गया है। भट्ट मुकुल का समय लगभग ९२५ ई० है। अतएव पूर्वोक्त पद्य की रचयित्री का समय अनुमान से ८५० ई० कहा जा सकता है। अतः विज्जका का आविर्भावकाल दण्डी तथा मुकुल भट्ट के बीच का काल (७१०–८५०) ई० माना जाता है।

कुछ विद्वानों का यह कथन है कि विज्जका तथा कार्णाटी विजया अभिन्न व्यक्ति हैं जिसकी वैदर्भी रीति की प्रशंसा राजशेखर ने कालिदास से उपमा देकर की है।

सरस्वतीव कार्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
या विदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम्।
(शार्ङ्ग० १८४)

इसी से विजया का कर्णाटदेशीय होना सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त इस गर्वोक्तिमय पद्य की लेखिका भी यही जान पड़ती है:—

एकोऽभून्नलिनात् ततश्च पुलिनात् वल्मीकतश्चापरे
ते सर्वे कवयो भवन्ति गुरवस्तेभ्यो नमस्कुर्महे।
अर्वाञ्चो यदि गद्यपद्यरचनैश्चेतश्चमत्कुर्वते
तेषां मूर्ध्नि ददामि वामचरणं कर्णाटराजप्रिया॥

पुलकेशी द्वितीय के ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रादित्य की महारानी 'विजय भट्टारिका' के साथ 'विजया' की एकता नाम-साम्य की भित्ति पर मानकर इनका समय ६६० ई० माना गया है क्योंकि विजयभट्टारिका के

इसी समय के लेख पाये जाते हैं। अतएव वे विज्जका को भी सप्तम शताब्दी में बतलाते हैं।

विज्जका सहृदय भावुक का वर्णन कितने मार्मिक तथा सच्चे शब्दों में कर रही है :—

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्।
वदद्भिरङ्गैः कृतरोम-विक्रियैर्जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमञ्जलिः॥

सच्चा कवि अपने भावों को अभिधा के द्वारा कभी प्रकट नहीं करता। यदि बात स्पष्ट रूप से कह दी जाय तो चमत्कार ही क्या रह जाय? वह केवल व्यंजना की सहायता से उन्हें प्रकट करता है। शब्दों के द्वारा अभिप्राय की व्यक्ति नहीं होती, वरन् कुछ रसभरे मनोहर पदों में यह भाव झलकता रहता है। ऐसे महाकवि का सच्चा आस्वादक किसे कह सकते हैं? कवि के गूढ़-व्यंजना-द्योतित अभिप्राय को समझकर जो रसिक शब्दों के द्वारा काव्यानन्द की सूचना नहीं देता वरन् चुप रहकर भी जिसके रोमांच हृदय की आनन्द लहरी का पता साफ शब्दों में बतलाते हैं वही सच्चा रसिक है। ऐसे सहृदय-शिरोमणि को मैं प्रणाम करती हूँ। रसिक की यह अच्छी परिभाषा है। सारांश यह है कि जिस प्रकार सच्चे कवि का कार्य ध्वनि के द्वारा भावबोधन कराना है उसी भाँति सच्चे भावुक का कार्य व्यंजना के द्वारा ही उसको सराहना करना है।

सुभद्रा—नामक कवयित्री की प्रसिद्धि उतनी नहीं है क्योंकि इनकी रचनाओं का कुछ भी पता नहीं चलता। वल्लभदेव की सुभाषितावली में इनका केवल एक पद्य उद्धृत किया गया है। सुभद्रा ने अवश्य अनेक कविताओं की रचना की होगी, नहीं तो राजशेखर को इनके कविता-चातुर्य के वर्णन का अवसर ही कहाँ मिलता। राजशेखर ने स्पष्ट इनकी कविता को मनोमोहिनी बताया है :—

पार्थस्य मनसि स्थानं लेभे खलु सुभद्रया।
कवीनां च वचो वृत्ति-चातुर्येण सुभद्रया॥

—सूक्तिमुक्तावली

फल्गुहस्तिनी—इनका भी नाम संस्कृत साहित्य में अधिक नहीं है। कविता की अनुपलब्धि ही इसका मूल कारण ज्ञात होता है। सुभाषितावली में दो पद्य उद्धृत किये गये हैं। जिनमें पहला पद्य (सुजति तावदशेष गुणाकरं) भर्तृहरि के नीतिशतक में भी पाया जाता है। दूसरा पद्य (त्रिनयन जटावलीपुष्पं) शार्ङ्गधर पद्धति में भी पाया जाता है।

मोरिका—इनके नाम के चार पद्य सुभाषितावली और शार्ङ्गधरपद्धति दोनों संग्रहों में मिलते हैं। इन पद्यों के सिवाय और कुछ भी पता नहीं चलता।

इन्दुलेखा—इनका नाम भी स्त्री-कवियों में है। इनके जन्मस्थान तथा समय का पता नहीं चलता। इनके काव्य ग्रन्थ का भी पता नहीं चलता। वल्लभदेव की सुभाषितावली में इनका एक पद्य दिया गया है।

मारुला—यद्यपि इनके नाम से एक ही कविता सुभाषितावलि में मिलती है तथापि धनदेव के उल्लेख से ज्ञात होता है कि वे प्रवीण स्त्रियों में गिनी जाती थीं।

विकट नितम्बा—इनका जन्म काश्मीर देश में हुआ था। जन्मकाल, जीवनी के बारे में अभी तक विशेष ज्ञात नहीं हो सका है। सूक्तिमुक्तावली में राजशेखर का यह श्लोक इनके बारे में है :—

के वैकटनितम्बेन गिरां गुम्फेन रंजिताः।
निन्दन्ति निजकान्तानां न मौग्ध्यमधुरं वचः॥

शीला भट्टारिका—इनका परिचय पद्य धनदेव नामक किसी प्राचीन कवि का शार्ङ्गधरपद्धति में उद्धृत किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि इनका नाम शीला था जो काश्मीर की रहने वाली थीं। इनकी रचना में मधुरता, शब्दों में सौष्ठव, अर्थों में मनमोहकता दीख पड़ती है।[1]

---

१ डा० चौधरी ने 'Sanskrit Poetesses' ग्रन्थ के प्रथम भाग में इन कवियों के पद्यों का संकलन किया है, कलकत्ता १९३९।

इन स्फुट पद्यों के रचयिता स्त्री कवियों के अतिरिक्त स्त्रियों के द्वारा निर्मित पूरे प्रबन्ध काव्यों का भी परिचय हमें मिलता है। ऐसे काव्य ग्रंथों में तंजोर की स्त्री कवि **रामभद्राम्बा** रचित 'रघुनाथाभ्युदय' उल्लेखनीय है जिसमें उसने तंजोर के नरेश रघुनाथ नायक (१५१४ ई० के आसपास वर्तमान) के महत्व तथा गौरव का वर्णन किया है। उसी दरबार में **मधुरवाणी** नामक स्त्री कवि विशेष आदृत थी और उसने रघुनाथ के आन्ध्र रामायण का संस्कृत के ललित पद्यों में अनुवाद किया है जिसका नाम १४ सर्गों में निबद्ध 'रामायणसार काव्य' है। तिरुमलाम्बा रचित 'वरदाम्बिका परिणय' विस्तृत चम्पू काव्य है जो लाहौर से प्रकाशित हुआ है। इनका विशेष परिचय इस प्रकार है:—

देव कुमारिका

ये उदयपुर के राजवंश की थीं। ये राणा अमरसिंह की पत्नी, जयसिंह की पुत्रवधू तथा संग्रामसिंह की माता थीं। ये १७ वीं के उत्तरार्ध तथा १८वीं शती के पूर्वार्ध में विद्यमान थीं। इनके पुत्र का राज्याभिषेक १७१०-११ ईस्वी में हुआ तथा १७१६ ई० में इन्होंने वैद्यनाथ की प्रतिष्ठा की जिसकी प्रशस्ति में इन्होंने **वैद्यनाथ प्रासाद प्रशस्ति** नामक प्रशस्त काव्य की रचना की[1]। इस काव्य में ५ प्रकरण तथा १४२ पद्य हैं। इस ग्रन्थ में प्रथमतः उदयपुर के राणा लोगों का ऐतिहासिक परंतु संक्षिप्त वर्णन है। दूसरे प्रकरण में संग्रामसिंह के पट्टाभिषेक का वर्णन है। इतर प्रकरणों में मंदिर की प्रतिष्ठा का रोचक विवरण है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह लघुकाव्य नितान्त उपादेय है। इनकी शैली के उदाहरण में यह पद्य दिया जा सकता है—

गुञ्जद्-भ्रमद्-भ्रमरराजि विराजितास्यं
स्तम्बेरमाननमहं नितरां नमामि।
यत्-पादपङ्कज-पराग-पवित्रितानां
प्रत्यूहराशय इह प्रशमं प्रयान्ति॥

१—'संस्कृत पोयटेसेज' नामक ग्रंथ में प्रकाशित, कलकत्ता १९४०

मधुरवाणी

ये तंजोर के प्रख्यात भूपाल रघुनाथ भूप की सभा-कवयित्री थीं। राजा ने आंध्रभाषा में रामायण की कथा निबद्ध की थी इसी का संस्कृत पद्यों में मधुरवाणी ने अनुवाद किया। यह ग्रन्थ पूरा नहीं मिलता अधूरे ग्रंथ में १४ सर्ग तथा १५०० श्लोक हैं। ग्रन्थ अतीव उत्तम है काव्यकला की दृष्टि से। मधुरवाणी की समकालीन कवयित्री हैं **रामभद्राम्बा** जिन्होंने रघुनाथ भूप की आज्ञा से **रघुनाथाभ्युदय**[1] काव्य का निर्माण किया। रघुनाथ तंजोर के नायकवंशीय नरेशों में अत्यंत प्रख्यात थे। समय है १७वीं शती का उत्तरार्ध। यह काव्य १२ सर्गों में विभक्त है जिसमें रघुनाथ भूप का जीवन चरित, वंश, सभा, सभाकवि तथा राजसी वैभव का बड़ा ही सच्चा चित्र चित्रित किया गया है। यह काव्य की दृष्टि से रुचिर होने की अपेक्षा ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी के लिए नितान्त उपादेय है। इसे हम चरित-काव्यों की श्रेणी में रख सकते हैं।

तिरुमलाम्बा

इनका समय १६ शती का उत्तरकाल है। विजयनगर के प्रख्यात नरेश अच्युतदेव (१५२६ ई०–४५४२ ई०) के राज्यकाल में इन्होंने अपना प्रख्यात चम्पूकाव्य लिखा। इनके चम्पू का नाम है—**वरदाम्बिका परिणय चम्पू** जिसमें राजा अच्युतराय का वरदाम्बिका के साथ विवाह का रोचक प्रसंग बड़ी ही उदात्त शैली में निबद्ध किया गया है। लेखिका अपने को राजाधिराज अच्युत राय का 'प्रेमसर्वस्व' तथा 'विश्वासभू' बतलाती है जिससे मालूम पड़ता है कि राजा की इनपर विशेष कृपादृष्टि थी। ग्रन्थ की लम्बी पुष्पिका से भी राजा के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध का पूरा परिचय नहीं मिलता। जो कुछ भी हो, इनकी कविता बड़ी प्रौढ़ है। अच्युतराय के पूर्वपुरुषों के इतिहास जानने के लिए भी यहाँ बड़ी ही उपादेय सामग्री संकलित है।

१—डा० चिन्तामणि के द्वारा सम्पादित मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित, १९३४।

काव्य में कलापक्ष भी बड़ी मार्मिकता के साथ निबाहा गया है। नाना प्रकार की शाब्दी चमत्कृति तथा अर्थ प्रौढ़ि से समन्वित यह चम्पूकाव्य वास्तव में एक कमनीय कृति है[1]। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्रीकवियों का भी संस्कृत काव्य के परिवर्धन में विशेष हाथ रहा है।

गंगादेवी

गंगादेवी का **'मधुराविजय'**[2] या **वीरकम्पराय चरित्र** काव्य ऐतिहासिक काव्यों की माला में एक उज्ज्वल मणि है। यह काव्य साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से जितना सुन्दर है ऐतिहासिक दृष्टि से उतना ही प्रामाणिक है। इसमें वर्णित घटनाओं का सम्बन्ध विजयनगर साम्राज्य के आदिम काल से है जब महाराज बुक्क ने दक्षिण भारत में फैलने वाले दुर्दान्त यवनों के उत्पीड़न तथा आक्रमण से भारतीय धर्म तथा संस्कृति के रक्षण के लिए एक प्रभावशाली राज्य की स्थापना अपने पराक्रमी भ्राताओं तथा गुरु क्रिया-शक्ति और माधवाचार्य की मन्त्रणा से की। गंगादेवी उन्हीं के सुपुत्र कम्पण की महिषी थीं और उन्होंने अपने वीर पतिदेव की विजय यात्राओं का बड़ा ही सजीव, सच्चा तथा स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत कर इस काव्य को पूर्ण ऐतिहासिक बनाने का सफल प्रयत्न किया है। घटनाओं में आँखों देखी सहजता झलक रही है और इसीलिए यह विजय नगर के इतिहास के निमित्त नितान्त उपादेय तथा ग्राह्य माना जाता है। दुःख इतना ही है कि यह काव्य बहुत कुछ अधूरा ही है, परन्तु इसके उपलब्ध आठ सर्गों में कम्पण का यवन सुल्तान के हाथों से माधुरा के उद्धार का महत्त्वपूर्ण विवरण मिलता है।

---

१ डा० लक्ष्मणस्वरूप के द्वारा सम्पादित तथा मोतीलाल बनारसीदास के द्वारा 'प्रकाशित, लाहौर, १६३८।

२ पण्डित हरिहर शास्त्री तथा श्री निवास शास्त्री के द्वारा सम्पादित ट्रिवेन्ड्रम से प्रकाशित, १६१६।

गंगादेवी राजमहिषी होने के अतिरिक्त कमनीय काव्य शैली की एक महनीय कवि है। इस काव्य में वैदर्भी की सहज सुषमा सहृदयों का सन्तत हृदयावर्जन करती है। शब्दों में चमत्कार है, अलंकारों की कोमल सजावट है, प्रकृति के साथ हृदय का पर्याप्त सामञ्जस्य है, परन्तु श्लाघनीय वस्तु है चित्त की उल्लासमयी अपूर्वता, भावों में नवीनता का भव्य दर्शन तथा कोमल हृदय का सहज प्रदर्शन। गंगादेवी की कविता में स्वाभाविक प्रवाह है तथा सुकुमार शब्दों में कोमल भावों की अभिव्यक्ति सरस नारी हृदय की परिचायिका है। सौम्य पक्ष की प्रबलता है। प्रकृति को गंगादेवी ने देखा है अपनी प्रेमभरी दृष्टि से। इसीलिए मात्रा में विपुल न होने पर भी यह कविता गुणों की दृष्टि में ग्राह्य, रोचक तथा सरस है। अलंकारों की सजावट में गंगादेवी सरलता तथा स्वाभाविकता का आश्रय लेती हैं। मुकुलित कमल के चारों ओर विचरणशील भ्रमर की समानता किसी प्रहरी के साथ बड़ी सहृदयता से की गई है—

घटमानदलाररीपुटं नलिनं मन्दिरमिन्दिरास्पदम्।
परिपालयति स्म निक्वणन् परितो यामिकवन्मधुव्रतः॥

जिस प्रकार कोई प्रहरी किसी अमूल्य निधि के चारों ओर विचरण करता हुआ, बीच में कुछ गुनगुनाने लगता है, उसी प्रकार कमल-कोश के भीतर छिपे हुए मधु की रक्षा के लिए भ्रमर चारों ओर घूमता हुआ गुंजन कर रहा है। उपमा का औचित्य सहृदयता का नितांत सूचक है।

वनस्थली में लहराते हुए जपा-कुसुमों के ऊपर किसी नायिका के द्वारा नीराजना का भव्य आरोप किया गया है इस पद्य में—

वनभुवः परितः पवनेरितै—
र्नवजपाकुसुमैः कुलदीपिकाः।
प्रथममेव नृपस्य निदेशतो,
विजयिनस्तुरगाननिराजयन्॥

जिस प्रकार अनेकों दीपकों को एक पात्र में रख कर उनको घुमाते हुए नीराजना की जाती है, उसी प्रकार झूमते हुए गुलाबों में घुमाई जानेवाली दीपवर्तिका की कल्पना है। यह कल्पना नितांत कलात्मक है। यहाँ पर प्रकृतिनटी मानों सजीव होकर प्रसूनों के दीप जला कर नीराजना (आरती) कर रही है।

———

सप्तम परिच्छेद

गीति-काव्य

गीति काव्य संस्कृत भारती का परम रमणीय अंग है। संस्कृत में गीति काव्य मुक्तक तथा प्रबन्ध दोनों प्रकारों से उपलब्ध होता है। 'मुक्तक' से अभिप्राय उस काव्य से है जो सन्दर्भ आदि बाह्य उपकरणों से मुक्त होकर स्वयं रसपेशल होता है। इसके समझने के लिए बाहरी सामग्री की अपेक्षा नहीं होती। संस्कृत के मुक्तक उन रसभरे मोदकों के समान हैं जिनके आस्वाद मात्र से सहृदयों का हृदय सद्यः परितृप्त हो जाता है। जो आलोचक रस की पुष्टि के लिए प्रबन्ध काव्य को ही उत्तम साधन समझते हैं, उन्हें आनन्दवर्धन की यह उक्ति भुलानी न चाहिए—मुक्तकेषु हि प्रबन्धेषु इव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। मुक्तक काव्य के सुन्दर उदाहरण भर्तृहरि तथा अमरुक के शतक हैं। प्रबन्धात्मक गीति-काव्य के दृष्टान्त कालिदास का मेघदूत तथा उसी के अनुकरण पर लिखे गये 'सन्देश काव्य' हैं। गीति काव्यों में मधुर पदावली के साथ संगीतमय छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। वर्णन विशेषकर शृंगार, नीति, वैराग्य, तथा प्राकृतिक दृश्यों के हैं। यहाँ कोमल भावों की मधुरिमा प्रत्येक रसिक के हृदय हो हठात् अपनी ओर आकृष्ट करती है। इसका कारण यह है कि इन गीति काव्यों का बाह्यरूप जितना अभिराम तथा सुन्दर है उतना ही सुन्दर तथा पेशल उनका आभ्यन्तर रूप भी है।

वैशिष्ट्य

रमणी का सौन्दर्य इन काव्यों में जितनी सुन्दरता तथा स्वाभाविकता के साथ परिस्फुटित हो पाया है उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ सा प्रतीत हो रहा है। नारी के हृदय तथा रूपछटा के रंगीन चित्र किस रसिक के हृदय में

प्रमोद की सरिता नहीं बहाते ? शृंगार की भिन्न भिन्न अवस्था का मार्मिक चित्रण इस काव्य की महती विशेषता है। आलोचकों की यह धारणा नितान्त भ्रान्त है कि शृंगारिक काव्यों में इन्द्रिय के उत्तेजक काम का ही अभिराम चित्रण है। यह आक्षेप संस्कृत साहित्य के शृंगार-प्रधान काव्य के विषय में आज भी किया जाता है। परन्तु ऐसे आक्षेपकों को संस्कृत साहित्य के प्रमुख आलोचक रुद्रट की ये उक्तियाँ कभी न भूलनी चाहिए—

न हि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः।
कर्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः॥
किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति।
आराधयितुं विषस्तेन न दोषः कवेरत्र॥

इन गीतिकाव्यों के अध्ययन से तो नारी-प्रेम की उदात्तता तथा विशुद्धता का ही परिचय हमें प्राप्त होता है। प्रकृति-चित्रण का भी इनमें प्रमुख स्थान है। बाह्य प्रकृति तथा अन्तःप्रकृति इन दोनों का परस्पर प्रभाव बड़ी सजीवता से साथ यहाँ दर्शाया गया है। संयोग तथा वियोग-उभय अवस्थाओं में प्रकृति मानवहृदय पर अपना प्रभाव डालने से विरत नहीं होतीं। उल्लसित हृदय को प्राकृतिक सौन्दर्य द्विगुणित कर देता है। परन्तु वही दृश्य विषण्ण हृदय के विषाद की रेखा को और भी गाढ़ी बना देता है। इस प्रकार ये गीति-काव्य प्राकृतिक दृश्यों के चलचित्रों के समान रसिकों के सामने उपस्थित होकर अपना सौन्दर्य दिखलाते हैं।

मुक्तकों के दो प्रधान भेद किये जा सकते हैं—लौकिक तथा धार्मिक। लौकिक मुक्तक लोक के नाना विषयों के विधान से सम्बन्ध रखता है। धार्मिक मुक्तक (स्तोत्र) विशिष्ट देवता की स्तुति से सम्बद्ध रहते हैं। दोनों प्रकार के काव्यों की प्राचीनता संस्कृत में पर्याप्त रूप से है। समग्र वैदिक संहिताएँ देवताओं की विशिष्ट स्तुतियों से मण्डित हैं। गीतियों का उदय-स्थान तो स्वयं वेद ही है।

लौकिक गीतिका

मेघदूत

संस्कृत के गीतिकाव्यों का आदिम ग्रन्थ महाकवि कालिदास का मेघदूत है जिसमें धनपति कुवेर के शाप से निर्वासित एक विरही यक्ष की मनोव्यथा का मार्मिक चित्रण है। मेघदूत कालिदास के नर-प्रकृति तथा बाह्य प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का भव्य भण्डार है। यहाँ बाह्य प्रकृति को जो प्रधानता मिली है वह संस्कृत के अन्य किसी काव्य में नहीं। पूर्वमेघ तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी या भारतभूमि के स्वरूप का ही मधुर ध्यान है। कवि की पैनी दृष्टि में ग्रीष्म ऋतु की मन्द प्रवाहिनी नदी उस प्रोषित-पतिका के समान प्रतीत होती है जो अपने पति के वियोग में मलिनवसना बन बड़े क्लेश से अपना जीवन बिताती है। प्राकृतिक दृश्यों में विज्ञानसम्मत तथ्यों का भी पर्याप्त सन्निवेश है। यक्ष तथा उसकी प्रेयसी की विरहावस्था का वर्णन कर कवि ने मानव हृदय का मार्मिक मनोहर चित्र उपस्थित किया है। मेघदूत वस्तुतः विरह-पीड़ित उत्कण्ठित हृदय की मर्मभरी वेदना है, जिसके प्रत्येक पद्य में प्रेम की विह्वलता, विवशता तथा विकलता अपने को अभिव्यक्त कर रही है। पूर्वमेघ बाह्यप्रकृति का मनोरम चित्र है, तो उत्तरमेघ अन्तःप्रकृति का अनुपम पर प्रतिष्ठित अभिराम वर्णन है।

समीक्षण

मेघदूत संस्कृत साहित्य का वह जाज्वल्यमान हीरक है जिसकी प्रभा समय के प्रवाह से और भी अधिक बढ़ती जाती है। वह बड़ी ही मंगलमयी घड़ी थी जब महाकवि कालिदास ने इस अमर काव्य की रचना की थी। बाह्य प्रकृति की मनोरम झाँकी प्रस्तुत करने में तथा अन्तस्तल में सन्तत उदय लेने वाले भावों के चित्रण में यह काव्य अपनी तुलना नहीं रखता। किसी विरहविधुरा प्रेयसी के पास मेघ को प्रेम का संदेशवाहक दूत बनाकर

भेजने की कल्पना ही विश्व के साहित्य में अपूर्व कोमल तथा हृदयावर्जक है। वाल्मीकीय रामायण में अशोकवाटिका में रावण के द्वारा अपहृत जनक-नंदिनी के पास हनुमान को भेजना तथा महाभारत में हंस के द्वारा दमयंती के हृदय में राजा नल के प्रति प्रणयभाव के प्रादुर्भाव की कथा अवश्यमेव कालिदास से प्राचीनतर है। परंतु इनमें चेतन पदार्थों से ही दौत्य-कार्य की सम्मति दीख पड़ती है। किसी अचेतन वस्तु को प्रेम-प्रसंग में दौत्य कर्म के लिये भेजना तथा प्रणय में गाढ़ उत्कंठातिरेक की सद्यः अभिव्यक्ति करना सचमुच एक प्रतिभासम्पन्न कवि की मौलिक कल्पना है। ऐसे प्रसंग की गूढ़ अभिव्यंजना की ओर लक्ष्य न करके संस्कृत के आद्य आलंकारिक भामह ने इसे 'अयुक्तिमत्' दोष के नाम से अभिहित किया है। उनका तर्क है कि मेघ, शुक्र, चंद्र आदि पदार्थों को दूत बनाकर भेजना इसलिये युक्ति-रहित है कि इनमें से कुछ पदार्थों की वाक्यशक्ति ही नहीं है (अवाचः), कुछ की वाणी नितांत अव्यक्त है जिससे वे अपने संदेश को दूसरों से स्पष्टतया प्रकट नहीं कर सकते (अव्यक्तवाचः) तथा कुछ दूर देशों में विचरण करनेवाले हैं (दूरदेश विचारिणः)। फलतः इन्हें दूत बनाकर भेजना युक्तिहीन नहीं तो क्या है?

अवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूर-देश-विचारिणः।
कथं दूत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते॥

भामह—काव्यालंकार १।४३

इस प्रकार की विपरीत आलोचना का खंडन कालिदास ने बड़ी भावुकता के साथ पहले ही कर दिया है—कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु। काम से पीड़ित प्राणी चेतन तथा अचेतन के झमेले में नहीं पड़ता। वह तो उत्सुकता तथा उत्कंठा का शिकार बना रहता है। परन्तु फिर भी मेघ के दूत बनाने में सुन्दर युक्ति की सत्ता है। मेघ तो सूखते हुए पौधों को जल से सींच कर झरने से बचाता है और यहाँ तो एक जीता प्राणी विरह के मारे अधमरा बना हुआ सिसक रहा है और वह भी किसी धनकुबेर के क्रोध का भाजन बना हुआ प्रेयसी से वियुक्त होकर जीवन-यापन कर रहा है (धनपति क्रोधविश्लेषितस्य)। फलतः वह विशेष रूप से मेघ की

दया का पात्र है—अनुकम्पा का भाजन है। कालिदास के इस समर्थन की ओर भामह ने स्वयं अपना सिर झुकाया है और 'सुमेधा' के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इस कल्पना को ग्राह्य तथा अनुकरणीय माना है—

यदि चोत्कण्ठया यत्तद् उन्मत्त इव भाषते
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते ॥ (भामह १।४४)

नई-नई शताब्दियों में प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्रदान करना काव्य की महत्ता का स्पष्ट सूचक होता है और इस कसौटी पर कसने से 'मेघदूत' का संस्कृत साहित्य में एक नवीन काव्य-प्रकार की उद्भावना का श्रेय प्राप्त है जो 'सन्देश काव्य' के नाम से प्रख्यात है। सर्वप्रथम महाकवि भवभूति ने अपने 'मालती माधव' में माधव के द्वारा मालती के समीप मेघ को दूत बनाकर भेजने की कल्पना का अनुसरण किया है। यहाँ (९ अंक, २५-२६ श्लोक) दोनों पद्य 'मन्दाक्रान्ता' वृत्त में ही उपन्यस्त हैं।[1] भवभूति के बाद एक शताब्दी के भीतर ही हम जैन कवियों को मेघदूत के प्रति विशेषतः आकृष्ट होते पाते हैं। उन्हें यह काव्य इतना रुचिकर प्रतीत हुआ कि उन्होंने इसके समस्त पद्यों की समस्यापूर्ति कर नवीन काव्यों की रचना की है। इनमें से कई कवियों ने मेघदूत के अंतिम चरणों को ही समस्या-रूप से ग्रहण कर उसकी पूर्ति अपनी ओर से की है, परन्तु आचार्य जिनसेन का कार्य इस दृष्टि से नितान्त श्लाघ्य है जिन्होंने मेघदूत के समस्त पद्यों के समग्र चरणों की पूर्ति की। अपने 'पार्श्वाभ्युदय' में श्री जिनसेन ने ३६४ मंदाक्रांता वृत्तों में पार्श्वनाथ का जीवनचरित बड़े ही कौशल के साथ गुम्फित किया है। इसके प्रत्येक पद्य में मेघदूत के एक या दो चरण वेष्टित कर शृंगार रसात्मक काव्य शान्तरस के रूप में परिणत किया गया है। समस्यापूर्ति होने पर भी इसमें मौलिकता की कमी नहीं है और कालिदास के मेघदूत के संकेत करने

१—कच्चित् सौम्य प्रियसहचरं विद्युदालिंगति स्वा-
आविर्भूत-प्रणय-सुसुखाश्चातका वा भजन्ते।
पौरस्त्यो वा सुखयति मरुत् साधु संवाहनाभि-
र्विष्वग् बिभ्रत् सुरपतिधनुर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ॥
—मालती माधव

में यह ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। प्रो० के० बी० पाठक ने इसी के आधार पर मेघदूत का एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया है। जिनसेन का समय नवीं सदी है। फलतः यह अपने विषय का आदिम तथा प्राचीन ग्रंथ है। इस ग्रंथ की शैली से स्फूर्ति ग्रहण कर विशेषतः जैन कवियों ने अनेक काव्यों का निर्माण किया जिसमें मुख्य हैं—

(१) विक्रम कवि रचित **नेमिदूत**[1] जिसमें बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ तथा राजीमती का चरित्र मेघदूत के अंत्यचरण के पादपूर्ति—रूप में १२६ श्लोकों में सुन्दरता के साथ वर्णित है। ये सांगण के पुत्र थे तथा विक्रम की १५ वीं सदी में इनका आविर्भाव हुआ था।

(२) **शीलदूत**—बृहत्तपागच्छीय चारित्रसुंदर गणिके द्वारा खम्भात में सं० १४८२ में रचित हुआ जिसके १२५ श्लोकों में मेघदूत के अन्त्य चरणों की समस्या पूर्ति की गई है: यशोविजय ग्रंथमाला में प्रकाशित।

(३) **चंद्रदूत**—खरतरगच्छीय कवि विमल कीर्ति की १६८१ विक्रमी की रचना है। कवि ने इसमें १४१ श्लोकों में चंद्र को शत्रुंजय जाकर ऋषभदेव की वन्दना के निमित्त भेजा है। अगरचन्द नाहटा[2] के संग्रह में हस्तलिखित प्रति है।

(४) **मेघदूत समस्या लेख**—उपाध्याय मेघविजय की १३० श्लोकों में रचना है जिसमें कवि ने मेघ के द्वारा गच्छाधिपति विजयप्रभुसूरि के पास विज्ञप्ति भेजी है। रचनाकाल १७२७ विक्रमी।

(५) **चेतोदूत**—किसी अज्ञात जैनाचार्य की रचना जिसमें चित्त को दूत बनाकर गुरु के पास विज्ञप्तिप्रेषण किया है। पद्य संख्या १२६। यह तथा पूर्व ग्रंथ नं० (४) आत्मानंद सभा, भावनगर से प्रकाशित हैं।

जैनेतर कवियों की दो पादपूर्तियाँ हैं (१) **सिद्धदूत**-अवधूतराम योगी

१—जैन प्रेस कोटा (राजस्थान) से गुणविनय की संस्कृत टीका तथा हिंदी पद्यानुवाद के साथ प्रकाशित, सं० २००५।

२—अगरचंद नाहटा की श्री नेमिदूत की प्रस्तावना पृ० २१-२३।

की १४२३ वि० रचना है जिसमें कैलासस्थ ब्रह्मविद्या के पास छाया पुरुष को दूत बनाकर भेजा गया है। श्लोक सं० १३८। श्री हेमचंद्राचार्य ग्रंथावली पाटन से १९२७ में प्रकाशित। (२) **हनुमद्दूत**—जोधपुर के आधुनिक कवि नित्यानंद शास्त्री द्वारा विरचित तथा वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई से प्रकाशित

सन्देश काव्य या दूतकाव्य

मेघदूत की शैली पर निबद्ध दूतकाव्यों में सबसे पुराना काव्य धोयी का 'पवनदूत' ही अब तक समझा जाता था, परन्तु जम्बू कवि का **चन्द्रदूत** इसके प्राचीनतर प्रतीत होता है। चन्द्रदूत अभी तक अधूरा ही मिलता[1] है। इसके २३ पद्यों में से १४ वें पद्य के बाद का ग्रन्थ सर्वथा त्रुटित है, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से ग्रन्थ की निजी विशिष्टता है। चन्द्रदूत के हस्तलेख का समय १२८६ ई० (=१३४२ संवत्) है तथा इसके टीकाकार शांतिसूरि का समय ११ वीं का पूर्वार्ध है (मृत्युकाल १०४० ईस्वी)। जम्बू कवि ने अपने मुनिपति चरित या मणिगति चरित की रचना ११०५ सं० (९५९ ईस्वी) में की थी। फलतः जम्बू कवि का काल दशम शती का उत्तरार्ध निश्चय रूप से सिद्ध होता है। इस प्रकार यही काव्य प्रथम दूतकाव्य होने का गौरव धारण करता है। काव्य का विषय है वही प्रिय के पास विरहिणी द्वारा संदेश भेजना। परंतु काव्य में यमक की प्रधानता है। कवित्व की अपेक्षा पाण्डित्य अधिक है। जम्बूकवि ने **जिनशतक** नामक काव्य की भी रचना की है[2] जिसकी टीका साम्बकवि (शाम्ब साधु या शाम्बमुनि) ने १०२५ शक (=११०३ ई०) में लिखी है। जम्बू स्वामी जम्बू कवि से भिन्न व्यक्ति हैं। कालक्रम से चन्द्रदूत के अनन्तर धोयी कवि के **पवनदूत** की गणना है। धोयी कवि बंगाल के अन्तिम हिन्दू नरेश, कवियों के आश्रयदाता, राजा लक्ष्मण सेन के दरबार के कवि थे। जयदेव ने 'धोयी कविक्ष्मापतिः' कहकर इनके विशिष्ट गुणों का संकेत किया है। राजा लक्ष्मसेन दिग्विजय के

१—डा० जतीन्द्र विमल चौधुरी के सम्पादकत्व में प्रकाशित, कलकत्ता, १९४१।

२—काव्यमाला के सप्तम गुच्छक में प्रकाशित, बम्बई, १९२६।

प्रसंग में दक्षिण भारत में जाता है जहाँ एक दक्षिणात्य सुन्दरी राजा के गुणों पर मुग्ध होती है। राजा के लौट आने पर वह विरहिणी अपनी दयनीय दशा का परिचय पवन के हाथों भेजती है। मेघदूत की शैली पर लिखा गया ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से भी उपादेय है। कविता सरस तथा सुन्दर है।

चन्द्रमा को दूत बनाकर भेजने वाले कवियों में विनयप्रभु, कृष्णचन्द्र-तर्कालंकार तथा विनय-विजयगणि मुख्य हैं। प्रथम दोनों कवियों के काव्य चन्द्रदूत नाम से प्रख्यात हैं। अपेक्षाकृत छोटे हैं और साहित्यिक दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं, परन्तु विनयविजय गणि का 'इन्द्रदूत' विषय की दृष्टि से एक नवीन मार्ग का संकेतक है। ग्रन्थ का रचनाकाल १७ वीं शताब्दी है। इन्द्रदूत में मन्दाक्रान्ता वृत्त में १३१ पद्य हैं।[1] कवि ने चन्द्रमा को अपने गुरु तपगण-पति (कीर्ति विजय) के पास चार मास अलग रहने के बाद अपनी श्रद्धा तथा आदरभाव को सूचित करने के लिए भेजा है। जाने का मार्ग जोधपुर से सूरत (सूर्यपुरी) है जिसमें आने वाले अनेक महत्त्वपूर्ण नगरों का वर्णन पर्याप्त मनोरञ्जक है। विषय की दृष्टि से 'इन्द्रदूत' शान्त-रसप्रधान रोचक काव्य है। केरल तथा बंगाल के कवियों ने अपनी रचनाओं से साहित्य के इस अंग को खूब पुष्ट किया है। हंस, चातक, कोकिल, आदि सन्देशवाहकों को दूत बनाकर अनेक दूतकाव्य हमारे साहित्य में विद्यमान है।

हंसदूत—

हंसदूत लिखने वाले कवियों में कतिपय महनीय भक्तों तथा प्रकाण्ड पण्डितों के नामों की गणना की जा सकती है—

(१) वेंकटनाथ का **हंससन्देश**।[2] रामानुज सम्प्रदाय के प्रौढ़ दार्शनिक वेंकटनाथ ने जनकनन्दिनी के पास रामचन्द्र के द्वारा हंस को

१—काव्यमाला के १४ वें गुच्छक में प्रकाशित। ग्रन्थकार के विषय में द्रष्टव्य डा० चौधरी की 'चंद्रदूत' की भूमिका पृ० २३–३०।

२—मद्रास, कुम्भकोणम् तथा बंगलोर से टीका सहित प्रकाशित।

सन्देशवाहक बनाकर भेजा है। हंस माल्यवान् पर्वत से अपनी यात्रा आरंभ कर सिंहल तक जाता है और मार्ग में आने वाले प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों का दर्शन भी करता जाता है। स्वभावतः दक्षिण के वैष्णव तीर्थों का विवरण विशेष है। ग्रंथ पर्याप्त रूप से प्रौढ़ि से सम्पन्न है। अनेक आलोचकों ने इसमें दार्शनिक सिद्धान्तों को खोज निकाला है। इसके ऊपर अनेक टीकायें भी लिखी गईं जिनके मुख्य टीकाकार ये हैं—रंगराज आचार्य ('प्रकाश') श्रीनिवास आचार्य, श्वेतारण्य नारायण शास्त्री (मद्रास, १९०२) श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परतन्त्र स्वामी (रसास्वादिनी, कुम्भकोणम्, १९१५–१६)।

(२) रूप गोस्वामी का हंसदूत।[1] रूपगोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के साक्षात् शिष्य थे तथा वृन्दावन में गौडीय षट् गोस्वामियों में अत्यन्त प्रख्यात थे (समय १७ वीं का आरम्भ)। हंसदूत तथा उद्धवसन्देश इनकी भक्तिरस से स्निग्ध रचनायें हैं। हंसदूत में ललिता राधा की दयनीय दशा की सूचना देने के लिए हंस को श्रीकृष्ण के पास मथुरा भेजती है। अक्रूर के द्वारा गृहीत मार्ग का अनुसरण कर हंस मथुरा में जाता है। वहाँ मथुरापुरी का वैभव, श्रीकृष्ण की मित्रमण्डली आदि का वर्णन बड़ा सुन्दर है। श्रीकृष्ण के सामने वृंदावन की दयनीय दशा का, विशेषतः राधिका की मनोव्यथा का, बड़ा ही सच्चा चित्रण यह काव्य प्रस्तुत करता है। समग्र काव्य शिखरिणी वृत्त में निबद्ध एक पूर्ण शतक है। भावों की अभिव्यञ्जना, कोमल पदावली का प्रयोग, उदात्त भावना की स्फूर्ति—इसके साहित्यिक सौन्दर्य के पर्याप्त निर्देशक हैं। कृष्ण का सन्तत चिन्तन रखने से राधा स्वयं कृष्ण बन गई है, परन्तु फिर भी उसके हृदय की बाधा कथमपि कम नहीं हो रही है—

> कदाचिन्मूढेयं निविड-भवदीय-स्मृति - मदा-
> दमन्दादात्मानं कलयति भवन्तं मम सखी।
> तथास्या राधाया विरह-दहना-कलिपतधियो
> मुरारे दुःसाधा क्षणमपि न बाधा विरमति ॥

1 जीवानन्द विद्यासागर के द्वारा 'काव्यसंग्रह' में प्रकाशित, कलकत्ता।

(३) **वामनभट्टबाण का हंसदूत**[1]। कवि वेमभूपाल का सभापण्डित तथा विजयनगर के संस्थापक माधवाचार्य का शिष्य था। इसलिए आविर्भाव का समय १५वीं शती का प्रथमार्ध है। इन्होंने अपने आश्रयदाता की जीवनी 'वेमभूपालचरित' में निबद्ध की है। यह हंसदूत मेघदूत का पूरा अनुकरण है कथानक के विषय में तथा वर्णन के विषय में। १२१ मन्दाक्रान्ता वृत्तों में निबद्ध, पूर्व तथा उत्तर भागों में विभक्त, अलका से निर्वासित यक्ष का अपनी प्रिया के पास सन्देश भेजने का यहाँ वर्णन है। मार्ग दक्षिण भारत से उत्तर में अलका तक है। प्रधान-प्रधान नगरों का भी वर्णन है चाहे वे हंस के मार्ग से सम्बन्ध न भी रखते हों।

संदेश-काव्यों के विकास की एक दिशा नवीन भावों तथा विषयों के वर्णन की ओर है। वैष्णव कवियों तथा जैन कवियों ने अपने दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों की अभिव्यंजना के लिये दूतकाव्य का आश्रय लिया है। प्रेम-संदेश के स्थान पर पिछले दूत-काव्य विज्ञप्ति-पत्र का काम करते हैं जिसमें शिष्य अपनी आध्यात्मिक उन्नति के विषय में अपने गुरु को सूचना भेजता है। यह बात जैन कवियों के द्वारा लिखित दूतकाव्यों में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। विक्रम कवि के द्वारा निर्मित नेमिदूत (१३ शतक) में जैन दर्शन के अनुसार आध्यात्मिक तत्त्व का भी निरूपण काव्य की सरस भाषा में किया गया है। वैष्णव कवियों ने भी भक्तिमयी भावना के प्रचार के लिये दूतकाव्यों का निर्माण किया। जैसे रूप गोस्वामी ने अपने 'उद्धवशतक' में कृष्णविरहिणी गोपिकाओं के द्वारा भक्ति-तत्त्व का बड़ा ही सरस तथा रुचिर विवरण प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं तो अत्यन्त गूढ़ दार्शनिक तत्त्वों के प्रतिपादन के लिये भी दूतकाव्य माध्यम स्वीकार किया गया है।

(४) इन तीनों की अपेक्षा नितान्त विशिष्ट है किसी अज्ञातनामा कवि का **हंससंदेश**[2]। यह एक शत मन्दाक्रान्ता वृत्तों में विरचित एक प्रौढ़ दार्शनिक ग्रन्थ है। कोई शैव माया के कारण शिवभक्ति से वियुक्त हो जाता

---

१ डा० जे० बी० चौधरी द्वारा सम्पादित और प्रकाशित कलकत्ता, १९४१।

२ अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० १०३। ट्रिवेन्ड्रम, १९३०।

है और इसलिए किसी मानसगामी हंस को दूत बनाकर भगवान् शंकर के पास भेजता है। इस काव्य में ज्ञान तथा योग का अद्भुत मिश्रण है। ज्ञान के द्वारा जिस प्रकार शिवसायुज्य की प्राप्ति होती है उसी प्रकार योग के द्वारा मूलाधार से कुण्डलिनी शक्ति का उत्थापन कर विभिन्न चक्रों से होकर सहस्रार में शिव के साथ मिलन का मार्ग भी प्रशस्त रूप से वर्णित है। इस प्रकार आध्यात्मिक तत्त्व के सरस विवेचन की कला का यह सर्वोत्कृष्ट दृष्टान्त है। इसके ऊपर एक पद्यबद्ध टीका है। केरल देश में ही हस्तलेख की प्राप्ति होने से सम्भवतः इसका लेखक केरल का ही निवासी है। परन्तु न मूल कवि का ही नाम ज्ञात है और न इसके टीकाकार का ही।

वीरेश्वर कवि का **वाङ्मण्डलगुण दूत**[1] सामान्य दूत-काव्यों से एक भिन्न सरणि का है। कवि ब्रह्मपुर (सम्भवतः बुरहानपुर, मध्यप्रदेश) का निवासी अत्यन्त दरिद्र कवि है। इसलिए वह अपनी कविता को ही दूत बनाकर राजा भीमसेन के पास भेजता है और रास्ते में आने वाले अनेक अप्रसिद्ध स्थानों का निर्देश करता हुआ राजपुरोधा दशरथ पण्डित की सहायता से राज-दरबार में प्रवेश करने का निर्देश करता है। तापी नदी के तीर पर बुधवारपुर, हसन यवन का बगीचा, कालिभित्ति, कारागृह की यन्त्रणा आदि का वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है। फलतः यह कवि मध्य-प्रदेश का प्रतीत होता है। यह वीरेश्वर गोपालार्य का दौहित्र तथा श्रीराम त्रिपाठी का पुत्र था। सम्भवतः यह गुजराती प्रतीत होता है। काव्य १०१ शार्दूलविक्रीडित छन्दों में विरचित है। समय का ठीक ठीक पता नहीं चलता।

इनके अतिरिक्त विशेषतः केरल तथा बंगाल के कवियों ने दूतकाव्य लिखकर साहित्य के इस अंग की पर्याप्त पूर्ति की है। चातकदूत, कोकिलदूत आदि अनेक काव्य इस विषय में वर्तमान हैं जो काव्य की दृष्टि से कथमपि नगण्य नहीं हैं[2]।

---

१ डा० चौधुरी द्वारा संपादित, कलकत्ता, १९४१।

२ दूतकाव्यों के लिए देखिये—

(क) कृष्णमाचार्य-हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, मद्रास, पृष्ठ ३६६-६८।

(ख) डा० जे० बी० चौधुरी-बंगदूत काव्येतिहासः कलकत्ता।

भर्तृहरि

महाकवि भर्तृहरि की कविता जितनी प्रसिद्ध हैं, उनका व्यक्तित्व उतना ही अज्ञात है। हम उनकी स्थिति तथा जीवन-चरित्र से एकदम अपरिचित हैं। दन्तकथा के आधार पर कुछ लोग उन्हें राजा मानते हैं और वह भी विक्रमादित्य का जेठा भाई, परन्तु उसके ग्रन्थ से राजसी भाव तो नहीं टपकता। अतः यह भी घटना निरो दन्तकथा के सिवाय विशेष महत्त्व नहीं रखती। अधिकांश विद्वान् उन्हें महावैयाकरण भर्तृहरि से अभिन्न मानते हैं। परन्तु इसके लिए भी पोषक प्रमाण प्रस्तुत नहीं है। पश्चिमी शोधक लोग चीनी यात्री इत्सिंग के कथन में आस्था रखते हुए भर्तृहरि को बौद्ध मानते हैं जो गृहस्थी और संन्यासी जीवन के बीच सात बार इधर से उधर डोलते रहे। पर उनके शतकों का अनुशीलन डंके की चोट बतलाता है कि इनका लेखक वैदिक धर्मावलम्बी ही नहीं, बल्कि पूरा अद्वैतवादी था। वैदिक धर्म के आचार, विचार, पद्धति तथा प्रक्रिया पर उन्हें पूरा विश्वास तथा आग्रह था। उनका समय लगभग सप्तम शताब्दि में पड़ता है।

भर्तृहरि के तीन शतक हैं—(१) नीतिशतक (२) शृंगारशतक (३) वैराग्यशतक। भर्तृहरि ने संसार का खूब ही अनुभव किया था और उस अनुभव के मार्मिक-पक्ष के ग्रहण करने में वे सर्वथा कृतकार्य थे। जो कवि संसार के बीच रहता हुआ अपने अनुभव के बल पर उसके हृदय को समझने तथा कविता में सुचारु रूप देने में समर्थ होता है वही सच्चा लोकप्रिय कवि है। इस दृष्टि से भर्तृहरि सचमुच जनता के कवि हैं जिनकी सूक्ष्म दृष्टि संसार की छोटी से छोटी वस्तु को निरख उससे उदात्त शिक्षा ग्रहण करने में समर्थ होता है। **नीतिशतक** में वे उन उदात्त गुणों के ग्रहण करने के लिये आग्रह दिखलाते हैं जिनका अनुशीलन समग्र मानव समाज का परम मंगल-साधक है। वे मनुष्य-जीवन को सद्‌गुणों के उपार्जन से सफल बनाने के पक्ष में हैं। जो व्यक्ति सुन्दर नर-देह पाकर भी सद्‌गुणों का उपार्जन नहीं करता वह उस व्यक्ति के समान उपहास्यास्पद है जो वैदूर्यमणि के बने हुए पात्र में चन्दन की लड़की से लहसुन पकाता है अथवा जो सोने के हल से अर्क (आक) की जड़ पाने के लिए जमीन खोदता है।

भर्तृहरि की दृष्टि में वही वास्तव में सज्जन है जो दूसरों के परमाणु के समान छोटे गुण को पर्वत के समान बनाकर अपने चित्त में परम संतोष का अनुभव करता है:—

परगुण-परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम् ।
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥

श्रृंगार-शतक में हमारा कवि श्रृंगार के चटकीला चित्रण करने से नहीं चूकता । वह नारी-हृदय की सच्ची परख रखता है । प्रेम से प्रभावित कामी और कामुकों के चित्र में जो वृत्तियाँ अपना ललित खेल दिखलाया करती हैं उन्हें यह कवि सूक्ष्म दृष्टि से देखता है परन्तु वह इन रंगीली लीलाओं के विषम परिणाम से भी भलीभाँति परिचित है ।

वैराग्य-शतक भर्तृहरि का सर्वस्व प्रतीत होता है । वे सन्तोष को परम सुख तथा वैराग्य को इसका एकमात्र साधन मानते हैं । सांसारिक विषयों में आसक्त व्यक्ति की यह उक्ति कितनी सजीव और चमत्कारजनक है:—

धन्यानां गिरिकन्दरेषु वसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुकणान् पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः ।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट-
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते ॥

[वे लोग सचमुच धन्य हैं जो पर्वत की कन्दराओं में निवास करते हुए परम ज्योति का ध्यान करते हैं और जिनकी गोदी में बैठे हुए पक्षी नेत्रों से बहने वाले आनन्द के आँसुओं के कणों को पिया करते हैं । परन्तु मनोरथ से बनाये गये महल, बावली और उपवन में विहार करने से हमारी आयु दिन प्रति दिन क्षीण होती जाती है । सांसारिक पुरुष रात-दिन गृहस्थी की चिन्ता में डूबा हुआ अपना व्यर्थ जीवन बिताया करता है ।]

भर्तृहरि की दृष्टि में तपस्वी जीवन ही नितान्त श्रेयस्कर है । मुनि के लिये पृथ्वी ही रमणीय शय्या है । भुजायें ही तकिया हैं । आकाश ही चँदवा है । अनुकूल वायु ही पंखा है । शरत् का चन्द्रमा दीपक है । विरति उसकी प्रिया है । शान्त मुनि ऐश्वर्यशाली सम्राट् के समान सुख का अनुभव करता हुआ आनन्द पाता है:—

महीं रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः।
शरच्चन्द्रो दीपो विरतिवनितासङ्गमुदितः
सुखी शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव॥

अमरुक

अमरुक कवि की कविता जितनी विख्यात है उतना ही उनका व्यक्तित्व अप्रसिद्ध है। उनके देश और काल का ठीक निर्णय अभी तक न हो पाया है। उनके समय के विषय में हम इतना ही जानते हैं कि ये नवम शताब्दी से पूर्व विद्यमान थे, क्योंकि आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में उनके मुक्तकों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है:—

मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। तथा अमरुकस्य कवेः मुक्तकाः शृंगारस्यन्दिनः प्रबन्धायमाणाः प्रसिद्धा एव।

यह प्रशंसा किसी साधारण कोटि के आलोचक की न होकर एक आलंकारिक शिरोमणि की है। उनकी सम्मति में अमरुक के मुक्तक इतने रस और भाव से भरे हुए हैं कि अल्पकाव्य होने पर भी प्रबन्ध से समता रखते हैं। यह प्रशंसा तो बहुत बड़ी है परन्तु है सच्ची। हजार वर्ष से अधिक होते आये इन पद्यों की साहित्य-सुषमा पर विदग्ध समाज आज भी उसी प्रकार रीझता है जिस प्रकार वह पहले रीझता था।

अमरुक की कविता बड़ी मनोहारिणी है। शार्दूलविक्रीडित जैसे बड़े छन्दों का उपयोग करने पर भी इनकी कविता में लम्बे-लम्बे समास नहीं आए हैं। अमरुक शब्द-कवि नहीं हैं; रस-कवि हैं। इनकी कविताएँ मनोरम शृंगार से लबालब भरी हैं। अर्जुनवर्मदेव ने बड़ी मार्मिकता से इस काव्य की आलोचना करते समय दिखलाया है कि कहीं-कहीं पददोष होने पर भी इनमें कोई रस की क्षति नहीं है। भला रसकवि कभी पदविन्यास के झमेले में पड़ा रहता है? उसके लिए पदविह्वलता तो वांछनीय होती है।

अमरुक के शृंगार वचनों के सामने अन्य कवियों के सरस वचन नहीं टिक सकते। आनन्दवर्धन का कथन यथार्थ है कि इनके एक-एक पद्य पूरे

प्रबन्ध के समान हैं। जितने भाव एक छोटे प्रबन्ध में दिखाए जा सकते हैं अमरुक ने उतने भाव एक छोटे पद्य में दिखलाया है। वास्तव में इन्होंने गागर में सागर भरने की लोकोक्ति चरितार्थ की है। इन्होंने प्रेम का जीता जागता चित्र खींचा है। कामी तथा कामिनियों की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न मनोवृत्तियों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किया है। कहीं पर पति को परदेश जाने के लिए तैयार देखकर कामिनी की हृदय-विह्वलता का चित्र है, तो कहीं पति के शुभागमन के समाचार सुनकर अंग प्रत्यंग से हर्ष की अभिव्यक्ति करने वाली सुन्दरी का कमनीय वर्णन है। ये पद्य क्या हैं? संस्कृत-साहित्य के चमकते हीरे हैं।

आलोचकों ने इन पद्यों को साहित्य की कसौटी पर कसा है और उन्हें चमकता खरा सोना पाया है। ये ध्वनि के सुन्दर नमूने हैं। इनके कारण अमरुक के प्रतिभासम्पन्न महाकवि होने में तनिक भी सन्देह नहीं रहता। हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों ने अमरुक के भावों को अपनाया है। बिहारी के दोहों में कहीं कहीं इनकी छाया दीख पड़ती है, परन्तु पद्माकर ने तो अपने जगद्विनोद में इनका सुन्दर अनुवाद कर इन्हें बिल्कुल अपना लिया है।

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्त्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वैं समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित! प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते॥

[भावी प्रोषित-पतिका अपने जीवन से कह रही है—जब मेरे प्रियतम ने जाने का निश्चय किया तब दुर्बलता के मारे हाथ के कंकण गिर गये, प्रिय मित्र अश्रु भी जाने लगे। केवल जाने की खबर सुनकर नेत्रों से सतत धारा बहने लगी। सन्तोष एक क्षण भी न रहा, मन तो पहले ही जाने के लिए तैयार हो गया—ये सब मित्र एक साथ ही चलने के लिए उद्यत हो गये। हे प्राण, तुम्हें भी तो एक दिन जाना ही है तो अपने मित्रों का साथ क्यों छोड़ रहे हो? मेरे प्राणप्यारे के जाने की खबर सुन तुम भी चल बसो।]

इन पद्यों की शान्तरसानुकूल व्याख्या करना सहृदयों के लिए नितान्त उद्वेजक है। इस विषय में महामहोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसाद जी का यह कथन सर्वथा सत्य है—स च शुचिरसस्यन्दिष्वमरुश्लोकेषु परिशील्यमानेषु 'रहसि प्रौढवधूनां रतिसमये वेदपाठ इव' सहृदयानां शिरःशूलमेव जनयति। टीकाकारों में सबसे प्राचीन तथा प्रामाणिक अर्जुनवर्म्मदेव हैं। इनकी टीका का नाम **'रसिकसञ्जीवनी'** है। ये प्रसिद्ध भोजराज के वंश में जन्मे थे और इनका समय तेरहवीं सदी का उत्तरार्द्ध है। इस टीका में प्रत्येक पद्य में रस तथा अलंकार का पूरा विवरण दिया गया है। प्रमाण में अलंकारग्रन्थों के वाक्य भी दिए गए हैं। रसिक संजीवनी के अतिरिक्त वेम-भूपाल **'शृंगारदीपिका'** भी अच्छी टीका है।

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने! मानमधुना॥

[मानिनी की कोई प्रधान सखी कह रही है—हे कठोर हृदयवाली! बस, अब मान छोड़ो। देखो तुम्हारे प्राणप्यारे की कैसी बुरी दशा है। बिचारा सिर नवाये बाहर बैठा पागलों की तरह जमीन को खरोंच रहा है, प्यारी सखियों ने भोजन छोड़ दिया है। हमेशा रोने से उनकी आँखें सूज गई हैं, पिंजड़े के सुग्गों ने तुम्हारे शोक के मारे हँसना तथा पढ़ना छोड़ दिया है और तुम अभी तक मान किये बैठी हो? भला तुम्हें तनिक दया नहीं आती। जल्दी मान छोड़ो। मम्मट ने इसे उत्तम काव्य का उदाहरण माना है।]

भल्लट

ये संस्कृत के गीति-साहित्य के एक अत्यन्त प्रसिद्ध कवि हैं जिनके सुन्दर पद्यों का उद्धरण उत्तम काव्य के दृष्टांत रूप से अलंकार ग्रंथों में दिया गया है। मम्मट, क्षेमेन्द्र, अभिनवगुप्त ने ही इनके पद्यों को उद्धृत नहीं किया है प्रत्युत आनन्दवर्धन ने भी इन्हें उद्धृत कर भल्लट की अलौकिक प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। ये काश्मीरी के निवासी थे और नवम शतक से

पूर्ववर्ती थे। इसका परिचय हमें ध्वन्यालोक में उद्धृत पद्यों से भलीभाँति लगता है। 'परार्थे यः पीडामनुभवति भंगेऽपि मधुरः'—यह भल्लट-शतक का पद्य ध्वन्यालोक में दो बार उद्धृत किया गया है (पृष्ठ ५३, ३१८)। अप्रस्तुत-प्रशंसा में जो अर्थ वाच्य होता है वह कभी विवक्षित रहता है, कभी अविवक्षित रहता है और कभी विवक्षिताविवक्षित। 'परार्थे यः पीडां' विवक्षित के उदाहरण में दिया गया है। 'कस्त्वं भो ? कथयामि, दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं'—भल्लट का यह पद्य अविवक्षित वस्तु को सूचित करने के लिए दिया गया है। आनन्दवर्धन के द्वारा उद्धृत किये जाने के कारण भल्लट आनन्द से पूर्ववर्ती ठहरते हैं। कहा गया है कि आनन्दवर्धन नवम शताब्दी के मध्यभाग में अवन्तिवर्मा के काल में विद्यमान थे। अतः भल्लट नवमी शताब्दी से प्राचीन हैं। सम्भवतः आठवीं के अन्तिम भाग में ये कश्मीर में विद्यमान थे।

आपकी कीर्ति केवल एक 'शतक' पर अवलम्बित है, जिसे इन्हीं के नाम पर 'भल्लटशतक'[1] कहते हैं। उसे छोड़कर आपका कोई दूसरा ग्रंथ अबतक उपलब्ध नहीं हुआ है। 'भल्लट शतक' मुक्तक पद्यों का संग्रह है। कविता अनेक प्रकार की है परंतु अन्योक्ति की बहुलता है। सुंदर शिक्षा देने वाले नीतिमय पद्यों का यह आकर है। ऐसी अनूठी अन्योक्ति संस्कृत-साहित्य में बहुत कम देखने में आती है। पंडितराज जगन्नाथ ही कुछ कुछ इससे तुलना कर सकते हैं। पद्यों में मधुरता तथा प्रसाद गुण कूट कूट कर भरा हुआ है। सुंदर अलंकारों की छटा मन को मुग्ध कर देती है। सुन्दर स्वभावोक्ति, कमनीय उत्प्रेक्षा, विमल उपमा तथा उपदेशमय अर्थान्तरन्यास सहृदयों के हृदय को आनन्दविभोर कर देते हैं।

विशालं शाल्मल्या नयनसुभगं वीक्ष्य कुसुमं
शुकस्यासीद् बुद्धिः फलमपि भवेदस्य सदृशम्।
इति ध्यात्वोपास्तं फलमपि च दैवात् परिणतं
विपाके तूलोऽन्तः सपदि मरुता सोऽप्यपहृतः॥

१—काव्यमाला के गुच्छक २ में प्रकाशित। (निर्णयसागर प्रेस)

विशाल सेमर के वृक्ष में नयन को सुख देने वाले फूल खिले हुए थे। शुक की दृष्टि उस पर पड़ी; सोचा कि जब फूल इतना रमणीय है तब इसका फल भी अवश्य ही ऐसा ही मनोरम होगा। इसी विचार से उसने सेमर की सेवा की। ईश्वर की दया से—प्रकृति की प्रेरणा से—उसमें फल भी निकल आये। शुक को आशा बँधी थी कि पकने पर ये अवश्य ही मधुर तथा सुन्दर होंगे। परंतु पकने पर भीतर से क्या निकला? केवल रुई! और उसे भी वायुदेव ने शीघ्र उड़ा डाला। जिस आशा से वेचारा शुक इतना आनन्द पाता था—इतने दिनों तक जिस फल की प्रतीक्षा की थी, वह अंत में बिल्कुल शून्य निकला। आशा निराशा में बदल गई।

पतत्तस्य मुखात्कियत्कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन् मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि।
अंगुल्यग्रमलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा॥

कोई मनुष्य अपने मित्र से किसी मूर्ख की बात कह रहा है कि भाई, मैं उसकी हालत क्या कहूँ! वह ऐसा जड़ है कि कमलिनी के पत्ते पर गिरे हुये ओस के कण को मुक्तामणि समझता है, भला ऐसा भी कोई मूर्ख होगा? मित्र ने उत्तर दिया—एक दूसरे जड़ात्मा का हाल तो सुनो। कमलिनी के दल पर गिरा हुआ ओसकण उसकी उंगुली के अगले हिस्से के छूते ही जमीन पर गिर कर गायब हो गया। परन्तु उस मूर्ख को रात को सोच के मारे नींद नहीं आती है, वह सोचा करता है कि हाय! उँगली से छूते ही वह मेरा चमकता मोती कहाँ उड़ गया; बस इसी में वह हैरान है। रात दिन इसी सोच में बीत जाते हैं, नींद दर्शन नहीं देती। कहो; उससे वह बड़ा मूर्ख नहीं है? असल बात यह है कि मूर्खों को इसी प्रकार अयोग्य वस्तुओं में ममता हुआ करती है। मूर्खों की अस्थान ममता का पता कैसे सुन्दर शब्दों में दिया गया है। काव्यप्रकाश में यह पद्य अप्रस्तुत-प्रशंसा के उदाहरण में उद्धृत किया गया है।

गोवर्धनाचार्य

ये बंगाल के अन्तिम राजा लक्ष्मणसेन (जिनका गया शिलालेख १११६ ई० का है) की सभा के मान्य कवि थे। इनकी एकमात्र रचना 'आर्या-सप्तशती' है। 'हाल' की सप्तशती तत्कालीन प्राकृत कवियों की विशाल कविताओं का चुना हुआ संग्रह है, पर आर्या-सप्तशती एक ही कवि की रचना है। भाव तथा अर्थ में अनेक स्थानों पर आश्चर्यजनक साम्य है। गोवर्धन शृंगार रस के आराधनीय आचार्य हैं, इसकी पुष्टि स्वयं जयदेव ने की है—

शृंगारोत्तर-सत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन —
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः।

गोवर्धन 'आर्या' की रचना में नितान्त विख्यात हैं। इनसे पहले किसी कवि ने इस छन्द को इतने सुचारु तथा सुन्दर रूप में नहीं लिखा था। शृंगार की नाना अवस्थाओं का वर्णन भी मार्मिकता से किया गया है। नागरिक स्त्रियों की शृंगारिक चेष्टाओं का चित्रण जितना चटकदार है उतना ही ग्रामीण महिलाओं की रसभरी स्वाभाविक उक्तियाँ भी मनोहर हैं। कवि मानव-हृदय की प्रवृत्तियों का सच्चा पारखी है। संयोग तथा वियोग के समय कामनियों के हृदय में जो कल्पनायें ललित खेल किया करती हैं उनकी परख गोवर्धन कवि को खूब है। तथ्य यह है कि हमारे-कवि ने आर्या जैसे छोटे छन्द में विशाल विविध भावों को भरकर गागर में सागर भरने की लोकोक्ति चरितार्थ की है।

सा सर्वथैव रक्ता रागं गुञ्जेव न तु मुखे वहति।
वचनेपटोस्तव रागः केवलमास्ये शुकस्येव॥

नायिका नायक के प्रति पूर्णतया अनुरक्त हैं पर अपने अनुराग को वह मुख से प्रकट नहीं करती। अतः वह उस लाल गुंजाफल के समान है जो मुख को छोड़ सर्वाङ्ग में रक्तवर्ण है। दूसरी ओर वचनचातुरी में दक्षनायक है जो मुखमात्र ही से अपने प्रेम का ख्यापन करता है। अतः वह उस हरे शुक के समान है जिसका केवल मुख ही लाल होता है।

विरह से संतप्त नायिका का यह वर्णन कितना चमत्कार-जनक है:—

न सवर्णो न च रूपं न संस्क्रिया कापि नैव सा प्रकृतिः ।
बाला त्वद्विरहादपि जातापभ्रंशभाषेव ॥

अपभ्रंश भाषा के साथ विरहिणी की समता सचमुच अनूठी है ।

गोवर्धन ने **'गाथासप्तशती'** के आदर्श पर अपने काव्य का निर्माण किया । प्राकृत भाषा में गीतिकाव्य का उदय अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ । 'गाथा सप्तशती' में सरस श्रृंगारिक गाथाओं का नितान्त अभिराम संग्रह सातवाहनवंशी राजा हाल ने किया है । इस ग्रंथ की रचना महाराष्ट्रीय प्राकृत में प्रथम शताब्दी में की गई । 'हाल' ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने एक करोड़ गाथाओं में से चुनकर सात सौ गाथाएँ एकत्र संग्रहीत की हैं । ये गीतियाँ श्रृंगार रस से लबालब भरी हैं । इन गाथाओं में प्राकृत कवियों की ऊँची कल्पना तथा नई सूझ के मंजुल दृष्टान्त प्रचुरमात्रा में उपलब्ध होते हैं । सप्तशती में लोक-जीवन के विविध पटलों का सजीव चित्रण बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है । ग्राम्य जीवन अपनी सरलता तथा स्वाभाविकता के साथ इन सुन्दर गाथाओंमें झाँक रहा है । एक गाथा को संस्कृत रूप में देखिए—

रन्धनकर्मनिपुणिके मा क्रुध्यस्व रक्तपाटलसुगन्धम् ।
मुखमारुतं पिबन् धूमायते शिखी न प्रज्वलति ॥

हे भोजन कर्म में निपुण सुन्दरी, आग के न जलने पर क्रोध मत करो । तुम्हारे लाल सुन्दर मुँह से जो हवा निकली है उसे पीकर आग धुँआ दे रहा है, जलता नहीं । यदि वह जल उठेगा तो तुम्हारे मुँह की सुगन्धित हवा उसे कहाँ मिलेगी ? तुम्हारा फूँकना जो बन्द हो जावेगा ।

जयदेव

राजा लक्ष्मणसेन की सभा में ये भी महाकवि रहते थे जिनकी लेखनी ने 'गीतगोविंद' जैसे अमर काव्य की सृष्टि की है । ये महाकवि जयदेव हैं जो बंगाल के केन्दुबिल्व नामक स्थान के निवासी थे । आज 'केन्दुली' में

हजारों वैष्णव साधुजन एकत्र होकर इस महाकवि के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। भक्तों ने इनकी लोकातीत जीवनी का संरक्षण चरितों में बड़ी तत्परता के साथ किया है। इनका जीवन आनंदकंद व्रजचंद की दिव्य भक्ति में पगे हुए भक्त का जीवन था। इनका जीवन एक ही रस से बाहर-भीतर ओत-प्रोत था और वह रस था भक्तिरस।

इनके 'गीतगोविंद' में १२ सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग गीतों से ही समन्वित है। सर्गों को परस्पर मिलाने के लिए तथा कथा के सूत्र को बतलाने के लिए कतिपय वर्णनात्मक पद्य भी हैं। 'गीतगोविंद' भगवती संस्कृतभारती के सौंदर्य तथा माधुर्य की पराकाष्ठा है। महाकवि कालिदास को कविता में भी इस रसपेशल मधुर भाव का हमें दर्शन नहीं मिलता। इस काव्य में कोमलकांत पदावली का सरस प्रवाह है तथा मधुर भावों का मधुमय सन्निवेश है। आनंदकंद व्रजचंद तथा भगवती राधिका का ललित लीलाओं का जितना ललाम वर्णन यहाँ मिलता है, वह अन्यत्र कहाँ देखने को लिलता है। शब्दमाधुर्य के लिए 'ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे' वाली अष्टपदी का पाठ पर्याप्त होगा।

भावों का सौष्ठव भी उतना ही हृदयावर्जक है। विरहिणी राधिका के वर्णन में कवि की यह उक्ति कितनी अनूठी है। राधा के दोनों नेत्रों से आँसुओं की धारा झर रही है। जान पड़ता है विकट राहु के दाँतों के गड़ जाने से चंद्रमा से अमृत की धारा बह रही हो :—

वहति च वलित-विलोचन-जलभर-माननकमलमुदारम्।
विधुमिव विकट-विधुन्तुददन्त-दलन-गलितामृतधारम्॥

उपमा की कल्पना तथा उत्प्रेक्षा की उड़ान में यह काव्य अनूठा तो है ही, परंतु इसकी सबसे बड़ी विशिष्टता है प्रेम की उदात्त भावना। राधाकृष्ण के प्रेम की निर्मलता तथा आध्यात्मिकता सुंदर शब्दों में यहाँ अभिव्यक्त की गई है। शृंगार-शिरोमणि कृष्ण भगवत्तत्व के प्रतिनिधि हैं और उनकी प्रेमी गोपिकायें जीव की प्रतीक हैं। राधा-कृष्ण का मिलन जीव-ब्रह्म का

मिलन है। साधनामार्ग के अनेक तथ्यों का रहस्य यहाँ सुलझाया गया है। अर्थ की माधुरी के लिए इस पद्य का पर्यालोचन पर्याप्त होगा—

दृशौ तव मदालसे वदनमिन्दुसंदीपकं
गतिर्जनमनोरमा विजितरम्भमूरुद्वयम्।
रतिस्तव कलावती रुचिर-चित्रलेखे भ्रुवा—
वहो विबुधयौवतं वहसि तन्वि! पृथ्वीगता॥

गीतगोविन्द का व्यापक प्रभाव उत्तरभारत में ही नहीं, प्रत्युत महाराष्ट्र, गुजरात तथा कन्नड प्रांत के साहित्य पर भी पड़ा है। महाप्रभु चैतन्यदेव गीतगोविंद की माधुरी के परम उपासक थे। उनके शिष्य प्रतापरुद्रदेव (१६ शतक) ने उत्कल के अनेक मंदिरों में इसके नियमित गायन के लिए भूमिदान की व्यवस्था की थी। मराठी साहित्य में महानुभावी ग्रंथकार भास्कर भट्ट बोरीकर (१२७५ ई०–१३२० ई०) के काव्य—ग्रंथ 'शिशुपाल वध' में गीत-गोविंद से अनेक भाव-सादृश्य उपलब्ध होते हैं जिसे ग्रंथकार ने जयदेव से निश्चितरूप से ग्रहण किया है। गुजरात के राजा शार्ङ्गदेव के एक शिलालेख (सम्वत् १३४८=१२९१ ई०) का मंगलश्लोक गीतगोविंद के प्रथम सर्ग का अंतिम पद्य है। अप्रमेय शास्त्री (१७५० ई०) ने 'शृंगार प्रकाशिका' नामक व्याख्या इस ग्रंथ पर कन्नड भाषा में लिखी है। मैसूर के राजा चिक्कदेवराय (१६७२ ई०–१७०४ ई०) ने गीतगोविंद के आदर्श पर 'गीतगोपाल' नामक सुंदर काव्य लिखा है जो कन्नड देश में गीतगोविंद की लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है।*

---

* लोकप्रियता का अन्य प्रमाण इनकी विपुल व्याख्या-सम्पत्ति है। राणा कुम्भकर्ण (१५६३ ई०) तथा शङ्कर मिश्र (१७५९ ई०) की प्रकाशित व्याख्या के अतिरिक्त वनमाली भट्ट, विट्ठलेश्वर तथा भगवद्दास (रसकदम्ब कल्लोलिनी नामक) की व्याख्यायें भी उपलब्ध हैं।

रूप गोस्वामी

श्री रूपगोस्वामी ने भगवान् श्रीकृष्ण, राधा, वृन्दावन तथा यमुना के स्वरूप तथा राधाकृष्ण की ललित केलि का बहुत ही रसमय वर्णन अनेक स्तुतिपद्यों में किया है। इन स्तुतियों का एकत्र संग्रह श्री जीव गोस्वामी के भाष्य के साथ स्तवमाला के नाम से प्रकाशित हुआ है।[1] इस माला में अनेक अष्टपदियाँ अपनी शोभा बढ़ा रही हैं जिनके ऊपर जयदेव के गीत-गोविन्द का प्रभाव नितांत स्फुट है। श्री रूपगोस्वामी प्रतिभा के घनी वैष्णव कवि थे जिनका अन्तस्तल श्री राधाकृष्ण की विमल भक्ति के चिन्तन से नितांत निर्मल था और जिनकी लेखनी कोमल हार्दभावों की अभिव्यक्ति में सर्वदा समर्थ थी। फलतः स्तवमाला की ये स्तुतियाँ गीतिकाव्य का मनोरम रूप उपस्थित करती हैं। राधाकृष्ण की उन ललित लीलाओं तथा केलियों का सांद्रस्निग्ध वर्णन कहीं रसिक जनों का चित्त आकृष्ट करता है—

मरन्द भर मन्दिर प्रतिनवारविन्दावली—
सुगन्धिनि विहारयो र्जलविहार-विस्फूर्जितैः।
तपे सरसि वल्लभे सलिल-वाद्य-विद्याविधौ,
विदग्धभुजयोर्भजे व्रजनवीन यूनोर्युगम्॥

इन गीतों की भाषा तथा शैली दोनों रस से स्निग्ध हैं तथा इनकी रचना में कविप्रतिभा की अमिट छाप पड़ी हुई है। सम्भवतः मूल बंगभाषा के छंदों का भी प्रभाव यहाँ खोजा जा सकता है। इन गीतों में रूप गोस्वामी ने अपना नाम न देकर अपने अग्रज 'सनातन' का ही नाम रखा है जिससे बहुत से आलोचकों को इन्हें रूप की रचना मानने में संकोच है। एक ही गीत उदाहरणार्थ यहाँ प्रस्तुत है जिसमें राधा की सखी कृष्ण के सामने विरहिणी राधा की दयनीय दशा का वर्णन कर रही है—

अनधिगताकस्मिक-गद-कारणम्।
अर्पित—मन्त्रौषधि - निकुरम्बम्॥

१—सं० काव्यमाला ग्रन्थ संख्या ८४, बम्बई, १९३०।

अविरत रुदित विलोहित लोचन-
मनुशोचति तामखिलकुटुम्बम्
देव हरे भव करुणाशाली।
सा तव निशित-कटाक्ष-शराहत-
हृदया जीवतु कृशतनुराली॥ (ध्रुवम्)
हृदि वलदविरल संज्वर पटली—
स्फुटदुज्ज्वल मौक्तिक समुदाया।
शीतल भूतल निश्चल तनुरयि—
मवसीदति सम्प्रति निरुपाया॥
गोष्ठ-जनाभय सत्रमहाव्रत—
दीक्षित भवतो माधव बाला।
कथमर्हति तां हन्त सनातन—
विषमदशां गुणवृन्द-विशाला॥

गौडीय वैष्णव कवि विशेषतः बंगला पदों की ही रचना किया करते थे जिनकी एक विशाल राशि 'पदकल्पतरु' में संगृहीत है। परन्तु वे कभी कभी संस्कृत गीतों की भी रचना किया करते थे और ये रचनायें बहुत सुन्दर तथा सरस हैं। **गोबिंददास** १६वीं शती के उत्तरार्ध में बंगाल में पैदा हुए थे। ये प्रथमतः शाक्त थे, परन्तु १५७७ ईस्वी में श्रीनिवास आचार्य के द्वारा ये वैष्णव मत में दीक्षित किये गये। जीव गोस्वामी ने इनकी काव्य प्रतिभा से प्रसन्न होकर इन्हें 'कविराज' की उपाधि प्रदान की। बंगला में तो इनके कई सौ सरस पद आज भी भक्तों का मनोरंजन करते हैं, परंतु संस्कृत में भी इनकी सुन्दर गीतिका मिली है।

विश्वनाथ चक्रवर्ती जिन्होंने हरिवल्लभ, या हरिवल्लभदास या वल्लभ के उपनाम से संस्कृत तथा बंगला ग्रंथों का प्रणयन किया है १५८६ शक (१६६४ ई०) में पैदा हुए। गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के ये महनीय ग्रंथकार थे। संस्कृत में इनका सबसे प्रख्यात ग्रंथ है—भागवत की टीका **सारार्थ दर्शिनी**। विश्वनाथ ने बंगला वैष्णव पदों का सबसे प्राचीन संग्रह तैयार किया जिसका नाम था **क्षणदागीत चिन्तामणि**। इसमें सब मिलाकर

३१४ पद हैं जिनमें इनकी पाँच संस्कृत रचनायें (पद) भी पाई जाती हैं। इसी प्रकार श्रीनिवास आचार्य के वंशज **राधामोहन ठाकुर** (१६६८ ई० १७७८ ई०) के भी संस्कृत गीत उपलब्ध होते हैं। ये महाराजा नन्दकुमार के गुरु थे। अपने समय में कवीत्व तथा विद्वत्ता के लिए बंगाल में इनकी बड़ी ख्याति थी। इनके पद संग्रह का नाम 'पदामृत समुद्र' है जिनमें इनके शताधिक बंगलापदों के अतिरिक्त चार संस्कृत गीतिकायें भी उपलब्ध होती हैं। इसके ऊपर राधामोहन ने स्वयं संस्कृत में टीका भी लिखी है। इस प्रकार बंगीय वैष्णवों ने संस्कृत में पदों की रचना कर गीतगोविन्द की परम्परा को समुज्ज्वल बनाया।[1]

२

स्तोत्र साहित्य

संस्कृत का स्तोत्रसाहित्य बड़ा ही विशाल, सरस तथा हृदयस्पर्शी है। प्रत्येक धर्म में भक्त अपने हृदय की बातें भगवान् के सामने प्रकट करने तथा उनकी महिमा के वर्णन में अपने कोमल तथा भक्ति-पूरित हृदय को अभिव्यक्त करता है परंतु हमारे भक्तों ने अपने हृदय की जितनी दीनता, कोमलता का और भगवान् की उदारता का परिचय दिया है वह सचमुच उपमाहीन है। हमारा भक्त-कवि कभी भगवान् की दिव्य विभूतियों के दर्शन से चकित हो उठता है तो कभी भगवान् के विशाल-हृदय, असीम अनुकम्पा और दीनजनों पर अकारण स्नेह की गाथा गाता हुआ आत्मविस्मृत हो उठता है। अपने पूर्व कर्मों की ओर जब वह दृष्टि डालता है तब उसकी क्षुद्रता उसे बेचैन बना डालती है। बच्चा जिस प्रकार अपनी माता के पास मन-चाही प्यारी वस्तु के न मिलने पर कभी रोता है, कभी हँसता है; आत्म-विश्वास की मस्ती में वह कभी नाच उठता है। ठीक यही दशा हमारे भक्त-कवियों की है। वे अपने इष्ट देवता के सामने अपने हृदय के खोलने में किसी प्रकार की

१—इन कवियों के संस्कृत पदों के उदाहरणार्थ द्रष्टव्य के० बी० पाठक कमेमोरेशन वाल्यूम, पूना, १९३४, पृष्ठ ४१७–४२७।

आनाकानी नहीं करते। वे अपने हृदय की दीनता तथा दयनीयता कोमल शब्दों में प्रकट कर सच्ची भावुकता का परिचय देते हैं। इन्हीं गुणों के कारण इन भक्तों के द्वारा विरचित स्तोत्रों में बड़ी मोहकता है, चित्त को पिघला देने की भारी शक्ति है। संगीत का पुट मिल जाने पर इनका प्रभाव बहुत ही अधिक बढ़ जाता है।

इस विशाल स्तोत्र साहित्य के यथार्थ वर्णन के लिए स्वतंत्र ग्रंथ की आवश्यकता है। यहाँ कतिपय प्रसिद्ध स्तोत्रों का ही परिचय प्रदान किया जायेगा।

शिवमहिम्नः स्तोत्र

भगवान् शंकर के स्तोत्रों में 'शिव महिम्न' स्तोत्र का प्रमुख स्थान है। इसके रचयिता कोई पुष्पदंत आचार्य हैं। परंतु उनके व्यक्तित्व से हम परिचित नहीं है। राजशेखर ने इसका एक पद्य अपनी काव्यमीमांसा में उद्धृत किया है जिससे इसका समय दशम शतक से पूर्व होना सिद्ध है। वह स्तोत्र सुंदर शिखरिणी वृत्तों में लिखा गया है और सचमुच बड़ा भावपूर्ण है। इसके अनेक पद्यों में दार्शनिक भाव भरे हुए हैं। साहित्यिक दृष्टि से भी इस स्तोत्र की सुंदरता नितांत मनोरंजक है। भगवान् शंकर की स्तुति में कवि कह रहा है:—

असितगिरि-समं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे।
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं।
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

नीलगिरि के समान यदि काली स्याही हो, समुद्र दावात हो, कल्पवृक्ष की डाल लेखनी हो, यह विशाल पृथ्वी कागज हो—इन उपकरणों से युक्त होकर यदि भगवती सरस्वती सदा आपके गुणों को लिखे, तो भी हे भगवन्! वह आपके गुणों के अंत तक नहीं पहुँच सकती !!!

मयूरभट्ट

ये काशी से पूरब के ही कवि थे। आज गोरखपुर जिले के कुछ प्रतिष्ठित ब्राह्मण लोग अपने को मयूरभट्ट की सन्तान मानते हैं। महाकवि बाणभट्ट के ये सगे सम्बन्धी थे। बाण के समान ही मयूरभट्ट की प्रतिष्ठा श्रीहर्ष के दरबार में थी। सुनते हैं कि किसी कारणवश इन्हें कुष्टरोग हो गया था जिसके निवारणार्थ उन्होंने सूर्य भगवान् की सुन्दर स्तुति लिखी। मयूर का 'सूर्य-शतक' स्रग्धरा वृत्त में लिखा गया नितान्त प्रौढ़ काव्य है। स्रग्धरा वृत्त में लिखे गये काव्यों में यही प्रथम काव्य है। संस्कृत भाषा के ऊपर कवि की प्रभुता बहुत ही अधिक है। झनझनाते हुए अनुप्रासों की मधुर ध्वनि सहृदयों के हृदय का आवर्जन करती है। कवि सूर्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों और साधनों (जैसे रथ, घोड़े इत्यादि) के वर्णन में पूर्णरूप से सफल है मयूर मुख्यतया 'शब्द कवि' हैं और नोंकझोंक के शब्दों के रखने में ये बेजोड़ हैं।

बाणभट्ट

बाणभट्ट मयूरभट्ट के समकालीन ही न थे, प्रत्युत उनके सगे सम्बन्धी भी थे उनकी कीर्ति गद्य-काव्य के रचयिता के रूप में ही विशाल है। गीति-काव्य के निर्माता के रूप में वे कम प्रसिद्ध हैं। उनका 'चण्डीशतक' भगवती दुर्गा की स्रग्धरा वृत्त में बड़ी प्रशस्त स्तुति है। यदि बाण महाकाव्य के लिखने के लिए उद्यत होते, तो इस क्षेत्र में भी उन्हें कम सफलता प्राप्त नहीं हुई होती। पर इधर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। चण्डीशतक में बाण की उस परिचित शैली का चमत्कार हम पाते हैं—लंबे-लंबे समास, नोंकझोंक के शब्द, कानों में झनकार करने वाले अनुप्रास तथा ऊँची उत्प्रेक्षा। भोज-राज ने सरस्वती कण्ठाभरण में चण्डीशतक का यह प्रशस्त पद्य दृष्टान्त के रूप में दिया है:—

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी ॥

शङ्कराचार्य

बाण-मयूर के लगभग पचास वर्ष के भीतर ही धार्मिक क्षेत्र को उद्भासित करने वाले एक महान् पुरुष का जन्म हुआ। इनका नाम था आचार्य शङ्कर। ये भगवान् की एक दिव्य विभूति थे जिनकी कीर्तिकौमुदी आज भी उसी प्रशान्त रूप से समस्त जगत् को प्रद्योतित कर रही है। दार्शनिक जगत् में उन्होंने अद्वैत तत्त्व की प्रतिष्ठा की। परमार्थ दृष्टि से वे अद्वैत के तथा मायावाद के परम प्रतिष्ठापक हैं। परंतु व्यवहार-जगत् में नाना देवताओं की उपासना उन्हें अभीष्ट है। सगुण ब्रह्म की उपासना निर्गुण ब्रह्म तक पहुँचाने के लिए आवश्यक साधन है। इसीलिए शंकराचार्य ने उपास्य ब्रह्म के प्रतिनिधिभूत विष्णु, शिव, गणपति शक्ति, हनुमान् आदि नाना देवी-देवताओं की परम रमणीय स्तुतियाँ लिखी हैं। इन स्तोत्रों की संख्या बहुत ही अधिक है। इन सबको आदिशङ्कराचार्य की रचना मानना उचित नहीं है, परंतु इनमें से अनेक प्रसिद्ध स्तोत्र आचार्य की ललित लेखनी के प्रसाद हैं।

शङ्कराचार्य की काव्यकला बड़े ही ऊँचे दर्जे की है। उसे हम अंतः-प्रेरणा का, प्रशस्त प्रतिभा का, मधुमय फल समझते हैं। शङ्कर की कविता निःसंदेह रसभाव-निरन्तरा है, आनंद का अक्षय स्रोत है, उज्ज्वल अर्थ-रत्नों की मनोरम पेटिका है और कमनीय कल्पना की ऊँची उड़ान है। उनके स्तोत्र हमारे स्तोत्रसाहित्य के शृङ्गार हैं। उनमें संगीत की इतनी माधुरी है कि श्रोताओं का हृदय उनकी ओर हठात् आकृष्ट हो जाता है। 'भज गोविन्दनम्' —केवल इसी स्तोत्र का पाठ इस कथन को प्रमाणित सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है—

भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढ़मते।
प्राप्ते सन्निहिते तव मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे॥
बालस्तावत् क्रीडासक्तः, तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः,पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते।

—की स्वरलहरी जब हमारे कर्णकुहरों में अमृतरस बरसाने लगती है तब जान पड़ता है हम इस क्लेशबहुल जगत् से ऊँचे उठकर किसी आनन्द-मय दिव्यलोक में जा विराजते हैं। आचार्य की कविता का परम सौन्दर्य एकत्र देखने के लिए 'सौंदर्य लहरी' का अध्ययन पर्याप्त होगा। भगवती त्रिपुर-सुंदरी के दिव्य सौंदर्य की छटा इस लहरी में जितनी प्रस्फुटित हुई है उतनी अन्यत्र शायद ही हो। भाषा तथा भाव, रस तथा अलंकार, साहित्य तथा तंत्र—किसी भी दृष्टि से इस लहरी का अनुशीलन किया गया, इसकी अलौकिकता पद पद पर प्रमाणित होती है। इसमें सिर से लेकर पैर तक भगवती के अंग-प्रत्यंग की शोभा का सुचारु वर्णन हम पाते हैं। आरम्भ के चालीस पद्यों में हम तंत्रशास्त्र के गम्भीर रहस्यों का परिचय पाते हैं। साहित्य सौंदर्य तथा तांत्रिक गूढ़ता—उभयरूप में यह स्तोत्र अपनी समता नहीं रखता। भगवती कामाक्षी के सीमंत तथा सिंदूर रेखा का यह वर्णन साहित्य संसार के लिए वस्तुतः एक नई वस्तु है, कल्पना की कमनीयता का एक अभिराम उदाहरण है :—

तनोतु क्षेमं नस्तव वदनसौन्दर्यलहरी—
परीवाहः स्रोतःसरणिरिव सीमन्तसरणी।
वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकवरीभारतिमिर—
द्विषां वृन्दैर्वन्दीकृतमिव नवीनार्ककिरणम्॥

कुलशेखर

कुलशेखर का 'मुकुंदमाला' स्तोत्र तथा यमुनाचार्य का 'आलबन्दार' स्तोत्र श्रीवैष्णव मत के स्तोत्रों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। कुलशेखर त्रिवांकुर राज्य के प्राचीन राजा माने जाते हैं जिनका आविर्भाव दशम शतक में हुआ। ये वैष्णवधर्म के सुप्रसिद्ध आलवारों में अन्यतम माने जाते हैं। इनका 'मुकुंदमाला स्तोत्र' वैष्णव स्तोत्र का मुकुट-मणि है। कवि कभी अपनी दीन-हीन दशा का वर्णन करते आत्मविस्मृत हो जाता है, तो कभी वह भगवान् के विराट् रूप के दर्शन से चमत्कृत हो उठता है। इनके श्लोक

संख्या में केवल ३४ ही हैं, परंतु इनमें हृदय को आवर्जन करने की विचित्र शक्ति है।

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरित-शारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

["मेरा निवास इस भूतल पर हो, या स्वर्ग में हो। हे नरक को दूर भगाने वाले भगवन्! चाहे मेरी स्थिति नरक में ही क्यों न हो? आप के शरद् ऋतु में खिले कमलों की शोभा को तिरस्कृत करनेवाले चरणों को मैं मरण में भी सदा स्मरण किया करता हूँ।"]

यामुनाचार्य

ये वैष्णवमत के प्रतिष्ठापक रामानुजाचार्य के परमगुरु थे। इनका समय ईसा की दशवीं शताब्दी है। दक्षिण भारत ही इनके धार्मिक उपदेशों का प्रधान क्षेत्र था। इनका तामिल नाम 'आल-बन्दार' था और इसी कारण इनका परमरम्य स्तोत्र 'आलबन्दार' स्तोत्र के नाम से विख्यात है, यद्यपि आंतरिक सुषमा के कारण भक्तजन इसे 'स्तोत्ररत्न' नाम से पुकारते आते हैं। कवि ने अपना भक्तिभावित हृदय भगवान् के सामने इतनी दीनता-भरे शब्दों में प्रकट किया है कि पाठकों का चित्त इसे पढ़ गद्गद हो जाता है। प्रपत्ति का भाव इसमें बड़ी सुंदरता से अभिव्यक्त किया गया है—

तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं समीक्षते॥

[हे भगवन्, मेरा चित्त आपके अमृतरस चुलाने वाले पद-पद्मों में रम गया है। भला अब वह किसी दूसरी चीज को क्योंकर चाहेगा? पुष्परस से भरे हुए कमल के विद्यमान रहने पर क्या भौंरा ईख के रस को कभी देखता है? उसे चखने की तनिक भी अभिलाषा क्या उसके हृदय में उठती है?]

लीलाशुक

लीलाशुक का 'कृष्णकर्णामृत' चैतन्य महाप्रभु का परम प्रिय स्तोत्र बतलाया जाता है। प्रसिद्धि है कि महाप्रभु दक्षिण देश से यह स्तोत्र बंगाल

लाये थे। यह स्तोत्र सचमुच भक्तों के कान में अमृतरस डालता है। भाव जितने सुंदर तथा चमत्कारी हैं भाषा उतनी रसपेशल तथा मधुर है :—

मुग्धं स्निग्धं मधुरमुरलीमाधुरीधीरनादैः
कारं कारं करणविवशं गोकुल-व्याकुलत्वम्।
श्यामं कामं युवजनमनोमोहनं मोहनांगं
चित्ते नित्यं निवसतु महो वल्लवीवल्लभं नः॥

वेंकटाध्वरि

वेंकटाध्वरि मद्रास प्रांत के निवासी श्रीवैष्णव थे। इन्होंने अपने 'विश्व-गुण-दर्श चम्पू' में मद्रास में (हूणों) अंग्रेजों के रहने तथा उनके दुराचार का वर्णन किया है जिससे इनका स्थितिकाल १७ वीं शताब्दी का मध्यभाग निश्चित होता है। इनका कीर्ति-स्तम्भ 'लक्ष्मी-सहस्र' है जिसे कवि ने एक ही रातभर में बनाकर अपनी अद्भुत रचना-चातुरी का परिचय दिया है। इस स्तोत्ररत्न में भगवती लक्ष्मी की स्तुति पूरे एक हजार पद्यों में की गई। सैकड़ों श्लोक तो लक्ष्मी के ललित अंग के वर्णन में लिखे गये हैं। इस काव्य में अलंकारों की छटा सुतरां अवलोकनीय है। वेंकटाध्वरि मुख्यतः शब्द-कवि हैं। श्लेष लिखने में ये बेजोड़ हैं। इनका हृदय भक्तिभावना से नितांत आप्यायित है, परंतु उनके पाण्डित्य का प्रकर्ष कम नहीं है। कभी वे भगवती से दया की भिक्षा माँगते हैं, तो कभी वे उनकी विरुदावलि गाने में व्यस्त हो जाते हैं। कभी उनकी दृष्टि लक्ष्मी जी अंगों के सौंदर्य पर गड़ जाती है, तो कभी उनके श्रवण भगवती के गुणों के सुनने में लग जाते हैं। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसमें अलौकिक प्रतिभा, नित्यनूतन उत्प्रेक्षा, कमनीय रचनाचातुरी का परिचय मिलता है। संस्कृतभाषा में यह रसपेशल तथा उत्प्रेक्षामण्डित काव्य लिखकर वेंकटाध्वरि सचमुच अमर हो गये हैं।

भगवती लक्ष्मी की कटि का यह वर्णन कल्पना में एकदम बेजोड़ है:—

परमादिषु मातरादिमं यदिमं कोषकृताह मध्यमम्।
अमरः किल पामरस्ततः स बभूव स्वयमेव मध्यमः॥

हे मातः, आप जगत् की जननी हैं। आपकी कटि इस सृष्टि के आदि में विद्यमान व्यक्तियों में आदिम है—प्रथम है। भगवती सृष्टि की विधायिका ठहरीं, उनकी कटि सबसे आदि वस्तु है। ऐसी उत्तम वस्तु को अमर नामक कोषरचयिता ने मध्यम (नीच) बतलाया है। 'कटि' का पर्याय 'मध्य' या मध्यम है। 'मध्यमं चावलग्नं च मध्योऽस्त्री' इत्यमरः। इस अनुचित कथन की सजा उसे खूब मिली। वह तो ठहरा अमर-श्रेष्ठ देवता, पर इसी अपराध के कारण वह बन गया पामर, नीच तथा मध्यम, मध्यलोक का निवासी मनुष्य। देवता का मर्त्यलोक में जनम लेना महान् दण्ड है। अब इसके श्लिष्ट अर्थ पर विचार कीजिए 'परम' का अर्थ है—पर है मकार जिसमें अर्थात् मकारांत शब्द। 'आदिम का अर्थ है—आदि में 'म' वाले शब्द तथा इसी रीति से 'मध्यम' से तात्पर्य मध्य में मकार वाले शब्दों से है। लक्ष्मी जी का मध्यम अंतिम मकार वाले शब्दों में आदि मकारवाला है परंतु फिर भी कोषकार उसे मध्य मकार वाला बतलाता है। इस उल्टी बात का फल यह हुआ कि वह स्वयं मध्यम (मध्य मकार वाला) बन गया। 'अमर' के बीच में मकार है। अतः बुरे कथन का फल उसे ही मिला। वह स्वयं मध्यम बन गया। यहाँ प्रसन्न श्लेष की छटा सुतरां विलोकनीय है। प्रतिभा के साथ पाण्डित्य का मेल नितांत सुंदर है।

वैष्णव स्तोत्र

भगवान् विष्णु के रूप वर्णन में अनेक कवियों ने अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया है। 'विष्णु-पदादि केशांत वर्णन स्तोत्र'[1] ५१ स्रग्धरा पद्यों में बड़ी ही कमनीय भाषा में विष्णु के पैर से लेकर केश तक समग्र अंगों का सुंदर वर्णन प्रस्तुत करता है। कविता नितांत प्रौढ़ कल्पना से मंडित है। इसके कर्ता शंकराचार्य माने जाते हैं; परंतु ये आद्य शंकराचार्य हैं या अन्य कोई पीठाध्यक्ष ? इसका यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। मधुसूदन सरस्वती (१६ शतक) के 'आनन्द मन्दाकिनी'[2] नामक स्तोत्र का भी यही विषय है—विष्णु के स्वरूप का नितांत स्निग्ध वर्णन। मधुसूदन सरस्वती प्रसिद्ध

१—२, काव्यमाला गुच्छक २ में प्रकाशित।

अद्वैतवादी होने पर भी बड़े भारी भावुक कवि थे। उन्होंने भक्ति के स्वरूप विवेचन के निमित्त 'भक्तिरसायन' जैसे शास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन किया है उसी प्रकार कृष्ण की स्तुति में भी विशेष कविता लिखी है। आनन्द मन्दाकिनी (१०२ पद्य) की कविता बड़ी कोमल, रस से स्निग्ध तथा माधुर्य से मंडित है जिसमें भक्ति रस से पेशल कवि-हृदय की पूर्ण अभिव्यक्ति हो रही है। माधव भट्ट का दानलीला[1] काव्य कृष्ण और गोपियों की एक विशेष लीला के आधार पर लिखा गया लघु काव्य है। माधव भट्ट कर्णाटक देश के निवासी थे। ४८ पद्यों में कृष्ण की दानलीला का विशेष वर्णन रोचक भाषा में यहाँ किया गया है। रचना काल १६२८ संवत् (=१५७१ ई०) है। इससे एक शतक पीछे अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ का समय आता है।

अप्पय दीक्षित

शैवदर्शन के महनीय आचार्य अप्पय दीक्षित की रचना होने पर भी कांची के भगवान् वरदराज की यह स्तुति 'वरदराजस्तव' अपनी मंजुल भावना उदात्त दार्शनिक विचारों के कारण नितांत प्रसिद्ध है। श्री वेदांत देशिक ने भी वरदराज की स्तुति लिखी है और इसी स्तुति से अप्पय दीक्षित की कृति प्रभावित तथा उत्साहित प्रतीत होती है। १०६ सुन्दर श्लोकों में भगवान् के रूप का वर्णन बड़ी ही कमनीय भाषा में किया गया है। इससे स्पष्ट है कि दीक्षितजी नितान्त उदात्त भक्त तथा दार्शनिक थे।

पण्डितराज जगन्नाथ

अपने समय के बड़े ही उच्चकोटि के विद्वान् तथा सरस कवि थे। काशी-निवासी पेद्द भट्ट के पुत्र थे तथा जात्या आंध्र ब्राह्मण थे। तत्कालीन दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ के निमंत्रण पर उनके ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाने के लिये दिल्ली गये। उनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर शाहजहाँ ने इन्हें **पण्डितराज** की उपाधि से विभूषित किया। इन्होंने अपना परिचय देते हुए दिल्लीपति के द्वारा आश्रय पाने की घटना का स्पष्ट उल्लेख किया है। युवा-

---

१—काव्यमाला गुच्छक ३ में प्रकाशित।

वस्था में दिल्ली के बादशाह के आश्रय में अपना जीवन बिताया और वृद्धावस्था में मथुरा में निवास किया।

पण्डितराज परम वैष्णव थे। इसका परिचय वृद्धावस्था में मथुरा-निवास के अतिरिक्त उनकी भक्तिमयी कविताओं से भी विशेष रूप से मिलता है। अपने चंचल चित्त को उपदेश देते समय पण्डितराज की यह उक्ति उनके वैष्णवत्व का पर्याप्त सूचक है :—

रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन् ।
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो वन्धुर्न कार्यस्त्वया ।
सौन्दर्याद्भुतमुद्गिरद्भिरभितः संमोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभाँश्च विषयानाशुं क्षयं नेष्यति ॥

(भामिनीविलास, चतुर्थ उ०)

[अर्थात् रे चित्त, मैं तेरे हित की बात कहता हूँ, जरा ध्यान देना, कभी भूलकर भी वृन्दावन में गायों को चराने वाले नवनील मेघ के समान शरीर वाले से मित्रता न करना; नहीं तो बड़ी हानि होगी, वह बड़ा चालाक मनुष्य है। अपनी मधुर मुसुकराहट से तुम्हें मुग्ध कर तुम्हारे प्यारे विषयों का क्षण भर में नाश कर देगा। जरा सँभल कर रहना। कितना भक्तिरस पूर्ण मार्मिक उपदेश है !!!]

पण्डितराज स्वयं अच्छे आलोचक थे। प्राचीन शास्त्रकारों के विषय में बड़ी श्रद्धा रखते थे। काव्यप्रकाशकार मम्मट के अनेक सिद्धांतों का उन्होंने खंडन किया है परन्तु शिष्टभाषा में, स्थान-स्थान पर उन्हें 'सहृदयशिरोमणि' कहा है। परन्तु समकालीन अनेक विद्वानों के साथ आपकी अनबन थी, खासकर भट्टोजि दीक्षित और अप्पय दीक्षित से। सिद्धांत कौमुदी, मनोरमा आदि ग्रन्थों के कर्ता भट्टोजि दीक्षित से अनबन का कारण यह था कि दीक्षितजी ने इनके गुरु वीरेश्वर रचित प्रक्रिया कौमुदी की टीका, 'प्रक्रिया-प्रकाश' का खंडन अपनी मनोरमा में किया। अतएव जगन्नाथ ने गुरुभक्ति

का अगाध परिचय देते हुए 'मनोरमाकुचमर्दन' नामक ग्रंथ में दीक्षितजी की 'मनोरमा' का खंडन बड़े घटाटोप के साथ किया है। अप्पय दीक्षित से भी बड़ी अनबन थी। कारण कुल जातिगत वैमनस्य कहा जाता है। दीक्षित जी कांची के अलौकिक दार्शनिक तथा प्रतिभाशाली द्रविड कवि थे। आपने 'कुवलयानंद' तथा 'चित्रमीमांसा' नामक अलंकार ग्रंथों की रचना की है जिनका खंडन रसगंगाधर में खूब किया गया है। 'चित्रमीमांसा' के खंडन में 'चित्रमीमांसा खंडन' नामक स्वतन्त्र पुस्तक जगन्नाथ ने बनाई है।

संस्कृत साहित्य में पण्डितराज अपनी अभिमान-भरी गर्वोक्तियों के लिये भी खूब प्रसिद्ध हैं। भवभूति तथा श्रीहर्ष के समान इनमें आत्माभिमान की मात्र अधिक थी। एक पद्य में इनकी साभिमान घोषणा है कि साक्षात् सरस्वती वीणा बजाने में आदर कम करके जिसके वचनों के अमृतमय रस को पीती है उसी पण्डितराज के श्रवण-सुभग वचन को सुनकर दो ही सिर नहीं हिलाते—एक नरपशु (पशु-तुल्य मनुष्य) और दूसरा साक्षात् पशुपति (शिव)। मनुष्यत्वयुक्त किसको वह वाणी नहीं भाती ?

पण्डितराज जगन्नाथ रसमयी पद्धति के अन्तिम कवि प्रतीत होते हैं। काव्य लिखने में इनकी प्रतिभा अलौकिक थी। इनकी शैली प्रसादमयी तथा कल्पना की उड़ान नितान्त ऊँची थी। भगवान् की स्तुति में इन्होंने अपने कोमल भावपूर्ण हृदय का परिचय दिया है। भाव बड़े कोमल तथा रुचिर हैं। मुगल दरबार में आदर-पूर्वक रहने पर भी इनकी कविता दरबारी नहीं है। 'जगदाभरण' काव्य में दाराशिकोह का, 'आसफ विलास' (गद्य काव्य) में नवाब आसफ खाँ का तथा 'प्राणाभरण' काव्य में कामरूप के राजा प्राण-नारायण का वर्णन अवश्य इन्होंने किया है। परन्तु देव-विषयक प्रशस्तियों के लिखने के विषय में इनका हृदय विशेष रमता था। कवित्व के साथ पाण्डित्य का मंजुल संमिलन इनके काव्यों में विशेष मिलता है। कविता लिखने की शक्ति इतनी अधिक थी कि इन्होंने रसगंगाधर में अलंकारों तथा रसों के उदाहरण के लिये अपने नये श्लोक बनाये हैं, किसी प्राचीन उदाहरण को उच्छिष्ट समझकर छूना भी इन्होंने उचित नहीं समझा।

इनके काव्यग्रंथों में पाँच लहरियों का स्थान मुख्य है। इन लहरियों के नाम ये हैं—(१) करुणा लहरी, जिसमें भगवान् की दया की प्रार्थना की गई है। (२) गंगा लहरी या पियूष लहरी (गंगा की स्तुति) (३) अमृत लहरी (यमुना की स्तुति)। (४) लक्ष्मी लहरी (लक्ष्मीजी की स्तुति)। (५) सुधा लहरी (सूर्यस्तुति)। इनके स्फुट पद्यों का संग्रह 'भामिनी विलास' में किया गया है।

पण्डितराज जगन्नाथ की कविता में स्वाभाविक प्रवाह है, पदों की मनोरम शय्या है तथा कल्पना का अभिराम चमत्कार है। भगवान् कृष्ण के चरणारविंद में उनकी गाढ़ भक्ति थी। इसी कारण उनके काव्य भक्तिरस से नितांत स्निग्ध हैं। हम उनके काव्य को 'द्राक्षापाक' का सुंदर उदाहरण मानते हैं। कालिन्दी के किनारे गोपियों के संग में विहार करने वाले व्रजचंद्र श्रीकृष्ण की सुषमा बड़े ही सुंदर शब्दों में चित्रित की गई है—

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा—
मभंगुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम्।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमति-चुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी॥

शाहजहाँ के सभा-पण्डित होने से पण्डितराज जगन्नाथ का जीवनकाल १५९० ई०-१६६५ ई० के आसपास माना जा सकता है। उनके व्यवहार से असन्तुष्ट अनेक विरोधी उस समय विद्यमान थे, परन्तु पण्डितराज का प्रभाव काशी तथा दक्षिण के अनेक कवियों के ऊपर स्पष्टरूप से पड़ा था। और ये कवि १७ वें शतक के उत्तरार्थ में होने से उनके प्रायः समकालीन अथवा कुछ ही पश्चाद्वर्ती थे। काशी के **भास्कर कवि** (अन्य नाम हरि कवि) ने अपने सुभाषित ग्रंथ 'पद्यामृत तरंगीणी' में (जिसकी रचना १६७३ ई० में हुई थी) पण्डितराज का एक पद्य उद्धृत किया है। सूरत के निवासी हरिकवि (भानुभट्ट) ने अपनी 'सुभाषित हारावलि' में पण्डितराज से पाँच पद्यों

को उद्धृत किया है। मराठी भाषा के विख्यात कवि **वामन पण्डित** (१६३६ ई०—१६९५ ई०) ने पंडितराज की 'गंगा लहरी' का समश्लोकी शिखरिणी में बड़ा ही सुंदर मराठी अनुवाद किया है जो आज भी नितान्त लोकप्रिय है। महाराष्ट्रीय कवियों के ऊपर जगन्नाथ के व्यापक प्रभाव का यह भव्य निदर्शन है।

शैव स्तोत्र

उत्पलदेव

भगवान शंकर की स्तुति अनेक कवियों ने बड़ी मार्मिकता से लिखी है। काश्मीर शैव दर्शन का अपना विशिष्ट क्षेत्र है। अतः जिस प्रकार वहाँ के कवियों ने शिवचरित्र का आलम्बन कर विशिष्ट प्रबन्ध काव्यों का निर्माण किया है उसी प्रकार सुंदर शैव स्तोत्रों की रचना कर उन्होंने अपने प्रौढ़ भक्ति-भाव का परिचय दिया है। ऐसे स्तोत्रों में **उत्पलदेव** की 'शिव स्तोत्रावली'[1] तथा जगद्धर भट्ट की 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि' नितांत प्रसिद्ध है। काश्मीरी शैवों में इन स्तोत्रों की वही प्रतिष्ठा है, वही आदर है जो वैष्णव में पूर्वोक्त स्तोत्रों को प्राप्त है। उत्पलदेव त्रिकदर्शन के आचार्यों में अन्यतम हैं। त्रिकदर्शन की इन्होंने अपने ग्रंथों से पर्याप्त प्रतिष्ठा की। इनका समय नवम शताब्दी है। इनकी शिवस्तोत्रावली में २१ विभिन्न स्तोत्रों का संग्रह है। इन सबका एक ही विषय है—भगवान् शंकर के अनन्त गुणों का वर्णन तथा उनके कमनीय रूप की मधुर झाँकी। इन पद्यों के भाव बड़े ही उच्च कोटि के हैं। भगवान् शंकर से सम्पर्क रखने वाली छोटी से छोटी चीज हमारे भक्तकवि को प्यारी है, परंतु उनके सम्बन्ध से रहित प्रशस्त वस्तु भी उन्हें रुचित नहीं लगती :—

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युतात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते॥

---

१ चौखम्भा सं० सीरीज काशी से प्रकाशित। संवत् १९५९

[हे भगवन्, आपके कण्ठ के कोने में रखा गया कालकूट भी मेरे लिये महान् अमृत के समान पोषक तथा संजीवक है। परंतु यदि आपके शरीर से पृथक् होकर रहने वाला अमृत भी हो, तो वह मुझे नहीं रुचता। भक्तकवि की भावुकता कितने स्पष्ट अक्षरों में अभिव्यक्त हुई है।]

जगद्धर भट्ट

जगद्धर भट्ट ने ग्रंथ के अंत में अपना परिचय दिया है। उससे पता चलता है कि इनके पितामह का नाम गौरधर था जो तत्कालीन विद्वन्मंडली में अग्रणी तथा यजुर्वेद के 'वेदविलास' नामक भाष्य के रचयिता थे। इनके पिता रत्नधर कवि तथा शिवभक्त थे। इन्होंने अपने पुत्र यशोधर के लिये बालबोधिनी नामक कातंत्र व्याकरण की एक वृत्ति लिखी थी जिसके ऊपर राजानक शितिकण्ठ ने संस्कृत में टीका लिखी है। ये भी काश्मीर के अंतर्गत पद्मपुर के निवासी थे तथा जगद्धर के दौहित्र के दौहित्री के पुत्र थे। इस व्याख्या की रचना शितिकण्ठ ने काश्मीर के बादशाह हसनशाह (१४७२–८४ ई०) के राज्यकाल में लिखी थी। इस प्रकार जगद्धर शितिकण्ठ से पूर्व छठी पीढ़ी में वर्तमान थे। अतः जगद्धर का समय सौ-सवा सौ वर्ष पूर्व १३५० ई० के आसपास मानना अनुमान-सिद्ध है।

स्तुति-कुसुमांजलि[1] में ३८ स्तोत्र हैं तथा श्लोकों की संख्या १४२५ है। जगद्धर भगवान् शंकर के अनन्य उपासक थे। इनका अंतःकरण बाल्यावस्था से ही सदाशिव की आराधना की ओर झुका हुआ था। इस कारण सुधासहोदर शम्भुस्तवन को छोड़कर अन्य कोई ग्रंथ लिखने की ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं हुई। इसलिये वेणी-संहार और मालती-माधव के टीकाकार जगद्धर इनसे नितान्त भिन्न ही हैं। स्तुतिकुसुमांजलि में कवि ने ऐसे प्रभावोत्पादक और हृदयद्रावक ढंग से शंकर को आत्मनिवेदन किया है कि कठिन-हृदय व्यक्तियों का भी चित्त भक्तिभाव से आर्द्र हो जाता है। विशेषकर सप्तम,

---

१—काव्यमाला में राजानक रत्नकण्ठ की टीका के साथ प्रकाशित। हिंदी अनुवाद के साथ काशी से प्रकाशित, सम्वत् १९९५

अष्टम तथा नवम स्तोत्रों में कवि ने करुण रस का परिपाक बड़े सुन्दर ढंग से किया है। इस काव्य में हृदयपक्ष के साथ कलापक्ष का भी पूर्ण सामञ्जस्य है। श्लेष तथा यमक लिखने में जगद्धर विशेष चतुर तथा सिद्धहस्त कवि हैं। पण्डित जनों को लक्ष्य कर लिखी गई कविता में अलंकारों की सजावट नितांत आवश्यक मानी जाती थी। फलतः इस काव्य में भी अलंकारों की छटा विशेष हृदयावर्जक है। जगद्धर ने त्रिकदर्शन के सिद्धांतों का प्रसंगतः वर्णन बड़ी मार्मिकता से किया है परन्तु वह 'शिवस्तोत्रावाली' की इस विषयों में समता नहीं पा सकता। त्रिकदर्शन के मान्य आचाय की कृति होने से स्तोत्रावली दार्शनिकता से ओत-प्रोत है तथा त्रिकसिद्धांतों का भाण्डार है।

चारु चन्द्रकलयोपशोभितं भोगिभिः सह गृहीतसौहृदम्।
अस्युतपेतघनकालशात्रवं, नीलकण्ठमतिकौतुकं स्तुमः॥

[यहाँ शब्दश्लेष के द्वारा कवि ने शिवरूप मयूर की लौकिक मयूरों से विलक्षणता दिखाई है। लौकिक मयूर चारुचंद्रक (मनोहर पंख) के लय हो जाने से उपशोभित नहीं होता, परन्तु शिवरूप मयूर मनोहर चन्द्रकला से (चारुचन्द्रकलया) उपशोभित होता है। लौकिक मयूर भोगियों (सर्पों) से मित्रता ग्रहण नहीं करता परन्तु शिव सर्पों से अत्यधिक प्रीति रखते हैं। लौकिक मयूर घनकाल (वर्षाकाल) के साथ शत्रुता नहीं रखता किन्तु शिवरूपमयूर घनकाल (कठोर काल यमराज) के साथ शत्रुता रखता है। अतः शिव अतिकौतुक नीलकण्ठ हैं। यहाँ सभंगश्लेष की शोभा विशेष रूप से दर्शनीय है।

स्वैरेव यद्यपि गतोऽहमधः कुकृत्यै-
स्तत्रापि नाथ तव नास्म्यवलेपपात्रम्।
दृप्तः पशुः पतति यः स्वयमन्धकूपे
नोपेक्षते तमपि कारुणिको हि लोकः॥११।२८॥

[यद्यपि मैं अपने ही कुकृत्यों से इस अधोगति को प्राप्त हुआ हूँ तथापि मैं आप जैसे करुणासागर के तिरस्कार का पात्र नहीं हूँ। यदि कोई उद्धत पशु अपनी ही उदण्डता के वश किसी अंधकूप में गिर जाता है, तो दयालु

लोग उसकी उपेक्षा कर क्या उसे वहीं छोड़ देते हैं ?] स्तुतिकुसुमांजलि ऐसे ही भाव-सुमनों के गुच्छकों से बहुशः परिपूर्ण है।

नारायण पण्डिताचार्य की 'शिवस्तुति' केवल १३ पद्यों में निबद्ध एक लघु स्तुति है, परन्तु गोकुलनाथ कृत 'शिवशतक' परिमाण में तथा काव्य-सौन्दर्य में इससे कहीं अधिक बढ़कर है। गोकुलनाथ मिथिला के निवासी थे तथा आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व वहाँ विद्यमान थे। शिवशतक कविता की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर तथा रुचिर काव्य है। भाव बड़े ही कोमल तथा हृदयावर्जक हैं।

जैनस्तोत्र

ब्राह्मणों के समान जैन मतानुयायियों तथा बौद्धों ने भी सुन्दर स्तोत्रों का निर्माण किया है। इन स्तोत्रों की संख्या कम नहीं है। जैन स्तोत्र मात्रा में अधिक हैं। केवल काव्यमाला के सप्तम गुच्छक में तेईस जैन स्तोत्रों का एकत्र संकलन है जिनमें **मानतुङ्गाचार्य** का 'भक्तामर स्तोत्र' तथा **सिद्धसेन दिवाकर** का 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' भाषा के सौष्ठव तथा भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति के कारण जैनियों में नितांत विख्यात हैं। मानतुङ्ग बाण-मयूर के समकालीन बतलाये जाते हैं और सिद्धसेन का समय उनसे भी दो शताब्दी पूर्व माना जाता है। वे दोनों स्तोत्र साहित्य के रत्न हैं और भक्त हृदय के सच्चे उद्गार हैं। कवि अपनी नम्रता दिखलाता हुआ कह रहा है कि हे जिनवर ! कम पढ़े-लिखे तथा विद्वानों की हँसी के पात्र होने पर तुम्हारी भक्ति ही मुझे मुखर बनाती है। बसन्त में कोकिल स्वयं नहीं बोलना चाहता, प्रत्युत आम की मंजरी उसे बलात् कूजने का निमंत्रण देती है—

अल्पश्रुतं श्रुतवतांपरिहासधाम त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् ।
यत् कोकिलःकिलमधौ मधुरं विरौति तच्चारुचूतकलिका-निकरैकहेतु॥

कल्याणमन्दिर स्तोत्र में केवल ४४ पद हैं, परन्तु काव्यदृष्टि से यह नितांत अभिनंदनीय है। कविता बड़ी प्रासादिक तथा नैसर्गिक है। कवि की उक्तियों में बड़ा चमत्कार है। कवि का कहना है कि हे जिन ! आपका

अलौकिक महिमा से युक्त परिचय की बात तो दूर रहे। आप का नाम ही जगत् की रक्षा करता है। निदाघ के दिनों में कमल से युक्त तालाब का सरस वायु भी तीव्र आतप से सन्तप्त बटोहियों की गर्मी दूर कर देता है। जलाशय की बात तो दूर ठहरी—

आस्तामचिन्त्य-महिमा जिन संस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहतपान्थ-जनान् निदाघे
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि॥

श्रीवादिराज का 'एकीभाव स्तोत्र', सोमप्रभाचार्य की 'सूक्तिमुक्तावलि' (६६ पद्य); श्री जम्बूगुरु का 'जिनशतक' (पूरा एक शत स्रग्धरा वृत्त में पद्य)—आदि अनेक स्तोत्रों की रचना जैन कवियों ने की है। आचार्य 'हेमचन्द्र' ने भी भगवान् महावीर की स्तुति में प्रौढ़ दार्शनिक स्तोत्र लिखा है जिसमें ब्राह्मण तथा बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों की संक्षिप्त मार्मिक आलोचना की गई है। इस प्रसिद्ध स्तोत्र का नाम है—अन्ययोगव्यवच्छेदिका द्वात्रिंशिका काव्य।। मूलग्रंथ से भी बढ़कर प्रसिद्ध है इसकी पाण्डित्यपूर्ण टीका मल्लिषेणसूरि की 'स्याद्वादमंजरी'।

बौद्ध स्तोत्र

बौद्धस्तोत्र

बौद्धों के महायान सम्प्रदाय में स्तोत्रों की संख्या पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। महायान सम्प्रदाय में शुष्क ज्ञान के स्थान पर भक्ति की प्रधानता है। बुद्ध के सामने भक्ति से फल-फूल के अर्पण करने से ही निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है, यही मान्यता इस सम्प्रदाय की है। भक्ति की प्रधानता होने के कारण महायानी भिक्षुओं ने संस्कृत भाषा में सुन्दर स्तोत्रों की रचना की। शून्यवाद के प्रधान प्रतिष्ठापक आचार्य नागार्जुन के भक्तिपूरित स्तोत्र हाल में ही प्राप्त हुए हैं। उन्होंने चार स्तोत्रों का निर्माण किया था जो 'चतुःस्तव' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके अनुवाद तिब्बती भाषा में उपलब्ध हैं।

'समय मातृका'[1] (वेश्याओं के सिद्धान्तों का प्रतिपादक मौलिक ग्रंथ) धनी मानी जनों को वेश्याओं के चाल से बचने की शिक्षा देने के महनीय उद्देश्य से प्रेरित होकर लिखा गया है। इसके लिए दामोदर गुप्त का 'कुट्टनीमत' क्षेमेन्द्र के लिए आदर्श था। इस ग्रन्थ की रचना २५ लौकिक संवत्सर (१०५० ईस्वी) में अनंतदेव के राज्यकाल में हुई, इसका निर्देश ग्रन्थ के अंत में किया गया है। इस ग्रन्थ में आठ 'समय' (परिच्छेद) हैं जिनमें काश्मीर के 'प्रवरपुर' नगर की कलावती नाम्नी वेश्या को उसके नापित-जातीय गुरु ने वेश्याओं के सिद्धान्तों का—कुट्टिनी का उपयोग, कामुक जनों को वश में करने की कला तथा उनसे पैसा ऐंठने की विद्या आदि विषयों का—वर्णन बड़ी रोचकता के साथ किया है।

देशोपदेश

'देशोपदेश' तथा 'नर्ममाला' क्षेमेन्द्र के हास्योपदेशक काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं[2] जिनमें कवि ने अपनी अनुभूति के आधार पर काश्मीर के शासक वर्ग तथा समाज का बड़ा ही रँगीला, प्रभावोत्पादक व्यंग्य चित्र खींचा है। 'देशोपदेश' के आठ उपदेशों में से प्रथम उपदेश में दुर्जन के विचित्र चरित का वर्णन है, तो द्वितीय उपदेश में कवि 'कदर्य' (कृपण) का बड़ा ही तथ्यपूर्ण विवरण है। क्षेमेन्द्र के 'कदर्य' में वर्तमानकालीनता का पुट देखकर आलोचक को आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। कदर्य घर में अकस्मात् किसी सगे-सम्बन्धी के आ जाने पर अपनी स्त्री से बनावटी कलह कर लेता है और उपवास रख लेता है जिससे अभ्यागतजी टापते ही रह जायँ (२।१८) वह साठ साल के पुराने धान की बिक्री नहीं करता और दुर्भिक्ष का अभिलाषी यह कृपण अतिवृष्टि के आने पर आनंद के मारे नाच उठता है (२।३३)। तृतीय परिच्छेद में वेश्या के दिव्य चरित्र का यथार्थ वर्णन है। चतुर्थ में कुट्टिनी की काली करतूतों का खासा चित्र कवि ने अपनी

---

१ काव्यमाला सं० १०; बम्बई, १८८८।

२ काश्मीर संस्कृत सीरिज (नं० ४०) में प्रकाशित, श्रीनगर, १९२४।

तीव्र लेखनी से खींचा है। पाँचवें में इसी से सम्बद्ध विट का वर्णन कम मनोरंजक नहीं है। छठे में उन गौडदेशीय छात्रों का कच्चा चिट्ठा है जो विद्याध्ययन करने के लिये तो उत्तर भारत के विभिन्न नगरों से काश्मीर में आते थे, परन्तु जिन्हें पढ़ना लिखना 'साढ़े बाइस' था और जो भोजनभट्ट बन कर पुंश्चली-भक्त बनने में ही अपनी अध्ययन-वृत्ति को चरितार्थ मानते थे। गौड़ छात्र का चित्र बड़ा ही सजीला, सच्चा तथा मार्मिक है। गौड छात्र काश्मीर की लिपि के अक्षर को भी नहीं पहचानता, परन्तु महाभाष्य, न्याय तथा मीमांसा के ग्रंथों का अध्ययन शुरू कर देता है।[1] वह दम्भी इतना भारी है कि अपने को सबके स्पर्श से बचाता है, अपनी चादर अपने बगल में दबाये रहता है तथा मानो दम्भ के बोझ से दबे रहने के कारण, वह अपनी बगल को सिकोड़ कर ही रास्ते में चलता है[2] !! (६।६) फिर तो वह काश्मीरी चावल के खाने से तुन्दिल शरीर होकर नाना प्रकार के जघन्य कामों में अपना दिन बिताता है। इस वर्णन की यथार्थता पाठकों के हृदय पर तत्कालीन गर्हणीय छात्र-जीवन की एक झाँकी सी दिखलाती है। सप्तम उपदेश किसी वृद्ध करोड़पति सेठ की नई ब्याही स्त्री को लक्ष्य कर बड़ा ही मनोरंजक विवरण प्रस्तुत करता है। वृद्ध दामाद का परिचय देते समय पिता अपनी अश्रुवर्षिणी दुहिता को कोमल शब्दों में समझाता है। लोगों में अरुचि उत्पन्न करने वाला, जोर से खाँसने वाला, धुँधली दृष्टि वाला बुड्ढा कन्यावरण के समय ज्वर की जीती-जागती मूर्ति सा प्रतीत होता है[3] (७।४) वृद्ध के जीवित काल में पत्नी की केलिलीला का वर्णन क्षेमेन्द्र ने बड़ी सजीव भाषा में किया है। अन्तिम

---

१ अलिपिज्ञोऽहंकार-स्तब्धो पिप्रतिपत्तये।
गौडः करोति प्रारम्भं भाष्ये तर्के प्रभाकरे॥ देशोपदेश (५।८)

२ स्पर्शं परिहरन् याति गौडः कक्षाकृतांचलः।
कुंचितेनैव पार्श्वेन दम्भभारभरादिव॥

३ कृतारुचिः पृथुश्वास-तमोदृष्टिर्विरागवान्।
कन्याया वरणे वृद्धो मूर्तो ज्वर इवागतः॥—देशोपदेश

उपदेश में वैद्य, भट्ट, कवि, बनिया, गुरु, कायस्थ आदि विविध पात्रों का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत कर क्षेमेन्द्र ने यह ग्रंथ समाप्त किया है। 'हास्यव्यप-देशयुक्ति' के द्वारा निर्मित इस काव्य का प्रधान लक्ष्य यह है कि हास से लज्जित होकर कोई भी पुरुष दोषों में प्रवृत्त नहीं होते; इसी उपकार के लिये ग्रन्थकार का यह प्रयास निःसन्देह श्लाघनीय है—

हासेन लज्जितोऽत्यन्तं न दोषेषु प्रवर्तते
जनस्तदुपकाराव ममायं स्वयमुद्यमः ॥ (१।४)

नर्ममाला

'नर्ममाला' में तीन परिच्छेद ('परिहास') हैं जिनमें कायस्थ तथा नियोगी आदि अधिकारियों की कुत्सित लीलाओं का वर्णन बड़ी ही पैनी दृष्टि से किया गया है। ग्रन्थ में कवि के तत्कालीन समाज तथा धर्म के गहरे अवलोकन तथा अनुशीलन का पूरा परिचय मिलता है, परन्तु अनेक स्थलों पर कवि का वर्णन ग्राम्य, भोंडा तथा उद्वेगजनक है। चित्र को पूरा रंगीन बनाने की उत्कंठा ही इस विषय में विशेष दोषी सिद्ध होती है। नाना उपायों से कूटलेख (ठगने के लिए लिखे गये झूठे लेख[1]) का प्रयोग वर्णन में तथा भावना में बिल्कुल नवीन तथा आधुनिक प्रतीत होता है। कायस्थों के काले कारनामे—दूसरे को नाना प्रकारों से ठगना, रिश्वत लेना (उत्कोच), जालसाजी करना (कूटलेख) आदि—का वर्णन बड़ा ही रोचक, तथ्य-पूर्ण तथा तत्कालीन समाज का प्रतिबोधक चित्र है। शैव गुरु के नितान्त गर्हनीय कृत्यों तथा वञ्चना-प्रकारों का वर्णन कुछ अतिरंजित सा अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु वैष्णव क्षेमेन्द्र के कथन की पुष्टि शैव कल्हण द्वारा निर्दिष्ट 'राजत-रंगिणी' के द्वारा पर्याप्त मात्रा में होती है। गृह-कृत्याधिपति (गृहमन्त्री), परिपालक (गवर्नर), चाक्रिक (खोफिया पुलिस), लेखकोपाध्याय (हिसाब किताब करने वाला), गञ्जदिविर (अर्थमन्त्री), ग्रामदिविर (पटवारी), गुरु;

---

१ कृत्ताङ्गुष्ठः स वामेन पाणिना दिविरो रहः।
खलस्तस्य गृहं गत्वा विदधे भूर्जयोजनम् ॥ नर्ममाला १।१२०

वैद्य तथा अन्य पात्रों का चित्रण इतना स्वाभाविक तथा रोचक है कि क्षेमेंद्र की इस कला की प्रशस्त स्तुति बिना किये आलोचक रह नहीं सकता।

स्याही तथा कलम के प्रभाव से कायस्थ-देवता समाज का कितना अहित करता है तथा अपने स्वार्थ की कितनी पूर्ति करता है, यह पद्य इस विषय का चमत्कारी निर्देशक है—

अहो भगवती कार्य-सर्वसिद्धिप्रदा मसी
अहो प्रबलवान् कोऽपि कलमः कमलाश्रयः। १।१४६

क्षेमेंद्र की प्रतिभा इस प्रकार के 'हास्यापदेशक'[1] काव्य के निर्माण में विशेष रूप से प्रस्तुत होती थी। संस्कृत साहित्य में एक विशिष्ट काव्य-प्रकार के उद्भावक होने के कारण क्षेमेंद्र की मौलिक सूझ तथा अलौकिक कल्पना के लिए आलोचक-समाज उनका सदा ऋणी रहेगा।

———

१ अपि सुजन-विनोदायोम्भिता हास्यसिद्ध्यै।
कथयति फलभूतं सर्वलोकोपदेशम्॥ नर्ममाला ३।११४

अष्टम परिच्छेद

संस्कृत गद्य

संस्कृत भाषा का गद्य-साहित्य कुछ अपनी विशिष्टता लिए हुए है। आर्य जाति के साहित्य में गद्य का प्रथम अवतार हमारी देववाणी में ही हुआ। वैदिक संहिताओं में ही हमें गद्य का प्रथम दर्शन मिलता है। गद्य से मिश्रित होने के कारण ही कृष्णयजुर्वेद का कृष्णत्व है। प्राचीनतम गद्य का उदाहरण हमें इस वेद की तैत्तिरीय संहिता में उपलब्ध होता है। इस संहिता में गद्य-भाग पद्य की अपेक्षा मात्रा में कथमपि न्यून नहीं है। इस वेद की अन्य संहिताओं—जैसे काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता आदि—में भी गद्य की सत्ता उसी मात्रा में है। कालक्रम में कुछ उतर कर अथर्ववेद का गद्य है। अथर्व का छठा भाग गद्यात्मक ही है। समग्र ब्राह्मणों की रचना गद्य-रूप में ही है। यज्ञों के वर्णनात्मक होने से इसका प्रयोग उचित ही है। आरण्यकों में भी गद्य की ही प्रचुरता है। उपनिषदों में प्राचीन उपनिषद् गद्यात्मक ही हैं। इस प्रकार वैदिक साहित्य में गद्य का प्रयोग बहुत ही व्यापक, उदार तथा उदात्त रूप से हुआ है। लौकिक संस्कृत के ग्रंथों में तदपेक्षया गद्य का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है।

दर्शन के ग्रन्थों में जहाँ किसी सिद्धांत का विवेचन ही मुख्य विषय है गद्य का व्यापक प्रयोग मिलता है, परन्तु ज्यौतिष तथा वैद्यक आदि वैज्ञानिक विषयों के ग्रंथों में जहाँ इसका प्रयोग औचित्य-प्राप्त है हमें गद्य का दर्शन भी दुर्लभ है। चरक संहिता में प्राचीन गद्य के नमूने अवश्य मिलते हैं, परन्तु अन्य वैद्यक ग्रंथों की रचना छन्दोबद्ध ही है। ज्योतिष की भी यही दशा है। विशुद्ध साहित्य-ग्रन्थों की दशा इससे कुछ अच्छी नहीं है। पद्य के प्रति लेखकों के पक्षपात का कारण यह है कि पद्यबद्ध ग्रंथ शीघ्रता से याद किये जा सकते हैं। छंद का माध्यम उन्हें संगीतमय तथा लघुकाय बना देता है

जिससे वे स्मृतिपट पर अमिट रूप से अंकित हो जाते हैं। लेखक को छन्द का आश्रय लेने पर थोड़े में ही अपनी युक्तियों के प्रदर्शन का अवसर मिल जाता है। इन्हीं कारणों से लौकिक संस्कृत में गद्य का उतना विकास, प्रचलन तथा प्रसार न हुआ जितना उनमें स्वाभाविक रीति से होने की आशा की जा सकती थी।

संस्कृत गद्य की विशेषता

संस्कृत गद्य की पहली विशिष्टता है—लाघव, लघुता। जो विचार अन्य भाषा में पूरे लम्बे वाक्य में प्रकट किये जा सकते हैं वे संस्कृत गद्य के एक ही पद में अभिव्यक्त किये जा सकते हैं जिसका कारण समास की सत्ता है। समास संस्कृत भाषा का प्राण है। उसने अधिक से अधिक अर्थ को कम से कम शब्दों में अभिव्यक्त करने की योग्यता उसे प्रदान की है। ओज गुण के कारण संस्कृत गद्य में विचित्र प्रकार की भावग्राहिता तथा गाढ़-बन्धता का संचार होता है जिससे गद्य का सौन्दर्य पूरे रूप में खिल उठता है। ओज का प्रधान लक्षण है—समास की बहुलता (समास-भूयस्त्व) और यही ओज गद्य का प्राण है। ओजः समासभूयस्त्वमेतद गद्यस्य जीवितम्—यह उक्ति अवश्य ही आलंकारिक दण्डी की है जिनका आविर्भाव गद्य-साहित्य के सुवर्ण युग में हुआ था, परन्तु संस्कृत गद्य की यह विशिष्टता बड़े प्राचीन काल से चली आती है। इसका सद्भाव प्रथम तथा द्वितीय शतक के भी शिलालेखों में प्रचुरता से है। पश्चिमी भारत के प्रसिद्ध क्षत्रप **रुद्रदामन्** के शिलालेख को पढ़ने पर यही जान पड़ता है कि हम बाण की शैली से प्रभावित गद्य पढ़ रहे हैं, परन्तु यह पद्य बाण से लगभग पाँच सौ वर्ष पहले उट्टङ्कित किया गया था। हरिषेण की प्रयागप्रशस्ति का गद्य भी इसी प्रकार प्रौढ़, समासबहुल तथा उदात्त है। विजयस्तम्भ के वर्णन में कवि की यह उक्ति सदा विदग्धों को चमत्कृत करती रहेगी—

सर्वपृथिवीविजयजनितोदयव्याप्तनिखिलावनितलां कीर्तिमितस्त्रिदशपतिभवनगमनावाप्तललितसुखविचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः।

इस शैली का प्रयोग गद्यकाव्य के लिखने में किया जाता था, परन्तु कथानकों के वर्णन में सीधी-सादी भाषा का ही प्रयोग होता था।

शास्त्रीय ग्रन्थों में गद्य का ही साम्राज्य है। विचारविनिमय का तथा शास्त्र के सिद्धान्तों के वर्णन का उचित माध्यम गद्य ही है। शास्त्रार्थ के समय तो बोलचाल की शैली का प्रयोग हम पाते हैं परन्तु युक्तियों तथा तर्कों के प्रदर्शन में हमें प्रौढ़ गद्य का प्रयोग उपलब्ध होता है। हमारे दार्शनिकों ने अपने विचारों को सुचारुरूप से अभिव्यक्त करने के लिए 'विचार-मापक' नवीन पारिभाषिक शब्दों की उद्भावना कर रखी है। गद्य तो विचारों को प्रकट करने का मुख्य माध्यम है उसे बिना युक्तियुक्त तथा प्रौढ़ बनाये हम अपने दार्शनिक विचारों को यथार्थरूप से प्रकट ही नहीं कर सकते। इसी दृष्टि से हमारे दार्शनिकों ने अपनी शैली पर दार्शनिक गद्य की सृष्टि की है। तथ्य तो यह है कि कोमल भावों को प्रकट करने की जितनी शक्ति संस्कृत गद्य में है उतनी ही या उससे अधिक दर्शनशास्त्र के दुरुह तथ्यों के अभिव्यक्त करने की भी क्षमता उसमें विद्यमान है। लैटिन भाषा का गद्य बड़ा ही प्रौढ़, सुन्दर तथा ओजस्वी बतलाया जाता है, परन्तु संस्कृत भाषा के गद्य में ये गुण उससे कहीं अधिक मात्रा में विद्यमान हैं। दर्शन के पेचीदे, गूढ़ तथा सूक्ष्म तत्त्वों का प्रतिपादन संस्कृत भाषा के ही द्वारा हो सकता है, यह जानकारों की माननीय सम्मति है। अतः देववाणी का गद्य प्राचीनता तथा प्रौढ़ता, उपादेयता तथा भावाभिव्यक्ति की दृष्टि हमारे साहित्य का एक गौरवपूर्ण अंग है। इस कथन में तनिक भी संदेह नहीं।

गद्य का विकास

वैदिक काल से आरम्भ कर मध्यकाल तक गद्य के विकसित होने का इतिहास बड़ा ही मनोरम है। गद्य के दो प्रकार के रूप मिलते हैं—वैदिक काल का सीधा-सादा, बोलचाल का गद्य तथा लौकिक संस्कृत का प्रौढ़, समासबहुल गाढ़बन्ध-वाला गद्य। दोनों प्रकार के गद्यों में अपना विशिष्ट सौन्दर्य तथा मोहकता है। वैदिक गद्य में सीधे-सादे, छोटे छोटे शब्दों का हम प्रयोग पाते हैं। 'ह' 'वै' 'उ' आदि अव्यय वाक्यालंकार के रूप में प्रयुक्त

हैं। इनके प्रयोग से वाक्य में रोचकता तथा सुन्दरता का समावेश हो जाता है। समास की विशेष कमी है। उदाहरणों का बहुल प्रयोग है। उपमा तथा रूपक का कमनीय सन्निवेश वैदिक गद्य को विदग्धों की दृष्टि में हृदयावर्जक बनाये हुए हैं। इस कथन की पुष्टि में कालक्रम से गद्य का निरीक्षण आवश्यक होगा।

व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्। स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत्। तदेकमभवत्, तल्ललाममभवत्, तन्महदभवत्, तज्जेष्ठमभवत्, तद् ब्रह्माभवत् तत् तपोऽभवत् तत्सत्यमभवत् तेन प्राजायत (अथर्व १५ काण्ड १ सूक्त)

ब्राह्मणग्रंथों के पद्य का एक नमूना देखिए—

अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता। आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालं सर्वाभ्य एवैनं तद्देवताभ्योऽनन्तरायं निर्वपन्ति।

(ऐतरेय ब्राह्मण १।१)

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति तद् भूमा। अथ यत्रान्यत् पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद् विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्॥

(छान्दोग्य ७।२४)

वैदिक गद्य तथा लौकिक संस्कृत के गद्य को साथ मिलाने का काम पौराणिक गद्य करता है। यह गद्य नितान्त आलंकारिक तथा प्रासादिक है। श्रीमद्भागवत तथा विष्णुपुराण का गद्य इसका स्पष्ट उदाहरण है। इसमें साहित्यिक गद्य का समग्र सौन्दर्य विद्यमान है। उसमें विशेष गाढ़बन्धता की कमी अवश्य है, परंतु भागवत का गद्य नितांत प्रौढ़, अलंकृत तथा भावाभिव्यंजक है—

यथैव व्योम्नि वन्हिपिण्डोपमं त्वामहमपश्यं तथैवाद्याग्रतो गतमप्यत्र भगवता किञ्चिन्न प्रसादीकृतं विशेषमुपलक्षयामीत्युक्ते भगवता सूर्येण निजकण्ठादुन्मुच्य स्यमन्तकं नाम महामणिवरमवतार्य एकान्ते न्यस्तम्।

(विष्णु ४।१३।१४)

शिलालेखों में उपलब्ध गद्य भी नितान्त प्रौढ़ आलंकारिक तथा हृदयावर्जक है :

प्रमाणमानोन्मान स्वरगतिवर्ण-सारसत्त्वादिभिःपरमलक्षणव्यञ्जनैरुपेतकांतमूर्तिना स्वयमधिगत-महाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्यास्वयम्वरानेकमाल्यप्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना सेतुं सुदर्शनतरं कारितम् ।

(रुद्रदामन् का गिरनार लेख, १५० ई०)

शास्त्रीय गद्य

हमने ऊपर इस गद्य की विशिष्टता का प्रदर्शन किया है। हमारे समग्र दर्शन-ग्रंथ गद्य में ही लिखे गये हैं और उनमें अपने अर्थ प्रकटन की योग्यता सुचारु रूप से विद्यमान है, परंतु अर्थों की अभिव्यक्ति के चरम लक्ष्य होने के कारण इन ग्रन्थकारों का ध्यान शब्द में सौंदर्य रखने की ओर कम गया है। शब्द रूखे-सूखे भले हों, मनोगत भावों को प्रकट करना उन्हें चाहिए। परन्तु इन दार्शनिकों के बीच कतिपय ऐसे भी ग्रंथकार हैं जिनका गद्य विशुद्ध साहित्यिक गद्य के समान रस-पेशल तथा सुन्दर है। इन दार्शनिकों की अपनी विशिष्ट शैली है जिसका प्रयोग उन्होंने अपने ग्रंथों में किया है। ऐसे शास्त्रकारों में कालक्रम से चार को चुन लेते हैं—(१) पतञ्जलि, (२) शबर स्वामी, (३) शंकराचार्य, (४) जयन्त भट्ट। ये विद्वान् अपने शास्त्र के महनीय आचार्य हैं पर साथ ही साथ इसका गद्य नितान्त उदात्त तथा विशेष प्राञ्जल है। इसे पढ़ते समय हमें तनिक भी ज्ञात नहीं होता कि इनमें किसी दुरूह विषय का प्रतिपादन किया जा रहा है। महर्षि पतंजलि की महाभाष्य लिखने की शैली विलक्षण है। यह व्याकरण का आकर ग्रन्थ तो है ही, साथ ही साथ समस्त शास्त्रों का पिण्डीभूत सिद्धान्त है।

पतंजलि परिचित विषयों पर भी नई बात बतलाने से नहीं चूकते। उनकी है बोलचाल की भाषा और शैली है कथनोपकथन की रीति। जान पड़ता है कि छात्र उनके सामने बैठे हैं और वे अपना सिद्धान्त समझा रहे हैं। उनके गद्य की रमणीयता देखिए—

ये पुनः कार्याभावा निवृत्तौ तावत् तेषां यत्नः क्रियते। तद् यथा घटेन कार्यं करिष्यन कुम्भकारकुलं गत्वाह—कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति। न तद्वच्छब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह—कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य इति। तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान् प्रयुञ्जते।

(पस्पशाह्निक)

शबरस्वामी प्रौढ़ मीमांसक हैं जिन्होंने कर्म मीमांसाके सूत्रों पर अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा है। उनकी शैली भी सीधी-सादी तथा रोचक है—

इच्छयात्मानमुपलभामहे। कथमिति ? उपलब्धपूर्वे ह्यभिप्रेते भवतीच्छा। यथा मेरुमुत्तरेण यान्यस्मज्जातीयैरनुलब्धपूर्वाणि स्वादूनि वृक्षफलानि न तानि प्रत्यस्माकमिच्छा भवति। (१।१।१५)

शंकराचार्य के गद्य की सुषमा निराली है। उनके वाक्य सारगर्भित, प्रौढ़ तथा प्रांजल हैं। वाचस्पति मिश्र जैसे विद्वान् ने उसे यथार्थतः प्रसन्न-गम्भीर कहा है। उनके गद्य में वीणा की मधुर झंकार सुनाई पड़ती है। साहित्यिक माधुर्य तथा प्रसाद से पेशल यह गद्य संस्कृत भारती का सौन्दर्य है। उनके एक-एक वाक्य पर गद्य के पोथे निछावर किये जा सकते हैं। एक सारगर्भित वाक्य है—

नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हति।

अर्थात् पैरों से भागने में समर्थ व्यक्ति के लिए घुटनो से रेंगना शोभा नहीं देता। आचार्य का गद्य मात्रा में भी अधिक है। ब्रह्मसूत्र, गीता तथा उपनिषदों का भाष्य लिखना विशेष रचना-चातुर्य का द्योतक है। आचार्य के गद्य की असामान्य सुषमा नितरां अवलोकनीय है—

सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यवस्यति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि। उच्यते—न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्-प्रत्ययविषयत्वात्। न चायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यवसितव्यमिति। अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिन-ताद्यध्यवस्यन्ति।

जयन्त भट्ट न्याय शास्त्र के विख्यात आचार्य हैं। इनकी 'न्याय मंजरी' न्याय दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ है। इनका गद्य बड़ा ही सुन्दर, सरल तथा

प्रांजल है। न्याय तो स्वभाव से ही कठिन ठहरा। परन्तु इन्होंने उसे अपनी रोचक शैली से अत्यन्त हृदयंगम बना दिया है। इनके गद्य में व्यंग उक्तियों की काफी भरमार है। इनकी शैली का परिचय इस उद्धरण से भलीभाँति लग सकता है :—

आः क्षुद्रतार्किक सर्वथानभिज्ञोऽसि, ब्रह्मैव जीवात्मानो नहि ततोऽन्ये। न हि दहनपिण्डाद् भेदेनापि भान्तः स्फुलिंगा अग्निस्वरूपा भवन्ति। तद् किं ब्राह्मण एवाविद्या? न च ब्रह्मणोऽविद्या।

पाली गद्य

पाली बोल-चाल की भाषा थी जिसका प्रयोग भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों में किया। जनता के हृदय तक अपने उपदेशों को पहुँचाना उनका उद्देश्य था और इसीलिए उन्होंने देववाणी का आश्रय छोड़कर लोकवाणी का अवलम्बन ग्रहण किया। इनके गद्यात्मक उपदेश विषय को हृदयंगम कराने के लिए पर्याप्त हैं। त्रिपिटकों का पाली गद्य बड़ा ही सरल तथा सुबोध है। पुनरुक्ति की उसमें बहुलता है। पाली गद्य के दो रूप हैं—एक तो वह जो जातकों में मिलता है। यह स्वभाव से ही सीधा-सादा होने पर भी कथा के वर्णन में सर्वथा समर्थ है। दूसरा गद्य नितान्त प्रौढ़ है जो शास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। मिलिन्द पह्नो (मिलिन्द प्रश्न) का गद्य इसी श्रेणी का है। इसकी प्रौढ़ता के कारण अनेक विद्वानों को इसे मौलिक होने में सन्देह है। वे तो पूरे ग्रंथ को संस्कृत में विरचित होने और पीछे पाली में अनुवाद किये जाने की कल्पना करते हैं। जातकों की भाषा में बोलचाल के विशिष्ट शब्द और मुहावरों का प्रयोग दीख पड़ता है। जातक के शब्द उस युग की कल्पना है जिसमें वाल्मीकि-रामायण रचित हुआ। उदाहरण के लिए पाली के 'गोचर' तथा 'अनिय्यानिक' शब्दों को लीजिए। गोचर का अर्थ है—शिकार की खोज में जाना। यह प्रयोग 'शशजातक' में है (जचनो अत्तनो गोचरट्ठाने गोचरं गहेत्वा) साथ ही साथ वाल्मीकि में भी उपलब्ध है—गोचरं गतयोर्भ्रात्रोरपनीता त्वयाऽधम (सुन्दर काण्ड) 'अनिय्यानिक' का अर्थ है असुखकर, दुःख देने वाला। वाल्मीकि ने 'निर्याण' का प्रयोग

सुख के अर्थ में किया है। निर्याणमिति मे मतिः (सुन्दर काण्ड)। पाली के सरल गद्य का अवतरण देखिए—

अतीते वाराणसियं ब्रह्मदत्ते रजं कारेन्ते बोधिसत्तो ससयोनियं निब्बत्तित्वा अरंजे वसति। तस्स पन अरंजस्स एकतो पब्बतपादो, एकतो नदी एकतो पच्चन्तगामको। अपरे पिस्स तयो सहाया अहेसुं मक्कटो, सिगलो उद्दो ति।

प्रौढ़ पाली गद्य का सुन्दर नमूना देखिए—

बुद्धानं विञ्ञनं वधानेन समन्नागतानं सन्दस्सेन्तो नवङ्गजिन सासन-रतनं उपदिसन्तो धम्ममग्गं, धारेन्तो धम्मपज्जोतं उस्सापेन्ती धम्मयूपं, यजन्तो धम्मयागं, पग्गण्हन्त धम्मद्धजं उस्सापेन्तो धम्मकेतुं धमेन्तो धम्मसंखं, आहनन्तो धम्मभेरिं, सीहनादं सागल नगरं अनुप्पत्तो होति।

मिलिन्द पन्हो पृ० २३ बाहिर कथा।

गद्य का अभ्युदय

संस्कृत में गद्यात्मक कथाओं का उदय विक्रम से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हुआ था। कात्यायन ने ४।२।६० सूत्र के अपने वार्तिक (आख्यानाख्यायिकेतिहास पुराणेभ्यश्च) में आख्यान और आख्यायिका का उल्लेख अलग-अलग किया है। पतञ्जलि ने 'यवक्रीत', 'प्रियङ्गव' तथा 'ययाति' का आख्यान के उदाहरण में तथा 'वासवदत्ता' और 'सुमनोत्तरा' का आख्यायिका के उदाहरण में नामनिर्देश किया है। काशिका में भी इन्हीं नामों का उल्लेख मिलता है, परन्तु उनकी सत्ता का पता अभी तक नहीं चलता।

(१)

सुबन्धु

गद्य काव्य के लेखकों में सुबन्धु ही सर्वप्रथम लेखक हैं जिनका ग्रंथ अलंकृत शैली में निबद्ध गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। उनके समय तथा स्थान का यथार्थ परिचय अभी तक हमें नहीं चलता। बाणभट्ट के द्वारा प्रशंसित किये जाने के कारण ये बाण से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। इन्होंने एक

श्लेष के द्वारा प्रसिद्ध नैयायिक न्यायवार्तिक के रचयिता उद्योतकर का स्पष्टतः संकेत किया है—न्यायस्थितिमिवोद्योतकर-स्वरूपाम् । उद्योतकर का समय षष्ठ शताब्दि का अन्त तथा सप्तम का आदि माना जाता है। इस निर्देश से सुबन्धु का समय उद्योतकर के अनन्तर होना चाहिए। ऐतिहासिक गवेषणा उपयुक्त सामग्री के अभाव से समय का यथार्थ निरूपण नहीं कर सकती। हर्षवर्धन (६०६–४८ ई०) के सभापण्डित होने से बाणभट्ट का समय ६३०–६४० ई० तक मानना उचित प्रतीत होता है। बाण से पूर्ववर्ती होने के कारण सुबन्धु का समय ६०० ई० के आसपास तथा पश्चाद्वर्ती होने के कारण दण्डी का समय ६५० ई० के बाद मानना उचित जान पड़ता है।

सुबन्धु ने अपने ग्रंथ में जिस विक्रमादित्य के कीर्तिशेष होने का उल्लेख बड़ी सौन्दर्यमयी भाषा में किया है—

सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कङ्कः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये॥

वह विक्रमादित्य कौन था? इसका परिचय यथार्थ रूप से नहीं मिलता। अधिक विद्वानों का मत है कि यहाँ विक्रमादित्य का संकेत राजा यशोधर्मा से है जिसने बालादित्य की सहायता से हूणों के पराक्रमी नरेश मिहिरकुल को परास्त कर भारत से निकाल बाहर किया था। इनका भी समय षष्ठ शतक का मध्य भाग है। अतः सुबन्धु का काल इसी युग से कुछ हटकर होना चाहिए। इन सब निर्देशों से षष्ठ शतक का अन्तिम भाग सुबन्धु के आविर्भाव के लिये उपयुक्त काल प्रतीत होता है।

ग्रंथ

इनका एक ही ग्रंथ है जो वासवदत्ता के नाम से प्रसिद्ध है[1]। सुबन्धु की इस वासवदत्ता का सम्बन्ध प्राचीन भारत की प्रसिद्ध आख्यायिका

१—सं० शिवराम की व्याख्या के साथ कलकत्ता से। कृष्णमाचार्य की व्याख्या बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण तथा उपादेय है—श्रीरंगम्, १९०६।

वत्सराज तथा उदयन की प्रणय कहानी से कुछ भी नहीं है। यह पूरा कथानक कवि के मस्तिष्क की उपज है।

संक्षेप में कथानक यों है:—राजा चिन्तामणि का पुत्र राजकुमार कंदर्पकेतु स्वप्न में एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या को देखता है जिसकी खोज में अपने मित्र मकरन्द के साथ निकल पड़ता है। रात में विंध्य की तलहटी में वृक्ष के नीचे ठहरता है और पेड़पर बैठी हुई सारिका से पता चलता है कि पाटलिपुत्र की राजकुमारी ने स्वप्न में कन्दर्पकेतु को देखा है जिसे खोजने के लिए उसकी सारिका तमालिका निकली है। इस प्रकार शुकदम्पति की सहायता से नायक और नायिका का मिलन होता है। दोनों के हृदय में आपस में गाढ़ अनुराग है परन्तु वासवदत्ता का पिता शृंगारशेखर उसका विवाह किसी विद्याधर से करना चाहता है। इस अड़चन के कारण दोनों प्रेमी एक जादू के घोड़े पर चढ़कर विंध्याटवी को भाग निकलते हैं। कन्दर्पकेतु को सोते हुए छोड़कर वासवदत्ता बाहर जंगल में घूमने जाती है। और उसे पाने के लिए किरातों के दो झुंडों में लड़ाई होती है। वासवदत्ता एक ऋषि के आश्रम में चुपके चली आती है जहाँ वह ऋषि के शाप से शिला बन जाती है। उधर जागने पर कन्दर्पकेतु वासवदत्ता के वियोग से आत्महत्या करने पर उद्यत होता है परन्तु आकाशवाणी उसे रोकती है। अंत में वह जंगल में वासवदत्ता को खोज निकालता है जो उसके छूते ही मानुषी का रूप धारण कर लेती है। पीछे मकरन्द भी आकर इनसे मिलता है। ये सब राजधानी लौटते हैं जहाँ ये सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

इस कहानी की छानबीन करने से स्पष्ट है कि यहाँ अनेक रूढ़ियाँ जो लोक-कथा में सर्वत्र प्रचलित हैं प्रेमोत्पादन के लिये कारणभूत मानी गई हैं। कहानी की घटना बहुत ही स्वल्प तथा निर्जीव है परन्तु सुबन्धु ने अपनी प्रतिभा पर आधारित सुन्दर वर्णनों के बल पर इनमें जान फूँक दी है। कवि यहाँ रोचक कहानी लिखने नहीं बैठा है जिसके पात्र तथा घटनायें कौतुक और विस्मय उत्पन्न करती हों। उसका मुख्य उद्देश्य वर्णन ही है और इस वर्णन की चातुरी के लिये ही सुबन्धु की ख्याति साहित्य-जगत् में है। वासवदत्ता उन गद्यकाव्यों का प्रतिनिधित्व करती है जिनमें कथानक नितान्त स्वल्प

रहता है और वर्णन प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहता है। कथावृत्त को कवि-कौशल से खूब अलंकृत तथा चमत्कृत बनाना ही कवि का ध्येय है।

सुबन्धु नाना विद्याओं, मीमांसा, न्याय, बौद्ध आदि नाना दर्शनों में नितान्त प्रवीण थे। इन्होंने श्लेष और उपमा के प्रसंग में रामायण, महाभारत तथा हरिवंश की अनेक प्रसिद्ध तथा अल्प-प्रसिद्ध घटनाओं तथा पात्रों का प्रचुर निर्देश कर अपनी विद्वत्ता का पूर्ण परिचय दिया है। उनकी दृष्टि में सत्काव्य वही हो सकता है जिसमें अलंकारों का चमत्कार, श्लेष का प्राचुर्य तथा वक्रोक्ति का सन्निवेश विशेष रूप से रहता है—

सुश्लेषवक्रघटनापटु सत्काव्यविरचनमिव।

इसी भावना से प्रेरित होकर सुबन्धु की लेखनी श्लेष के रचना में ही विशेष पटु है। उन्होंने स्वयं अपने प्रबन्ध को 'प्रत्यक्ष श्लेषमयप्रपंचविन्यास वैदग्ध्यनिधि' बनाने की प्रतिज्ञा की थी और इस प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह उन्होंने इस गद्यकाव्य में किया है। सुबन्धु वस्तुतः श्लेषकवि हैं। इन्होंने सभंग और अभंग उभयप्रकार के श्लेषों का विन्यास कर अपने काव्य को विचित्र मार्ग का एक उत्कृष्ट उदाहरण बनाया है। परन्तु उनके श्लेष कहीं कहीं इतने अप्रसिद्ध, अप्रयुक्त तथा कठिन हो गये हैं कि उन्हें समझने के लिये विद्वानों के भी दिमाग चक्कर काटने लगते हैं। कहीं कहीं तो बिना कोश की सहायता से पाठक एक पग भी आगे नहीं बढ़ता और उसके ऊपर 'कोशं पश्यन् पदे-पदे' की उक्ति सर्वथा चरितार्थ होती है।

प्रसन्नश्लेष का यह उदाहरण रोचक तथा कमनीय है—

नन्दगोप इव यशोदयान्वितः, जरासन्ध इव घटित-सन्धि-विग्रहः, भार्गव इव सदा न भोगः दशरथ इव सुमित्रोपेतः सुमन्त्राधिष्ठितश्च, दिलीप इव सुदक्षिणयान्वितः रक्षितगुश्च।

[आशय है कि यशोदा से अन्वित नन्दगोप के समान वह राजा यश और दया से अन्वित था, जरा के द्वारा संगठित अंगवाले राजा जरासन्ध के समान वह सन्धि और विग्रह (युद्ध) का सम्पादक था। सदा नभ (आकाश) में

गमन करनेवाले (सदा+नभो+गः) शुक्र के सदृश वह सदा दान तथा भोग से सम्पन्न था ।]

सुबन्धु ने विरोध, उत्प्रेक्षा, उपमा आदि नाना अलंकारों से अपने काव्य को सजाया है परन्तु इन सब में भी श्लेष के कारण ही चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है । अनेक उपमायें केवल शब्दसाम्य के ऊपर ही प्रतिष्ठित हैं । 'रक्त-पाद' होने के कारण कवि ने वासवदत्ता की उपमा व्याकरण शास्त्र से दी है । अष्टाध्यायी का एक पाद (४।२) 'तेन रक्तं रागात्' सूत्र से समन्वित है । उधर नायिका के भी पैर रक्त वर्ण के हैं । इस शब्द-साम्य के कारण ही यहाँ उपमा का चमत्कार है । नायिका का स्वरूप अत्यन्त प्रकाशमान है और इसी कारण वह उस न्यायविद्या के समान बतलाई गई है जिसके स्वरूप का निष्पादन तथा ख्याति उद्योतकर नामक आचार्य के द्वारा सम्पन्न है (न्यायविद्यामिव उद्योतकरस्वरूपाम्) । इस प्रकार के कौतूहलजनक उपमाओं के द्वारा पाठकों का मस्तिष्क अवश्य पुष्ट होता है तथा कवि की विलक्षण चातुरी का भी पूर्ण परिचय मिलता है । परन्तु यह केवल **शाब्दी** क्रीड़ा है जो पाठकों के हृदय को तनिक भी स्पर्श नहीं करती । इस खेलवाड़ में कौतुक का ही विशेष स्थान है । शब्दों का यह तमाशा तमाशबीनों के लिये ही आनन्दवर्धक हो सकता है, रसिकों के लिए नहीं ।

परन्तु जहाँ सुबन्धु ने अपने श्लेष-प्रेम को छोड़कर काव्य का प्रणयन किया है वहाँ की शैली रोचक है तथा सहृदयों का पर्याप्त मनोरंजन करती है । साधारणतया गद्यकवि पद्यों के लिखने में कृतकार्य नहीं होता, परन्तु सुबन्धु का दृष्टान्त इससे विपरीत है । वे कोमल पद्यों की रचना में सर्वथा समर्थ हैं । सत्कविता की यह स्तुति बहुत ही कोमल शब्दों में विन्यस्त की गई है—

अविदितगुणापि सत्कवि—
भणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम् ।
अनधिगतपरिमलापि हि
हरति दृशं मालती—माला ॥

["जिसके गुणों का ज्ञान नहीं होता वह भी सत्कवियों की वाणी श्रोताओं के कानों में मधु की धारा उड़ेलती है।" गंध से परिचय न मिलने पर भी, मालती पुष्पों की माला नेत्रों को बरबस खींचती है।"]

वासवदत्ता की कल्पनाओं का प्रभाव पिछले कवियों पर भी पड़ा था। विरह-दुखों की अवर्णनीयता की यह अभिव्यंजना महिम्नःस्तोत्र के एक सुप्रसिद्ध पद्य की जननी है। सुबन्धु के शब्दों में—त्वत्कृते याऽनया यातनाऽनुभूता सा यदि नभः पत्रायते, सागरो मेलानन्दायते, ब्रह्मा लिपिकरायते, भुजगपतिर्वा कथकायते तदा किमपि कथमप्यनेकैर्युगसहस्रैरभिलिख्यते कथ्यते वा (वासवदत्ता, पृ० ३०६–३०७)

[तुम्हारे लिए इसने जो यातना झेली है, वह यदि आकाश कागज बने समुद्र दावात बने, ब्रह्मा लिखने वाला हो अथवा सर्पों का राजा कथक का काम करे तब किसी तरह से हजारों युगों में लिखा या कहा जा सकता है]

महिम्नःस्तोत्र का यह पद्य इसी की छाया पर निर्मित बहुत रुचिर तथा रोचक है—

असितगिरि-समं स्यात् कज्जलं सिन्धु-पात्रे
सुरतरुवर - शाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

सुबन्धु की यह प्रसन्न श्लेषमयी वाणी आलोचकों के लिए नितान्त आह्लादजनक है—

विषधरतोऽप्यतिविषमः खल इति न मृषा वदन्ति विद्वांसः।
यदयं नकुलद्वेषी स कुलद्वेषी पुनः पिशुनः॥

विद्वानों का यह कथन झूठा नहीं है कि खल विषधर सर्प से भी अत्यन्त विषम होता है। देखिए, विषधर तो केवल 'नकुलद्वेषी' ही होता है अर्थात् वह नेवले (नकुल) से ही द्वेष करता है (परन्तु 'न+कुलद्वेषी' वह अपने कुल से कभी द्वेष नहीं करता)। लेकिन खलों की विचित्र दशा होती है। वह

तो अपने कुल से द्वेष तथा विरोध करता है। इस पद्य का प्राण है 'नकुल-द्वेषी' पद जो सुभग सभङ्ग के कारण नितान्त सरस तथा सरल है।

कवि ने प्राकृतिक दृश्यों का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है जो श्लेष के प्रपंच से रहित होने के कारण काफी मनोरंजक है। प्रभात का वर्णन इसका स्पष्ट उदाहरण है (पृ० ३१८) परन्तु यहाँ भी उपमा तथा उत्प्रेक्षा का साहित्य नहीं है। सच तो यह है कि सुबन्धु के काव्य में कलापक्ष का ही साम्राज्य है। उनकी यह 'वासवदत्ता' उस विशाल सुसज्जित प्रासाद के समान है जिसका प्रत्येक कक्ष चित्रों से भूषित है तथा अलंकारों के प्राचुर्य से जो दर्शकों की आँखों को हमेशा चकाचौंध किया करता है। कुन्तक के द्वारा वर्णित 'विचित्र मार्ग' का सबसे सुन्दर उदाहरण है सुबन्धु की यही कृति। बाणभट्ट की यह आलोचना वस्तुतः श्लाघ्य तथा तथ्यपूर्ण है—

कवीनामगलद् दर्पो नूनं वासवदत्तया।
शक्त्येव पांडुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम्

जिसमें वासवदत्ता के द्वारा कवियों के दर्प को चूर्ण कर देने की बात कही गई है।

सुबन्धु तथा बाणभट्ट की शैली में महान् अन्तर है। सुबन्धु का गद्य यदि 'अक्षर-डम्बर' का साक्षात् रूप है, तो बाण का गद्य स्निग्ध रसपेशल 'पाञ्चाली' का भव्य प्रतीक है। सुबन्धु ने आँख मूँदकर सन्दर्भ का बिना विचार रखे श्लेष का ही व्यूह खड़ा किया है, परन्तु बाणभट्ट की दृष्टि वर्ण्य विषय तथा अवसर के ऊपर गड़ी हुई है। वह जो लिखते हैं वह अवसर तथा सन्दर्भ से युद्ध नहीं करता। स्निग्ध, रसपेशल तथा हृदयावर्जक गद्य का जीवित प्रतीक बाण इसीलिए सहृदयों के हृदय को स्पन्दित करता है जब सुबन्धु का गद्य केवल मस्तिष्क से ही टक्कर खाता हुआ कथमपि प्रवेश पाता है। दण्डी से भी सुबन्धु का पार्थक्य स्पष्ट है। दण्डी की तीव्र निरीक्षण शक्ति तथा यथार्थवादी शब्द-विन्यास का अभाव 'वासवदत्ता' के लोकप्रिय न होने का पर्याप्त हेतु है। सुबन्धु बाणभट्ट तथा कविराज के साथ 'वक्रोक्ति-मार्ग' के

निपुण कवि माने गये हैं[1] अवश्य, परन्तु बाण की 'कादम्बरी' के सामने 'वासवदत्ता' का काव्य पण्डितों की गोष्ठी का ही केवल विषय है, विदग्धों की गोष्ठी से उसका सीधा सम्पर्क नहीं है।

२

बाणभट्ट

बाणभट्ट के पूर्वज सोन नद पर प्रीतिकूट नामक नगर में निवास करते थे। यह स्थान सम्भवतः बिहार प्रान्त के पश्चिमी भाग में था। बाण का कुल प्राचीन काल से ही धर्म तथा विद्या के लिये प्रख्यात था। इनका जन्म वात्स्यायन गोत्र में हुआ था। बाण के एक प्राचीन पूर्वज का नाम 'कुवेर' था। इनके घर पर वेदाध्ययन के लिये विद्यार्थियों का जमघट लग रहा था। बाण ने तो यहाँ तक लिखा[2] है कि उनके घर पर ब्रह्मचारी लोग शंकित होकर यजुर्वेद तथा सामवेद गाया करते थे, क्योंकि सब वेदों का अभ्यास करने वाले, मैनाओं के साथ-साथ पिंजड़ों में बैठे हुये, तोते उनको पद-पद पर टोका करते थे। कुवेर के चार पुत्रों में पाशुपत सबसे छोटे थे। उनके पुत्र अर्थपति हुए। अर्थपति से चित्रभानु उत्पन्न हुए। यह भी सकल शास्त्र में पण्डित थे। उन्होंने यज्ञ धूम से उत्पन्न हुई कीर्ति को सकल दिगन्तों में फैलाया। इन्हीं चित्रभानु से बाणभट्ट का जन्म हुआ। थोड़ी ही उम्र में बाण के माता तथा पिता उन्हें अनाथ बनाकर इस असार संसार से चल बसे।

१—सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्ग-निपुणाः चतुर्थो विद्यते न वा॥

२—जगुर्गृहेऽभ्यस्तवाङ्मयैः संसारिकैः पंजरवर्तिभिः शुकैः।
निगृह्यमाणाः वटवः पदे पदे यजूंषि सामानि च यस्य शंकिताः॥
—कादम्बरी

बाणभट्ट के पास पैतृक सम्पत्ति खूब थी। किसी सुयोग्य अभिभावक के न होने से बाण एक आवारा लड़का निकला। बुरे-बुरे साथियों के साथ वह आखेट आदि दुर्व्यसनों में लिप्त रहा। उसे देशाटन का बड़ा शौक था। कुछ साथियों के साथ वह देशाटन को निकला। बुद्धि-विकाश, सांसारिक अनुभव तथा उदार विचार कमाकर वह घर लौटा। लोग उसका उपहास करने लगे। अचानक एक दिन हर्ष के चचेरे भाई कृष्ण के एक दूत ने आकर बाण को एक पत्र दिया। पत्र में लिखा था कि श्रीहर्ष से कितने लोगों ने तुम्हारी चुगली खाई है, राजा तुमसे नाराज हो गये हैं। अतएव शीघ्र यहाँ चले आओ! बाण श्रीहर्ष के पास गये। राजा ने पहले तो बाण की अवहेलना की, परन्तु पीछे उनकी विद्वत्ता पर प्रसन्न होकर बाण को आश्रय दान दिया। बाण ने बहुत दिनों तक हर्ष की सभा को सुशोभित किया। अनन्तर अपने घर लौट आये और लोगों के हर्ष के चरित पूछने पर बाण ने हर्ष चरित की रचना की।

इससे स्पष्ट है कि बाण लड़कपन में बुरी संगत के कारण कुछ अव्यवस्थित से थे, परन्तु विद्वत्ता के प्रभाव से श्रीहर्ष के अत्यन्त प्रियपात्र बन गये। बाण का जीवन दरिद्रता में नहीं बीता, बल्कि उनके पास पैतृक सम्पत्ति खूब थी। हर्ष के आश्रय पाने से उनकी सम्पत्ति और भी बढ़ी। उन्होंने अपना जीवन एक सम्पन्न व्यक्ति के समान बिताया। बाण का यह जीवन साधारणतया निर्धनता में समय बिताने वाले संस्कृत कवियों के जीवन से अनेक अंशों में भिन्नता रखता है। इस आत्मकथा का वर्णन इन्होंने स्वयं 'हर्षचरित' के आरम्भिक उच्छ्वासों में दिया है, परन्तु अपने पुत्रों के विषय में ये चुप हैं। सम्भवतः उस समय तक कोई लड़का नहीं हुआ होगा। परन्तु उनके पुत्र के अस्तित्व के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता। बाणभट्ट ने कादम्बरी पूरी नहीं बना पाई थी कि उनका देहान्त हो गया। पीछे उनके पुत्र ने इसकी पूर्ति की। यही कादम्बरी का उत्तरार्ध है। ऐसा निःस्पृह तथा पितृभक्त पुत्र साहित्य-संसार में शायद ही कोई दूसरा मिल सके। उत्तरार्ध के आरम्भ में बाणतनय ने लिखा है—

याते दिवं पितरि तद्वचसैव सार्धं
विच्छेदमाप भुवि यस्तु कथाप्रबन्धः।
दुःखं सतां तदसमाप्तिकृतं विलोक्य।
प्रारब्ध एष च मया न कवित्वदर्पात्॥

'पिताजी के स्वर्गवासी होने पर यह कथा-प्रबन्ध भी उनके वचन के साथ ही संसार में विच्छिन्न हो गया। इसके समाप्त न होने से सज्जनों के दुःख को देख कर ही मैंने इसे आरम्भ किया है, कवित्व के घमण्ड से नहीं। यह तो पिताजी का ही प्रभाव है कि उनके गद्य की भाँति मैं लिख सका हूँ, नहीं तो कादम्बरी (शराब) का स्वाद लेकर मैं बिल्कुल मतवाला सा हो गया हूँ; मुझे कुछ आगे-पीछे नहीं सूझता। मुझे भय है कि कहीं रस से वर्जित अपने वचनों से उसकी पूर्ति कर विदग्धों की अवहेलना का पात्र न बनूँ—

कादम्बरीरसभरेण समस्त एव
मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम्।
भीतोऽस्मि यन्न रसवर्णविवर्जितेन
तच्छेषमात्मवचसाप्यनुसंदधानः॥'

ऐसे निःस्पृह पुत्र का साहित्य संसार नाम तक नहीं जानता। डाक्टर ब्यूलर ने इनका नाम भूषण भट्ट बतलाया था; परन्तु इधर की खोज से इनका नाम 'पुलिन' या 'पुलिन्दभट्ट' सिद्ध होता है। कादम्बरी की शारदा लिपि में लिखित किसी प्रति की पुष्पिका में यही नाम मिलता है। इसकी प्रामाणिकता मुंज के समय (१० वीं सदी के अन्त) लिखित धनपाल की तिलकमंजरी से सिद्ध होती है:—

केवलोऽपि स्फुरन् बाणः करोति विमदान् कवीन्।
किं पुनः क्लृप्तसन्धानः पुलिन्ध्रकृतसन्निधिः॥

इस पद्य में श्लेषालंकार के द्वारा बाण के पुत्र का नाम 'पुलिन्ध्र' बतलाया गया है। ज्ञात नहीं कि बाणभट्ट के कितने बेटे थे। उत्तरार्द्ध कादम्बरी के रचयिता पुलिनभट्ट के विषय में हमारा ज्ञान बिल्कुल सच्चा है परन्तु अन्य किसी पुत्र के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। एक प्रसिद्ध किम्वदन्ती के आधार पर बाणभट्ट के कई पुत्रों का होना सिद्ध होता है। किम्वदन्ती है कि

जब बाण मृत्यु शय्या पर पड़े हुये थे, तब कादम्बरी को समाप्त करने की चिन्ता उन्हें सताया करती थी। उन्होंने अपने पुत्रों को बुलाया और उनके साहित्यिक ज्ञान तथा प्रतिभा की परीक्षा करना चाही। उन्होंने पुत्रों से 'आगे सूखा काठ पड़ा हुआ है' इस वाक्य का संस्कृत में अनुवाद करने को कहा। उनके ज्योतिषी पुत्र ने इस वाक्य का 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे' यह कटुतापूर्ण नीरस अनुवाद किया परन्तु उनके योग्य साहित्यज्ञ रसिक पुत्र ने 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' सरस तथा मधुर अनुवाद कर अपनी मनोहर रचनाशैली का प्रमाण पिता को दिया। पिता दूसरे पुत्र की कवि-प्रतिभा देखकर बड़े प्रसन्न हुये और उन्होंने उसे ही कादम्बरी को समाप्त करने का भार सौंपा।

किम्वदन्ती

बाण के जीवन वृत्तान्त के विषय में इतना ही ज्ञात है, परन्तु पण्डितों में एक और किम्वदन्ती प्रचलित है जो बाण का सम्बन्ध तत्कालीन एक महाकवि से स्थापित करती है। किम्वदन्ती यह है कि बाणभट्ट का विवाह महाकवि मयूर की भगिनी से हुआ था। एक समय की बात है कि शीतांशुमाली अस्ताचल चूडावलम्बी हो रहे थे, प्रभात की वेला थी, शीतल समीर बह रही थी, बाण की पत्नी अभी तक 'मान' किये बैठी थी। प्रभात हो रहा था, तो भी उसके 'मान' का अन्त नहीं हुआ था। विचारे बाण अपनी दयिता को किसी प्रकार मनाया चाहते थे—प्रसन्न करना चाहते थे। प्रातःकाल के शीघ्र होने तथा मान न छोड़ने की बात बाण ने एक पद्य में निबद्ध की। प्रियतमा को प्रसन्न करने की अभिलाषा से कवि ने तत्काल रचित अपना पद्य सुनाना आरम्भ किया—

गतप्राया रात्रिः कृशतनु शशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णत इव।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो

अभी ये तीन ही चरण बनाकर सुना पाये थे कि इतने में मयूर भी कहीं से भेंट करने को आ पहुँचे। मयूर के कर्णांकुहरों में पद्य के ये तीन चरण पड़े। उन्होंने झट अन्तिम चरण यों बनाकर पढ़ सुनाया:—

कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि ! कठिनम् ।

(मुझे तो जान पड़ता है कि कठिन स्तनों के समीप रहने से तुम्हारा हृदय कठिन हो गया) ।

बाण को यह चरण सुनकर बड़ा क्रोध आया । उन्होंने मयूर को कुष्ठी हो जाने का शाप दिया । विचारे मयूर पर विपत्ति आ पड़ी । उन्होंने सूर्य की स्तुति में १०० पद्यों को बनाकर इस महारोग से छुटकारा पाया । यह ग्रंथ आजकल **'सूर्यशतक'** के नाम से प्रसिद्ध है । क्रुद्ध होकर मयूर ने भी बाण को शाप दिया । बाण ने भगवती दुर्गा की स्तुति **'चण्डीशतक'** बना कर इस शाप से छुटकारा पाया । यह 'चण्डीशतक' गीतिकाव्य का एक सुन्दर नमूना है ।

पूर्वोक्त किम्वदन्ती की सत्यता पर कुछ लोगों को कम विश्वास है । उनका कहना है कि यदि बाण का सम्बन्ध मयूर से होता, तो हर्षचरित में आत्मकथा लिखते समय वे इसका उल्लेख अवश्य करते । परन्तु हर्ष के आश्रित होने से इन दोनों महाकवियों में घनिष्ठ सम्बन्ध बहुत दिनों तक रहा होगा । यदि इनमें वैवाहिक सम्बन्ध भी रहा हो तो क्या आश्चर्य है ? इस किम्वदन्ती का उल्लेख जैनग्रंथों में भी मिलता है । अतः इसमें कुछ न कुछ सत्यता अवश्य प्रतीत होती है ।

बाण का समय संस्कृत साहित्य के लिये बड़े महत्त्व का है । उस समय विद्वानों तथा कवियों का अच्छा जमघट था । 'सूर्य शतक' के कर्ता मयूर कवि का आविर्भाव इसी समय में हुआ था । **'मानतुङ्ग'** नामक भक्त जैनाचार्य भी इसी समय में हुए थे । इनका 'भक्तामरस्तोत्र' जैनियों में अत्यन्त प्रसिद्ध है । ये दोनों महाकवि श्रीहर्ष के आश्रय में ही रहते थे । परन्तु थानेश्वर से दूर, गुजरात की राजधानी बलभी में श्रीधरसेन के राज्यकाल में भट्टिकाव्य के कर्ता, भट्टिस्वामी का आविर्भाव भी इसी शताब्दी में हुआ था । गौतम न्यायसूत्रों के भाष्य पर 'न्याय-वार्तिक' लिखनेवाले प्रसिद्ध विद्वान् उद्योतकर का भी जन्म इसी शताब्दी में हुआ था । दण्डी ने भी बाण के कुछ ही पीछे 'दशकुमार चरित' तथा 'काव्यादर्श' की

रचना की। अतः स्पष्ट है कि बाण का समय संस्कृत साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण तथा आदरणीय है।

हर्षवर्धन के सभापण्डित होने से बाणभट्ट का समय ईसा की ७ वीं सदी में सिद्ध होता है। बाण का समय संस्कृत-कवियों की ऐतिहासिक क्रम-व्यवस्था के लिए बड़ा उपयोगी है। यदि बाण के हर्ष के समकालिक सिद्ध होने की बात न भी ज्ञात होती, तथापि उनका सातवीं सदी में आविर्भाव होना परवर्ती कवियों के उद्धरणों से अवश्यमेव सिद्ध हो जाता है। सबसे पहले वामन (७७६-८१३ ई०) ने 'काव्यालंकारसूत्र' में कादम्बरी के एक लम्बे समासवाले गद्य को उद्धृत किया है जिससे स्पष्ट ही वामन से बाण-भट्ट की प्राचीनता सिद्ध होती है। अतएव बाण का काल निश्चित रूप से सातवीं सदी है।

ग्रन्थ

बाणभट्ट की लेखनी से अनेक ग्रन्थ रत्नों की उत्पत्ति हुई जिनमें से कति-पय रत्न ही साहित्य के जौहरी को देखने को मिले। सम्भवतः इनकी बहुत सी अमूल्य रचना नष्ट हो गई हैं। सूक्ति संग्रहों तथा अलंकार-ग्रंथों में इनके नाम से कितने ही सुंदर पद्य मिलते हैं। क्षेमेंद्र ने औचित्य विचारचर्चा में बाण का एक पद्य उद्धृत किया है जो कादम्बरी की विरहावस्था के वर्णन में लिखा गया है। इससे यह अनुमान निकालना स्वाभाविक है कि बाण ने पद्य में भी कादंबरी की कथा लिखी थी। परन्तु यह 'पद्यकादम्बरी' ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त सूक्तिसंग्रहों में बाण के नाम से उद्धृत बहुत से पद्य इनके ज्ञात ग्रंथों में नहीं मिलते जिससे इनकी अन्य रचनाओं की सत्ता के विषय में अनुमान किया जा सकता है।

इनकी प्रसिद्ध गद्य रचनाओं का संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया जाता है।

हर्षचरित

संस्कृत साहित्य में यह सबसे पुरानी उपलब्ध आख्यायिका है। "ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्"—उस काल में गद्य का जीवन समास-

बहुलता मानी जाती थी। इसी साहित्यिक नियम के अनुसार इस गद्यकाव्य की रचना की गई है।

संस्कृत आलंकारिकों ने सिद्धान्तरूप से कथा तथा आख्यायिका के पार्थक्य तथा वैशिष्ट्य का प्रदर्शन अपने ग्रन्थों में किया है, परन्तु यह वर्णन उतना स्पष्ट तथा विशद नहीं है। भामह ने प्रथमतः इस भेद की अवतारणा अपने काव्यालंकार में की है। उनके अनुसार आख्यायिका की कथावस्तु वास्तव होती है जिसे कवि स्वयं वक्ता रूप में प्रकट करता है। आख्यायिका के विभागों का नाम 'उच्छ्वास' होता है जिसके आदि और अन्त में भावी घटनाओं के सूचक श्लोक होते हैं जो वक्त्र या अपरवक्त्र छन्द में निबद्ध होते हैं। कथा की कथावस्तु कवि की निजी कल्पना होती है जिसका वक्ता नायक से कोई इतर व्यक्ति होता है। इसमें आख्यायिका के समान न तो 'उच्छ्वास' का विभाग रहता है, न वक्त्रादि वृत्तों की व्यवस्था। भामह के लक्षण किन लक्ष्यग्रंथों को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं, यह यथार्थतः नहीं कहा जा सकता। दोनों के पार्थक्य की विभागरेखा इतनी फीकी तथा धूमिल है कि दण्डी ने इसका सर्वथा तिरस्कार बड़े जोरदार शब्दों में किया है (काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद, २३-२८ पद्य) दण्डी की आलोचना का प्रधान लक्ष्य भामह का ही वर्गीकरण है। उनके कथन का यही तात्पर्य है कि कथा और आख्यायिका में किसी मौलिक भेद तथा पार्थक्य की कल्पना असम्भव है। उनका स्पष्ट मत है—

तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता।

अर्थात् ये दोनों भेद की एक ही गद्यरूपा जाति है। केवल नामकरण में ही विभिन्न संज्ञायें उपलब्ध होती हैं। रुद्रट ने भी अपने काव्यालंकार (१६।२०-२३) में इन गद्य-प्रकारों के प्रभेदों का वर्णन किया है, परन्तु यह वर्णन विशेष महत्त्व का नहीं है।

इन आलंकारिकों के लक्षण की मीमांसा करने से हम एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनके सामने कोई विशिष्ट लक्ष्यग्रन्थ का अभाव था और इसी

लिए सिद्धान्त रूप में ही इनकी व्याख्यायें हैं। तथ्य यह है कि बाणभट्ट ने ही इस उभयविध गद्य प्रकार का प्रथम दृष्टांत प्रस्तुत किया अपनी प्रतिभा-संपन्न लेखनी से। उन्होंने स्वयं 'हर्षचरित' को आख्यायिका कहा है[1] तथा आदर्श आख्यायिका के स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है (हर्षचरित १।२७)। कादम्बरी को वे स्वयं 'अतिद्वयी कथा' के विशेषण से मण्डित करते हैं। इस शब्द के कुछ व्याख्याकार केवल 'अद्वितीय' अर्थ से ही सन्तोष करते हैं, परंतु बाण का संकेत ऐतिहासिक दृष्टि से 'बृहत्कथा' तथा 'वासवदत्ता' (सुबन्धुकृत) से अवश्यमेव प्रतीत होता है। इस प्रकार गद्य के द्विविध प्रकार की रचना का वैशिष्ट्य बाण की कृतियों की मीमांसा पर अवलंबित है। आख्यायिका की कथावस्तु अवश्यमेव इतिहास में प्रसिद्ध तथा प्रख्यात होती है। कथा कवि के उर्वर मस्तिष्क की उपज होती है जिनमें कल्पना का पूरा साम्राज्य अपने पूर्ण वैभव के साथ विराजता है। शैली में कोई भेद नहीं होता।

'हर्षचरित' में आठ उच्छ्वास हैं। प्रथम उच्छ्वास के आरम्भ में ग्रंथकार ने २१ श्लोक बनाये हैं जिनमें कतिपय सामान्य बातों के अनन्तर व्यास, वासवदत्ता, भट्टार हरिचन्द्र, सातवाहन, प्रवरसेन, भास, कालिदास, बृहत्कथा, जैसे मान्य कवियों तथा ग्रंथों की प्रशस्त स्तुति है। यह वर्णन कवियों के समय-निर्देशन के लिए नितांत महत्त्वशाली है। ये समस्त ग्रंथ और ग्रंथकार सप्तम शताब्दी से पूर्ववर्ती हैं। शुरू के तीन उच्छ्वास बाण की संक्षिप्त जीवनी का वर्णन करते हैं और इस प्रकार 'आत्मकथा' के परिचायक हैं। इनमें वात्स्यायन वंश में जन्म, पूर्वजों का चरित, बाण का नाना संगियों के साथ देश देशान्तर में भ्रमण तथा प्रत्यावर्तन, प्रथम उच्छ्वास में वर्णित है। दूसरे उच्छ्वास में हर्ष के भाई कृष्ण का लेखहारक मेखलक बाण को हर्ष के पास चलने का निमन्त्रण देता है जिसे स्वीकार कर बाण अपने गाँव से चलकर तीन पड़ावों के बाद 'अजिरवती' के तट पर मणितारा गाँव

---

[1] तथापि नृपतेर्भक्त्या भीतो निर्वहणाकुलः।
करोम्याख्यायिकाम्भोधौ जिह्वाप्लवन चापलम्॥
—हर्षचरित १।१६

में पड़ी छावनी में जाकर श्रीहर्ष से भेंट करता है और उसका प्रेम तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। तृतीय उच्छ्वास में बाण घर लौट आता है और अपने चचेरे भाइयों के कहने पर हर्ष का चरित कहने बैठता है। आरम्भ में श्रीकण्ठ जनपद, उसकी राजधानी थानेश्वर, वंश के संस्थापक पुष्पभूति की कथा के अनन्तर तान्त्रिक साधनों में उनके सहायक **भैरवाचार्य** का विशद वर्णन है।

चतुर्थ उच्छ्वास में वंश के संक्षिप्त वर्णन के अनन्तर राजाधिराज **प्रभाकरवर्धन** तथा उनकी महिषी यशोवती का वर्णन है तथा इनके प्रथम पुत्र **राज्यवर्धन** की जन्मकथा बड़े विस्तार तथा रोचकता के साथ वर्णित है। अनन्तर हर्ष तथा राज्यश्री के जन्म का अतिविस्तृत वर्णन है। यशोवती का भाई अपने पुत्र 'भंडि' को राजकुमारों का साथी बनाता है। **मौखरि ग्रहवर्मा** के साथ राज्यश्री का विवाह बड़े ठाठबाट तथा राजसी वैभव के साथ सम्पन्न होता है। पञ्चम उच्छ्वास से राजकुमारों की विजयगाथा आरम्भ होती है। हूणों को जीतने के लिए राज्यवर्धन हर्ष के साथ सेना के साथ प्रस्थान करता है। हर्ष शिकार खेलने के लिए जाता है और पिता की असाध्य बीमारी का हाल सुनकर राजधानी लौट आता है। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु से पूर्व ही यशोवती सती हो जाती है और मृत्यु के अनंतर समस्त प्रजा महान् शोक से संतप्त हो जाती है। षष्ठ उच्छ्वास में राज्यवर्धन के लौटने तथा हर्ष को राज्य देकर स्वयं छुटकारा पाने का प्रथमतः वर्णन है। ग्रहवर्मा की मृत्यु तथा मालव नरेश द्वारा राज्यश्री को वंदी बनाना सुनकर राज्यवर्धन अकेले ही जाता है, मालव नरेश को तो परास्त करता है, परंतु गौडेश्वर शशांक के हाथ स्वयं मारा जाता है। हर्ष इसका बदला लेने की गम्भीर प्रतिज्ञा करता है।

सप्तम उच्छ्वास श्रीहर्ष के दिग्विजय का रोचक वर्णन प्रस्तुत करता है। वह अपनी विपुल सेना के साथ दिग्विजय के लिए प्रस्थान करता है। इसी समय प्राग्जोतिषेश्वर **भास्करवर्मा** का दूत हंसवेग अनेक प्रकार की भेंट तथा मैत्री का संदेश लेकर आता है। हर्ष सेना के साथ विन्ध्य प्रदेश में पहुँचता है तथा मालवराज पर विजयी होता है। भंडि मालव राजकी सेना तथा

खजाने पर अधिकार करता है। अष्टम उच्छ्वास में हर्ष एक शबर युवक की सहायता से अपनी बहिन 'राज्यश्री' को खोजने का प्रयास करता है जो कारागृह से निकलकर विन्ध्य के जंगल में कहीं भटकती है। वह बौद्ध भिक्षु दिवाकर मित्र के आश्रम में पहुँचता है जहाँ एक भिक्षु आग में जलने के लिए तैयार किसी विपन्न स्त्री का पता देता है। हर्ष वहाँ जाकर अपनी बहन को समझा बुझा दिवाकर मित्र के आश्रम में ले आता है जो राज्यश्री को हर्ष के अनुसार जीवन यापन की शिक्षा देता है। हर्ष भी सूचित करता है कि दिग्विजय-विषयक प्रतिज्ञा की पूर्ति होने पर वह स्वयं राज्यश्री के साथ ही गेरुआ वस्त्र धारण कर लेगा।

हर्षचरित के इस क्रमिक सारांश से स्पष्ट पता चलेगा कि यह कोई आधुनिक ढंग का रूखा सूखा घटनाप्रधान इतिहास नहीं है, प्रत्युत विशुद्ध साहित्यिक शैली में निबद्ध एक रोचक वर्णनात्मक प्रबन्ध काव्य है। आधार है राजा हर्ष का इतिहास प्रख्यात जीवन, परन्तु उसे अलंकृत करने तथा सजाने का कवि ने अपनी ओर से खूब प्रयत्न किया है। इसीलिए यह काव्यात्मक आख्यायिका अपने विशिष्ट काव्यप्रकार का आदर्श मानी जाती है। सामान्य रीति से वीररस की प्रधानता है, परन्तु करुणरस के उन्मेष में भी बाण ने अपनी लेखनी को सिद्ध लेखनी दिखलाया है। मरणासन्न प्रभाकर वर्धन का चित्रण बड़ी सुन्दरता से किया गया है। सतीवेश में यशोवती का तथा उसका अन्तिम विलाप (पञ्चम उच्छ्वास), राज्यवर्धन का शोक भी बाण के रससिद्ध काव्य के कुछ उज्ज्वल अंश हैं। दिग्विजय के लिए श्रीहर्ष के प्रयाण का वर्णन भी जीता जागता तथा स्वानुभूत प्रतीत होता है। सप्तम उच्छ्वास में सायंकाल, वनग्राम (जंगली गाँव) तथा उनके घरों का वर्णन बड़ी सरसता से किया गया है। हर्षचरित इस काव्यवैभव के लिए ही प्रख्यात नहीं है, प्रत्युत वह सप्तम शती के भारत का एक अत्यन्त उज्ज्वल तथा प्रामाणिक चित्र खींचता है। हर्ष के जीवन की घटनावली ज्ञात इतिहास से कहीं भी अनमेल नहीं जमती। उस युग की सांस्कृतिक उन्नति का यह परम परिचायक ग्रन्थरत्न है। इसकी सहायता से हम उस काल की वेष-भूषा, आचार-विचार, सेना के प्रकार तथा प्रयाण की कला का जीता जागता चित्र

पाते हैं। राज्यश्री के विवाह के अवसर पर शिल्पियों ने अपने अनुरूप जो भूषण सज्जा तैयारी की है वह कला की दृष्टि से अनुपम है। इसी प्रसंग में नाना प्रकार के बाँधनू की रँगाई के कपड़ों का वर्णन बड़ा ही रोचक, ज्ञान-वर्धक तथा सांस्कृतिक है। इस दृष्टि से हर्षचरित का मूल्य तथा महत्त्व ऐतिहासिकों के लिए बहुत ही अधिक है[1]।

कादम्बरी

कादम्बरी की कथा

कादम्बरी की कथा एक जन्म से सम्बद्ध न होकर चन्द्रपीड तथा पुंडरीक के तीन जन्मों से सम्बन्ध रखती है। आरंभ में विदिशा के राजा शूद्रक के प्रभाव तथा वैभव का परिचायक वर्णन है। उसके दरबार में एक परम सुन्दरी चाण्डाल कन्या 'वैशम्पायन' नामक शुक को लेकर आती है जो मनुष्य की बोली में बोलता है और श्रोताओं के परम मनोरंजन का साधन प्रस्तुत करता है। यही कादम्बरी की कथा आरम्भ करता है जिसके साथ वह स्वयं सम्बद्ध रहता है। इसी के बीच में ऋषि जावालि के द्वारा वर्णित राजा चन्द्रापीड और उनके मित्र वैशम्पायन की कथा आती है। राजा चन्द्रापीड दिग्विजय के प्रसंग में हिमालय प्रदेश में जाता है। किन्नर मिथुन के पीछे वह बड़ी दौड़धूप लगाता है। वह मिथुन तो अन्तर्हित हो जाता है और राजा 'अच्छोद' नामक दिव्य जलाशय के पास पहुँचता है जहाँ वह अपने घोड़े को बाँधकर शिवालय में वीणावादिनी **महाश्वेता** की संगीत से आकृष्ट होकर जाता है और उससे परिचय पाकर उसकी प्रिय सखी **कादम्बरी** का दर्शन करता है। चन्द्रापीड और कादम्बरी के हृदय में दोनों के प्रति नैसर्गिक मधुर आकर्षण उपजता है, परंतु प्रणय की पूर्ति के पहले ही राजा अपनी राजधानी

१—द्रष्टव्य डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का उपादेय ग्रंथ—'हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन' (पटना, १९५२)

उज्जैनी लौट आता है। ताम्बूल करंकवाहिनी पत्रलेखा कादम्बरी के वास्तव प्रेम का सन्देश लाती है और यहीं पूर्वकादम्बरी का अन्त होता है।

उत्तरभाग में चन्द्रापीड महाश्वेता के पास लौटता है और अपने प्रिय मित्र वैशम्पायन की विपत्ति का हाल जान लेता है जो महाश्वेता से प्रणय स्थापित करने का उद्योग करता है, परन्तु उस तपस्विनी का कोपभाजन बन तोता बन जाता है। चन्द्रापीड़ अपने सुहृद् की विपत्ति से शोकाक्रान्त होकर अपना शरीर त्याग करता है। समाचार पाकर कादम्बरी आती है और विलाप करती है। चन्द्रापीड़ के माता पिता—विलासवती और तारापीड—इस दुःखद घटना से नितान्त उद्विग्न हो उठते हैं (जाबालि कथा की समाप्ति)। कपिञ्जल अपने मित्र शुक (जो वास्तव में मन्त्रीपुत्र वैशम्पायन है) को खोजने के लिए जाबालि के आश्रम में आता है और मित्र की दुरवस्था से दुःखित होता है। शुक उड़कर एक चाण्डाल के पास चला जाता है जो उसे अपनी कन्या को देता है और वही चाण्डाल-कन्या उसे शूद्रक के दरबार में लाती है। वह चाण्डाल-कन्या वस्तुतः पुण्डरीक की माता लक्ष्मी है तथा पुण्डरीक ही उस जन्म का वैशम्पायन तथा इस जन्म का शुक है। राजा शूद्रक स्वयं पूर्व जन्म का राजा चन्द्रापीड है जो कभी स्वयं चन्द्रमा था, परन्तु शापवश भूतल पर आया था। लक्ष्मी अन्तर्हित हो जाती है तथा शूद्रक और शुक का भी शरीरपात हो जाता है जिससे चन्द्रापीड़ का पड़ा हुआ मृतक शरीर पुनर्जीवित हो जाता है और पुण्डरीक भी आकाश से उतर आता है। पुण्डरीक से महाश्वेता का तथा चन्द्रापीड से कादम्बरी का मिलन होता है और ये प्रणयी-युगल सुख से अपना जीवन बिताते हैं।

कादम्बरी बाणभट्ट की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसके दो खण्ड हैं—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध पूरे ग्रंथ का दो तिहाई भाग है तथा यह बाण की रचना है। उत्तरार्द्ध पूरी कादम्बरी का केवल तृतीयांश है और पुलिन्द भट्ट की कृति है। कादम्बरी संस्कृत गद्य-साहित्य का समुज्ज्वल हीरक है। भाषा और भाव-शब्द और अर्थ—दोनों का उचित सम्मिलन इस गद्य-काव्य में लक्षित होता

है। वर्णनों की सुन्दरता की बात क्या पूछी जाय? कहीं विन्ध्याचल की विकट अटवी तथा साहसप्रेमी शबर-सैन्य का रोमाञ्चकारी वर्णन है, तो कहीं धर्म की साक्षात् मूर्ति, सदयता के परम अवतार, आध्यात्मिकता के ज्वलन्त निदर्शन, जाबालि मुनि तथा उनके परम पावन मनभावन आश्रम की सुभग शोभा दर्शकों का हृदय लुभा रही है। कहीं बाल्यकाल में गन्धर्वों के अंक में बिहार करनेवाली कलभाषिणी वीणा की तरह मंजुवाहिनी स्निग्धहृदया महाश्वेता की विरहविधुरा मूर्ति का दर्शन मिलता है, तो कहीं अलोक-सामान्य सौख्यों का अनुभव करनेवाली गन्धर्वराज-कन्यासरस-हृदया कमनीय-कलेवरा कादम्बरी की प्रेममयी कथा श्रोताओं के चित्त-चंचरीक को अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। सर्वत्र ही अलंकारों की मधुर झङ्कार कानों को सुख दे रही है—रागात्मिका वृत्ति की सुगम व्यंजना हृदय को खिला रही है। सच तो यह है कि अलंकार तथा रस के मधुर-मिलन में—भाषा तथा भाव के परस्पर संपर्क में—कल्पना तथा वर्णना के अनुरूप संघटन में—कादम्बरी संस्कृत साहित्य में अनुपम है—अद्वितीय है। कादम्बरी रसिक हृदयों को मत्त कर देनेवाली सच्ची 'कादम्बरी' है—मीठी मदिरा है।

इन रचनाओं के अतिरिक्त इनके दो नाटक भी मिलते हैं। (१) **पार्वतीपरिणय** एक सुन्दर नाटक है जिसमें शिवपार्वती के विवाह की पवित्र कथा का वर्णन है। इस नाटक के ऊपर कालिदास के कुमारसम्भव की अधिक छाया जान पड़ती है। इसे बाण की रचना नहीं माना जा सकता, प्रत्युत सत्रहवीं शताब्दी में वर्तमान बाणभट्ट उपाधिधारी वामन कवि की यह कृति है। (२) **मुकुटताडितक**—नलचम्पू की टीका में जैन विद्वान् चन्द्रपाल तथा गुणविजयगणि ने इस नाटक-ग्रंथ को बाण की रचना बतलाया है तथा उसमें से एक पद्य भी उद्धृत किया है। परन्तु इसके अतिरिक्त मुकुटताडितक नाटक का कहीं नाम नहीं सुना जाता। अतः इसके बाणरचित होने में सन्देह है।

बाणभट्ट सरस्वती देवी के वरद पुत्र थे। इनका गद्य काव्य कादम्बरी अपने विषय में अद्वितीय माना जाता है। प्राचीनकाल में ही समालोचकों की

दृष्टि बाणभट्ट की मधुर कविता पर पड़ी थी। गोवर्धनाचार्य बाणभट्ट को वाणी का साक्षात् अवतार मानते हैं। उनका कथन है कि जिस प्रकार अधिक प्रगल्भता प्राप्त करने के लिए शिखण्डिनी शिखण्डी बन गई थी, उसी भाँति पुरुष रूप में अतिशय चमत्कार पाने की इच्छा से वाणी (सरस्वती) ने बाण का रूप धारण किया—

जाता शिखण्डिनी प्राग् यथा शिखण्डी तथाऽवगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति॥

पात्र

बाणभट्ट में पात्रों के चरित्र-चित्रण की अद्भुत कला है। उनके पात्र इतनी सजीवता के साथ चित्रित किये गये हैं कि उनकी मंजुल मूर्ति हमारे नेत्रपटल के सामने आकर उपस्थित हो जाती है। प्रजा-पालक तथा पराक्रमी महाराज शूद्रक की वीर मूर्ति सबके हृदय में उत्साह का संचार करती है। सौम्य तापस हारीत, ज्ञानवृद्ध जाबालि, वदान्य नरपति तारापीड़, शास्त्र तथा व्यवहारकुशल अमात्य शुकनास, शुभ्रवसना तपस्विनी महाश्वेता, कमनीय-कलेवरा कादम्बरी—ये कवि की तूलिका से चित्रित पात्र पाठकों के चित्त पर अपना अमिट प्रभाव डालते हैं। सच्चा कवि वही होता है जो संसार का विविध अनुभव प्राप्त कर उसके मार्मिक पक्ष के ग्रहण में समर्थ होता है। इसी कसौटी पर कसने से बाणभट्ट की कविता खरे सोने के समान खरी उतरती है। कवि का लोकवृत्त-ज्ञान नानात्मक तो था ही, पर उसकी यथार्थता और भी चमत्कारिणी है। बाणभट्ट कभी तो सुख-समृद्धि तथा भोग-विलास के जीवन चित्रित करने में अनुरक्त दीख पड़ते हैं, तो कभी वे तपस्वी जीवन की मार्मिक अभिव्यंजना में निरत दिखाई पड़ते हैं। तथ्य यह है कि बाणभट्ट का अनुभव बड़ा ही विशाल, विविध तथा यथार्थ था। बाण के पात्र वैयक्तिकता से मण्डित विशिष्ट प्राणी हैं।

प्रकृति-निरीक्षण

कादम्बरी में प्रकृतिवर्णन बड़ा ही सुंदर तथा सजीव हुआ है। संस्कृत के कुछ महाकवि प्रकृति के मंजुल रूप के चित्रण में ही चतुर दीख पड़ते हैं,

तो कुछ कवि प्रकृति के भयावह तथा रोमांचकारी स्वरूप के वर्णन में कृत-कार्य प्रतीत होते हैं। परन्तु बाणभट्ट की यह भूयसी विशेषता है कि उनकी लेखनी ने प्रकृति के उभय प्रकार के मधुर तथा भयावह दृश्यों के वर्णन में समभाव से सफलता प्राप्त की है। इन दृश्यों के स्वरूप को हृदयङ्गम कराने के लिए कवि ने नाना अलङ्कारों की सहायता ली है। उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास तथा परिसंख्या का स्तूप खड़ा कर कवि ने पाठकों के सामने अपने वर्ण्य विषय की मञ्जुल अभिव्यञ्जना की है। विन्ध्याटवी के भयंकर रूप का चित्रण बाण ने जितनी सफलता के साथ किया है वह सचमुच आश्चर्यजनक है। विन्ध्याटवी गिरितनया पार्वती के समान स्थाणु शङ्कर तथा वृक्ष युक्त तथा मृगपति से सेवित है। जानकी के समान लव कुश (कुश लव नामक लड़के तथा कुश के छोटे-छोटे टुकड़े) को उत्पन्न करनेवाली तथा निशाचर से आश्रित है। कभी वह कामिनी के समान चन्दन, मृगमद के सुगन्ध को धारण करने वाली तथा सुंदर अगरू और तिलक (पेड़) से विभूषित है, तो कभी वह उस कामपरायणा उत्कंठिता नायिका के समान प्रतीत होती है जिसे पल्लवों से पंखा कर आराम पहुँचाया जा रहा हो। महर्षि जाबालि के आश्रम का सात्विक मनोरम वर्णन पढ़ किस पुरुष का चित्त तपोवन की भव्यमूर्ति से प्रभावित नहीं होता ? तपोवन के वर्णन में जितनी प्रभावोत्पादक बातों की आवश्यकता है उन सब का एकत्र वर्णन कर कवि ने सचमुच हमारे सामने बड़ा ही अनुपम दृश्य प्रस्तुत किया है। हम इस दृश्य को कभी नहीं भूल सकते जिसमें बाणभट्ट ने आश्रम के वृद्ध अंध तापसों को परिचित वानरों के द्वारा छड़ी पकड़कर भीतर आने और बाहर जाने का वर्णन किया है—**परिचितशाखामृग-कराकृष्टयष्टि निष्काश्यमान-प्रवेश्यमान-जरदन्धतापसम्**। ऋतुओं का चित्रण भी बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। प्रभात तथा सन्ध्या, अन्धकार तथा चंद्रोदय आदि प्रकृति के नाना दृश्यों के वर्णन बड़ी ही सहृदयता तथा यथार्थता के साथ अङ्कित किये गये हैं।

अच्छोद सरोवर का वर्णन भी कवि की निरीक्षण शक्ति के प्राचुर्य का सुतरां बोधक है। बाण जानते हैं कि वायु के द्वारा उद्भूत जल तरंग के कणों

में सूर्य किरण पड़ने पर हजारों इन्द्रधनुष उत्पन्न होते हैं। कहीं तट के ऊपर उगने वाले कदम्ब के पेड़ों से वन्दरों के कूदने का वर्णन बड़ा ही स्वाभाविक है (तट कदम्बशाखाविरूढ़ हरिकृतजलप्रपातक्रीडम्)। सरोवर की स्वच्छता के प्रदर्शन के लिए बाण ने उपमाओं की लड़ी खड़ी कर दी है।

अद्य परिसमाप्तमीक्षणयुगलस्य द्रष्टव्यदर्शन-फलम्, आलोकितः खलु रमणीयानामन्तः इष्टः आल्हादनीयानामवधिः, वीक्षिता मनोहराणां सीमान्त लेखा, प्रत्यक्षीकृता प्रीतिजननानां परिसमाप्तिः, विलोकिता दर्शनीयानाम-वसानभूमिः।

सुभगपदों का विन्यास इससे अधिक सुन्दर क्या कहीं हो सकता है ?

कादम्बरी का कलापक्ष

बाण की कादम्बरी में प्रकृति के सौम्य तथा उग्र रूप का वर्णन जितना रोचक है, उतना ही रोचक हैं उसके नाना वस्तुओं के वर्णन। वर्णनों को संश्लिष्ट तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए, भावों में तीव्रता प्रदान करने के हेतु बाण ने उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष, विरोधाभास आदि अलंकारों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है, परन्तु 'परिसंख्या' अलंकार के तो वे सम्राट् प्रतीत होते हैं। बाण के समान किसी अन्य कवि ने 'श्लिष्ट परिसंख्या' का इतना चमत्कारी प्रयोग शायद ही किया है। इन अलंकारों के प्रयोग ने बाण के गद्य में अपूर्व जीवनी-शक्ति डाल दी है। आदर्श गद्य के जिन गुणों का उल्लेख बाण ने हर्षचरित में किया है वे उनके गद्य में विशदतया वर्तमान हैं—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषः स्पष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥

अर्थ की नवीनता, स्वाभावोक्ति की नागरिकता, श्लेष की स्पष्टता, रस की स्फुटता; अक्षर की विकटबन्धता का एकत्र दुर्लभ सन्निवेश कादम्बरी को मंजुल रसपेशल बनाये हुए है। उनके श्लेष-प्रयोग जूही की माला में पिरोये गये चम्पक पुष्पों के समान मनोमोहक होते हैं—निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो

महासजश्चचम्पक-कुड्मलैरिव। 'रसनोपमा' का यह उदाहरण कितना मनोरम है—

क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन; कुसुम इव मधुकरेण, मधुकरेण इव मदेन नवयौवनेन पदम्।

'परिसंख्या का यह रोचक प्रयोग विदग्धों का नितान्त हृदयावर्जक है जहाँ बाणभट्ट जाबालि के आश्रम का सुन्दर चित्र खींच रहे हैं:—

यत्र च महाभारते शकुनिवधः पुराणे वायुप्रलपितं, वयःपरिणामे द्विजपतनम्, उपवन चन्द्रनेषु जाड्यम् अग्नीनां भूतिमत्त्वम् एणकानां गीतव्यसनं, शिखण्डिनां नृत्यपक्षपातः, भुजङ्गमानां भोगः,कपीनां श्रीफलाभिलाषः,मूलानामधोगतिः।

[वहाँ महाभारत में शकुनि का वध था (अन्यत्र कहीं चिड़ियों का वध नहीं होता था), वायु-जन्य प्रलाप पुराण (वायुपुराण) में था (वायु के झोंके में कोई बक झक नहीं करता था), द्विजों-दाँतों-का गिरना बुढ़ापे में होता था, (द्विज लोग जातिच्युत नहीं थे क्योंकि वे सदा सदाचारी होते थे)। जड़ता उपवन के चन्दनों में थी, अन्यत्र नहीं। भूतिमत्ता (भस्मधारण) अग्नियों में थी, अन्यत्र नहीं। गीत सुनने का व्यसन मृगों का था (यह बुरा व्यसन और किसी को न था)। नाचने के समय मयूरों के पंख गिरते थे (और किसी को नृत्य के लिये विशेष अनुराग न था)। भोग (फण) साँपों को था, मनुष्यों में भोग नहीं था। वानरगण श्रीफल (बिल्व) के अभिलाषी थे। अन्य जन लक्ष्मी के फलों (श्रीफल) के इच्छुक न थे। अधोगति (नीचे जाना) वृक्षों की जड़ों में था, मनुष्यों में नहीं।]

कादम्बरी का हृदयपक्ष

कादम्बरी में हृदयपक्ष का प्राधान्य है। कवि अपने पात्रों के अन्तस्तल में प्रवेश करता है, अवस्था–विशेष में होनेवाली उनकी मानस वृत्तियों का विश्लेषण करता है तथा उचित पदन्यास के द्वारा उनकी अभिव्यक्ति करता

है। पुण्डरीक के वियोग में महाश्वेता के हार्दिक भावों की रम्य अभिव्यक्ति बाण की ललित लेखनी का चमत्कार है। चन्द्रापीड के जन्म के अवसर पर राजा तथा रानी के हृदयगत कोमल भावनाओं का चित्रण बड़ा ही रमणीय तथा तथ्यपूर्ण हुआ है। चन्द्रापीड के प्रथम दर्शन के अनन्तर स्वदेश लौट आने पर कादम्बरी के भावों का चित्रण कवि के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का सुंदर निदर्शन है। बाण की दृष्टि में प्रेम भौतिक सम्बन्ध का नामान्तर नहीं है, प्रत्युत वह जननान्तर में समुद्भूत आध्यात्मिक संबंध का परिचायक है। कादम्बरी 'जननान्तर सौहृदं' का सजीव चित्रण है। विस्मृत अतीत तथा जीवित वर्तमान को स्मृति के द्वारा एक सूत्र में बाँधने वाली यह प्रणयकथा है। बाणभट्ट ने दिखलाया है कि सच्चा प्रेम कुल और समाज की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। वह संयत तथा निष्काम होता है। काल की कराल छाया न उसे आक्रान्त कर सकती है, न काल का प्रवाह उसकी स्मृति को मलिन और धुँधला बना सकता है। महाश्वेता तथा पुण्डरीक का, कादंबरी तथा चंद्रापीड़ का अनेक जन्मों में अपनी चरितार्थता तथा सिद्धि प्राप्त करने वाला प्रेम इस आदर्श प्रणय का सच्चा निदर्शन है।

कवि ने जिस प्रणय की यह मनोरम कहानी प्रस्तुत की है वह प्रणय भी बाहर चाकचिक्य से उत्पन्न रूप-छटा पर केवल अनुरक्तिमात्र नहीं है, प्रत्युत वह दो सहृदय व्यक्तियों के अन्तःस्थल को परस्पर बाँधनेवाला, अनेक जन्मों तक अपनी अभिव्यक्ति करनेवाला अलौकिक आनन्दोत्पादक विकार है। कादम्बरी की प्रणयलीला केवल एक ही जन्म से सम्बन्ध नहीं रखती; बल्कि वह तीन जन्मों के परिवर्तन होने पर भी अपने माधुर्य में किसी प्रकार के ह्रास का अनुभव नहीं करती। शरीर का परिवर्तन भले हो जाय, कर्मवश प्राणी नाना योनियों में भले ही भ्रमण करता रहे, परन्तु उसका दृढ़ प्रेम सदा ही उसका अनुगमन किया करता है। कादम्बरी की कथा हमें इस महान् तथ्य की सत्यता भलीभाँति प्रतिपादित करती है।

शुकनास ने राजकुमार चन्द्रापीड़ को लक्ष्मी के दोषों के वर्णन-प्रसंग में नीति तथा काव्य दोनों का बड़ा ही रम्य चमत्कार प्रस्तुत किया है। रूपकों

का विन्यास तथा उपमा का निवेश इतना सुंदर है कि लक्ष्मी की मूर्ति अपने पूर्ण वैभव के साथ हमारे नेत्रों के सामने सजीव हो उठती है। "लक्ष्मी तृष्णारूपी विषलता के लिए संवर्धन की जलधारा है, इन्द्रियरूपी मृगों को लुभाने के लिए व्याध की गीति है, सच्चरितरूपी चित्रों को पोंछ डालने के लिए धूम की रेखा है, यह सब अविनयों की पुरःसर पताका है, क्रोधावेगरूपी ग्राहों की उत्पत्ति के लिए नदी है; विषयमधुओं की यह आपान भूमि है"—यह वर्णन रूपक की छटा से कमनीय है। अन्यत्र विरोधाभास का अपूर्व विलास है। कवि के विचार बड़े ही उदार तथा उदात्त हैं। लक्ष्मी के कारण उत्पन्न होनेवाले समस्त दोषों का इतना सूक्ष्म वर्णन कवि की दूरंगमा दृष्टि का प्रत्यक्ष फल है। महाश्वेता का दर्शन कर पुण्डरीक की कामवासना का चित्रण बाण के मनोवैज्ञानिक ज्ञान का पूर्ण परिचायक है। कवि कह रहा है कि पुण्डरीक के हृदय में नये आनेवाले अतिथि मदन के लिए प्रत्युद्गमन करनेवाले रोगों का उद्गम हो गया। मुनि के हाथ की रुद्राक्षमाला कम्प के कारण हिलने लगी मानों वह व्रत के भंग से डर गई हो।

शैली

बाणभट्ट की शैली गद्य कवियों के लिए आदर्शभूत है। वह प्रभावशाली गद्य के लिखने में नितान्त प्रवीण हैं। जो आलोचक बाण के गद्य को भारतीय जंगलों के समान भयावह तथा हिंस्र पशुओं के सदृश अप्रसिद्ध तथा कठिन शब्दों से मण्डित बतलाते हैं, वे सचमुच यथार्थता से कोसों दूर हैं। चित्रण की सजीवता तथा प्रभावशालिता उत्पन्न करने के लिए बाणभट्ट ने समासबहुल ओजो-गुणमण्डिता शैली का स्थान-स्थान पर अवश्य आश्रय लिया है, परन्तु अन्यत्र छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग कर उन्होंने अपनी शैली को सशक्त तथा प्रभावोत्पादक बनाया है। कवि किसी एक शैली का क्रीत दास नहीं होता। वह तो विषय के अनुसार अपनी शैली को परिवर्तित किया करता है। जिन बाणभट्ट ने अटवी तथा सन्ध्या के वर्णन में

दीर्घ समासों की छटा दिखलाई है, वे ही विरह-वर्णन के अवसर पर लघु-कलेवर प्रासादिक वाक्यों की शोभा प्रस्तुत करते हैं। बाण की लेखनशैली विषय-वर्णन के नितान्त अनुरूप, उचित तथा सरस हैं। जहाँ हृदय के भावों की अभिव्यञ्जना है वहाँ न तो समासों का प्रयोग है और न वाक्यों की दीर्घता है। छोटे-छोटे वाक्यों में ही वहाँ उचित वर्णन है। कपिञ्जल ब्रह्मचारी पुण्डरीक की मदनव्यथा से संतप्त होने के अवसर पर भर्त्सना कर रहा है—

सखे पुण्डरीक, नैतदनुरूपं भवतः। क्षुद्र-जनक्षुण्ण एव मार्गः। धैर्यधना हि साधवः। किं यः कश्चित् प्राकृत इव विक्लीभवन्तमात्मानं न रुणत्सि। क्व ते तद् धैर्यम्। क्वासौ इन्द्रिय-जयः।

उपदेश देने के समय विषय को हृदयंगम तथा प्रभावशाली बनाने के विचार से इसी शैली का प्रयोग है। मन्त्री शुकनास युवराज चन्द्रापीड को लक्ष्मी के दोषों को दिखलाते समय लघु वाक्यों का प्रयोग कर रहा है—

लब्धापि दुःखेन पाल्यते। न परिचयं रक्षति। नाभिजनमभीक्षते। न रूपमालोकयते। न कुलक्रममनुवर्तते। न शीलं पश्यति। न वैदग्ध्यं गणयति।

परन्तु राजवैभव, नारी रूप छटा, प्रकृति-रमणीयता के चित्रण के अवसर पर कवि दीर्घ समास तथा अलंकारों से मण्डित वाक्यों का प्रयोग करता है जिससे पाठकों के हृदय पर वर्णन अपने संश्लिष्ट तथा संघटित रूप में अपने अंग-प्रत्यंग से परिपूर्ण भाव में अपना प्रभाव जमावे तथा उनके नेत्रों के सामने वस्तु का पूर्ण चित्र झलक उठे। शूद्रक, जाबालिका आश्रम, विन्ध्याटवी, महाश्वेता तथा कादम्बरी का वर्णन इसी शैली में प्रयुक्त होने से इतने सुन्दर तथा प्रभावशाली हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बाण की गद्य शैली तथा वर्ण्य विषय में अद्भुत सामञ्जस्य है।

सच तो यह है कि बाण के गद्य में सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, चमत्कृत वर्णन-प्रणाली, अक्षयशब्द-राशि तथा कल्पनाप्रसूत मौलिक अर्थों की

उद्भावना विशेष रूप से पाई जाती है। उनके गद्य में इतना प्रभाव तथा प्रवाह है कि अनुकरण करने वाले कवियों के लाख प्रयत्न करने पर भी उनके गद्य में इतना चमत्कार उत्पन्न नहीं हो पाता। इसीलिए तो त्रिलोचन कवि की दृष्टि में बाण की रसभाववती कविता के सामने अन्य कवियों की रचना केवल चपलतामात्र है:—

हृदि लग्नेन बाणेन यन्मदोऽपि पदक्रमः।
भवेत् कविकुरङ्गाणां चापलं तत्र कारणम्॥

राजशेखर के मत में बाण की शैली पांचाली रीति का भव्य निदर्शन है।

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीति रिष्यते।
शिला-भट्टारिका-वाचि बाणोक्तिषु च सा यदि॥

पाञ्चाली शैली का प्राण है—वर्ण्यविषय के अनुरूप पदों का विन्यास। जैसा अर्थ वैसा शब्द। यदि वर्ण्य विषय घनघोर अरण्यानी है, तो कवि की वाणी उत्कट पदावली से मण्डित है। यदि वह कामिनी के रूपलावण्य का चित्रण है, तो कवि का पदविन्यास नितान्त ललित तथा कमनीय है। शब्द के ऊपर अखण्ड साम्राज्य बाण की अन्यतम विशिष्टता है। जो वस्तु एक बार कह दी गई या पद प्रयोग हो गया है, सो हो गया। फिर उसके दुहराने की कहीं आवश्यकता ही नहीं। शब्द-दरिद्र कवि ही उन्हीं शब्दों को बार-बार रखता है, परन्तु शब्द का धनी कवि शब्द प्रयोग में कभी कंजूसी नहीं करता। उसे कमी ही किस बात की है? इस प्रकार बाणभट्ट के वर्णन में स्निग्धता है, रुचिरता है, सुगढ़ चिक्कणता है। उनमें कोई भी वस्तु अनगढ़ नहीं। कादम्बरी तो उस बगीचे के समान है जिसका प्रत्येक अवयव, प्रत्येक वस्तु कवि के द्वारा खूब सजाई गई है और जिसमें सुन्दर गुलदस्तों की बहार अपने रंग से तथा अपनी महक से पाठकों का हृदय अपनी ओर बलात् खींच लेती है।

बाण संस्कृत भाषा के सम्राट् हैं। शब्दों पर उनकी अद्भुत प्रभुता है, गद्य में अद्भुत प्रवाह है। कहीं उनका गद्य घोर रोर करने वाली बरसाती

नदियों की भाँति बड़े वेग से बहता है, तो कहीं वह शरत्कालीन शान्त सरिता के समान मन्दगति से चलकर अपूर्व सौन्दर्य दिखलाता है। वाक्यों के नवीकरण की विलक्षण योग्यता बाणभट्ट में है। 'कथितपदता' तो ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलती। सर्वत्र नव पदविन्यास, नूतन अर्थाभिव्यक्ति, मंजुल भाव-भंगी आलोचकों के लिए विस्मयावह आनंद का साधन बनती है। संस्कृत गद्य में कितनी ओजस्विता आ सकती है, कितना मंजुल प्रवाह हो सकता है, कितनी भावाभिव्यंजना हो सकती है इसका पूर्ण परिचायक बाणभट्ट की कादम्बरी है। इसीलिए प्राचीन आलोचक धर्मदास मुग्ध होकर बाण की स्तुति में यथार्थ रूप से कह रहे हैं—

रुचिर-स्वर-वर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
सा किं तरुणी? नहिं नहिं वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य॥

३

दण्डी

'अवन्ति सुन्दरी' के आधार पर दण्डी का थोड़ा चरित प्राप्त होता है। कविवर भारवि के तीन लड़के हुए जिनमें 'मनोरथ' मध्यम पुत्र था। मनोरथ के भी चारों वेदों की भाँति चार पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें 'वीरदत्त' सबसे छोटा होने पर भी एक सुयोग्य दार्शनिक था। 'वीरदत्त' की स्त्री का नाम 'गौरी' था। इन्हीं से कविवर दण्डी का जन्म हुआ था। बचपन में ही इनके माता पिता मर गये थे। ये काञ्ची में निराश्रय ही रहते थे। एक बार जब काञ्ची में विप्लव उपस्थित हुआ, तब ये काञ्ची छोड़कर जंगलों में इधर उधर भटकते फिरते थे। अनन्तर शहर में शांति होने पर ये फिर पल्लव-नरेश की सभा में आ गए और वहीं रहने लगे।

भारवि और दण्डी के इस सम्बन्ध के विषय में अब संदेह होने लगा है। जिस श्लोक के आधार पर भारवि के साथ दण्डी के प्रपितामह दामोदर की एकता मानी जाती थी उस श्लोक में नये पाठ—भेद मिलने से इस मत को बदलना पड़ा है। नया पाठ नीचे दिया जाता है—

स मेधावी कविर्विद्वान् भारविं प्रभवं गिराम्।
अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरेन्द्रे विष्णुवर्धने ॥ १।२३

पहला पाठ प्रथमान्त 'भारविः' था, अब उसके स्थान पर द्वितीयांत 'भारविं' मिला है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि भारवि की सहायता से दामोदर की मित्रता विष्णुवर्धन के साथ हो सकी। अतः दामोदर दण्डी के प्रपितामह थे, भारवि नहीं। इस नये पाठ-भेद से दोनों के समय निरूपण के विषय में किसी तरह का परिवर्तन आवश्यक नहीं है।

इस वर्णन से दण्डी के अन्धकारमय जीवन पर प्रकाश की एक गाढ़ी किरण पड़ती है। भारवि का सम्बन्ध उत्तरीय भारत से न होकर दक्षिण भारत से है हिंदुओं की पवित्र नगरी काञ्ची (आधुनिक कांजीवरम्) इनकी जन्मभूमि थी। इनका जन्म एक अत्यंत शिक्षित ब्राह्मण कुल में हुआ था। भारवि की चौथी पीढ़ी में इनका जन्म होना ऊपर के वर्णन से बिल्कुल निश्चित है। काञ्ची के पल्लव-नरेशों की छत्रछाया में इन्होंने अपने दिन सुखपूर्वक बिताए थे।

इस वर्णन से दक्षिण भारत की एक किम्वदन्ती की भी यथेष्ट पुष्टि होती है। एम० रंगाचार्य ने एक किम्वदन्ती का उल्लेख किया है कि पल्लव राजा के पुत्र को शिक्षा देने के लिये ही दण्डी ने 'काव्यादर्श' की रचना की थी। काव्यादर्श के प्राचीन टीकाकार तरुणवाचस्पति की सम्मति में दण्डी ने निम्नलिखित प्रहेलिका में काञ्ची के पल्लव नरेशों की ओर इङ्गित किया है—

नासिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता।
अस्ति काचिद् पुरी यस्यामष्टवर्णाह्वया नृपाः ॥
(पृ० ३०—श्लोक ११४

अतएव दण्डी को काञ्ची के पल्लव-नरेश के आश्रय में मानना इतिहास तथा किम्वदंती दोनों से सिद्ध होता है।

स्थिति-काल

नवम शताब्दी के ग्रंथों में दण्डी का नामोल्लेख पाये जाने से निश्चित है कि उनका समय उक्त शताब्दी से पीछे कदापि नहीं हो सकता। सिंघली भाषा के अलंकार-ग्रंथ **'सिय-बस-लकर'** (स्वभाषालंकार) की रचना काव्यादर्श के आधार पर की गई है[1]। इसका रचयिता, **राजा सेन प्रथम**, महावंश के अनुसार ८४६-६६ ई० तक राज्य करता था। इससे भी पहले के कन्नड़ भाषा के अलंकारग्रंथ **'कविराजमार्ग'** में काव्यादर्श की यथेष्ट छाया देखी गई है। इसके उदाहरण या तो काव्यादर्श से पूर्णतः लिये गए हैं या कहीं कहीं कुछ परिवर्तित रूप में रखे गए हैं। हेतु, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के लक्षण दण्डी से अक्षरशः मिलते हैं। ग्रंथ के लेखक **अमोघवर्ष** का समय ८१५ ई० के आसपास माना जाता है। अतएव काव्यादर्श की रचना नवीं शताब्दी के अनन्तर कदापि स्वीकृत नहीं की जा सकती।

यह तो दंडी के काल की अंतिम सीमा है। अब पूर्व की सीमा की ओर ध्यान देना चाहिये। यह निर्विवाद है कि काव्यादर्श के समग्र पद्य दण्डी की ही मौलिक रचना नहीं हैं। उनमें प्राचीनों के पद्य भी सन्निविष्ट हैं। 'लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः' में दण्डी के साफ तौर पर 'इति' शब्द के प्रयोग से यहाँ जाना जाता है कि कालिदास के प्रसिद्ध पद्यांश 'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति'से उद्धरण दिया गया है। अतः इनके कालिदास के अनन्तर होने में तो संदेह का स्थान ही नहीं है; परन्तु अन्य भाव-साम्य से ये बाणभट्ट के भी अनन्तर प्रतीत होते हैं।

> **अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः**
> **दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः।**

---

१ डाक्टर बारनेट—जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, १६०५।

काव्यादर्श के इस पद्य में कादम्बरी में चन्द्रापीड़ को शुकनाश द्वारा दिए गए उपदेश की स्पष्ट छाया दीख पड़ती है। दण्डी को बाणभट्ट (७ वीं सदी पूर्वार्द्ध) के अनन्तर मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं जान पड़ती है। प्रो० पाठक की सम्मति में काव्यादर्श में निर्वर्त्य, विकार्य तथा प्राप्य हेतु का विभाग वाक्यपदीय के कर्ता भर्तृहरि (६५० ई०) के अनुसार किया गया है[1]।

काव्यादर्श में उल्लिखित राजवर्मा (रातवर्मा) को यदि हम नरसिंहवर्मा द्वितीय (जिसका विरुद अथवा उपनाम राजवर्मा था) मान लें, तो किसी प्रकार की अनुपपत्ति उपस्थित नहीं होती। प्रो० आर० नरसिंहाचार्य[2] तथा डाक्टर बेलवल्कर[3] ने भी इन दोनों की एकता मानकर दंडी का समय सातवीं सदी का उत्तरार्द्ध बतलाया है। शैव धर्म के उत्तेजक पल्लवराज नरसिंह वर्मा का समय ६९०–७१५ माना जाता है। अतः इनके सभा कवि दण्डी का समय सप्तम शती के अन्त तथा अष्टम के आरंभ में मानना उचित प्रतीत होता है।

दण्डी के तीन ग्रंथों की रचना परम्परया प्रसिद्ध है जिनमें काव्यादर्श तो उनकी निःसन्दिग्ध रचना है। 'दशकुमार चरित' सुप्रसिद्ध गद्यकाव्य है जिसमें दशकुमारों का विचित्र रोमहर्षण चरित सरस गद्य में निबद्ध किया गया है। कुछ लोग काव्यादर्श में उल्लिखित 'छंदोविचिति' को इनकी तीसरी रचना मानते हैं, परन्तु विद्यारूप से निर्दिष्ट होने के कारण यह ग्रन्थ सिद्ध नहीं होता (सा विद्या नौर्विवक्षूणाम्—काव्यादर्श १।१०) इसीलिए 'अवंति सुन्दरी' दण्डी की तृतीय रचना मानी गई है[4]।

दशकुमार-चरित

महाकवि दण्डी का 'दशकुमार चरित' संस्कृत साहित्य की गौरवमयी गद्यकाव्यत्रयी में अपने आख्यानों की रोमाञ्चकता तथा कौतूहलपूर्णता के

---

१ पाठक—इंडियन ऐंटिक्वेरी १९१२ ई० ;
२ Indian Antiquary. 1912 P. 90.
३ Notes on काव्यदर्श II chapter PP. 176-77
४ अनन्तशयन ग्रन्थमाला; सं० १७२, (१९५४), में प्रकाशित।

कारण एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह दशकुमारों के विचित्र चरित्र का श्लाघनीय संग्रह है। इसमें दो पीठिकायें हैं, जिनमें न उत्तर पीठिका ही दण्डी की वास्तव रचना मानी जाती है, और न पूर्व पीठिका ही ग्रन्थ का मूल अंश माना जाता है। हाल में 'अवन्ति सुन्दरी' कथा नामक गद्यकाव्य की उपलब्धि से इस प्रश्न का एक बोधगम्य तथा विश्वसनीय उत्तर आलोचकों के सामने आया है। यह 'अवन्तिसुन्दरी' कथा दण्डी की ही मौलिक कृति है, परन्तु कालान्तर में इसकी उपलब्धि न होने से इसी के कथानक को पूर्वपीठिका के रूप में आदि में जोड़कर दशकुमार चरित को पूर्ण तथा क्रमबद्ध बनाया गया है। मूलग्रन्थ तथा पूर्वपीठिका के कथानकों के अवान्तर घटनावैषम्य का कारण यही जोड़ने की विशृंखलता है। मूल ग्रन्थ के आठ उच्छ्वासों में केवल आठ ही कुमारों की कार्यावली का रुचिर विन्यास है, परन्तु नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिए पूर्वपीठिका में अन्य दो कुमारों का चरित्र जोड़ दिया गया है तथा अधूरे ग्रन्थ को पूर्णता की कोटि पर पहुँचाने के लिए अन्त में उत्तरपीठिका भी जोड़ी गई है। इस प्रकार आरम्भ में पूर्वपीठिका से तथा अन्त में उत्तरपीठिका से संपुटित मूल ग्रन्थ ही आज 'दशकुमार चरित' के अभिधान से विख्यात है।

कथानक

पुष्पपुरी (पटना) का राजा राजहंस मालवेश्वर मानसार को परास्त करता है, परन्तु तपस्या के बल से प्रभावसम्पन्न होकर मानसार पाटलिपुत्र पर चढ़ाई करता है और राजा को युद्ध में हराता है। राजहंस जंगल में चला जाता है और वहीं राजवाहन नामक पुत्र उसे उत्पन्न होता है। उसके मन्त्रियों के भी पुत्र उत्पन्न होते हैं। ये बड़े होने पर यात्रा के निमित्त परदेश जाते हैं और भाग्य की विषमता के कारण अलग अलग देशों में पहुँच जाते हैं तथा विचित्र संकटपूर्ण जीवन बिताते हैं। राजवाहन से पुनः भेंट होने पर वे आपबीती सुनाते हैं और इन्हीं साहसी कुमारों के साहसपूर्ण घटनाओं का आकर्षक वर्णन प्रस्तुत करने वाला आख्यान-ग्रन्थ 'दशकुमार चरित' कहलाता है।

'दशकुमार चरित' एक घटना-प्रधान कथानक है जिसमें नाना प्रकार की उल्लासमयी रोमाञ्चक घटनाएँ पाठकों के हृदय में कभी विस्मय की और कभी विषाद की रेखायें खींचने में नितान्त समर्थ होती हैं। कहीं पाठक भयानक अरण्यानी के बीच हिंस्र पशुओं के चीत्कारों तथा दहाड़ों को सुनकर व्यग्र हो उठता है तो कहीं वह समुद्र के बीच जहाज टूट जाने से अपने को पानी में काठ के सहारे तैरता हुआ पाता है। इन कहानियों का सम्बन्ध दोनों क्षेत्रों से है—स्थल जगत् से तथा जल जगत् से। मित्रगुप्त के जीवन में हमें तात्कालिक जलयात्रा का एक बड़ा ही रोचक चित्र मिलता है। मित्रगुप्त दामलिप्ति (ताम्रलिप्ति) नामक प्रख्यात वंगीय बन्दरगाह से किसी नवीन द्वीप में जहाज से जाता है। चट्टान का चोट पाकर जहाज टूट जाता है। बहुत देर तक तैरने के बाद संयोगवश उसे काठ का एक तैरता हुआ टुकड़ा मिलता है। रात दिन उसी के सहारे बिताने पर यवन नाविकों का एक जहाज दिखलाई पड़ती है जिसके कप्तान (नाविक-नायक) का नाम 'रामेषु' है। यवनों के ऊपर अन्य युद्धपोत (मद्गु) का आक्रमण होता है। यवन नाविक इस नवीन विपत्ति से विचलित हो उठते हैं। मित्रगुप्त जिसे जंजीरों से बाँधा गया है मुक्त कर दिया जाता है। वह इस पोत के डाकुओं को अपनी वीरता से हराकर यवनों को बचाता है और उनसे पुरस्कृत होकर पुनः स्वदेश लौट आता है। इसी प्रकार की रोमाञ्च तथा साहस से भरी हुई विस्मयावह घटनाओं से पूर्ण होने के कारण 'दशकुमार चरित' का वातावरण नितान्त भौतिक है। छल-कपट, मार-काट तथा साँच-झूठ से ओत-प्रोत होने के कारण यह एक अत्यन्त सजीव रचना है। दण्डी की प्रतिभा घटनाओं की यथार्थता में चरितार्थ होती है। यथार्थवाद यहाँ प्रतिपृष्ठ पर प्रतिबिम्बित हो रहा है।

'रामेषु' सीरिया की शामी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है सुन्दर ईसा' (राम=सुन्दर, ईषु=ईसा)। ईसाई धर्म के प्रचार के कारण यह नाम उस समय यवन नाविकों में चल चुका था। गुप्त काल में भारत की नौसेना के बेड़े देशान्तरों से व्यापार करने में तथा रत्नाकरों की मेखला से युक्त भारतभूमि की रक्षा करने में नितान्त पटु थे। दण्डी के इस वर्णन

से इस घटना की पुष्टि होती है। दण्डी के द्वारा निर्दिष्ट 'मद्‌ग' नामक जंगी जहाज झपट्टा मारने वाले समुद्री पक्षी की समता रखने के कारण इस नाम से पुकारा गया है। दशकुमार के तृतीय उच्छ्वास में 'खनति' नामक एक यवन व्यापारी से एक बहुमूल्य हीरा ठगने का उल्लेख है। 'खनति' की व्युत्पत्ति का पता नहीं कि यह किस भाषा का शब्द है परन्तु इतना तो निश्चित है कि दण्डी के युग में इरानी व्यापारी भारत में हीरा-जवाहिरात का व्यापार करते थे।

दण्डी ने तत्कालीन समाज को अपनी पैनी दृष्टि से देखा था। इसलिए तत्कालीन समाज का व्यंग्य और विनोद से भरा यथार्थ चित्रण विशेष हृदया-वर्जक है। समाज के शोभनपक्ष की अपेक्षा अशोभन पक्ष का भी चित्र प्रस्तुत कर दण्डी ने अपने चित्रण में जान फूँक दी है। दम्भी तपस्वी, कपटी ब्राह्मण तथा छली वेश्याओं का चित्रण इतनी रुचिरता तथा यथार्थता के साथ किया गया है कि उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप पाठकों के हृदय पर पड़ता है। 'अपहार वर्मा' के प्रसंग में 'काममञ्जरी' नामक वेश्या मरीचि नामक तापस को कितनी विदग्धता तथा बहादुरी से ठगती है यह देखने का विषय है। इस कथा में दण्डी ने तापसों के दम्भ तथा अभिमान पर खूब ही फबतियाँ कसी हैं। नारी-हृदय की परख दण्डी को खूब ही थी। कहीं परिवंचक क्रूरहृदया नारी का जघन्य चित्र है, तो कहीं पतिप्राणा पतिव्रता के कोमल हृदय की मनोरम झाँकी है 'धूमिनी' स्त्री हृदय की क्रूरता का जघन्य प्रतीक है, तो 'गोमिनी' पतिप्राणा सती गेहिनी की उज्ज्वल मूर्ति है। धूमिनी जैसे क्रूरहृदया नारी के चित्रण के लिए आलोचक-समाज दण्डी का सर्वदा ऋणी रहेगा।

इन कथानकों में कौतुक और विस्मय-जनक घटनाओं की प्रचुरता के कारण यहाँ 'अद्‌भुत रस' का प्रभूत संचार है। दण्डी नाना विद्याओं तथा शास्त्रों के पारंगत पण्डित प्रतीत होते हैं। इसलिए राजनीति का अन्तरंग वर्णन, कामशास्त्र के गूढ़ तथ्यों का प्रकटीकरण तथा चौरशास्त्र की अद्‌भुत बातें किस पाठक को दण्डी के व्यापक तथा विचित्र पांडित्य का परिचय नहीं देतीं? तथ्य यह है कि पल्लव नरेशों की छत्रछाया में रहने पर भी दण्डी

दरबारी जीवन से कोसों दूर हैं। वे जनता के कवि हैं और इसलिए उनके गद्यकाव्य में जनता के हर्षविषाद, सुख-दुख, आनन्द-वेदना का परिष्फुरण पर्याप्त मात्रा में हुआ है। सप्तम शतक में भारतीय जनसाधारण के खेल-कूद, आमोद-प्रमोद, आचार-विचार की जानकारी के लिए 'दशकुमार चरित' का परिशीलन नितान्त उपयोगी और उपादेय है।

दण्डी के युग में शैवधर्म की प्रधानता थी। उज्जयिनी शैव धर्म की एक प्रधान पीठस्थली थी जहाँ 'महाकाल' का मंदिर कालिदास के समय से ही धार्मिक जनता का ध्यान आकृष्ट करता था। उस युग में यह शिक्षा का केन्द्र भी था जहाँ बालक शिक्षण के निमित्त भेजे जाते थे। राजधानियों में शिव तथा स्वामी कार्तिकेय के भी मंदिर होते थे जहाँ विशेष पर्वों के अवसर पर राजा अपने परिवार के साथ दर्शनार्थ जाया करता था। श्रावस्ती नगरी में त्र्यम्बक (शिव) के समाज जुटने का उल्लेख है (पृ० १६५)। जैनधर्म भी पल्लवित था। जैन विहारों की सत्ता का अनेक स्थलों पर संकेत किया गया है। बौद्धधर्मावलम्बिनी शाक्यभिक्षुणी विवाह कार्य के लिए दौत्यकर्म किया करती थी—जो उनके सामाजिक हीनता का विशेष परिचायक है। जनपदीय जनता का एक सभागृह होता था जिसमें उनके मनोरंजन के लिए संगीत का अनुष्ठान होता था। जनता के लिए इस युग में अनेक उत्सव हुआ करते थे जिनमें **कामोत्सव** (आधुनिक होली) प्रमुख स्थान रखता था। गावों में मुर्गों का युद्ध भी लोकप्रिय था जिसे देखने के लिए लोग उमड़ पड़ते थे। मुर्गे दो प्रकार के बतलाये गये (पृ० १६७)—**बालाका** जाति का दीर्घग्रीव सफेद मुर्गा। तथा **नारिकेल** जाति का काला मुर्गा। पान खाने की विशेष चाल थी। आगन्तुक मित्र के सत्कार के लिए कपूर से सुगन्धित पान के बीड़ा देने की प्रथा थी। व्यवसाय का विशेष प्रचलन था। आज की तरह बाघ के चर्म तथा हति (मशक) के बेचने की चाल उस समय खूब थी (पृ० २७०) कुएँ से जल निकालने के लिए 'वंशनाली' (बाँस का चोंगा) का प्रयोग किया जाता था (पृ० २५०)।

साहित्यिक दृष्टि में 'दशकुमार चरित' एक श्लाघनीय रचना है। यह आख्यान काव्य का उज्ज्वल दृष्टान्त है जिसके पात्र जीते जागते जगत् के

प्राणी हैं और जिनका चित्रण शिष्ट हास्य तथा मधुर व्यंग्य का आश्रय लेकर प्रस्तुत किया गया है। कथानक में पारस्परिक मनोरम सामञ्जस्य है। वर्णन की स्वल्पता न तो कथानक के प्रवाह को रोकती है और न अवान्तर कथायें मुख्य कथा में किसी प्रकार का अवरोध खड़ा करती हैं। दण्डी की गद्यशैली बड़ी ही सुबोध, सरस तथा प्रवाहमयी है। उनका गद्य न तो श्लेष के बोझ से कहीं दबा हुआ और न कहीं समास के प्रहार से प्रताड़ित है। उनका गद्य दिन-प्रतिदिन के व्यवहार-योग्य, सजीव और चुस्त है। उसकी प्रासादिकता दण्डी की निजी विशेषता है। ये अपनी भाषा को अलंकारों के आडम्बर से सदा बचाते हैं। इसीलिए इनकी भाषा प्रवाहपूर्ण, मँजी हुई और मुहावरेदार है। सौबन्धव गद्य के समान न तो यह प्रत्यक्षर श्लेषमय है और न बाणीय गद्य के सदृश यह समासों से लदी हुई तथा गाढ़बन्धता से मण्डित है। तथ्य यह है कि गद्य के इतिहास में दण्डी का अपना निजी मार्ग है। वे सुबन्धु तथा बाण इन दोनों की शैली का अनुगमन न कर एक नवीन प्रकार की शैली के उद्भावक हैं जिसके विशेष गुण हैं—अर्थ की स्पष्टता, रस की सुन्दर अभिव्यक्ति, पद का लालित्य तथा दैनन्दिन प्रयोग की क्षमता। 'दण्डिनः पदलालित्यम्' के ऊपर पण्डित-समाज अपने को निछावर किये हुए है।

व्यावहारिक शैली के अनुरूप ही शब्दों का व्यावहारिक चयन है। इन व्यवहार में आनेवाले वस्तुओं के परिचायक शब्दों का अर्थ-संकेत संस्कृत कोषों में बहुशः किया गया अवश्य है, परन्तु उन्हें प्रयोग में लाने की प्रेरणा दण्डी ने प्रदान की है। दण्डी ने इन्हें व्यवहार-योग्य बनाया। इन शब्दों का आज राष्ट्रभाषा में व्यवहार उसे सक्षम तथा सामर्थ्यशाली बनायेगा। पान के पनडब्बा के लिए 'उपहस्तिका' (पृ० १६८), लँगोटी के लिए 'मलमल', एक जोड़ी धोती के लिए 'उद्गमनीय', पानी निकालने के लिए पात्र या डोल के निमित्त 'उदञ्चन', भूसी के लिए 'किशारु' तथा तक्र के लिए 'कालशेय', युद्धपोत के लिए 'मद्गु', जनपदीय सभा के लिए 'पञ्चवीर गोष्ठ'—इन शब्दों का अर्थतः संकेत प्राचीन होने पर भी प्रयोगतः प्रथम व्यवहार दण्डी का वैशिष्ट्य है। 'अभवदीयं हि नैव किञ्चित् मत्सम्बद्धम्' (मेरा सब कुछ आप

ही का है) तथा 'जीवितं ही नाम जन्मवतां चतुः पंचाण्यहानि' (जीवन है दो चार दिनों का)—आदि वाक्य छोटे होने पर भी नितान्त अभिव्यंजक तथा सरस हैं। इन्हीं गुणों के कारण प्राचीन आलोचक लोग दण्डी को वाल्मीकि तथा व्यास के अनन्तर होनेवाला तत्समक्ष तृतीय कवि मानते हैं—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

महाकवि बाणभट्ट ने गद्य काव्य में लिखने में जो पद्धति चलाई उसका अनुकरण परवर्ती कवियों ने बड़े अभिनिवेश के साथ किया। धनपाल (१० वीं श०) की तिलकमञ्जरी ऐसे ही अनुकरण का श्लाघनीय प्रयास है। ये काश्यप गोत्रीय जैन थे और भोजराज के पितृव्य मुञ्जराज के सभासद् थे। इनकी तिलकमञ्जरी की भाषा बड़ी ओजस्विनी तथा प्रभावशालिनी है।

वादीभसिंह का 'गद्यचिन्तामणि' अलंकृत शैली में लिखा गया एक रोचक गद्यकाव्य है। इसमें जिनसेन के 'महापुराण' (८९७ ई०) में वर्णित जीवन्धर की कथा का वर्णन ११ लम्भों में किया गया है। वादीभ ने इसी कथा को अनुष्टुप जैसे सरल छन्द में लिख कर 'क्षत्रचूडामणि' (७४१ अनुष्टुपों में प्रणीत काव्य) का निर्माण किया है। इनका समय एकादशशती में माना जाता है। इनका गद्य पर्याप्त रूप से रोचक तथा हृदयावर्जक है। हरिश्चन्द्र ने अपने 'जीवन्धर चंपू' के वादीभसिंह के द्वारा पूर्वोक्त दोनों काव्यों में वर्णित कथानक का संक्षेप रूप प्रस्तुत किया है।

'वेमभूपाल चरित' या 'वीरनारायण चरित' वामनभट्ट बाण की श्लाघनीय रचना है[1]। वेमभूपाल कवियों के आश्रयदाता ही न थे, स्वयं सरस्वती के उपासक थे। उनकी मुख्य साहित्यिक कृतियाँ हैं—शृंगारमंजरी (अमरुकशतक की टीका), सप्तशतीसार तथा साहित्य-चिन्तामणि। ये त्रिलिंग पर शासन करने वाले 'काम' नामक राजा के वंश में उत्पन्न हुए। अपने पिता पेड्ड कोमटीन्द्र के अनन्तर ये शासन के अध्यक्ष लगभग १४०३ ई० में हुए। बड़े दानशील थे। इनके द्वारा ब्राह्मणों को दिये गये अनेक ग्रामों का उल्लेख

---

१ श्रीवाणीविलास प्रेस श्रीरंगम से प्रकाशित

शिलालेखों में मिलता है। इन्हीं के सभाकवि वामनभट्ट थे जो वत्सगोत्रीय तथा कोमटियज्वा के सुपुत्र थे। बाण के हर्षचरित से स्फूर्ति ग्रहण कर इन्होंने इस सुन्दर गद्यकाव्य की रचना की है। षड्भाषावल्लभ, कविसार्वभौम तथा अभिनव भट्ट बाण—ये इनकी तीन उपाधियाँ मिलती हैं। इस कवि का पद्य-विन्यास मधुर है, अलंकारयोजना सरस है तथा अर्थ का प्रकटीकरण सुन्दर है। वत्सगोत्रीय बाण को परास्त करने के विचार से वामनभट्ट ने इस गद्य-काव्य का निर्माण किया[1]। वामनभट्ट बाण की अन्य ख्यात रचयायें हैं—**नलाभ्युदय** (नलविषयक अपूर्ण काव्य-अनन्तशयन ग्रंथमाला नं० ३), **रघुनाथ चरित** (३० सर्गों का अप्रकाशित महाकाव्य), **पार्वती परिणय**, **कनकलेखा** तथा शब्दचंद्रिका तथा शब्दरत्नाकर नामक दो कोषग्रन्थ (अप्रकाशित)। 'पार्वतीपरिणय' एक सरस नाटक है जो नामसाम्य के कारण सुप्रसिद्ध बाणभट्ट के ऊपर भी आरोपित किया जाता है। शृंगारभूषण एक ललित भाण है। इन ग्रंथों का रचयिता निःसन्देह एक प्रतिभाशाली कवि होने का अधिकारी है[2]।

सोड्ढल (११ वीं शती) की 'उदय सुंदरी कथा' गद्य साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती है। लेखक गुजरात का रहने वाला शैव मताव-लम्बी कायस्थ था। लाट देश के राजा वत्सराज (मृत्यु सं० १०५० ई०) के समय में यह ग्रंथ समाप्त हुआ। यह कथा गद्य-पद्यात्मिका है। इसके आठ उच्छ्वासों में प्रथम उच्छ्वास कविवंश का वर्णन करता है। नायिका नागलोकों के अधिपति शिखण्डतिलक की कन्या उदयसुंदरी है और नायक प्रतिष्ठानपुर का राजा मलयवाहन है। कवि का रचनाकौशल चमत्कार-जनक है।

———

१ बाणादन्ये कवयः काणाः खलु सरस गद्यसरणीषु।
इति जगति रूढमयशो वामनबाणोऽपमार्ष्टि वत्सकुलः
—श्लोक ६, पृ० २।

२ पार्वतीपरिणय श्रीरंगम के वाणीविलास प्रेस से तथा शृंगारभूषण निर्णयसागर से प्रकाशित हैं।

चम्पूकाव्य

चम्पूकाव्य

चम्पूकाव्य उस मिश्रकाव्य का अभिधान है जिसमें गद्य तथा पद्य का मिश्रण रहता है—गद्य पद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते। इस मिश्रण का समुचित विभाग यही प्रतीत होता है कि भावात्मक विषयों का वर्णन पद्य के द्वारा हो तथा वर्णनात्मक विषयों का विवरण गद्य के द्वारा हो, परन्तु चम्पू के लेखकों ने इस तत्त्व का अनुसरण तथा पालन अपने ग्रंथों में समुचित रीति से नहीं किया। इस विभाग के मनोवैज्ञानिक वैशिष्ट्य पर उन्होंने ध्यान कम दिया है। फलतः गद्य में वर्णित विषय का ही विवरण कहीं कहीं पद्यों में उपलब्ध होता है तथा कहीं शुद्ध वर्णन ही पद्यों के द्वारा उपन्यस्त किये गये हैं। गद्य की यहाँ भी वही शैली है जो गद्य-काव्यों में प्रयुक्त की गई है। इसीलिए गद्य काव्य से चम्पूकाव्य की स्वतन्त्र विशिष्टता का संरक्षण उचित मात्रा में हो नहीं सका। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य में चम्पूकाव्य के प्रति पाठकों का विशेष अनुराग नहीं जनम सका, यद्यपि इस प्रकार का भी साहित्य मात्रा में विपुल तथा रचना में कम आकर्षक नहीं है।

चम्पूकाव्य गद्यकाव्य का ही प्रकारान्तर से उपबृंहण प्रतीत होता है। इसीलिए इसके उदय का काल गद्यकाव्य के सुवर्णयुग से पश्चाद्वर्ती है। दशम शती से प्राचीन चम्पू की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई। गद्य तथा पद्य के मिश्रण की वैदिक संहिताओं विशेषतः कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताओं में उपलब्धि अवश्यमेव होती है तथा संवादसूक्तों की व्याख्या में भी डा० ओल्डनवर्ग गद्य-पद्यात्मक रूप की कल्पना न्याय्य मानते हैं, परन्तु यह चम्पू का प्रकार नहीं माना जा सकता। गद्य तथा पद्य के जिस मिश्रण की शैली 'चम्पू' के लिए समुचित मानी जाती है उसका दर्शन न तो वैदिक साहित्य में होता है और न पाली गद्य-पद्य से मिश्रित जातकों में ही। पद्य के साथ गद्य को मिश्रित बनाने की पद्धति विक्रम की द्वितीय शती में भी लक्षित होती है। आर्यसूर की 'जातकमाला' इसका सुंदर दृष्टांत है। हरिषेण की प्रयाग-प्रशस्ति में पद्य के साथ गद्य की समन्वित रचना पाई जाती है। अतः इन्हें चम्पू काव्य के पूर्वरूप मानने में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं दिखलाई पड़ती;

परन्तु काव्य के सम्पूर्ण लक्षणों से समन्वित चम्पू की रचना के नमूने बहुत ही पीछे के समय के आजकल मिलते हैं।

नल चम्पू ही चम्पू-काव्य का प्रथम निदर्शन है—चम्पू-काव्य का पहला उदाहरण है जिसमें कवि ने गद्य तथा पद्य दोनों में समान भाव में काव्यगुणों का उत्कर्ष दिखाने का स्पृहणीय उद्योग दिखाया है।

नल-चम्पू के रचयिता का नाम **त्रिविक्रम** है। इनका शाण्डिल्य गोत्र में जन्म हुआ था। इनके पितामह का नाम **श्रीधर** था तथा पिता का नेमादित्य[1] (नलचम्पू १।१६,२०)। ये नेमादित्य अपने समय के एक प्रसिद्ध विद्वान् थे तथा किसी राजा की सभा में इन्हें प्रधान पण्डित का पद मिला था। नल-चम्पू की रचना के विषय में पण्डितमण्डली में एक प्रवाद प्रसिद्ध है जिसका उल्लेख यहाँ किया जाता है। सुनते हैं कि त्रिविक्रम भट्ट बचपन में बड़े मूर्ख थे—कुछ भी पढ़े लिखे न थे। इनके पिता किसी राजा के यहाँ सभापण्डित थे, कार्यवश कहीं बाहर गये थे। उसी समय दिग्विजय की लालसा से कोई इनके पिता का विद्वेषी विद्वान् सभा में आया और किसी पण्डित से शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रगट की। नेमादित्य को घर से बुलाने के लिये दूत भेजा गया परन्तु नेमादित्य की अनुपस्थिति में त्रिविक्रम-भट्ट को राजसभा में चलने के लिये कहा गया। त्रिविक्रम ने अपनी कुलदेवी सरस्वती से पिता की प्रतिष्ठा रखने के लिये प्रार्थना की। सरस्वती ने आशीर्वाद दिया कि जब तक तुम्हारे पिता लौटकर नहीं आते, तब तक मैं तुम्हारे मुख में निवास करूँगी। भारती के प्रसाद को पाकर त्रिविक्रम राज-सभा में पधारे और प्रतिपक्षी पण्डित को परास्त किया। राजा ने इनका अतिशय आदर सत्कार किया। घर लौट आने पर इन्होंने विचारा कि जब तक भगवती की दया है तब तक मैं कोई ललित प्रबन्ध बनाऊँ। अतएव

---

१ नलचम्पू की किन्हीं प्रतियों में इनके पिता का नाम 'देवादित्य' मिलता है, परन्तु यह ठीक नहीं। 'नेमादित्य' ही सच्चा नाम मालूम पड़ता है; क्योंकि त्रिविक्रम ने इन्द्रराज के नौसारी शिलालेख में अपने को नेमादित्य का पुत्र बतलाया है—

उन्होंने नलचम्पू का लिखना प्रारम्भ किया। जिस दिन सप्तम उच्छ्वास समाप्त हुआ, उसी दिन इनके पिता घर लौट आये। सरस्वती इनके मुँह से निकल गई और जहाँ तक लिखा गया था, वहीं तक यह काव्य रह गया। इस किम्वदन्ती का उल्लेख नलचम्पू की विवृति नामक टीका के प्रारम्भ में किया गया है।

नलचम्पू की रचना का समय अन्तरंग तथा बहिरंग प्रमाणों के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। नलचम्पू के प्रथम उच्छ्वास में त्रिविक्र ने बाणभट्ट का नामनिर्देश किया है—

शश्वत्बाणद्वितीयेन नमदाकारधारिणा
धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रञ्जितो जनः।

इससे सिद्ध है कि नलचम्पू की रचना बाणभट्ट के पीछे की गई थी। भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में नलचम्पू का निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है :—

पर्वतभेदि पवित्रं जैत्रं नरकस्य बहुमतं गहनम्।
हरिमिव हरिमिव हरिमिव वहति पयः पश्यत पयोष्णी॥

(नल चम्पू ६।६१)

अतएव त्रिविक्रमभट्ट बाण तथा भोज के बीच में थे। इस ग्रंथ की रचना सप्तम शतक तथा एकादश शतक के किसी मध्य काल में की गई थी। राष्ट्रकूटवंशी राजा कृष्ण द्वितीय के पौत्र, राजा जगत्तुंग और लक्ष्मी के पुत्र इन्द्रराज तृतीय त्रिविक्रमभट्ट के आश्रयदाता थे। ये हैदराबाद के अन्तर्गत मान्यखेट के राजा थे। ये अपने राज्याभिषेक के लिए कुरुंडक नामक नगर (कृष्णानदी का संगमस्थ नगर) चले गये थे जहाँ इनका राज्याभिषेक वि० सं० ९७२ (=९१५ ईस्वी) में फाल्गुन शुक्ला सप्तमी को हुआ था। उस समय राजा ने तुलादान दिया था। तथा ब्राह्मणों को

श्री त्रिविक्रमभट्टेन नेमादित्यस्य सुनुना।
कृता शस्ता प्रशस्तेयमिन्द्रराजाङ्घ्रिसेविना॥

अनेक गाँव दान दिये थे। इस समय का कुरंडक ताम्रलेख[1] चम्पू लेखक त्रिविक्रम की ही रचना है जिसका प्रशस्ति के अन्त में स्वयं उल्लेख है। यह लेख नवसारी से प्राप्त हुआ है। इन्द्रराज महाप्रतापी, विजेता तथा दीनशील महीपति था। उसने कान्यकुब्ज पर आक्रमण कर प्रतिहारवंशीय नरेश महीपाल को परास्त किया था। महीपाल के ही दरबार में प्रख्यात नाटककार राजशेखर प्रसिद्ध कवि थे। इस प्रकार त्रिविक्रम तथा राजशेखर समकालीन हैं। त्रिविक्रम का समय दशवीं शती का प्रथमार्ध निश्चित रूप से निर्धारित होता है।

ग्रंथ

महाकवि त्रिविक्रम भट्ट की दो रचनाओं का पता चलता है। ये दोनों ही चम्पूकाव्य हैं। इनके अतिरिक्त कविवर ने अपने आश्रयदाता राष्ट्रकूट वंशीय इन्द्रराज (तृतीय) की प्रशस्ति लिखी है। इस प्रशस्ति की रचना-शैली भी नलचम्पू की काव्य-रीति से बिलकुल समानता रखती है। इस प्रशस्ति से एक मनोहर 'मालिनी' यहाँ उद्धृत की जाती है—

जयति विबुधबन्धुर्विन्ध्यविस्तारिवक्षः-
स्थलविमलविलोलत्कौस्तुभः कंसकेतुः।
मुखसरसिजरङ्गे यस्य नृत्यन्ति लक्ष्म्याः
स्मरभरपरिताम्यत्तारकास्ते कटाक्षाः॥

त्रिविक्रम विरचित दोनों काव्य-ग्रंथ चम्पू हैं। एक का नाम है **मदालसा चम्पू** और दूसरे का **नलचम्पू**[2]। मदालसा चम्पू के विषय में विशेष ज्ञात नहीं है। नलचम्पू को ही **दमयन्ती-कथा** के नाम से पुकारते हैं।

इस काव्य में सात उच्छ्वास हैं। ग्रंथ के आरम्भ में कवि ने शिव की स्तुति के अनन्तर कवि-प्रशंसा तथा खलनिन्दा की है। पीछे वाल्मीकि, व्यास, बाण तथा गुणाढ्य की कविता की प्रशस्त प्रशंसा है। संक्षेप में कवि-चरित भी

१. यह शिलालेख एपिग्राफिका इण्डिका (Epigraphica Indica) के भाग ९ पृष्ठ ३२ में छपा है।

२. 'विषयपदप्रकाश' टीका के साथ निर्णयसागर से प्रकाशित १९३१ ई०

दिया है। पहले उच्छ्वास में कथा का आरंभ है। शेष उच्छ्वासों में कथा का विस्तार किया गया है। नल के चरित्र वर्णन करने में कविवर ने अपनी नवीन कल्पना का अधिक उपयोग किया है। कवि ने इस ग्रंथ को स्वयं 'दमयन्ती कथा' कहा है। इसके प्रत्येक उच्छ्वास के अन्तिम पद्य में 'हरचरण-सरोज' पद कवि ने दिया है। अतः जिस प्रकार माघ काव्य 'श्र्यङ्क' तथा किरात 'लक्ष्म्यङ्क' कहे जाते हैं उसी प्रकार त्रिविक्रम ने इस कथा को 'हरचरण सरोजाङ्का' कहा है।

समीक्षा

त्रिविक्रम भट्ट की संस्कृत साहित्य में अत्यधिक प्रसिद्धि है। इनके मनोरम पद्यों को अलंकारों के दृष्टान्त देने के लिए भोजराज तथा विश्वनाथ कविराज ने अपने अलंकार-ग्रंथों में उद्धृत किया है। नल चम्पू में एक विचित्र विशिष्टता है। त्रिविक्रम संस्कृत साहित्य के सर्वप्रधान श्लेष कवि हैं। नलचम्पू में जैसे सरस तथा प्रसन्न श्लेष पाये जाते हैं, उतने रमणीय तथा चमत्कार-जनक श्लेष इतनी अधिकता में अन्यत्र समुपलब्ध नहीं होते। त्रिविक्रम के लगभग चार सौ वर्ष पहिले सुबन्धु ने भी प्रत्यक्षरश्लेषमयी वासवदत्ता का निर्माण किया था जिसने बाणभट्ट के कथनानुसार कवियों के गर्व को चूर्ण कर दिया (कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया) परन्तु त्रिविक्रम के सामने सुबन्धु की कविता फीकी जँचती है। अपने प्रबन्ध को प्रत्यक्षरश्लेषमय बनाने की प्रतिज्ञा को निभाने के लिये कविबन्धु सुबन्धु ने खूब प्रयत्न किया है—कोई उपाय छोड़ा नहीं है और इस कार्य में उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है; परन्तु इस कारण से इनका गद्य अत्यन्त कठिन हो गया है। नितान्त अप्रचलित तथा अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग इनके गद्य में अधिकता से किया गया मिलता है। सुबन्धु ने अभङ्ग श्लेष को ही विशेषतया अपनाया है परन्तु त्रिविक्रमभट्ट ने अप्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग से अपने काव्य को खूब बचाया है। 'शय्या' इतनी रमणीय है कि कोई भी पद अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता। नल चम्पू की सबसे अधिक विशिष्टता है—सभङ्ग श्लेष का प्रयोग। कवि को पता है कि सभङ्ग श्लेष के कारण कविता में कठिनता आ जाती है (वाचः

काठिन्यमायान्ति भङ्गश्लेषविशेषतः) परन्तु सहृदय आलोचक एक स्वर से पुकारते हैं कि त्रिविक्रम की तरह सरल सभंग श्लेष संस्कृत में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। त्रिविक्रम ने छोटे छोटे अनुष्टुभों में इतनी सुंदरता के साथ सभंग-श्लेष का प्रयोग किया है कि उसके समझने में पदों के विशेष तोड़मरोड़ करने की जरूरत नहीं होती और अर्थ भी अनायास विशेष परिश्रम के बिना हृदयंगम हो जाते हैं। श्लेप के अतिरिक्त अन्य अलंकारों का भी प्रयोग कम चमत्कार-जनक नहीं है। इनकी 'परिसंख्या' भी कम मजेदार नहीं है।

त्रिविक्रमभट्ट का दूसरा नाम 'यमुना-त्रिविक्रम' था। घंटा-माघ तथा ताल-रत्नाकर की तरह रसिक आलोचकों ने इनके एक पद्य के रमणीय भाव पर मुग्ध होकर इन्हें यह नाम प्रदान किया था। वह पद्य नलचम्पू के षष्ठ उछ्वास के प्रारम्भ में पाया जाता है :—

उदयगिरिगतायां प्राक् प्रभापाण्डुताया-
मनुसरति निशीथे शृंगमस्ताचलस्य।
जयति किमपि तेजः साम्प्रतं व्योममध्ये
सलिलमिव विभिन्नं जाह्नवं यामुनं च।

रात का अवसान हो चला है। प्रभात की वेला समीप है। राजा को निद्रा से जगाने के लिए वैतालिक कह रहा है कि राजन्! प्रभात हो रहा है। इधर उदयगिरि के शिखर पर प्रभा के कारण प्रकाश चमक रहा है, उधर अन्धकार अस्ताचल की चोटी पर निवास करने के लिए जा रहा है। इस समय आकाश के बीचोबीच कोई अवर्णनीय तेज (प्रकाश और अन्धकार के संमिश्रण से उत्पन्न तेज) शोभित हो रहा है। जान पड़ता है मानो नीलवर्णा यमुना के जल से संगत पुण्यसलिला श्वेतनीरा आकाशगंगा का जल हो। श्वेत प्रकाश तथा नील तम के मिश्रण के लिए कालिन्दी के जल से मिश्रित गंगाजल की उपमा वास्तव में रमणीय है। पहले तो नभोमण्डल में केवल आकाशगंगा की ही स्थिति की बात कविजनों को ज्ञात थी; परन्तु इस स्थान पर त्रिविक्रम ने अपनी मौलिक प्रतिभा के बल से यमुना की अवतारणा की

है। इसीलिए इस मनोरम सूक्ति से प्रसन्न होकर आलोचकों ने आपको यमुनात्रिविक्रम कहा है। रामायण की यह प्रशंसा कितनी सुंदर है।

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा।

(नलचम्पू १।११)

इस रमणीय पद्य में कविजी वाल्मीकिजी की स्तुति कर रहे हैं—उस मुनि को नमस्कार है जिसने रम्या रामायणी कथा का निर्माण किया है। यह कथा सदूषणा (दोष-सहित तथा दूषण नामक राक्षस से समन्वित) होने पर भी निर्दोष है—दोष से रहित है। तथा सखर (कटुतापूर्ण तथा खर राक्षस के साथ) होने पर भी कोमल है। इस पद्य में विरोधाभास अलंकार कितनी सफाई के साथ रखा गया है। बाबा तुलसीदास जी ने रामायण की प्रशंसा में इसी पद्य की छाया लेकर यह सोरठा लिखा है—

बन्दौं मुनिपदकंज, रामायण जिन निरमयउ।
सखर सकोमल मंजु, दोष-रहित दूषण-सहित॥

त्रिविक्रम ने कितनी सुन्दरता के साथ कुकवियों की समता बालकों के साथ की है:—

अप्रगल्भाः पदन्यासे जननीरागहेतवः।
सन्त्येके बहुलालापाः कवयो बालका इव॥ (१।६)

इस संसार में कुछ कवि लोग बालकों की तरह हैं। जिस प्रकार बालक पदन्यास में—पैर रखने में—अप्रगल्भ होते हैं—अनिपुण हुआ करते हैं; उसी प्रकार ये कविजन भी कविता के पद जोड़ने में नितांत असमर्थ हैं। बालक अपनी जननी-माता-के अनुराग का कारण हुआ करता है—बालक को देखकर माता का हृदय खिल जाता है; ये कविजन भी पुरुषों के नीराग (राग के अभाव) के कारण होते हैं—इनकी कविता लोगों को पसंद नहीं आती। बालक जिस प्रकार बहुलालाप (बहु-लालाप) होते हैं—बहुत लाला

(लार) पीने वाले होते हैं, उसी प्रकार ये कवि लोग भी बहुत आलाप वाले होते हैं। इनके काव्यों में कुछ चमत्कार तो होता नहीं, परन्तु वे लिखने से बाज नहीं आते—बहुत सी अनर्गल कविता श्रोताओं के गले मढ़ ही देते हैं। अतः कुकवियों तथा बालकों में कुछ भी अन्तर नहीं। कितनी चमत्कारिणी सूक्ति है। कितना प्रसन्न श्लेष! इतने सरस तथा सरल श्लेष अन्यत्र बहुत कम मिलेंगे।

भवंति फाल्गुने मासि वृक्षशाखा विपल्लवाः।
जायन्ते न तु लोकस्य कदापि च विपल्लवाः॥ (१।२७)

आर्यावर्त का वर्णन है। वहाँ फाल्गुन महीने में वृक्षों की शाखायें (वि+पल्लव) पल्लव रहित होती हैं; परन्तु वहाँ के रहने वालों को कदापि (विपद् लवाः) छोटी सी विपत्तियाँ भी नहीं होतीं। 'विपल्लवाः' में श्लिष्टार्थ कितना विशद है—साफ-सुथरा है।

इतर चम्पू

उसी युग की रचना दिगम्बर जैन सोमप्रभसूरि की [1]'यशस्तिलक चम्पू' है जिसका प्रणयन राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण के राज्यकाल में ९५९ ईस्वी में राजा के सामन्त नरेश चालुक्य अरि-केसरी तृतीय के पुत्र की सभा में किया गया। यह ग्रन्थ पर्याप्त विस्तृत तथा जैन सिद्धान्तों की जानकारी के लिए नितान्त उपादेय है। इस चम्पू के आठ उच्छ्वासों में अवन्ति के राजा यशोधर, उसकी पत्नी की कपट-धूर्तता, राजा की मृत्यु, नाना योनियों में जन्म तथा अन्ततः जैन धर्म में दीक्षा का वृत्तान्त बड़ी सुन्दरता से किया गया है। यह कथा गुणभद्र के 'उत्तर पुराण' पर आश्रित नितान्त प्रसिद्ध है और इसी के आधार पर पुष्पदन्त का 'जसहर चरिउ' नामक अपभ्रंश काव्य तथा वादिराज सूरि का संस्कृत 'यशोधर चरित' निर्मित हैं। बाणभट्ट की कादम्बरी के आदर्श पर निर्मित इस काव्य की रचनाशैली तथा जन्मान्तर वर्णन बाण के ग्रन्थ से विशेष साम्य रखता है। अन्तिम तीन उच्छ्वासों में जैन धर्म के सिद्धान्तों का

---

१ श्रुतसागर सूरि की टीका के साथ नि० सा० प्रे० में प्रकाशित, बम्बई १९१६।

विस्तृत विवरण है। शैली अलंकृत तथा भाषा प्राञ्जल है। नलचम्पू के समान यहाँ श्लेष का विशेष सौन्दर्य नहीं है। जैन सम्प्रदाय का एक अन्य प्रख्यात चम्पू है—**जीवन्धरचम्पू**[1] जिसमें दिगम्बर जैन कवि हरिचन्द्र (धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता ने 'उत्तर पुराण' में वर्णित जीवन्धर का चरित तथा कथानक एकादश लम्बकों में वर्णन किया है।

जीवन्धर की कथा का सुन्दर साहित्यिक रूप वादीय सिंह ने अपने दो ग्रन्थों में—गद्यचिन्तामणि (गद्य) तथा क्षत्रचूडामणि (पद्य) में—प्रदर्शित किया है। इन्हीं से प्रभावित होकर हरिचन्द्र ने इस रोचक चम्पू का प्रणयन किया है। चम्पू का गद्य तथा पद्य दोनो सरस तथा आवर्जक है। कवि ने गद्य रचना में बाण की शैली का सफल अनुकरण किया है। पद्य भी सुन्दर हैं। जैन धर्म के सिद्धान्तों का रोचक भाषा में कथानक के माध्यम से प्रकट करना कवि का उद्देश्य था और इस उद्देश्य में वह पूर्णतया सफल हुआ है; यह निःसंकोच कहा जा सकता है।

पुराण कथा रामायणादि ग्रन्थों पर रचित अनेक चम्पूकाव्य प्रख्यात हैं। **भोजराज** (११ शतक) का 'चम्पू रामायण[2] किष्किन्धा काण्ड तक ही मिलता है जिसकी पूर्ति लक्ष्मण भट्ट ने 'युद्धकाण्ड' की रचना कर और वेंकटराज ने 'उत्तरकाण्ड' की रचना से किया है। इसमें कवि का शाब्दिक चमत्कार तथा अलंकारप्राचुर्य प्रचुरमात्रा में अभिव्यक्त होता है। अनेक 'भागवतचम्पू' का पता खोज रिपोर्टों से चलता है जिनमें चिदम्बर, रामभद्र तथा राजनाथ रचित चम्पू मुख्य हैं। प्रह्लाद चरित भी काफी लोकप्रिय रहा है और इसीलिए 'नृसिंहचम्पू' अनेक मिलते हैं। केशवभट्ट कृत[3] छः स्तवकों में, दैवज्ञ सूर्य रचित[4] पाँच उच्छ्वासों में तथा संकर्षण-कृत चार उल्लासों में 'नृसिंह चम्पू' प्रह्लाद चरित की लोकप्रियता के पर्याप्त परिचायक हैं। शेष

---

१ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५८

२ नि० सा० प्रेस से प्रकाशित, बम्बई ११९८

३ हरिप्रसाद भागवत सम्पादित, बम्बई १९०४

४ नि० सा० प्रेस बम्बई १९००

श्रीकृष्ण (१६ शती का उत्तरार्ध) का 'पारिजात हरणचम्पू'[1] कृष्ण लीला से सम्बद्ध एक प्रख्यात लीला का कीर्तन है। महाभारत की कथा के विषय में अनन्तभट्ट रचित 'भारतचम्पू'[2] नितान्त प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय है। इसमें बारह स्तवक हैं जिसमें महाभारत की कथा कुछ विस्तार से वर्णित है। कवि का वर्णन विशेष प्राञ्जल है तथा कवि की काव्यप्रतिभा मंजुल तथा सरस है। शैली वैदर्भी है। कल्पना की नवीनता श्लाघनीय है।

दक्षिण भारत के कवियों को चम्पूकाव्य की रुचिरता तथा लोकप्रियता विशेष मान्य थी और इसीलिए इन लोगों ने संस्कृत में अनेक चम्पूकाव्यों का प्रणयन किया है। उत्तर भारत की प्रान्तीय भाषाओं में चम्पू की रचना के प्रति कभी आग्रह नहीं रहा, परन्तु आन्ध्र तथा मलयालम भाषाओं में आज भी चम्पुओं की लोकप्रियता बनी हुई है। द्रविड तथा आन्ध्रकवियों ने अनेक प्रकार के वर्णनों के लिए इसे सुबोध माध्यम बनाया। **समरपुंगव दीक्षित** ने अपने 'यात्रा प्रबन्ध[3] चम्पू (१६ शतक का उत्तरार्ध) में अपने ज्येष्ठ भ्राता के साथ दक्षिण भारत के तीर्थों में की गई अपनी यात्रा का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है जो विषय की दृष्टि से नवीन तथा व्यापक होने के साथ प्रकृति-वर्णन में प्राचीन परम्परा का अनुकरण करता है। **तिरुमलाम्बा** का 'वरदाम्बिका परिणय' ऐतिहासिक महत्त्व से मण्डित है। **नीलकण्ठ दीक्षित** ने 'नीलकण्ठ विजय चम्पू' की रचना समुद्र-मन्थन के विषय में १६३७ ईस्वी में की। ग्रंथकार का परिचय पहिले ही दिया जा चुका है। काञ्ची के आत्रेय गोत्री रघुनाथ तथा सीताम्बरा के पुत्र वेंकटाध्वरी का 'विश्वगुणादर्श चम्पू'[4] भी १७ वीं शती की रचना है। यह एक नवीन शैली का ग्रन्थ है जिसमें विश्वावसु तथा कृशानु नामक दो गन्धर्व विमान पर चढ़कर तीर्थस्थलों का दर्शन करते हैं। वे दोनों उन स्थानों के दोषों तथा गुणों का

---

१ बालमनोरमा प्रेस, मद्रास से १६२४

२ बम्बई से प्रकाशित, १६१६

३ नि. सा. प्रे, बम्बई १६०८

४ नि. सा. प्रे, बम्बई १६२३ पंचम संस्करण।

अष्टम परिच्छेद

कथा-साहित्य

व्यापक प्रभाव

पाश्चात्य-साहित्य में कथा को विशेष गौरव दिया जाने लगा है और इससे प्रभावित होकर पूर्वी साहित्य में भी इसकी महत्ता स्वीकृत होने लगी है—यह कथन आजकल के लिए सच्चा कहा जा सकता है परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि कथा-साहित्य का उदय इसी भारतवर्ष में हुआ और इसने ही संसार के सामने इस साहित्यिक साधन की उपयोगिता सर्वप्रथम प्रदर्शित की। भारतीय साहित्य की विश्व-साहित्य के लिए जो देन है, उनमें इस लोकप्रिय 'कथा' की देन विशेष महत्त्व रखती है। पाश्चात्य जगत् के प्राचीन कथा साहित्य से परिचित विद्वानों को इसे बताने की आवश्यकता नहीं कि यह भारतवर्ष ही 'कहानी' की उद्गम भूमि है। यहीं से इसने भ्रमण करना आरम्भ किया और वह समस्त सभ्य देशों के साहित्य में व्याप्त हो गई। षष्ठ शताब्दी में हम भारत में उन कथाओं की लोकप्रियता पाते हैं जिनका संग्रह 'पञ्चतंत्र' में हमें आज भी उपलब्ध हो रहा है। 'पञ्चतंत्र' का भी अपना विशिष्ट इतिहास है जिसे जर्मन विद्वान् डाक्टर हर्टेन ने बड़े परिश्रम से खोज निकाला है। पञ्चतंत्र की कहानियाँ बड़ी प्राचीन हैं। 'बृहत्कथा' (तीसरी शताब्दी) तथा 'तन्त्राख्यायिका' के रूप में उसका मौलिक रूप आज भी हमारे मनन के लिए विद्यमान है।

'पंचतंत्र' विश्वसाहित्य को भारतीय साहित्य की महनीय देन है। इन कहानियों के भ्रमण की कथा नितान्त रोचक तथा उपदेशप्रद है। उसका अनुशीलन हमें बताता है कि करटक तथा दमनक ('सियार पांडे') की चतुरता भारत के तथा अरब के निवासियों को समभाव से आनन्दित करती रही है।

राजा शिवि के आत्मत्याग की कथा राजा भोज के सभासदों को उसी प्रकार उपदेश देती थी; जिस प्रकार फारस के बादशाह खुशरो नौशेरवाँ के दरबारियों को। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि जब षष्ठ शतक में भारत का तथा फारस का घनिष्ठ सम्बन्ध था, तब इन रोचक तथा उपदेशप्रद कथाओं की ओर इस न्यायी बादशाह (५३१ ई०—५७६ ई०) की दृष्टि आकृष्ट हुई। इसके दरबारियों में एक संस्कृत के ज्ञाता हकीम थे उनका नाम था 'बुरजोई'। इन्हीं हकीम साहब ने पहले पहल पञ्चतन्त्र का प्रथम अनुवाद पहलवी (प्राचीन फारसी) भाषा में ५३३ ई० में किया। इस अनुवाद के पचास वर्ष के भीतर ही एक ईसाई पादरी ने पहलवी से सीरिअन भाषा में ५६० ई० में कलिलग और दमनग के नाम से अनुवाद किया। ईसाई साधु का नाम था—बुद। सीरीअन से अनुवाद अरबी में किया गया था। इस अनुवाद का नाम कलीलह और दमनह है जो प्रथम तन्त्र के प्रधान पात्र 'करकट तथा दमनक' के नाम पर दिया गया है। इस अनुवाद का श्रेय अब्दुल्ला बिन अलमुकफ्फा नामक विद्वान् को है। यह स्वयं तो मुसलमान था, पर इसका पिता पारसी था। यह अनुवाद ७५० ई० में किया गया। इसी शताब्दी में एक दूसरा भी अनुवाद प्रस्तुत किया गया। ७८१ ई० में अब्दुल्ला बिन हवाजी ने पहलवी से अरबी में अनुवाद किया। इसी अनुवाद को सहल-बिन-नवबख्त ने 'यहिया बरमकी' की आज्ञा से अरबी कविता में किया जिसके लिए उसे एक हजार सुवर्ण दीनार पुरस्कार में मिले थे। पंचतन्त्र के अरबी में ये प्रसिद्ध अनुवाद हैं। समय समय पर अन्य भी अनुवाद हुए। यह हुई सातवीं शताब्दी में पश्चिमी जगत् में भारतीय कहानियों के भ्रमण की बात। इस शताब्दी से पहले ही ये भारत से पूरब भी पहुँच चुकी थीं, क्योंकि चीन भाषा के दो विश्वकोषों में (जिसमें प्राचीनतर ६६८ ई० में रचित है) बहुत-सी भारतीय कहानियों का अनुवाद चीनी भाषा में किया गया मिलता है इसमें आश्चर्य नहीं, क्योंकि इन विश्वकोषों ने अपने लिए २०२ बौद्ध ग्रन्थों को आधार बतलाया है। इस प्रकार दो शताब्दी के भीतर ही वे भारतीय कहानियाँ अरब से लेकर चीन तक फैल गईं।

अरबी भाषा मध्ययुग की सभ्य भाषा थी। अरबी में अनुवाद होते देर

नहीं हुई कि कहानियाँ पश्चिमी जगत् के साहित्य में प्रवेश कर गईं और भिन्न भिन्न देशों की भाषाओं में इनके अनुवाद होने लगे। लैटिन, ग्रीक, जर्मन, फ्रेंच, स्पैनिश तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं में इसके अनुवाद धीरे-धीरे मध्य-युग से १६ वीं शताब्दी तक होते रहे। ग्रीस के सुप्रसिद्ध कथासंग्रह 'ईसाप' की कहानियाँ, तथा अरब की मनोरंजक कहानियाँ 'अरेबियन नाइट्स' की आधारभूत ये ही कहानियाँ हैं। इस तथ्य के अन्वेषक विद्वानों की यह मान्य सम्मति है। मध्ययुग में ये भारतीय कहानियाँ विदापइ की कहानियों—(विद्यापति की कथायें) के नाम से पश्चिमी जगत् में विख्यात थीं। ये कहानियाँ वहाँ के लोगों में इतनी प्रसिद्ध हुईं कि उन्हें इनके भारतीय होने का तनिक ख्याल भी न हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि भगवान् बुद्ध ईसाई सन्तों के बीच में विराजने लगे। मध्ययुग की एक सुविख्यात कहानी था—बरलाम और जोजफ की कहानी। वह इतनी शिक्षाप्रद हुई कि कथा के पात्र ईसाई सन्तों में गिने जाने लगे। इनमें जोजफ स्वयं बुद्ध हैं। जोजफ बुदसफ् के रूप में 'बोधिसत्त्व' का अपभ्रंश है। 'बोधिसत्त्व' बुद्धत्व प्राप्ति के लिए क्रियाशील व्यक्ति का ही द्योतक है। क्या यह कम आश्चर्य का विषय नहीं है कि बुद्ध ने इन्हीं कहानियों की कृपा से ईसाई सन्तों का मान-नीय पंक्ति में स्थान पा लिया। बेचारे ईसाईयों को इसका बिल्कुल ध्यान न था कि जिसे वे अपने सन्तों में गणना कर रहे थे वे उनसे विरुद्ध धर्म के संस्थापक थे।

मध्ययुग की बात जाने दीजिये। उससे भी प्राचीन काल में भारतीय कहानियों का परिचय पश्चिमी जगत् को मिल गया था। 'सालोमान के न्याय' (सालोमन्स जजमेन्ट) के नाम से प्रसिद्ध कहानी का मूल भारतीय ही है। सिकन्दर की जितनी कहानियाँ' ग्रीक, अरबी, हिब्रू तथा फारसी भाषाओं में मिलती हैं उनमें सर्वत्र उनकी माता के विषय में एक ही कहानी दी गई है। उसका पुत्रशोक इतना अधिक था कि वह किसी प्रकार कम ही नहीं हो रहा था। तब किसी विद्वान् ने उससे कहा कि यदि तुम हमारे लिए ऐसे घर से सरसों ला दोगी जहाँ किसी की कभी मृत्यु न हुई हो, तो मैं

तुम्हारे पुत्र को जिला दूँगा। बेचारी घर-घर सरसों की तलाश में घूमती रही। अन्ततः देहधारियों के लिए मृत्यु आवश्यक अवसान है, इस तथ्य का पता उसे स्वयं लग गया। यह कहानी भी भारतीय है। बुद्ध द्वारा 'कृशा गौतमी' का उपदेश ही इस कहानी का आधार है। इस प्रकार पञ्चतन्त्र की कहानियाँ केवल भारतवासियों को ही आनन्दित नहीं करतीं, प्रत्युत सभ्य संसार के अनेक देशों के निवासी उनसे आनन्द उठाते हैं तथा अपने जीवन को सुखमय बनाते हैं।

पञ्चतन्त्र

पञ्चतन्त्र जिन कथाओं का संग्रह है वे भारत में नितान्त प्राचीन हैं। पंचतन्त्र के भिन्न-भिन्न शताब्दियों में तथा भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अनेक संस्करण हुए। कुछ तो आज भी उपलब्ध हैं। इनमें सबसे प्राचीन संस्करण 'तन्त्राख्यायिका' के नाम से विख्यात है जिसका मूल स्थान काश्मीर है। पंचतन्त्र के भिन्न-भिन्न चार संस्करण उपलब्ध हैं—(१) पंचतन्त्र का पहलवी अनुवाद, जो उपलब्ध तो नहीं है, परन्तु जिसकी कथाओं का परिचय सीरिअन तथा अरबी अनुवादों की सहायता से प्राप्य है (२) दूसरा संस्करण गुणाढ्य की बृहत्कथा में अन्तर्निविष्ट है। यह बृहत्कथा पैशाची भाषा में थी, मूल इसका नष्ट हो गया है परन्तु ११वीं शताब्दी के क्षेमेन्द्र-रचित बृहत्कथा-मञ्जरी तथा सोमदेव का कथासरित्सागर इसी ग्रन्थ के अनुवाद हैं। (३) तृतीय संस्करण 'तन्त्राख्यायिका' तथा उसी से सम्बद्ध जैन कथासंग्रह है। आजकल का प्रचलित पंचतंत्र इसी का आधुनिक प्रतिनिधि है। (४) चौथा संस्करण दक्षिणी पंचतंत्र का मूलरूप है। नैपाली पंचतन्त्र तथा हितोपदेश इस संस्करण के प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार पञ्चतन्त्र एक सामान्य ग्रन्थ न होकर एक विपुल साहित्य का प्रतिनिधि है।

डाक्टर हर्टेल ने पञ्चतन्त्र का बड़ा ही प्रामाणिक अनुशीलन कर अनेक मान्यतायें स्थिर की हैं। उनकी दृष्टि में 'तन्त्राख्यायिका'[1] या 'तन्त्राख्यान'

---

१ हर्टेल द्वारा सम्पादित हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज (नं० १४ में प्रकाशित।)

ही इस ग्रन्थ का सर्व प्राचीन रूप है। इसमें कथानक की रूपरेखा बहुत ही परिमित है तथा नीतिमय पद्यों का संकलन बहुत ही संक्षिप्त तथा औचित्य-पूर्ण है। यही मूल ग्रन्थ है जिसका अनुवाद पहलवी भाषा में सबसे पहिले किया गया था। अतः इसका रचनाकाल चतुर्थ शती है। इसका परिवर्धन तथा परिबृंहण पूर्णभद्र सूरि नामक जैन पण्डित ने १२५५ वि० सं० (= ११९९ ईस्वी) में किया और आजकल उपलब्ध पञ्चतन्त्र इसी संस्करण के ऊपर आधारित है। पूर्णभद्र ने मूल ग्रंथ का आमूलचूल संशोधन किया था जिसका परिचय उनकी इस स्वीकारोक्ति से चलता है।

प्रत्यक्षरं प्रतिपदं प्रतिवाक्यं प्रतिकथं प्रतिश्लोकम्।
श्री पूर्णभद्रसूरिर्विशोधयामास शास्त्रमिदम्॥

पंचतंत्र से प्राचीनतर कथासंग्रह बौद्ध जातकों में उपलब्ध है। ये जातक भगवान् बुद्ध के प्राचीन जन्म की मनोरंजक कहानियाँ हैं। इनका उद्देश्य यह दिखलाना है कि अनेक जन्म में पारमिताओं के अभ्यास करने से बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। जातक कथाओं की संख्या ५५० है। इसके भीतर विपुल ज्ञातव्य ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक सामग्री मिलती है जिनके अनुशीलन करने से बुद्ध के समय के अथवा उससे भी प्राचीन काल के भारतीय इतिहास का रमणीय चित्र उपलब्ध होता है। अत्यन्त प्राचीन काल से दन्तकथा या लोककथा के रूप में जो कहानियाँ चली आती थीं उनका इन जातकों में विशाल समुच्चय है।

जातकों से भी प्राचीन सामग्री वैदिक साहित्य में स्वयं उपलब्ध होती है। ब्राह्मण और उपनिषदों में जो कहानियाँ विस्तार के साथ मिलती हैं उन कहानियों का संकेत ऋग्वेद की संहिता में स्वयं प्राप्त होता है। ऋग्वेद में बहुत से सूक्त ऐसे उपलब्ध होते हैं जिनमें दो या तीन पात्रों में परस्पर कथनोपकथन विद्यमान हैं। इन सूक्तों को 'संवाद सूक्त' कहते हैं। भारतीय साहित्य के अनेक अंगों का उद्गम इन्हीं संवाद सूक्तों से होता है। इनके

१ वही प्रकाशित नं० ११

अतिरिक्त सामान्य स्तुतिपरक सूक्तों में भी भिन्न-भिन्न देवताओं के विषय में अनेक मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद आख्यानों की उपलब्धि होती है। संहिता में जिन कथाओं की केवल सूचनामात्र है उनका विस्तृत वर्णन बृहद्देवता में तथा षड्गुरु-शिष्य की 'कात्यायन सर्वानुक्रमणी' की वेदार्थदीपिका टीका में किया गया है। निरुक्त में यास्क ने तथा सायण ने अपने भाष्य में इन कथाओं के रूप तथा प्राचीन आधार को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। 'द्या द्विवेद' का उद्योग इस विषय में अत्यन्त श्लाघनीय है। ये गुजरात के रहनेवाले थे तथा १५ वीं शताब्दी में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने समस्त वैदिक कहानियों का अध्ययन कर उनसे प्राप्त शिक्षाओं को प्रदर्शित करते हुए एक बहुत ही उपयोगी पुस्तक लिखी है। इस ग्रंथ का नाम 'नीतिमंजरी' है। इन्होंने षड्गुरुशिष्य की वेदार्थदीपिका (११८४ ई०) से तथा सायण के वेदभाष्य (१४ शताब्दी) से अनेक उद्धरण अपने ग्रंथ में लिये हैं। नीति-मंजरी की एक हस्तलिखित प्रति से पता चलता है कि इसकी रचना १५५० वि० सं० (१४९४ ई०) में की गई थी। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर वेद को कहानियों का मूल स्रोत मानना उचित होता है। वेद में आई हुई कहानियाँ पुराणों में आकर कुछ रूपान्तरित हो गई हैं। रामायण तथा महाभारत में इनके कई अंशों में परिवर्तन दीख पड़ता है परन्तु कथानक का मूल एक ही है। बौद्ध साहित्य तथा जैन साहित्य में भी इन कहानियों के प्रतिनिधि विद्यमान हैं। कहानियों का यह रूपान्तर कहाँ, कब और किन कारणों से सम्पन्न हुआ ? यह कथा-साहित्य के विद्यार्थियों के लिए गवेषणा का विषय है।

पंचतंत्र में पाँच तन्त्र हैं (तन्त्र का अर्थ है भाग)—मित्रभेद, मित्र-लाभ, सन्धि-विग्रह, लब्धप्रणाश तथा अपरीक्षित-कारक। प्रत्येक तन्त्र में मुख्य कथा एक ही है जिसके अंग को पुष्ट करने के लिए अनेक गौण कथायें कही गई हैं। ग्रंथकार का उद्देश्य आरम्भ से ही सदाचार तथा नीति का शिक्षण रहा है। कहा जाता है कि दक्षिण के महिलारोप्य नामक नगर में अमरकीर्ति नामक राजा निवास करते थे। उन्हें अपने मूर्ख पुत्रों को विद्वान्

तथा नीति-सम्पन्न बनाने के लिए योग्य गुरु की आवश्यकता थी। उन्हें योग्य गुरु मिले विष्णुशर्मा। ये लोक तथा शास्त्र दोनों विषयों के पारंगत पण्डित थे और इसीलिए उन्होंने स्वल्प समय में राजकुमारों को व्यवहार-कुशल, सदाचार-सम्पन्न तथा नीतिपटु बना दिया। ग्रंथकार की नीतिमत्ता ग्रंथ के प्रत्येक पृष्ठ पर झलकती है। संसार के भिन्न भिन्न कार्यों के निरीक्षण की शक्ति ग्रंथकार में खूब है। उनमें विनोद प्रियता भी कम नहीं है। पंचतंत्र की भाषा मुहावरेदार सीधी-सादी है। वाक्य-विन्यास में तो न कहीं दुरूहता है और न भावों के समझने में दुर्बोधता। कथानक का वर्णन गद्य में किया गया है पर उपदेशात्मक सूक्तियाँ पद्य में निहित हैं और ये पद्य रामायण, महाभारत तथा अन्य प्राचीन नीतिग्रंथों से संगृहीत हैं। ऊपर सप्रमाण दिखलाया गया है कि पंचतंत्र का प्रभाव विश्वव्यापी है। सच्ची बात यह है कि पंचतंत्र भारतीय साहित्य का अंग न होकर विश्व-साहित्य का एक महनीय अंग है।

हितोपदेश

नीति-कथाओं में पंचतंत्र के बाद हितोपदेश का ही नाम आता है। इसके रचयिता 'नारायण पण्डित' हैं जिनके आश्रयदाता बंगाल के राजा धवलचन्द्र थे। ग्रंथ की रचना १४ वीं शताब्दी के आसपास की है। ग्रंथकार ने स्वयं लिखा है कि उसका मूल आधार पंचतंत्र ही है। हितोपदेश की आधी कथाएँ पंचतंत्र से ही ली गई हैं। इसके चार परिच्छेद हैं:—मित्रलाभ, सुहृद्-भेद, विग्रह और सन्धि। इसकी भाषा सरल और सुबोध है। श्लोक नितान्त उपदेशात्मक हैं तथा कथायें शिक्षाप्रद हैं। तंचतंत्र की अपेक्षा हितोपदेश लोकप्रिय रहा है। सर्वप्रथम संस्कृत अध्ययन करनेवाले छात्रों को हितोपदेश ही पढ़ाया जाता है। कथा के व्याज से नीति का कहना जितना रुचिकर होता है उतना उपदेश भी। इसी लिए हितोपदेश संस्कृत के अभ्यासी छात्रों के लिए संस्कृतविद्यामन्दिर का द्वार स्थानीय है। इसमें ६७९ नीति विषयक पद्य हैं जो महाभारत, धर्मशास्त्र, पुराण आदि ग्रंथों से उधृत किये गये हैं।

बृहत्कथा

समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा॥—बाण

संस्कृत में कथायें दो प्रकार की होती हैं—(१) उपदेशात्मक तथा (२) मनोरंजक। पहली प्रकार की कथायें पशु पक्षी से सम्बन्ध रखती हैं और उनका प्रधान उद्देश्य उपदेश रहता है। दूसरी प्रकार की कथाओं का प्रधान लक्ष्य मनोरंजन रहता है और वे पशु-पक्षी के जीवन से सम्बद्ध न होकर जीते-जागते चलते-फिरते मनुष्य के जीवन से सम्बन्ध रखती हैं। मनोरंजक कथाओं का बृहत् संग्रह संस्कृत में विद्यमान है। इन कथाओं का प्राचीनतम संग्रह 'बृहत् कथा' में निबद्ध था। इस कथा की रचना महाराजा हाल के सभाकवि गुणाढ्य ने की। इसके रचनाकाल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोग इसे पंचम शतक की रचना मानते हैं, परन्तु अधिकांश विद्वानों की सम्मति में इसकी रचना विक्रम की प्रथम शताब्दी में हुई। मूल बृहत्कथा पैशाची भाषा में लिखी गई थी। पैशाची भाषा प्राकृत भाषाओं में अन्यतम है जिसके रूप का परिचय तो हमें प्राकृत व्याकरणों से मिलता है परन्तु जिसके उदाहरण का पता बृहत्कथा के नष्ट हो जाने से नहीं मिलता। आज-कल बृहत्-कथा के तीन संस्कृत अनुवाद उपलब्ध होते हैं—

(१) बुधस्वामी कृत बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह—ये नेपाल के रहनेवाले थे और इनका समय ८ वीं या नवमी शताब्दी माना जाता है। प्राचीनतम अनुवाद यह ही है।

(२) क्षेमेन्द्र-कृत बृहत्कथामंजरी—ये काश्मीर के राजा अनन्त के आश्रित कवि थे। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी है। इसमें ७५०० श्लोक हैं। कविता ऊँचे दर्जे की है। पर मूल कथानक का कितना रक्षण हो पाया है, यह कहना कठिन है।

(३) सोमदेव कृत 'कथासरित्सागर'—ये काश्मीर के राजा अनन्त तथा क्षेमेन्द्र के समकालीन थे। यही सबसे प्रसिद्ध अनुवाद है जिसमें २४ हजार श्लोक हैं अर्थात् मंजरी से लगभग तिगुना है।

इन तीनों अनुवादों में मूल बृहत्कथा का कितना अंश सुव्यवस्थित रूप से उपस्थित मिलता है, इसका यथार्थ निर्णय प्रमाणाभाव से नितान्त दुरूह कार्य है। इनमें नैपाली बृहत्कथा संक्षिप्त तथा केवल कथाओं के वर्णन में ही एकमात्र आसक्त दृष्टिगोचर होती है, उसमें काव्य शैली का ग्रहण कर कथानक को बाह्य आख्यानों तथा अलंकृत वर्णनों से व्यर्थ लादने का प्रयास नहीं है। काश्मीरी बृहत्कथा में कलात्मक अंश का प्राचुर्य है। क्षेमेन्द्र ने कथाभाग को बहुत संक्षिप्त बना दिया है, यद्यपि उन्होंने नवीन पदार्थ तथा दृश्यों के वर्णन से उसे सुसज्जित तथा अलंकृत बनाने का अश्रान्त प्रयास किया है। सोमदेव का 'कथा सरित्सागर' क्षेमेन्द्र के ग्रंथ की अपेक्षा मात्रा में तिगुना है। सोमदेव की शैली बहुत ही सुन्दर, प्रवाहमयी तथा वस्तुप्रधान है। वे अपने छोटे छोटे शब्दों को अलंकृत करने में दत्तचित्त नहीं हैं, प्रत्युत कथानक को सुन्दर ढंग से कहना ही उनका लक्ष्य प्रतीत होता है। इसमें उनके काव्य में बाह्य आडम्बर की अपेक्षा मूल वस्तु की रक्षा का ही विशेष उद्योग है।

बृहत्कथा से बढ़कर प्राचीन कथाओं का संग्रह दूसरा कोई नहीं है। वाल्मीकि और व्यास के अतिरिक्त गुणाढ्य भी भारतीय कवियों के उपजीव्य रहे हैं। कथानक की विचित्रता के साथ-साथ रस का परिपाक अच्छे ढंग से किया गया है। इसके नायक हैं महाराज उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त। वे अपने मित्र गोमुख की सहायता से अपनी प्रियतमा 'मदनमंजूषा' के पाणि-ग्रहण करने तथा विद्याधरों का साम्राज्य प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। अवान्तरकालीन कथा-साहित्य के ऊपर बृहत्कथा का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है। रामायण तथा महाभारत के समान यह भी संस्कृत-साहित्य का जाज्वल्यमान हीरक है। महाकवि भास हर्ष तथा भट्टनारायण अपने नाटकों के

वस्तु-ग्रहण के लिए बृहत्कथा के विशेष रूप से ऋणी हैं। बृहत्कथा की कीर्ति केवल भारत में ही सीमित नहीं है अपितु बृहत्तर भारत में भी फैली हुई है।

दण्डी[1], सुबन्धु[2], और बाणभट्ट—सभी ने अपने ग्रंथों में इसका आदर के साथ उल्लेख किया है। त्रिविक्रमभट्ट[3] ने नलचम्पू में तथा सोमदेव ने अपने यशस्तिलक चम्पू में इसकी प्रचुर प्रशंसा की है। गोवर्धनाचार्य[4] ने तो गुणाढ्य को महर्षि व्यास का नूतन अवतार बतलाया है। बाणभट्ट बृहत्कथा को भगवान शंकर की लीला के समान विस्मयकारिणी बतलाते हैं।

वेतालपञ्चविंशति

'पञ्चतन्त्र' के साथ ही साथ पशुपक्षियों की कहानियाँ सदा के लिए अस्तंगत हो गई तथा 'बृहत्कथा' का भी कोई साक्षात् वंशज उपलब्ध नहीं होता। केवल 'वेतालपञ्चविंशति' ही रोचक लोक-कथाओं का एक सुन्दर तथा सुव्यवस्थित संग्रह है। ये पचीस कहानियाँ मूल बृहत्कथा में भी विद्यमान थीं यह कहना उचित नहीं है क्योंकि इनका अस्तित्व बृहत्कथामंजरी तथा कथासरित्सागर में तो अवश्य है, परन्तु बुधस्वामी के नैपाली विवरण में ये नहीं मिलतीं। इस वैषम्य के कारण यही कहा जा सकता है कि यह बृहत्कथा का अंश नहीं है, प्रत्युत यह एक स्वतंत्र कथाचक्र है जिसका सम्बन्ध लोककथाओं के साथ पूर्णतया स्थापित किया जा सकता है। इन कहानियों का ११ शतक में प्रचलित सर्वप्राचीन रूप क्षेमेन्द्र तथा सोमदेव के ग्रंथ में उपलब्ध होता है। दोनों ग्रंथों में कथायें मुख्यतया एकाकार ही हैं, यद्यपि क्षेमेन्द्र का वर्णन कुछ छोटा तथा कतिपय अवान्तर घटनाओं

१—भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्—काव्यादर्श १।३८

२—बृहत्कथालम्बैरिव सालभंजिकानिवहैः—वासवदत्ता।

३—धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रंजितो जनः। नलचम्पू

४—अतिदीर्घजीविदोषाद् व्यासेन यशोऽपहारितं हन्त।
कैर्नोच्येत गुणाढ्यः स एव जन्मान्तरापन्नः। (आर्यासप्तशती।)

से विरहित है (मंजरी ६।२) सोमदेव का विवरण कुछ बड़ा तथा विशेष घटना-प्रधान है। मंजरी में १२२० श्लोक हैं तथा कथा-सरित्सागर में २१६५ श्लोक हैं। इन कथाओं का गद्यात्मक संस्करण भी अनेक हैं जिनमें 'शिवदास' की[1] रचना का न तो काल विदित है न स्थान ही। इस संस्करण में बीच-बीच में श्लोक भी दिये गये हैं। जम्भलदत्त की 'वेताल-पंचविंशति'[2] बिल्कुल गद्यात्मक ही है तथा नाम आदि के विषय में काश्मीरी विवरण के बिल्कुल समीप है यद्यपि कथावस्तु में अंतर विद्यमान है। वर्तमान भारतीय भाषाओं में भी इस संस्कृत ग्रंथ के अनुवाद समय समय पर किये गये थे तथा काफी लोकप्रिय हैं। इन समस्त विवरणों के तुलनात्मक अध्ययन करने से मूल कथा का परिचय मिल सकता है। डा० हर्टल की सम्मति है कि शिवदास ने १४८७ ई० से बहुत पहिले ही 'वेतालपंचविंशति' की रचना की थी, क्योंकि उसी समय इसका प्राचीनतम हस्तलेख उपलब्ध होता है।

वेतालपचीसी की कथायें बड़ी ही रोचक, बुद्धिवर्धक तथा कौतूहलोत्पादक हैं। कोई सिद्ध राजा त्रिविक्रम सेन या विक्रमसेन (जो पिछले युग में 'विक्रमादित्य' के रूप में परिवर्तित हो जाता है) के पास रत्नगर्भित फल लाकर देता था जिसकी सिद्धि में सहायतार्थ राजा एक वृक्ष पर लटकते हुए शव को लाना चाहता है, परंतु वह शव पूर्व से ही किसी वेताल के आधिपत्य में है जो राजा के चुप रहने पर ही वह शव देना चाहता है, परंतु वह इतनी विचित्र कथा सुनाता है कि राजा को मौन भंग करना ही पड़ता है। कहानियाँ बड़ी ही आवर्जक तथा रोचक हैं। राजा का उत्तर भी बड़ा ही सुन्दर होता है। प्रश्न भी बड़े ही पेचीदे तथा विषम हैं। कौन सबसे अधिक रसज्ञ है ? वह मनुष्य जो पके हुए भात को इसलिए नहीं छूता कि वह धान श्मशान के पास ही खेत में उगा था। अथवा वह व्यक्ति जो मोटे गुलगुले गद्दों पर बीच में एक बाल के आ जाने से रातभर जागता ही रह जाता है अथवा

---

१ जर्मन विद्वान् हाइनरिश ऊले सम्पादित, लाइपजिग, १८८४

२ डा० एमेनाउ द्वारा रोमन अक्षरों में अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित। अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, १९३४।

वह मनुष्य जो स्त्री को इसलिए छू नहीं सकता कि बचपन में बकरी के दूध पर उसका पालन पोषण हुआ था और इसलिए उसके शरीर से बकरी का गन्ध आता था ? ऐसे ही पेचीदे प्रश्न इस ग्रन्थ में भरे हुए हैं जिनका समुचित उत्तर विक्रम की चातुरी का परिचायक है। शिवदत्त का ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टि से सुन्दर, रोचक तथा आकर्षक है।

विक्रम चरित—साहित्य-दृष्टि से यह ग्रन्थ उतना सुन्दर तथा आवर्जक नहीं। इसका प्रसिद्ध नाम है–सिंहासन द्वात्रिंशिका[1] (सिंहासन बतीसी)। राजा भोज जमीन में गड़े हुए विक्रमादित्य के सिंहासन को उखाड़ता है तथा ज्यों ही वह उसके ऊपर बैठने का उद्योग करता है कि उसमें जड़ी हुई बत्तीसों पुतलियाँ विक्रम का पराक्रम सुनकर राजा को अयोग्य सिद्ध करती हैं तथा उसे बैठने से रोकती हैं। उसकी दो वाचनिका मिलती हैं जो परस्पर में भिन्नता रखती हैं—उत्तरीय तथा दक्षिणी। उत्तरी वाचनिका में तीन विवरण मिलते हैं–जैन क्षेमकर मुनि रचित, इसी पर आश्रित बंगाली विवरण तथा तीसरा एक छोटा विवरण। दक्षिण भारत में वह विक्रम चरित के नाम से ही विशेष प्रख्यात है जिसके दो रूप हैं—पद्यबद्ध और गद्यबद्ध। दोनों वाचनिकाओं में कौन मूलसंगत तथा प्राचीन है ? यह निर्णय बिल्कुल कठिन है। डा० हर्टेल की दृष्टि में जैन विवरण ही मूल के बिल्कुल समीप है, परन्तु डा० इड्गर्टन के विचार में दक्षिणी वाचनिका ही मौलिक तथा प्राचीनतर है। दोनों विवरणों में हेमाद्रि के 'दान खण्ड' का स्पष्ट निर्देश है। फलतः यह ग्रन्थ १३ शती से प्राचीनतर नहीं हो सकता।

शुकसप्तति[2] भी कहानियों का बड़ा ही रोचक संग्रह है जिसे एक सुग्गा अपने मालिक के परदेश चले जाने पर अन्य पुरुषों के प्रति आकृष्ट होने

---

१ इड्गर्टन द्वारा रोमन अक्षरों में अंग्रेजी अनुवाद के साथ दो भागों में सम्पादित। हारवर्ड ओरियण्टल सीरीज; १९२६।

२ डा० स्मिथ ने दोनों विवरणों को जर्मन अनुवादों के साथ लाइपजिग से प्रकाशित किया है। संक्षिप्त का सं० १८९३ में, विस्तृत का सं० १८९८-९९ में लाइपजिग से।

वाली अपनी स्वामिनी को सुनाकर रोकता है। ऐसे ग्रन्थ की दो वाचनिका का पता चलता है—एक तो विस्तृत और दूसरी संक्षिप्त। विस्तृत वाचनिका के लेखक कोई **चिन्तामणि भट्ट** हैं जिन्होंने पूर्णभद्र के पंचतंत्र का उपयोग इस ग्रन्थ में किया है और फलतः उनका समय १२ शती से पूर्ववर्ती होना चाहिए। संक्षिप्त विवरण किसी जैन लेखक की रचना है कहानियाँ बड़ी ही मनोरंजक तथा आकर्षक हैं।

जैन लेखक कथा कहानियों के लिखने में विशेष पटु थे। लोक में प्रचलित धूर्त, विट, मूर्ख तथा स्त्रियों की कहानियों के लिखने में उनकी प्रतिभा विशेष दीखती है। इनसे भिन्न लेखकों की भी रचनायें उपलब्ध होती हैं। **भरटक द्वात्रिंशिका** में प्रचलित लोकभाषा के भी पद्य स्थान स्थान पर मिलते हैं। **कथा रत्नाकर** जैन हेमविजय गणि की रचना २५६ छोटी छोटी कथाओं का संग्रह है जिसका निर्माण १७ शती में किया गया। जैन कथाओं में साहित्यिक सौन्दर्य की विशेष सत्ता नहीं रहती है, क्योंकि लेखक की दृष्टि जैन धर्म के विवरण देने तथा नैतिकता के प्रचार की ओर विशेष रहती है। मैथिलकोकिल **विद्यापति** (१४ शतक) की **'पुरुष परीक्षा'** शोभन गुणों के वर्णन होने से मनोरंजक और आकर्षक है।

जैन प्रबन्ध—गद्य में रचित जैन प्रबन्धों की भावना इससे नितान्त भिन्न है। इसमें अर्ध—ऐतिहासिक प्रसिद्ध पुरुषों की जीवनी बड़े ही रोचक ढंग से लिखी गई है। बोलचाल की चलती भाषा में सरल शैली में लिखित इन प्रबन्धों की लोकप्रियता पर्याप्त है। ऐसे प्रबन्धों में दो विशेष विख्यात हैं—(१) **प्रबन्ध-चिन्तामणि** तथा (२) **प्रबन्धकोश**। प्रबन्धचिन्तामणि[1] की रचना मेरुतुंगाचार्य ने १३६१ विक्रमी (=१३०५ ई०) में वर्धमानपुर नामक स्थान में किया। इसमें पाँच प्रकाश (या खण्ड) हैं। प्रथम प्रकाश में विक्रमार्क, सातवाहन, मूलराज तथा मुंज विषयक प्रबन्ध या सम्बद्ध

---

१ सिंघीजैन ग्रन्थमाला (ग्रन्थांक १) में प्रकाशित, शान्ति निकेतन, १९८८ विक्रमी। इसका डा० टानी कृत अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित है, कलकत्ता १९०१। गुजराती तथा हिन्दी में भी अनुवाद हैं।

कथानक हैं। द्वितीय प्रकाश धारा के राजा भोज के विषय में है। तृतीय प्रकाश में सिद्धराज, जयसिंह आदि राजाओं की कथायें हैं। चतुर्थ प्रकाश में कुमारपाल, वीरधवल तथा इनके मन्त्री प्रसिद्ध दानवीर जैन वस्तुपाल और तेजपाल के प्रबन्ध हैं। पंचम प्रकीर्ण प्रकाश है जिसमें लक्ष्मणसेन, जयचन्द, वराहमिहिर, भर्तृहरि, वैद्यवाग्भट आदि के प्रबन्ध बड़े ही रोचक तथा ज्ञान-वर्धक हैं। इस ग्रन्थ के प्रणयन का उद्देश्य ग्रन्थकार के शब्दों में यह है—

दुष्प्रापेषु बहुश्रुतेषु गुणवद्वृद्धेषु च प्रायशः
शिष्याणां प्रतिभाभियोग-विगमाद् उच्चैः श्रुते सीदति।
प्राज्ञानामथ भाविनामुपकृतिं कर्तुं परामिच्छता
ग्रन्थः सत्पुरुष-प्रबन्ध-घटनाच्चक्रे सुधासत्रवत्॥

[बहुश्रुत और गुणवान ऐसे वृद्धजनों की प्राप्ति प्रायः दुर्लभ हो रही है। शिष्यों में प्रतिभा का वैसा योग न होने से शास्त्र प्रायः नष्ट हो रहे हैं। इस कारण से तथा भावी बुद्धिमानों को यह उपकारक बने ऐसी विशेष इच्छा से, अमृत के सत्र के समान, सत्पुरुषों के प्रबन्धों का संघटन रूप यह ग्रन्थ मैंने बनाया है] इससे ग्रन्थ-लेखन का प्रयोजन स्पष्ट है कि प्राचीन बहुश्रुत विद्वानों से संकलित सामग्री का एकत्र गुम्फन उपकार दृष्ट्या यहाँ किया गया है।

राजशेखर के 'प्रबन्धकोश' में २४ व्यक्तियों या प्रसिद्ध पुरुषों के प्रबन्ध विद्यमान हैं और इसी कारण इसका प्रसिद्ध नाम 'चतुर्विंशति प्रबन्ध'[1] है। यह किम्वदन्ती-मिश्रित अर्ध-ऐतिहासिक और अर्ध-लोककथात्मक निबन्धों का संग्रह है जिसकी रचना ग्रन्थ के अन्तिम पद्य के अनुसार १४०५ विक्रमी (=१३४८ ईस्वी) में सम्पन्न हुई। वर्ण्य पुरुषों में ग्रन्थकार के अनुसार १० जैनधर्म के प्रभावशाली आचार्य हैं, ४ संस्कृत भाषा के मान्य कवि हैं, ७ प्राचीन या मध्यकालीन राजा हैं और ३ जैन धर्मानुरागी राजमान्य गृहस्थ पुरुष हैं। इस प्रकार के तीन प्रसिद्ध प्राचीनतर ग्रंथ विद्यमान हैं जिनकी

1 सं० सिंघी जैन ग्रन्थमाला (ग्रन्थांक ६) शान्तिनिकेतन १९३५ ई०। सम्पादक मुनि जिनविजय जी।

थोड़ी या बहुत सी छाया इस ग्रन्थ में निःसन्देह वर्तमान है। प्रभावकचरित (रचनाकाल १३३४ वि० सं०=१२७७ ईस्वी) पद्यबद्ध प्रबन्ध है जिसमें जैन धर्म के प्रभावशाली २२ आचार्यों का विवरण है। इनमें से राजशेखर ने ६ आचार्यों की जीवनी यहाँ संकलित की है। प्रबन्ध चिन्तामणि (वि० सं० १३६१) तथा इस प्रबन्धकोश में १० व्यक्तियों के वर्णन समान हैं। अन्तर केवल शैली का है। प्रबन्ध चिन्तामणि का वर्णन कुछ संक्षेप में और सामासिक शैली में है, परन्तु प्रबन्धकोश का वर्णन कुछ विस्तृत और विश्लेषात्मक पद्धति में है। बहुत ही नयी बातों का संकलन यहाँ उपलब्ध होता है। इन दोनों ग्रंथों की अपेक्षा जिनप्रभ सूरि रचित विविध-तीर्थ कल्प (वि० सं० १३८९) से विशेषतर सहायता ली गई है इस कोश के प्रणयन में। सातवाहन, बङ्कचूल तथा नागार्जुन विषयक तीनों प्रबन्ध तीर्थकल्प की पूरी नकल हैं।

राजशेखर सूरि के मौलिक प्रबन्ध संस्कृत कवियों के विषय में हैं जो पूर्वोक्त ग्रंथों में से किसी में भी उपलब्ध नहीं होते। हर्ष, हरिहर, अमरचन्द्र और मदनकीर्ति (११–१४ प्रबन्ध) कवियों का विवरण कवि की मौलिक रचना है। ग्रन्थकार ने अपना उद्देश्य बतलाते हुए स्पष्ट लिखा है कि मुग्धजनों के ज्ञानवर्धन के निमित्त 'मृदुगद्य' में ग्रंथ का प्रणयन किया गया है—

तेनायं मृदुगद्यै र्मुग्धो मुग्धावबोध-कामेन।
रचितः प्रबन्धकोशो जयताज्जिनपतिमतं यावत्॥

यह पूरा ग्रंथ व्यावहारिक संस्कृत में रचा गया है। इसमें न समासों की अधिकता है न पाण्डित्यगम्य भाषा का प्रयोग। सीधे-सादे शब्दों में वस्तु समझाना ही लेखक को अभीष्ट है। इसमें बोलचाल की भाषा के भी अनेक शब्द और मुहावरे संस्कृत रूप में गृहीत किये गये हैं। प्राचीन व्यक्तियों के इतिहास जानने में इसकी उपादेयता विशेष मान्य है।[1]

१—डा० स्पेयर के द्वारा सम्पादित, बुद्ध ग्रन्थमाला में, सेन्टपीटर्सबर्ग (रूस) १९०२-९ इसका फ्रेंच भाषा में अनुवाद भी है।

भोज प्रबन्ध (रचनाकाल १६ शतक) की दशा विचित्र है। धारा के राजा भोजराज की प्रशंसा में विरचित यह ग्रंथ इतिहास ग्रन्थ न होकर काव्य ग्रन्थ है जिसमें हम प्राचीन कवियों को राजा की सभा में आते और स्तुति करते पाते हैं। गद्य तो साधारण है, परन्तु पद्य बड़े ही सुन्दर तथा रोचक हैं। यहाँ कालिदास, भवभूति, माघ तथा दण्डी के साथ मल्लिनाथ को ही राजसभा में हम उपस्थित पाते हैं। अल्प-प्रसिद्ध कवियों जैसे सीता तथा छिचप का भी यहाँ उल्लेख मिलता है। फलतः ऐतिहासिक दृष्टि से अनुपादेय होने पर साहित्य दृष्टि से इसका मूल्य आँका जा सकता है। गद्य मध्यकोटि का है, न विशेष सामान्य और न विशेष अलंकृत। इन ललित पद्यों के कारण ही भोज प्रबन्ध की लोकप्रियता सर्वमान्य है।

संस्कृत में बौद्ध कथाओं को सन्निविष्ट करनेवाले 'अवदान साहित्य' की पृथक् सत्ता है। 'अवदान' (पाली अपदान) का अर्थ है महनीय कार्य की कहानी। यह ठीक जातकों के ढंग पर संस्कृत में विरचित नीति-प्रधान साहित्य है। जिस प्रकार पाली जातक भगवान् बुद्ध के प्राचीन जन्म के शोभन गुणों का वर्णन करते हैं उसी प्रकार 'अवदान' भी करता है। ऐसे ग्रंथों में **अवदान-शतक**[1] प्राचीनतम संग्रह है। इसमें उन शोभन गुणों का वर्णन तथा तत्सम्बद्ध कहानियाँ हैं जिनमें बुद्धत्व की प्राप्ति का संकेत है। किन्हीं कहानियों में पापाचरण करनेवाले व्यक्तियों की यातनाओं का वर्णन है। इसके समय का अनुमान लगाया जा सकता है। 'दीनार' शब्द (रोमन 'दिनेरिअस') का प्रयोग इसका रचनाकाल प्रथम शतक बतलाता है जब इन सिक्कों का प्रचलन भारत में हो रहा था। इसका चीनी भाषा में अनुवाद तृतीय शतक में हुआ। अतः 'अवदान शतक' की रचना द्वितीय शती में मानी जा सकती है। इसमें नीति का प्रतिपादन इतना अधिक है कि साहित्यिक सौन्दर्य एक प्रकार ढँक सा जाता है।

साहित्यिक दृष्टि से '**दिव्यावदान**' भी विशेष रोचक तथा आकर्षक नहीं है। यह हीनयान सम्प्रदाय का मुख्यतः अनुयायी ग्रंथ है और महायान

१—डा० कावेल तथा नील द्वारा सम्पादित, कैम्ब्रिज, १८८६।

के सिद्धान्त कहीं-कहीं उपलब्ध होते हैं। समय अनिश्चित ही है। ग्रंथकार ने यहाँ कुमारलात की 'कल्पना मण्डितिका' का बहुत ही विस्तार से उपयोग किया है। फलतः प्रथम शती से यह प्राचीन नहीं हो सकता। पूरा ग्रंथ गद्य में है, परंतु स्थान-स्थान पर गाथायें दी गई हैं जो छन्दोबद्ध ही नहीं, प्रत्युत खूब आलंकारिक हैं। भाषा साधारणतया विशुद्ध संस्कृत है, परन्तु स्थान-स्थान पर पाली के सम्पर्क से नितान्त मिश्रित तथा भ्रष्ट भाषा का भी प्रयोग मिलता है। आधुनिक भाषाशास्त्री इस ग्रंथ की भाषा को संस्कृत से ही निष्पन्न भाषा की एक अलग धारा ही मानते हैं। अशोक से संबंध रखनेवाली कथायें ऐतिहासिक तथा मनोरञ्जक हैं, परंतु उनके कहने का ढंग बिलकुल बेतुका, अस्त-व्यस्त तथा विशृंखल है।

———

तृतीय खण्ड

दृश्य काव्य

(१) मूल प्रवृत्ति
(२) नाटक की उत्पत्ति
(३) भारतीय नाटक पर ग्रीक प्रभाव
(४) प्राचीन रंगमंच
(५) नाटक का अभ्युदय
(६) रूपक के अन्य भेद

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं।
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा॥
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥

—कालिदास

[मुनि लोग नाट्य को देवताओं के लिए शान्त चाक्षुष यज्ञ मानते हैं। शिवजी ने उमा के द्वारा संयुक्त अपने अंग में इसे दो प्रकार से विभक्त किया अर्थात् नाट्य प्रयुक्त नृत्यों में ताण्डव शिवजी के द्वारा प्रयुक्त होता है तथा पार्वती के द्वारा 'लास्य' का प्रयोग होता है। नाटक में तीनों गुणों से उत्पन्न नाना-रसात्मक लोकचरित का दर्शन होता है। जगत् के प्राणी भिन्नरुचि अवश्य होते हैं, परन्तु नाट्य उनका नाना प्रकार से एक अद्वितीय आवर्जन का प्रकार है।]

—कालिदास

नवम परिच्छेद

मूल प्रवृत्ति तथा उदय

नाटक संस्कृत साहित्य का एक गौरवपूर्ण अंग है। नाटकों ने इस साहित्य को वह महत्त्व प्रदान किया है जिससे इसकी कीर्तिकौमुदी संसार भर में चमकने लगी है। जिस ग्रंथ ने भारतीय साहित्य के सौन्दर्य को, कोमल कल्पना को तथा मनोहर रसपरिपाक को संसार के मनीषियों के सामने अभिव्यक्त किया वह महाकवि कालिदास के द्वारा रचित नाटक (अभिज्ञान-शाकुन्तल) ही था। काव्य की अपेक्षा नाटक की प्रतिष्ठा सदा अधिक रही है। काव्य के आनन्द से वञ्चित रहने वाले भी व्यक्ति नाटक का मनोहर अभिनय देखकर असीम अलौकिक आनन्द की उपलब्धि करते हैं। इसके लिये कारण की खोज में कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। काव्य श्रवण-मार्ग से हृदय को आकृष्ट करता है तथा अपना प्रभाव जमाता है। परन्तु नाटक नेत्र मार्ग से हृदय को चमत्कृत करता है। किसी वस्तु को देखने का आनंद उसके सुनने की अपेक्षा कहीं अधिक होता ही है। काव्य में रसानुभूति के लिए अर्थ का समझना नितांत आवश्यक होता है परन्तु नाटक में इसकी आवश्यकता नहीं। इसीलिए नाटक की समता चित्र से की गई है[1]। जिस प्रकार चित्र भिन्न भिन्न रङ्गों के सम्मिश्रण से सहृदय दर्शकों के चित्त में रस का स्रोत बहाता है, ठीक उसी प्रकार नाटक भी वेशभूषा, नेपथ्य रहना आदि उचित संविधानों से दर्शकों के हृदय पर एक अमिट प्रभाव डालता है तथा उनके हृदय में आनन्द का उदय कराता है। संस्कृत के प्रसिद्ध आलंकारिक वामन ने इसीलिए काव्यों में रूपक को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। रूपक की श्रेष्ठता का एक और भी कारण है। काव्य की

---

१ सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात्—वामन—काव्यालंकारसूत्र १।३।३०,३१।

विशद रसानुभूति के लिए जिस कवित्वमय वातावरण की आवश्यकता होती है उसकी सृष्टि सभी नहीं कर सकते। वह तो कल्पना से प्रसूत होती है। इसीलिए काव्य का रसास्वाद सहृदयों को ही हुआ करता है। परन्तु अभिनय में तो रसोपभोग की सकल सामग्री वेशभूषा, नाना प्रकार के परदों आदि संविधानकों के द्वारा उपस्थित की जाती है। रसानुभूति के लिए वातावरण स्वयं उपस्थित हो जाता है। उसकी कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। यही कारण है कि साधारण व्यक्तियों के लिए भी काव्य की अपेक्षा नाटक का आकर्षण विशेष प्रभावशाली होता है इसी से नाटक कवित्व की चरम सीमा माना जाता है—नाटकान्तं कवित्वम्।

नाटक का उद्देश्य अत्यन्त महत्त्वशाली है। भरत ने नाट्य को 'सार्ववर्णिक' वेद कहा है क्योंकि अन्य वेद केवल द्विजमात्र के लिए उपयोगी तथा उपादेय होते हैं। परन्तु नाट्य का उपयोग प्रत्येक वर्ण के लिए है। प्रत्येक व्यक्ति इस आनन्द का अधिकारी माना गया है। नाटक का प्रभाव किसी एक ही प्रकार की अभिरुचिवाले लोगों के ऊपर नहीं होता प्रत्युत यह सार्वजनिक मनोरञ्जन होने के कारण समाज के लिए ग्राह्य तथा उपादेय होता है। नाटक का विषय भी सीमित नहीं होता, प्रत्युत तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन इसमें रहता है[1]। यह शक्तिहीनों के हृदय में शक्ति का संचार होता है, शूरवीरों के हृदय में उत्साह बढ़ाता है, अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान कराता है और विद्वानों में विद्वत्ता का उत्कर्ष करता है। नाटक है लोकवृत्त का अनुकरण[2]। इस विशाल विश्व के पटपर सुख दुःख की जो प्रवृत्तियाँ अपना खेल दिखाया करती हैं तथा मानवजीवन को सुखमय या दुःखमय बनाती है उन सबका चित्रण नाटक का अपना विशिष्ट उद्देश्य है। इसीलिए भरतमुनि का कहना है कि कोई भी ज्ञान, शिल्प,

१ त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।

—नाट्यशास्त्र १।१०४

२ नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥ —नाट्यशास्त्र १।१०६

विद्या, योग अथवा कर्म ऐसा नहीं है जो इस नाट्य में नहीं दिखलाई पड़ता[1]। इसीलिए कालिदास ने भिन्न रुचिवाले लोगों के लिए नाटक को एक सामान्य मनोरंजन का साधन बतलाया है[2]। इस प्रकार आनंद के साथ चरित्र को उदार बनाना, जीवन के स्तर को उदात्त तथा आदर्श बनाना नाटक का जागरूक उद्देश्य है।

दृश्यकाव्य के लिए 'रूपक' शब्द का व्यवहार करना उचित है। रूपक दश प्रकार का होता है जिसका महत्वपूर्ण प्रकार नाटक माना जाता है। नाटक के अतिरिक्त रूपक के भेद ये हैं—(१) प्रकरण (२) भाण (३) प्रहसन (४) डिम (५) व्यायोग (६) समवकार (७) वीथि (८) अंक (९) ईहामृग। इनके सिवाय १८ प्रकार के उपरूपकों का भी नाम तथा लक्षण नाट्यशास्त्र के ग्रंथों में मिलते हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि संस्कृत का रूपक साहित्य बड़ा विशाल, व्यापक तथा नानारूपात्मक है। परन्तु दुःख है इन सब प्रकारों के उदाहरण-रूप ग्रंथ आजकल उपलब्ध नहीं है।

प्राचीनता

संस्कृत साहित्य में नाटकों की उत्पत्ति बहुत प्राचीन काल में हो चुकी थी। वैदिक युग में भी नाट्य के अस्तित्व का परिचय हमें भलीभाँति चलता है। ऋग्वेद के सूक्तों से ज्ञात होता है कि सोम-विक्रय के समय एक प्रकार का अभिनय हुआ करता था जिसका उद्देश्य दर्शकों का मनोरंजन था। वैदिक युग के कर्मकाण्ड पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में नृत्य तथा नाट्य का प्रचार लोगों में अवश्य था। 'सोमक्रमण' का प्रसंग भी नाटकीयता से विरहित नहीं है जहाँ सोम के वेचनेवाले शूद्र से सोम खरीदा जाता है। 'महाव्रत' में एक सफेद गोलाकार चर्मखंड के लिए

---

१ न तज् ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

—नाट्यशास्त्र १।११४

२ नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्। —कालिदास

शूद्र तथा वैश्य में संघर्ष होता है जिस में वैश्य की ही विजय होती है। यह वर्णन प्रतीकात्मक है जहाँ वैश्य आलोक का और (काला) शूद्र अंधकार का प्रतीक है और इन दोनों का युद्ध सूर्य की प्राप्ति के घोर संघर्ष का द्योतक है। संहिता (वाजसनेयी ३०।४) तथा ब्राह्मण (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।२) में 'शैलूष' शब्द की उपलब्धि होती है जिसका अर्थ डा० कीथ ने गायक या नर्तक किया है, परन्तु इससे 'नट' की द्योतना मानने में कोई भी विप्रपत्ति नहीं दीख पड़ती। नृत्य का वर्णन तो अनेक स्थलों पर होता है। कौषीतकि ब्राह्मण में नृत्य गीति तथा संगीत मुख्य विद्याओं में परिगणित किये गये हैं। महाव्रत में वृष्टि के उदय तथा पशुओं की समृद्धि के लिए अग्नि के चारों ओर कुमारियों के नाचने का स्पष्ट वर्णन है तथा विवाह समाप्ति से पूर्व अग्निदेव के सामने स्त्रियों का नृत्य का संकेत हमें मिलता है। इनका सामूहिक निष्कर्ष यही है कि वैदिक युग संगीतकला से जिस प्रकार परिचित था उसी प्रकार नाट्यकला से भी अभिज्ञ था। ऋग्वेद में अनेक सूक्त विद्यमान हैं जिनमें भिन्न भिन्न व्यक्तियों का आपस में कथनोपकथन है। इन्हीं सूक्तों को 'सम्वाद सूक्त' कहते हैं। इसमें नाटकीय अंश अवश्य विद्यमान है। सामवेद तो संगीत का आकर ही ठहरा। सामों का गायन भिन्न भिन्न स्वरों में इतनी मधुरता के साथ किया जाता था कि श्रोताओं का हृदय आनंद से आप्यायित हो जाता था। इससे स्पष्ट है कि नाट्य के विकास के लिए नृत्य, गीत, वाद्य आदि जिन आवश्यक उपादानों की आवश्यकता होती है उनकी सत्ता प्रचुरमात्रा में वैदिक युग में थी।

रामायण और महाभारत के युग में इस कोमल कला की ओर भारतीयों का ध्यान था, इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है। रामायण में 'शैलूष', 'नट' तथा 'नर्तक' का उल्लेख अनेक प्रसंगों में किया गया है। वाल्मीकि का कहना है कि जिस जनपद में राजा नहीं रहता उसमें कहीं 'नट' और 'नर्तक' प्रसन्न नहीं दिखाई देते[1]।

---

१ नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः। —वा० रा० २।६७।१५

रामायणयुग में नाट्यकला के अस्तित्व के निःसन्दिग्ध प्रमाण मिलते हैं। रामायण में नट तथा नर्तकों के समाज अर्थात् गोष्ठी और मनोरञ्जन का वर्णन मिलता है (अयोध्या ६७।१५ तथा ६९।३)। 'व्यामिश्र' ऐसे नाटकों के लिए प्रयुक्त किया गया है जिनमें भाषाओं का मिश्रण रहता था (अयोध्या १।२७)। रामायण तथा महाभारत के 'कथावाचन' का अनेक उल्लेख भी मिलता है। सप्तम शती में सोमशर्मा नामक ब्राह्मण ने काम्बोज देश (आधुनिक हिन्द-चीन) में एक देवमन्दिर का निर्माण किया था तथा प्रतिदिन पाठ के लिए महाभारत की पोथी वहाँ रखी थी। 'हर्षचरित' में महारानी के 'वायुपुराण' के परायण सुनने का स्पष्ट निर्देश है। साँची से प्राप्त मूर्तियों में कथकों के एक समूह का भी अस्तित्व मिलता है जो नाचते थे और अपने भावभङ्गी से तथा अंग संचालन से अपने अभिनीत पात्रों के मनोविकारों को प्रकट करते थे। उस युग का 'भ्रूकुंस' (या भ्रकुंस, भ्रुकुंस) शब्द भी अपनी कहानी स्वयं कहता है। अमरकोश के अनुसार इसका प्रयोग 'स्त्री-वेषधारी नर्तक पुरुष' के लिए किया जाता था जिससे स्पष्ट है कि पुरुष स्त्रियों का वेष सजाकर नाचते तथा अभिनय करते थे। महाभारत में भी 'नट' 'नर्तक' 'गायक' 'सूत्रधार' आदि का निर्देश मिलता है[1]। हरिवंश में जो महाभारत का ही एक अंग है रामचरित के नाटक रूप में दिखलाये जाने का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि इस युग में नाटक जनसाधारण की श्रद्धा और सम्मान का भाजन था।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'शिलालि' तथा 'कृशाश्व' के द्वारा रचित नटसूत्रों का उल्लेख किया है[2]। इससे सिद्ध है कि नाटकों का उस समय इतना प्रचार था कि नटों की शिक्षा के लिए स्वतन्त्र सूत्रग्रन्थों की रचना होने लगी थी। पतञ्जलि के महाभाष्य में इस विषय की बड़ी ही उपादेय बातें

---

१ आनर्ताश्च तथा सर्वे नटनर्तकगायकाः। वनपर्व १५।१३

२ पाराशर्यं शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः ४।३।११०
कर्मन्दकृशाश्वादिनिः ४।३।१११

संगृहीत हैं। 'कंसं घातयति' (कंस को मारता है)[1] 'बलिं बन्धयति' (बलि को बाँधता है) में प्रयुक्त वर्तमानकालिक क्रिया का समाधान करते हुए भाष्यकार ने उन नटों ('शोभनिक' या सौभिक) का उल्लेख किया है जो प्रत्यक्ष रूप में सबके सामने कंस को मारते हैं तथा बलि को बाँधते हैं। यहाँ पतञ्जलि ने अपने समय में प्रचलित 'कंशवध' तथा 'बलिबन्ध' नामक नाटकों के अभिनयप्रकार का स्पष्ट ही उल्लेख किया है। इनके नाम ही नहीं प्रत्युत अभिनय की ओर भी संकेत किया है। उनका कहना है कि 'कंसबध' नाटक में कंस के भक्त लोग तो काला मुख बनाकर अभिनय करते थे और कृष्ण के अनुयायी अपना मुँह लाल रंग से रँगाकर अभिनय करते थे। पतञ्जलि का यह कथन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि विक्रम के पूर्व द्वितीय शतक में नाटकों का अभिनय जनता के मनोरञ्जन का एक अत्युत्तम तथा सर्वप्रिय साधन था। कामसूत्र में वात्स्यायन (द्वितीय शतक) ने भी 'नागरक' के मनोरञ्जन का वर्णन करते समय पक्ष या मास के किसी प्रसिद्ध दिन सरस्वती के मन्दिर में समाज (उत्सव) के होने तथा उस समय बाहर से आये हुये नटों (कुशीलवों) के द्वारा अभिनीत नाटकों के प्रदर्शन का उल्लेख किया है[2]। इन सब उल्लेख से प्रमाणित होता है कि वैदिक काल से लेकर विक्रम के समय तक नाटकों का प्रचलन इन देशों में था। नटों की शिक्षा के लिए भी ग्रंथ रचे गये थे। विक्रम के समय में हमारे आद्य नाटककार कालिदास का प्रादुर्भाव हुआ और तभी से नाटकों की रचना एवं उनके प्रदर्शन की प्रथा अविच्छिन्न रूप से इस भारतवर्ष में चली आ रही है। नाट्यकला भारत की निजी सम्पत्ति है, किसी बाहरी देश से उधार लिया हुआ धन नहीं है।

---

१ ये तावदेते शोभनिका (सौभिका) नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्ति इति।...अतश्च सतः व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते केचित् कंसभक्ता भवन्ति केचित् वासुदेवभक्ताः। वर्णान्यत्व खलु पुष्यन्ति। केचिद्रक्तमुखा भवन्ति केचित् कालमुखाः।

२ पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्याः भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः। कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः—कामसूत्र

२

नाटक की उत्पत्ति

भारत में नाटक की उत्पत्ति कैसे हुई ? किन उपादानों को ग्रहण कर भारतीय नाट्यकला का उदय हुआ ? ये प्रश्न अत्यंत जटिल हैं। विद्वानों ने इस विषय की मीमांसा बड़ी छानबीन के साथ की है। पर उनमें से किसी का मत अभ्रांत या विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। इसका कारण स्पष्ट है। नाटक समाज के लिये दर्पण के समान होता है। समाज एक प्रकार से टिकने वाली वस्तु नहीं है। समाज में नई विचारधाराओं का प्रवाह ज्यों ज्यों जैसे जैसे आता है, नये भावों की ज्यों ज्यों जागृति होती है, नाटक के रूप में भी वैसा ही परिवर्तन होता रहता है। आजकल भारतीय समाज की जो रूपरेखा है उसके आधार पर जिस प्रकार प्राचीन समाज का स्वरूप निश्चय करना कठिन है उसी प्रकार नाटक की वर्तमान स्थिति का अध्ययन कर उसके मूल कारणों को खोज निकालना नितान्त दुसाध्य है। पश्चिमी विद्वानों ने इस विषय को खोज निकालने का पर्याप्त उद्योग किया है। उन्होंने पाश्चात्य नाटक की उत्पत्ति के विषय में प्रचलित भिन्न भिन्न मतों को भारतीय नाटक की उत्पत्ति के विषय में लागू करने का यत्न किया है। परंतु हमारी मान्य परम्परा के विरुद्ध होने के कारण ये मत सर्वथा ग्राह्य नहीं किये जा सकते। अतः इन विद्वानों के मतों का संक्षेप में उल्लेख कर देना ही यहाँ पर्याप्त होगा।

डाक्टर रिजवे नाटक की उत्पत्ति 'वीरपूजा' से सम्बद्ध मानते हैं। नाटक प्रणयन की प्रवृत्ति तथा रुचि मरे हुए वीर पुरुषों के प्रति आदर दिखलाने की इच्छा से जाग्रत हुई। जिस प्रकार ग्रीक देश में नाटक (ट्रेजिडी) का जन्म मृत पुरुषों के प्रति किये गये सम्मान की प्रक्रिया से हुआ उसी प्रकार भारतवर्ष में नाटक वीरपूजा से ही उत्पन्न हुए। रामलीला तथा कृष्ण लीला इस प्रवृत्ति तथा सिद्धांत को पुष्ट करनेवाले आधुनिक उज्ज्वल दृष्टांत हैं[1]।

---

1 Dr. Ridgeway.—Drama and Dramatic Dances of non-European Races.

यह मत योरोपियन विद्वानों को भी ग्राह्य नहीं है। क्योंकि आजकल के प्रचलित नाटकीय उत्सवों के आधार पर नाटक का मूल खोज निकालना साहस का काम है। इसलिये डाक्टर कीथ ने नाटक की उत्पत्ति के विषय में एक नवीन मत की कल्पना की है। उनके मत में प्राकृतिक परिवर्तनों को जनसाधारण के सामने मूर्तरूप से दिखलाने की अभिलाषा से ही नाटकों का जन्म हुआ है[1]। महाभाष्य में निर्दिष्ट कंसवध नामक नाटक के अभिनय से इस मत को कुछ पुष्टि प्राप्त होती है। भाष्य में लिखा हुआ है कि कंस तथा उनके अनुयायी लोग काले मुख रखते थे तथा कृष्ण और उनके अनुयायी इस नाटक के अभिनय में रक्त मुख धारण करते थे। डाक्टर कीथ का कहना है कि इस नाटक का वसन्त ऋतु का हेमंत ऋतु पर विजय दिखलाना ही मुख्य उद्देश्य है। कृष्ण का विजय उद्भिज जगत् के भीतर चेष्टा दिखलाने वाली जीवनी शक्ति का प्रतीकमात्र है। इस विचित्र सिद्धान्त के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसके उद्भावक को भी इस मत में विश्वास नहीं है। भारतीय ग्रंथों में तो इसके प्रति संकेत भी कहीं नहीं है।

जर्मन विद्वान् डाक्टर पिशेल नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका नृत्य (पपेट शो) से बतलाते हैं। इस नृत्य की उत्पत्ति भारतवर्ष में ही हुई और उनके मत से इस नृत्य का प्रचार अन्य देशों में भारत से ही हुआ। सूत्रधार तथा स्थापक आदि शब्दों का मूल अर्थ इस मत का पोषण अवश्य करता है। 'सूत्रधार' का मूल अर्थ है 'डोरे को पकड़नेवाला' और 'स्थापक' का अर्थ है किसी वस्तु को लाकर रखने वाला। इन दोनों शब्दों का सम्बन्ध पुत्तलिका-नृत्य से है। डोरी पकड़कर पुतलियों को नचाने वाला व्यक्ति 'सूत्रधार' कहलाता था। भारतीय नाट्य के प्रबन्धक को सूत्रधार कहने का तात्पर्य यही हो सकता है कि भारतीय नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका नृत्य से हुई। इस मत में एक ही तथ्य है और वह यह है कि पुत्तलिका नृत्य सबसे पहले भारतवर्ष में ही उत्पन्न हुआ है और यहीं से वह अन्य देशों में भी

---

1 Theory of Vegitation Spirit, Keith—Sanskrit Drama PP. 45-48.

प्रचारित हुआ। परन्तु इस सामान्य नृत्य से रसभाव-संवलित नाटक की उत्पत्ति मानना नितांत निराधार तथा प्रमाणरहित है।

कुछ विद्वानों की सम्मति में नाटक की उत्पत्ति 'छाया नाटकों' से हुई। इस मत को पुष्ट करने के लिये छाया नाटक के प्राचीन उल्लेख खोज निकाले गये हैं। डाक्टर पिशेल ही इसके उद्भावक हैं तथा इस मत के समर्थकों में डाक्टर लूडर्स तथा डाक्टर **कोनो** हैं। यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि भारतवर्ष में छाया नाटक की प्राचीनता सिद्ध नहीं की जा सकती। दूतांगद नामक छाया नाटक संस्कृत में अवश्य प्रसिद्ध है परन्तु वह न तो इतना प्राचीन ही है और न इतना महत्त्वपूर्ण ही। छाया-नाटक जैसे सीधे-सादे उपकरण से भारतीय नाट्यकला का उदय मानना भ्रामक ही है।

कुछ विद्वानों ने नाटक की उत्पत्ति **'मे पोल नृत्य'**[1] से निश्चित किया है। पश्चिमी देशों में मई का महीना बड़ा ही आनन्द तथा उत्सव का होता है। उस महीने में एक स्थान पर एक लम्बा बाँस गाड़ दिया जाता है। उसके नीचे स्त्रियाँ तथा पुरुष साथ-साथ नृत्य किया करते हैं और इस तरह से आनन्दपूर्वक दिन बिताते हैं। यह लोकनृत्य का एक नमूना है। पाश्चात्य विद्वान् नाटक की उत्पत्ति इसी मे-पोल से मानते हैं। भारतवर्ष में होने वाला इन्द्रध्वज उत्सव ठीक उसी प्रकार का समझा गया है। अन्य विद्वानों ने इस मत को ध्यान देने के योग्य भी नहीं समझा है। इन्द्रध्वज उत्सव नैपाल आदि देश में अभी तक प्रचलित है। उसका समय, उसके अन्तर्गत भाव तथा उसकी प्रचलित रूढ़ि सब इस मत के विरुद्ध हैं।

सम्वाद सूक्त से नाट्योद्गम

अनेक भारतीय तथा पश्चिमी विद्वान् नाटक की उत्पत्ति वेदमूलक मानते हैं। ऋग्वेद में ऐसे अनेक सूक्त हैं जिनमें एक से अधिक वक्ता हैं। उन सूक्तों को **'सम्वाद सूक्त'** कहते हैं क्योंकि अनेक व्यक्तियों का इसमें परस्पर

1 Shadow Play. Dr. Sten konow—Das Indische Drama pp. 45-46

कथनोपकथन दृष्टिगोचर होता है। ऐसे सम्वाद सूक्तों में 'पुरुरवा' तथा 'उर्वशी' का सम्वाद (ऋ १०।८५) कालिदास के विक्रमोर्वशीय त्रोटक का आधार है, इस विषय में सन्देह करने के लिए अवकाश नहीं है। विद्वानों का कहना है कि इन्हीं सम्वाद-सूक्तों में नाट्य के बीज अन्तर्निहित हैं। कालांतर में इन्हीं बीजों के अंकुरित होने से नाट्य के विकसित होने के विषय में विद्वानों की विभिन्न धारणाएँ हैं:—

(क) जर्मन विद्वान् डाक्टर श्रोदर का मत है कि ये सम्वाद सूक्त गायन तथा नर्तन के साथ वस्तुतः अभिनीत किये जाते थे। ये स्वयं धार्मिक नाटक हैं जिनका अभिनय यज्ञ के विशिष्ट अवसरों पर नृत्य गीत तथा वाद्य के उपकरणों के साथ याज्ञिकों के द्वारा किया जाता था। आजकल बङ्गाल में जिन धार्मिक 'यात्राओं' का प्रचलन है वे इन्हीं नाटकों से विकसित वर्तमान रूप हैं।

(ख) डाक्टर हर्टल का मत है कि ये सम्वाद सूक्त वस्तुतः गाये जाते थे और गाने के लिए एक से अधिक व्यक्ति रखे जाते थे, क्योंकि सम्वाद का प्रदर्शन एक व्यक्ति के द्वारा कथमपि नहीं हो सकता। उनके कथनानुसार इन्हीं सूक्तों में नाटक के बीज हैं।

(ग) डाक्टर कीथ इस मत में आस्था नहीं रखते। उनका कहना है कि ये सम्वाद सूक्त ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं जिनका केवल 'शंसन' मात्र होता था। गायन का प्रयोग तो केवल सामवेद में होता है। इसीलिए साम-गायन करने वाले ऋत्विक् को उद्गाता कहते हैं और ऋग्वेद के मन्त्रों के उच्चारण करने वाले ऋत्विज् को होता कहते हैं। ये सम्वाद सूक्त अनेक प्रकार के हैं। कहीं तत्त्वों का विचार है, तो कहीं किसी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख है। मूलतः इनका विषय व्यावहारिक है और नाटकों के बीज सूक्तों में माने जा सकते हैं।

(घ) जर्मनी के कुछ मान्य विद्वान्—जिनमें डाक्टर विराडश, ओल्डेन-बर्ग और पिशेल मुख्य हैं—इन सम्वाद सूक्तों के स्वरूप का वर्णन कुछ नये

ढंग से ही करते हैं। उनकी सम्मति में ये सम्वाद सूक्त गद्य-पद्यात्मक थे। पद्य भाग अधिक रोचक तथा मंजुल होने से अवशिष्ट रह गया है, परन्तु गद्य भाग केवल वर्णनात्मक होने से धीरे धीरे लुप्त हो गया है। इसे वे लोग '**आख्यान**' के नाम से पुकारते हैं। नाटक में जो गद्य और पद्य का सम्मिश्रण है वह पिशेल की राय में इन्हीं सम्वाद सूक्तों के अनुकरण पर है। डाक्टर **ओल्डेनबर्ग** ऐतरेयब्राह्मण के 'शुनःशेष' उपाख्यान तथा शतपथ ब्राह्मण में आये हुए 'पुरुरवा उर्वशी' की कथा को इन्हीं आख्यानों का अवशिष्ट रूप मानते हैं।

भरत-मत

नाटकोत्पत्ति के विषय में भारतवर्ष में कुछ कथाएँ परम्परा से चली आई हैं। इसमें सबसे प्राचीन वह प्रतीत होती है जो भारतीय नाट्य-शास्त्र के प्रथम अध्याय में मिलती है। यहाँ उसी का सारांश दिया जाता है। सांसारिक मनुष्यों को अत्यन्त खिन्न देखकर इन्द्रादि देवताओं ने ब्रह्मा के पास जाकर ऐसे वेद के निर्माण करने की प्रार्थना की जिससे वेद के अनधिकारी स्त्री शूद्रादि सभी लोगों का मनोरंजन हो। यह सुनकर ब्रह्मा ने चारों वेदों का ध्यान कर ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर 'नाट्यवेद' नामक पञ्चमवेद की रचना की[1] और इन्द्र से कुशल प्रगल्भ देवताओं में इसका प्रचार करने को कहा। इंद्र ने कहा कि देवता लोग नाट्य कर्म में कुशल नहीं हैं। वेदों के मर्म जानने वाले मुनिजन इसका ग्रहण और प्रयोग करने में समर्थ हैं। अतः ब्रह्मा के कथनानुसार भरतमुनि ने अपने पुत्रों को इसकी शिक्षा दी। यह प्रयोग भारती, सात्वती, आरभटी वृत्ति में शुरू हुआ। बाद में कौशिकी वृत्ति जोड़ी गई जिसका प्रदर्शन स्त्री-पात्र के बिना नहीं हो सकता था। अतः उन्होंने अप्सराओं की कल्पना की। भरतमुनि इन सब वस्तुओं से सुसज्जित होकर ब्रह्मा जी के पास

---

१ जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि। —नाट्यशास्त्र १।१७

गए और आगे का प्रयोग पूछा। ब्रह्माजी के कथनानुसार इंद्र के ध्वजोत्सव में इस नाट्यवेद का सर्वप्रथम प्रयोग किया गया। इस प्रयोग को देखकर देवता लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने पात्रों को अनेक वस्तुएँ पारितोषिक रूप में दीं। प्रयोग का विषय था इंद्र-विजय। इस प्रयोग में देवों का उत्कर्ष और दैत्यों का अपकर्ष देखकर दैत्य अत्यंत क्रुद्ध हुए और विघ्न करने लगे। इंद्र ने इन विघ्नों का उत्पात जानकर अपनी ध्वजा से उन विघ्नों को जर्जर कर दिया और उसी से उस ध्वज का नाम 'जर्जर' पड़ गया। इन विघ्नों से बचे रहने के लिए इंद्र ने विश्वकर्मा को नाट्यगृह बनाने की आज्ञा दी। इसके बन जाने पर स्वयं ब्रह्मा ने देवताओं की स्थापना की जिससे पात्रों तथा नाटक के प्रयोग की रक्षा हो। दैत्यों को सम्बोधित कर ब्रह्मा ने कहा कि यह नाट्यवेद देव और दैत्य दोनों के लिए है। इसमें धर्म, क्रीड़ा, हास्य और युद्ध सभी विषय हैं। ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म नहीं है जो नाट्य में न हो (नाट्यशास्त्र १।११३)। नाट्य तो त्रैलोक्य भावों का कीर्तन है। ऐसी कौन वस्तु है जिसका प्रदर्शन और प्रयोग इनमें नहीं किया जाता। जिस प्रकार यह है उसी प्रकार अन्य प्रयोगों में देवताओं की पराजय भी दिखायी जा सकती है। इतना समझाने पर किसी प्रकार दैत्य लोग शांत हुए और नाटक निर्विघ्न होने लगा। पहला अभिनीत नाटक त्रिपुर-दाह नामक डिम तथा समुद्रमन्थन नामक समवकार थे।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि भारतीय विद्वान् नाट्य को वेद से आविर्भूत मानते हैं। सुखमय सत्ययुग में इसकी कल्पना थी ही नहीं। इसकी उत्पत्ति तो त्रेता में हुई जब दुःखों का आविर्भाव जगतीतल पर हुआ। भारतवर्ष में आरम्भ से नाट्य के प्रयोग में स्वाभाविकता रही है। पुरुषों की भूमिका पुरुष ग्रहण करते थे और स्त्रियों की भूमिका स्त्रियाँ ग्रहण करती थीं। पुरुषों को स्त्री-भूमिका ग्रहण करना नितान्त अनुचित है। इस अस्वाभाविक प्रथा का निराकरण पाश्चात्य जगत् ने गत शताब्दी में ही किया है। नाटक की व्यापकता तथा प्रभावशीलता सर्वत्र स्वीकृत है।

भरत के वर्णन से स्पष्ट है कि नाट्य की उत्पत्ति धर्मद्रोही दैत्यों के पराजय के वर्णन से सम्बद्ध है। नाटक के विकास में वैष्णव धर्म का विशेष हाथ है। पतञ्जलि ने जिन नाट्यप्रयोगों का (कंसवध तथा बलिबन्धन का) उल्लेख किया है वे विष्णुचरित से सम्बद्ध हैं। नाटक में शौरसेनी की प्रधानता भी यही सूचित करती है कि नाटक के विकास में शूरसेन देश (मथुरा) में कृष्णभक्ति का विशेष प्रभाव था।

३

भारतीय नाटक पर ग्रीक प्रभाव

नाटक भारतीयों की प्रतिभा का विकास है अथवा इसे विकसित होने में ग्रीक देश की नाट्यकला भी कारणभूत है? इन प्रश्नों ने विद्वानों का ध्यान विशिष्ट रूप से आकृष्ट किया है। जर्मन विद्वान डाक्टर वेबर ने प्रथमतः संस्कृत नाटकों पर ग्रीक प्रभाव पड़ने की बात उठाई। इसका उत्तर डा० पिशेल ने इतना सयुक्तिक दिया कि कुछ दिनों तक इसकी चर्चा दब सी गई। पुनः डा० विरिडश ने इस प्रश्न की विस्तृत, मीमांसा कर ग्रीक प्रभाव के स्वरूप को नई खोजों के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। डा० वेबर का कहना है कि नाटक के उपादान प्राचीन संस्कृत साहित्य में इतने अल्प हैं कि उनके आधार पर नाटक जैसी कमनीय कला का उदय नहीं हो सकता। सिकन्दर नाटकों का बड़ा प्रेमी था। उसके दरबार में नाटकों का खूब अभिनय होता था। बैक्ट्रिया तथा पंजाब के ग्रीक राजाओं के दरबार में नाटकों का खूब प्रचार था। इसी का प्रभाव संस्कृत नाटकों पर पड़ा। भारतीय प्रतिभा नवीन प्रभावों का आत्मसात् करने में नितान्त प्रवीण थी। अतः नाटक का विकास स्वतः अपनी प्रतिभा

के बल पर नहीं हुआ, प्रत्युत ग्रीक नाटकों के अभिनय देखकर भारतीयों की इस दिशा में प्रेरणा तथा स्फूर्ति मिली। परन्तु यह सिद्धान्त नितान्त उपेक्षणीय है। जिन आधारों पर यह विशाल किला खड़ा किया गया है वह बिल्कुल लचर तथा एकदम दुर्बल है।

डा० विण्डिश का कहना है कि न्यू एटिक कामेडी[1] भारतीय नाटकों पर ग्रीक प्रभाव पड़ने का मूल स्रोत है। इस प्रकार के सुखांत नाटकों में समाज का विस्तृत चित्रण रहता है। ईसा के प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी में रोम तथा भारत से बड़ा व्यापारिक सम्बन्ध था। वेरिगाजा (आधुनिक भडौंच) इस रोमन व्यापार का प्रधान बन्दरगाह था। उज्जैनी में लिखित मृच्छकटिक के ऊपर ग्रीक नाटकों का प्रकृष्ट प्रभाव पड़ा है। परन्तु यह मत ठीक नहीं। इस न्यू कामेडी तथा संस्कृत नाटक का सम्पर्क और सादृश्य वस्तुतः बहुत ही कम है। रोमन नाटकों के समान संस्कृत नाटक अंकों में विभक्त हैं जिनके अन्त में प्रत्येक पात्र का निर्गमन अनिवार्य होता है परन्तु यह विभाजन स्वतन्त्र रूप से सिद्ध हो सकता है। मृच्छकटिक को तृतीय शतक की रचना मानकर उसे कालिदास से प्राचीन मानना कथमपि न्याय्य नहीं है। मृच्छकटिक तो न इतना पुराना है और न उसके कथानक तथा पात्र-विश्लेषण में कोई नवीनता ही है। भास का 'दरिद्र चारुदत्त' मृच्छकटिक का आधार है। इसकी वस्तु अन्य नाटकों से कथमपि भिन्न नहीं है। ऐसी दशा में ग्रीक प्रभाव की कल्पना केवल इसी प्रमाण के आधार पर करना अनुचित है।

संस्कृत नाटकों में यवनी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के द्वितीय अंक में वनमाला धारण करनेवाली धनुर्धारिणी यवनियाँ राजा दुष्यन्त की परिचारिका के रूप में चित्रित की गई हैं।[2] परन्तु इस उल्लेखमात्र से अभीष्टसिद्धि नहीं हो सकती। रोमन भौगोलिकों ने स्पष्ट

---

१. New Attic Comedy (340-260 B. C.)

२. एसो बाणासनहत्थाहि जवनीहि वनपुष्पमालाधारिणीहि परिवुदो इदो एव्व आअच्छदि पिअवअस्सो। —शाकुन्तल, अंक २

लिखा है कि रोम तथा भारत में गहरा व्यापार होता था जिसमें शराब, गानेवाले लड़के तथा सुंदर दासियाँ रोम से भेजी जाती थीं। इन श्वेताङ्गी रोमन ललनाओं ने भारतीय राजा लोगों की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट किया था। वे उन्हें दासी बनाकर अपने महलों में रखते थे। इसी सामाजिक घटना के आधार पर संस्कृत नाटकों का यह वर्णन है। इससे ग्रीक नाटकों के प्रभाव पड़ने का समर्थन कथमपि नहीं होता।

जवनिका

भारतीय रंगमंच पर अभिनय के अवसर पर जिस परदे का प्रयोग किया जाता है उसके लिये अधिकांश विद्वज्जन 'यवनिका' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस शब्द के आदिम अंश की समीक्षा कर यूरोपीय विद्वानों ने यह सिद्धांत बना लिया है कि भारतीय नाटक के विकास पर यूनानी नाटकों का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। वे ऐतिहासिक प्रमाणों के अतिरिक्त 'यवनिका' शब्द को इस प्रसंग में अपने अशक्त भवन की दृढ़ नींव समझते हैं।

पहली बात ध्यान देने की यह है कि 'जवनिका' हमारे नाट्यशास्त्र का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द नहीं, प्रत्युत लोकव्यवहार में प्रयुक्त होनेवाला साधारण शब्द है। 'अमरकोश' में इसका प्रयोग 'पटवेश्म' (खेमा) को ढकनेवाले परदे के अर्थ में किया गया है। प्राचीनकाल में वस्त्रों से बने घरों का वर्णन मिलता है। 'अमर' ने ऐसे घर के लिये 'दूष्य' शब्द का प्रयोग किया है—दूष्याद्यं वस्त्रवेश्मनि—अमरकोश २।१।१२०।

'अमर' के टीकाकार क्षीरस्वामी ने वस्त्रवेश्म के लिए 'पटकुटी', 'पटकुड्य', 'गुणशालिनी' तथा 'स्थूला' शब्दों का व्यवहार होना लिखा है।[1] 'अमर' के दूसरे टीकाकार भानुजिदीक्षित (समय सत्रहवीं शती) ने इसी प्रसंग में 'कुटर', 'पटकुटी' तथा 'पटवास' शब्दों का उल्लेख किया है।[2] 'वस्त्रवेश्म' का प्रचलन प्राचीन काल में मुसलमानों के संपर्क से

१—अमरकोशोद्घाटन, ओरिएंटल बुक एजेंसी, पूना से सन् १९४१ ई० में प्रकाशित, पूना ओरिएंटल सिरीज संख्या ४३, पृष्ठ १५८।

२—रामाश्रमी, निर्णयसागर प्रेस, पृष्ठ ४०७।

पहले भी था। कालिदास इसके प्रचलन से परिचित हैं। उन्होंने 'रघुवंश' के पंचम सर्ग में इसका उल्लेख किया है (श्लोक ४१)। इस श्लोकस्थ शब्द 'उपकार्या' की मल्लिनाथी टीका 'उपकार्यासु राजयोग्येषु पटभवनादिषु' से स्पष्ट है कि यहाँ कालिदास का कपड़ों के बने घरों से ही अभिप्राय है। इस उल्लेख से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'खेमा' (अंग्रेजी 'टेंट') बनाने तथा उसमें रहने का प्रचलन प्राचीन भारत में था और राजा लोग यात्रा में उसका उपयोग करते थे।

'जवनिका' का प्रयोग उस खेमे को ढकनेवाले परदे के लिये किया जाता था जिसे आजकल हिंदी में 'कनात' कहते हैं। मल्लाह नाव की गति तीव्र करने के लिये गोनधर (मस्तूल) के ऊपर जिस कपड़े का परदा बाँधते हैं उसके लिये भी 'जवनिका' शब्द का प्रयोग कोशों में किया जाता है। इन दोनों विशिष्ट अर्थों का सामान्य रूप है 'ढकना', 'आवरण करना' और इसीलिये जवनिका का सामान्य अर्थ हो गया 'परदा', जो वस्तु किसी को ढककर उसे तिरोहित कर देती है।

परदे के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले प्रधान शब्द हैं—प्रतिसीरा, तिरस्करिणी, अपटी, कांडपट, अंतःपट, पटी तथा चित्रा। इन शब्दों से प्रसिद्धतर शब्द है 'जवनिका' और वह है जकरादि, यकरादि नहीं। शुद्ध भी 'जवनिका' ही है, 'यवनिका' नहीं।

'जवनिका' शब्द की व्युत्पत्ति 'जु' धातु से है। जु धातु धातुपाठ में परिगणित न होकर ३।२।१५० सूत्र (जु चङ्क्रम्य···) में महर्षि पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। इसका अर्थ है गति तथा वेग। अतः 'जवनिका' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ होगा—वह आवरण, जिसमें दौड़कर लोग चले जायँ अथवा वह वस्तु जो वेग से सम्पन्न हो या जिसे गति प्राप्त हो अर्थात् जो इधर उधर हटाई जा सके। 'जवनी' तथा 'जवनिका' दोनों का एक ही अर्थ होता है। इन दोनों में 'जवनिका' का प्रयोग अत्यन्त लोकप्रिय है, 'जवनी' का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत ही न्यून है, परन्तु आवरण के अर्थ में प्रयोग दोनों का ही होता है।

'जवनिका' का प्रयोग 'नाट्यशास्त्र' (५।११) 'दशरूपक' (३।) जैसे शास्त्रीय ग्रंथों, 'भर्तृहरिशतक' तथा 'शिशुपालवध' (४ ।५४) जैसे प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथों तथा 'हरिवंश' (२।८८) और 'भागवत' (१.८ १६) जैसे पुराणों में समभावेन उपलब्ध होता है।

इन निर्देशों में से प्रथम दो में तो 'जवनिका' शब्द का प्रयोग नाटकीय आवरण के लिये हुआ है और अन्तिम चार में सामान्य परदे के अर्थ में। सर्वत्र जकारादि 'जवनिका' का ही प्रयोग मिलता है, यकारादि का नहीं। ऐसी दशा में परदे के अर्थ में 'यवनिका' शब्द का प्रयोग कथमपि न्यायसंगत नहीं। एक प्रबल प्रमाण और भी है। 'यवनिका' के पक्षपाती भी परदे के अर्थ में 'यवनी' शब्द का प्रयोग कथमपि न्याय्य नहीं मानते। 'यवनी' का अर्थ है यवन जाति की स्त्री, और इसी अर्थ में इसका प्रयोग कालिदास ने भी किया है (रघु० ४।६१)। परन्तु परदे के अर्थ में 'जवनिका' के समान 'जवनी' का प्रयोग भी मिलता है और यह होना भी चाहिए, क्योंकि वस्तुतः ये दोनों शब्द एक ही धातु से निष्पन्न होते हैं। 'जवनिका' में स्वार्थे कन् की अधिकता है, परन्तु स्वार्थ में कन् प्रयोग की सत्ता होने के कारण अर्थ में तनिक भी अन्तर नहीं है।

श्री गोवर्धनाचार्य ने अपनी विख्यात 'आर्या-सप्तशती' में 'जवनी' का प्रयोग परदे के अर्थ में शोभन प्रकार से किया है—

> व्रीडाप्रसरः प्रथमं तदनु च रसभावपुष्टचेष्टेयम्।
> जवनी-विनिर्गमादनु नटीव दयिता मनो हरति॥
>
> आर्यासप्तशती, श्लोक ५३८।

भारतीय नाटककला पर यूनानी प्रभाव का पक्षपाती कोई भी विद्वान् इस आर्या में 'जवनी' के स्थान पर 'यवनी' का परिवर्तन कभी नहीं कर सकता। यदि 'यवनिका' का प्रयोग न्याय्य होता तो यह परिवर्तन सिद्ध करने में व्याकरण कभी व्याघातक न होता। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि परदे के लिए उचित तथा प्रयुक्त शब्द 'जवनिका' ही है, 'यवनिका' नहीं।

इस झमेले का गूढ़ कारण भी खोजा जा सकता है। राजशेखर का सुप्रसिद्ध सट्टक है 'कर्पूरमंजरी'। समग्र रूप से प्राकृत भाषा में निबद्ध नाटिका को ही 'सट्टक' कहते हैं। इस सट्टक के अवान्तर अङ्कों के नाम हैं 'जवनिकांतरम्। मेरी समझ में इस नाम के संस्कृतीकरण ने ही विद्वानों को भ्रम में डाल दिया है। सट्टक में सब कुछ प्राकृत भाषा में है। तब अंक का यह नामकरण भी प्राकृत में ही निबद्ध होगा, यह कल्पना कुछ अनुचित नहीं है। वररुचि के 'आदेर्यो जः' (प्राकृतप्रकाश) सूत्र के अनुसार संस्कृत शब्दों का आदिम यकार प्राकृत में जकार हो जाता है। इसी नियम को ठीक ठीक न समझने के कारण भ्रान्ति का उद्गम हुआ है। जब संस्कृत आद्य-यकार का प्राकृत में जकार होता है, तब प्राकृत का आदि जकार संस्कृत में यकार हो ही जायगा। अतः 'जवनिकान्तरं' का संस्कृत रूप होगा 'यवनिकान्तरम्', और इस प्रकार नाटकीय परदे के अर्थ में 'यवनिका' शब्द विराजने लगा। भ्रांति यही है। 'आदेर्यो जः' नियम का विपर्यय संस्कृत में सर्वत्र उचित नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वानों को 'जवनिकांतरं' के संस्कृतीकरण ने धोखे में डाल दिया। कोशों में कहीं कहीं गलती से 'यवनिका' शब्द का ही निर्देश मिलता है। रामाश्रमी टीका में 'जवनिका' के स्थान पर 'यमनिका'[1] पाठांतर दिया गया है, परन्तु अप्रयुक्त होने के कारण यह शब्द कथमपि मान्य नहीं हो सकता। इसकी व्युत्पत्ति किसी प्रकार अर्थ-सिद्धि में सहायक हो सकती है, परन्तु इस शब्द का प्रयोग कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसी दशा में 'यमनिका' को मान्यता प्रदान करना उचित नहीं।

इस प्रसंग में विचारणीय वस्तु यूनानी नाटकों में जवनिका का मूलतः अभाव भी है। यवन देश में नाट्य के लिए परदे की चाल नहीं थी। वहाँ दर्शकों की संख्या इतनी अधिक होती थी कि उनकी सुगमता के लिये रंगमंच बड़ा ऊँचा बनाया जाता था। नाटक का अभिनय खुले मैदान में ही

१—यमनिका इति वा पाठः । यमयति—यम उपरमे (भ्वा० प० अ०) ल्युट् (३।३।११७) कन् (ज्ञापित ५।३।५५)।—रामाश्रमी २।६।१२०

दर्शकों के सुभीते के लिये किया जाता था। उस पर किसी प्रकार का परदा नहीं होता था। जब यूनानी नाटकों में परदा ही नहीं था, तब भारतीयों के लिये उनकी नकल का प्रश्न ही नहीं उठता। ऊपर कहा गया है कि 'जवनिका' भारतीय नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द नहीं, एक सामान्य शब्द है। यदि भारतीय नाट्यरचयिताओं ने इसे यूनानी रंगमंच से लिया होता, तो वे इसे नाटकीय परदे के अर्थ में ही सीमित किए रहते, परन्तु वस्तुस्थिति इसके नितांत विरुद्ध है। ऐसी दशा में 'यवनिका' शब्द के आधार पर की गई यह कल्पना भी पूर्णतः भ्रामक एवं सर्वथा निराधार है। भारतीय प्रतिभा जिस प्रकार नाटक के विन्यास में स्वतंत्र है, उसी प्रकार अभिनय-कला में भी वह परमुखापेक्षी नहीं है। 'जवनिका' के लिये भारतीय नाटककार यवनों के पराधीन नहीं हैं। नाटकीय परदा भारत की अपनी निजी वस्तु है, मँगनी की चीज नहीं।

संस्कृत नाटकों की विशिष्टता

संस्कृत नाटक ग्रीक नाटक से इतने मौलिक अंशों में भिन्न हैं कि बाहरी प्रभाव उनके ऊपर कथमपि माना नहीं जा सकता।

(१) ग्रीक नाटकों के भेद हैं—सुखान्त नाटक (कामेडी) तथा दुःखान्त नाटक (ट्रेजिडी)। परन्तु भारतीय नाटक में इस वर्गीकरण का सर्वथा अभाव है। संस्कृत साहित्य में सामान्यतः दुःखान्त नाटक ही नहीं है।

(२) संस्कृत नाटकों का परिमाण दूसरे साहित्य के नाटकों से बहुत ही अधिक है। अकेला मृच्छकटिक ग्रीक नाट्यकार एसकिलस के तीन नाटकों के बराबर है।

(३) संस्कृत नाटकों की अपनी विशेषता है संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं का मिश्रण। संस्कृत नाटक लोक के व्यवहार को दृष्टि में रखकर निर्मित हुआ है। उस युग में सामान्य जनता के बीच में प्राकृत ही बोलचाल की भाषा थी, परन्तु संस्कृत समझने की योग्यता प्रायः सबमें पाई जाती थी। नायक तथा उच्चवर्गीय पात्र संस्कृत का ही प्रयोग करते थे, परन्तु स्त्रियाँ तथा निम्नवर्गीय पुरुष पात्र प्राकृत का ही बोलने में प्रयोग

करते थे। इस प्रकार यह आवश्यक भाषा-मिश्रण भी हमारे नाटकों का वैशिष्ट्य है।

(४) संस्कृत नाटकों के विभागों को 'अंक' कहते हैं। अंक की समाप्ति होने पर सब पात्रों का रङ्गमञ्च से चला जाना आवश्यक होता है। फ्रेंच नाटकों में भी यही प्रथा है। नाटक का अंकों में विभाजन एक नई वस्तु है जो ग्रीक नाटकों में उपलब्ध नहीं होती। पाश्चात्य रूपकों में अंकों का विभाग रोमन लोगों ने आविष्कृत किया। परन्तु कोई भी विद्वान् कालक्रम में पर्याप्त भिन्नता होने के कारण रोमन नाटकों का प्रभाव संस्कृत नाटकों पर नहीं मानता।

(५) विदूषक की कल्पना भी एक निराली वस्तु है। उसके जोड़ का पात्र ग्रीक नाटकों में नहीं है। वह नायक का मित्र होता है, दास नहीं। उसका कार्य केवल हास्यरस का उत्पादन ही नहीं है प्रत्युत नायक को अनेक कार्यों में सहायता प्रदान करना है। मध्यकालीन यूरोपीय नाटकों में 'फूल' (मूर्ख) नामक एक पात्र अवश्यमेव प्रयुक्त होता था परंतु वह निरा हास्य का उपादान होता था। इसके विपरीत हमारा 'विदूषक' बड़े ही काम का पात्र है। वह मित्र होने के नाते नायक के प्रणयकार्यों में ही सहायता नहीं पहुँचता, प्रत्युत वह उसे अनेक विपत्तियों तथा विषम परिस्थितियों से भी बचाता है। भारतवर्ष के राजाओं में 'बहु विवाह' की प्रथा प्रचलित थी। ऐसी दशा में राजा अनेक रानियों के साथ व्यवहार की अनुकूलता में यदि कहीं चूकता था तो वह विदूषक से ही सहायता लेता था। फलतः हास्यरस का उत्पादक होने पर भी विदूषक हमारे नाटकों के लिए एक बहुत ही उपयोगी पात्र है।

(६) संस्कृत नाटकों का आख्यान नितान्त मौलिक तथा पूर्णतया भारतीय है। वह रामायण, महाभारत, पुराण तथा बृहत्कथा आदि के ऊपर आश्रित रहता है। उसमें किसी प्रकार की विदेशी कथाओं का मिश्रण नहीं दीख पड़ता। इतना होने पर भी नाटकों की कथाओं में मौलिकता के लिए भी पर्याप्त अवकाश है—नवीनता की काफी गुंजाइश है। प्रकरण तथा प्रहसन आदि रूपकों की कथा कवि के द्वारा गढ़ी हुई रहती है। वह आँख मूँद कर

प्राचीन कथाओं को ही नहीं लिखता, वह प्रत्युत अपनी परिस्थितियों की ओर भी दृष्टिपात करता है तथा अपने कथानक के लिए उन्हीं से सामग्री लेता है।

(७) अन्वितित्रय का अभाव—यूनानी नाटकों में तीन प्रकार की अन्वितियाँ (यूनिटीज) पाई जाती हैं।

(क) स्थानान्विति—समग्र घटनाएँ एक ही स्थान पर घटित होती हैं। **(ख) कालान्विति**—समग्र घटनाएँ एक ही काल में (एक ही दिन के भीतर) घटित हो जाती हैं। **(ग) कार्यान्विति**—समग्र घटनाओं का एक ही उद्देश्य तथा प्रयोजन होता है जिसका सम्पादन और निर्वाह विभिन्न घटनाओं के द्वारा सम्पन्न होता है। अरस्तू का यह **अन्विति-त्रय** (थ्री यूनिटीज) का सिद्धांत यूरोपीय नाटककारों में सर्वथा मान्य था, विशेषतः फ्रेंच नाटककारों को। वहाँ भी इसका विरोध हुआ विशेषतः अंग्रेजी तथा स्पेनिश नाटककारों द्वारा; परन्तु भारत में **कार्यान्विति** को छोड़कर, जो नाटक में सर्वत्र उपादेय है, अन्य अन्वितियों का निर्वाह कथमपि नहीं होता। घटनाओं के लिए स्थानों का वैभिन्य है तथा काल का भी। उत्तररामचरित के प्रथम तथा द्वितीय अंकों के मध्य में बारह वर्ष का लम्बा काल व्यवधान रूप से विद्यमान है। **कार्यान्विति** तो नितांत आवश्यक होती है और इसी लिए उसका पूर्ण निर्वाह संस्कृत नाटकों में है। **निर्वहण सन्धि** में नाटक के भिन्न भिन्न अंकों में प्रयुक्त घटनाओं का एक कार्य का सम्पादन विशेष आवश्यक होता है।

(८) कोरस का अभाव—यूनानी नाटकों में 'कोरस' का बड़ा ही विशिष्ट स्थान होता है। 'कोरस' का अर्थ एक साथ गाने तथा नाचने वाले पात्रों की टोली। यह माना जाता है कि कोरस के नृत्य और गान से यूनान में ट्रैजिडी का जन्म हुआ, परन्तु धीरे धीरे संगीत का महत्त्व घटता गया और नाट्य—अभिनय का महत्त्व बढ़ता गया। अरस्तू के समय तक पहुँचते-पहुँचते संगीत की प्रमुखता नष्ट हो चुकी थी, किन्तु तब भी **कोरस का** अपना विशेष प्रयोजन था। कोरस घटनाओं और क्रियाओं की व्याख्या तथा

आलोचना किया करता था। साथ ही साथ नृत्य और गान के द्वारा मनोरंजन का साधन भी प्रस्तुत करता था। इस प्रकार कोरस का प्रयोजन दो प्रकार का था। सामान्यतः वह रंगमंच के ऊपर नृत्य और गान प्रस्तुत करता था जिससे दर्शकों का मनोरंजन तथा आकर्षण स्थायी बना रहता था। विशेषतः वह रंगमंच के ऊपर प्रदर्शित की गई घटनाओं की व्याख्या भी करता था जिससे दर्शकों को उन घटनाओं के नाटकीय मूल्य तथा महत्त्व का पूर्ण परिचय मिलता था। शेक्सपीयर ने भी अपने ऐतिहासिक नाटकों में, विशेषतः 'हेनरी पंचम' में कोरस की अवतारणा दी है। यद्यपि वे यूनानी नाटकों के प्रभाव से अपने को पृथक् रखते हैं, तथापि 'कोरस' को वह महत्त्वपूर्ण मानकर उसकी अवतारणा करते हैं आदर्श दर्शक के रूप में। इस प्रकार कोरस एक बहुत ही उपादेय तथा उपयोगी चरित्र है प्राचीन यूनानी नाटकों में। यदि भारतीय नाटककार यूनानी नाटकों से परिचय रखते, तो अवश्य ही वे भी कोरस को संस्कृत नाटकों में रखते, परन्तु ऐसा न होना यूनानी प्रभाव के अभाव का ही सूचक है।

(६) **रंगमंच की स्थिति**—यूनानी रंगमंच से भारतीय रंगमंच का अन्तर भी बहुत अधिक है। यूनान में नाटकों का अभिनय समस्त जनता के सामने होता था और इसलिए वे बाहर आकाश के नीचे खुली जगह पर किये जाते थे। उसके लिए किसी रंगशाला का निर्माण नहीं था, न कोई परदा या जिसके उठाने गिराने की प्रथा हो। पात्र जनता को आकृष्ट करने के लिए ऐसे साधन पहनते थे जिससे वे अपनी असल कद से बहुत ही ऊँचे दिखलाई पड़ते थे। परन्तु भारतीय नाटकों में ऐसा कभी नहीं होता था। आरम्भ काल से ही प्रेक्षागृह या नाट्यमण्डपों में ही रूपक खेले जाते थे। बाहरी मैदान में रूपकों का अभिनय अधिक नहीं होता था। माननीय राजाओं की राजधानियों में तो रंगशालायें होती ही थीं जिनमें चुने हुए सभ्यों के सामने नाटक खेले जाते थे। बौद्ध जातकों से पता चलता है कि छोटे छोटे नगरों में भी ऐसे पंचायती मकान बनाये जाते थे जो स्थानीय लोगों के लिए प्रेक्षागृह का काम करते थे और साथ ही साथ उनमें प्रेक्षकगण

भी कहीं बाहर से आकर अपनी कला का प्रदर्शन किया करते थे। सप्तम शती में दण्डी ने भी ऐसे जनपदीय सभागृहों के लिए 'पञ्चवीर गोष्ठ' शब्द का प्रयोग किया है।

संस्कृत नाटकों की ये कतिपय विशेषताएँ हैं जिन पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जायगा कि संस्कृत और यूनानी नाटकों में इतने मुख्य भेद हैं कि दोनों को स्वतन्त्र और एक दूसरे से अप्रभावित रचना मानना ही पूर्णतः न्यायसंगत प्रतीत होता है।[1]

सुखान्त रूपक का रहस्य—

भारतीय नाटकों की यह महती विशेषता है कि वे सर्वदैव नियमतः सुखांत ही होते हैं। नाटक के आरम्भ अथवा मध्य में कितनी भी दुःखद तथा करुणोत्पादक घटनायें प्रदर्शित की जाँय, उनका अन्त सदा सुखद, कल्याणकारक तथा मंगलसाधक ही होता है। इस वैशिष्ट्य के कारण आलोचकों ने भारतीय नाटककारों को अव्यावहारिक होने की तीव्र आलोचना की है, परन्तु यह समग्र विपरीत आलोचन भारतीय संस्कृति के मूल तथ्यों के अज्ञान से विजृम्भित है।

(१) भारती दर्शन आशावादी है। उसका यह दृढ़ मन्तव्य है कि संसार का यह भ्राम्यमाण चक्र अन्ततोगत्वा सौन्दर्य तथा आनन्द के उत्पादन में समर्थ होता है। मार्ग के नाना विघ्न, क्लेश तथा कष्ट उठाने का प्रसंग भले ही हमारे जीवन को दुःखद तथा क्लेशमय बनावे, परन्तु गन्तव्य स्थान—जीवन का उद्देश्य-सदा ही आनन्द का निकेतन होता है, सौन्दर्य की शीतल वायु जिसे सुखमय तथा मधुमय बनाती है। इसी आशावादिता से प्रेरित होकर भारतीय नाटककार नाटक के आदि को आशीर्वाद से आरम्भ करता है तथा अन्त में विश्वशान्ति के लिये प्रार्थना करता है। भारतीय जीवनदर्शन के सौन्दर्य तथा आनन्द का मधुमय संयोग संस्कृत

---

१ विशेष के लिए द्रष्टव्य—Banerjee : Hellenism in Ancient India pp-240 65

नाटक को दुःखान्त होने से बचाता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार संसार अव्यवस्थित घटनाओं का समुच्चय आपाततः प्रतीयमान होने पर भी मूल में 'ऋतु' की भावना से भावित होता है। इस संसार की जड़ में 'ऋतु' विद्यमान रहता है—इसी 'ऋतु' का उदय सृष्टि के आरम्भ में हुआ—ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत (ऋग्वेद १०।१६०) 'ऋत' का अर्थ है पूर्ण व्यवस्था, जागतिक घटनाओं का पूर्ण सामञ्जस्य। अतः यहाँ अव्यवस्थित घटनाओं की गुंजाइश ही नहीं है। भौतिक घटनाओं का संघर्ष प्रयोजन ही नहीं होता, प्रत्युत वह मानव के आध्यात्मिक जीवन के साथ सम्बद्ध रहता है। फलतः भौतिक घटनाओं का संघर्ष अन्ततः आध्यात्मिक मूल्य रखता है जो मानव को आध्यात्मिक जगत् में पहुँचा देता है। ऐसी स्थिति में भारतीय कवि जीवन के दुःख तथा क्लेश को आध्यात्मिकता की शिक्षा देने का एक साधन मानता है जिसका अंत सदा सुखद तथा कल्याणप्रद ही होता है।

(२) कलात्मक दृष्टि से भी नाटक का सुखान्त होना ही उचित है। भारतीय दृष्टि से विशुद्ध कला मानवों में सात्त्विक भावों का उदय कराती है। कला का मुख्य प्रयोजन सत्यं शिवं तथा सुन्दरं का उदय है। कला अपने साधक को सत्य, शिव (मंगल) तथा सुन्दर की ओर ले जाती है। नाटक कला का विशुद्ध विलास तथा आनन्दमय अभिव्यक्ति ठहरा। अतः नाटक का आनन्दमय होना नितान्त उचित है। इन्हीं दार्शनिक, सांस्कृतिक तथा कलात्मक दृष्टियों को लक्ष्य में रखने से भारतीय नाटक सर्वदा 'सुखान्त' ही होता है।

(३) सुखान्त होना अव्यावहारिकता का चिह्न नहीं है। भारतीय कवि मानव जीवन के दोनों पहलुओं से परिचित होता है—मानव के सुख तथा दुःख, राग तथा द्वेष, कुरूप तथा सुरूप का चित्रण नाटक को यथार्थवादी बनाने के लिए पर्याप्त है। भारतीय नाटक जीवन का एकांगी चित्रण प्रस्तुत नहीं करता, वह भारतीय जीवन का पूर्ण तथा सार्वभौम चित्रण रहता है। सुख के अंकन में भारतीय कवि जितना जागरूक रहता है, दुःख के चित्रण में

भी वह उतना ही तत्पर रहता है। परन्तु भारतीय संस्कृति का प्रसाधक होने के हेतु वह अपने नाटक को दुःखान्त होने से सदा ही बचाता है। इसका यह अर्थ कभी भी नहीं है कि भारतीय नाटक में दुःख का, मानवीय क्लेश का तथा कमजोरियों का, चित्रण होता ही नहीं। कहने का तात्पर्य है कि चित्रण होता है और भरपूर चित्रण होता है, परन्तु कहाँ? नाटक के मध्य में ही, पर्यवसान में नहीं। भारतीय कवि जीवन के एकांग के प्रदर्शन में ही अपनी सरस्वती को चरितार्थ कभी नहीं मानता। भवभूति के उत्तर रामचरित से बढ़ कर मानव क्लेश, वेदना तथा परिताप का चित्रण करने वाला नाटक दूसरा हो नहीं सकता। प्रेम की मूर्ति, सौन्दर्य की प्रतिमा सीता के परित्याग करने से राम के हृदय में वेदना की कितनी बड़ी धारा प्रवाहित होती है; इसका पूरा परिचय हमें उत्तररामचरित के तृतीय अंक से मिलता है। राम प्रजा के रंजन के निमित्त अपनी प्राणदयिता जानकी का परित्याग करते हैं, परन्तु वह हृदय में जानते हैं कि वह नितान्त विशुद्ध, पवित्र तथा दोष रहित है। इस प्रकार निर्दोष होने पर भी प्रकृति रंजन की वेदी पर कठोरगर्भा जनकनन्दिनी की बलि भवभूति के इस करुणोत्पादक नाटक की प्रधान वस्तु है। करुणोत्पादक घटनाओं के ऐसे चित्रण के कारण ही तो भवभूति करुणरस के महनीय आचार्य माने जाते हैं—

भवभूतेः सम्बन्धात् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्-कृत-कारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

फलतः उत्तररामचरित सुखद जीवन का चित्रण नहीं है, प्रत्युत वह राम सीता जैसे मान्य व्यक्तियों के सुखद जीवन की विषम परिस्थिति को वेदनामय अभिव्यक्ति है। ऐसी दशा में भवभूति पर कोई भी आलोचक पक्षपात का दोषारोपण नहीं कर सकता, तथापि कवि ने वाल्मीकि की दुखान्त कथा का जो सुखान्त पर्यवसान प्रस्तुत किया है वह भारतीय जीवन के दार्शनिक तथ्य की एक मनोहर अभिव्यंजना है, भारतीय आशावादिता का एक मंजुल प्रतीक है जो जीवन को पूर्ण, सामंजस्यशील तथा मधुर बनाता है। संस्कृत नाटक का वह वैशिष्ट्य बाह्य कला से सम्बद्ध न होकर आन्तरिक दर्शन के ऊपर आश्रित है।

४

संस्कृत रंगमंच

भारतीय मनीषियों की प्रतिभा सिद्धान्त के प्रतिपादन के साथ ही साथ तत्तद् व्यवहार के विवरण देने में भी समर्थ रही है। नाट्य की उत्पत्ति जिस प्रकार भारतीय नाट्याचार्यों की सैद्धान्तिक प्रतिभा का विलास है, उसी प्रकार रंगमंच की रचना उनकी व्यावहारिक प्रतिभा का निदर्शन है। भारत में समग्र साधनों से परिपूर्ण रंगमंच का उदय उतना ही प्राचीन है जितना अभिनय का उदय। भरत मुनि ने अपने प्रख्यात ग्रंथ भरत-नाट्यशास्त्र में इन दोनों विषयों का प्राचीनतम आद्य विवरण प्रस्तुत किया है। भारतीय नाटक के विकास पर यूनानी प्रभाव का भ्रान्त आरोप करने वाले आलोचक आँख खोल कर देख लें कि भारतीय रंगमंच की सर्वाङ्गीण व्यवस्था, रमणीय सज्जा तथा वैज्ञानिक निर्मिति के साथ यूनानी रंगमंच की अनगढ़, अव्य-वस्थित तथा ग्रामीण रचना की कथमपि तुलना नहीं हो सकती। दोनों में जमीन आसमान का अन्तर बना हुआ है। भारतीय रंगमंच में अपनी एक सुश्लिष्टता है जिसके कारण उसका प्रभाव बृहत्तर भारत (जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों) के रंगमंचों पर कभी पड़ा था तथा वह प्रभाव उसी रूप में आज भी देखा जा सकता है।

रंगमंच का प्राचीन संस्कृत नाम है—प्रेक्षागृह या रंगशाला। अपने जीवन के आरम्भ में भारतीय नाटक का अभिनय ठेठ आसमान के नीचे खुले मैदान में होता था जिसके देखने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न था, परन्तु विघ्नों के उदय ने नाट्याचार्यों को बाध्य किया कि वे नाट्यप्रयोगों को खुले मैदानों से हटाकर बन्द स्थानों में ले जायँ। भारत के कथनानुसार प्रथम अभिनीत नाटक महेन्द्रविजय था जिसमें देवताओं की विजय तथा दानवों की पराजय दिखलायी गयी थी। पराजय के दृश्य दैत्यों के हृदय में प्रतिहिंसा की भावना जगाने में समर्थ हुए। फलतः नाटक के अभिनय समाप्त होने से पहिले ही ‍ ‍ ‍यों ने वह विघ्न उपस्थित कर दिया कि बलशाली देवों ने अपनी

समग्र शक्ति का प्रयोग कर ही बड़े धैर्य से तथा बड़े बल से उनका प्रशमन किया। परन्तु इस कलह तथा विघ्न से नाटक-प्रयोग को सदा के लिये बचाने के लिये ब्रह्मा की आज्ञा से विश्वकर्मा ने प्रेक्षागृह का निर्माण किया।

भरतमुनि के कथनानुसार प्राचीन भारत के प्रेक्षागृह के नाट्यमण्डप तीन प्रकार के होते हैं। इन तीनों का परिमाण तथा उपयोग भिन्न-भिन्न हुआ करता था। इन तीनों प्रेक्षागृहों के नाम थे—(१) विकृष्ट, (२) चतुरस्र, (३) त्र्यस्र। इनमें से विकृष्ट सबसे बड़ा होता था तथा देवताओं के ही लिए नियत किया गया था। इसका परिमाण था १०८ हाथ। इसके आकार का ठीक पता नहीं चलता है सम्भवतः यह गोलाकर होता था। 'चतुरस्र' तो स्पष्ट ही चौकोर रंगमंच था जिसकी लम्बाई होती थी ६४ हाथ तथा चौड़ाई ३२ हाथ। यह मध्यम कहलाता था तथा राजाओं के लिए, सम्भवतः जनता के लिए भी, यह प्रेक्षागृह आदर्श माना जाता था। 'त्र्यस्र' तिकोने ढंग का रंगमंच था जिसकी प्रत्येक भुजा ३२ हाथ की होती थी। इसका उपयोग सम्भवतः छोटे छोटे नाटकों के अभिनय के अवसर पर किया जाता था।

इन तीनों रंगशालाओं में 'चतुरस्र' या मध्यम प्रेक्षागृह आदर्श समझा जाता था। इसके वैशिष्ट्य के वर्णन के अवसर पर भरतमुनि की वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक पटुता का उज्ज्वल दृष्टान्त हमें उपलब्ध होता है। आदर्श प्रेक्षागृह के चुनाव के अवसर पर तीन बातों पर विशेष दृष्टि रखी जाती थी। दर्शकों के रंगपीठ पर होनेवाले वार्तालाप (पाठ्य) तथा गायन (गेय) का श्रवण खूब अच्छी तरह होना चाहिए। नाट्य-प्रयोग में गीतिओं का उपयोग दर्शकों के मनोरंजन के निमित्त ही किया जाता है। यदि श्रोताओं के कानों के लिए ये गायन अस्फुट ही बने रहे तथा पात्रों की परस्पर बातचीत स्पष्ट रूप से श्रुतिगोचर नहीं हुई, तो वे उस अभिनय का आनन्द नहीं उठा सकते। रंगमंच के विशाल होने में एक और भी हानि है और महती हानि है। अभिनयों में सात्त्विक अभिनय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भिन्न भिन्न अवस्था में, भिन्न भिन्न रसों के अभिनय-प्रसंग के पात्रों के मुखमण्डल पर

अभिनीत भाव अपना प्रभाव डालता है। इसका साक्षात्कार उचित रीति से मध्यम परिमाण वाले प्रेक्षागृहों में ही हो सकता है। भरतमुनि के शब्दों में—

यश्चाप्यास्यगतो भावो नाना-दृष्टि-समन्वितः।
स वेश्मनः प्रकृष्टत्वाद् व्रजेदव्यक्ततां पराम्॥
यस्मात् पाठ्यं च गेयं च तत्र श्रव्यतरं भवेत्॥
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते॥

—नाट्यशास्त्र २।२३, २४

मध्यम रंगशाला ६४ हाथ की लम्बाई तथा ३२ हाथ की चौड़ाई वाली एक चौकोर शाला होती थी। इसका निर्माण शुभमुहूर्त में किया जाता था। जमीन को ठीक समतल तथा चौरस बनाने के लिए उसे हल से जोत कर ठीक करते थे। चारों कोनों पर चार प्रधान खम्भे लगाये जाते थे। दक्षिणपूर्व से आरम्भ कर इन स्तम्भों का नामकरण चारों वर्णों के नाम पर ब्राह्मण स्तम्भ, क्षत्रिय स्तंभ, वैश्य स्तम्भ तथा शूद्र स्तम्भ होता था। रंगशाला के दो मुख्य भाग होते थे जिसमें आधा भाग प्रेक्षकों के लिए निश्चित होता था तथा दूसरा आधा भाग रंगमंच के निमित्त सुरक्षित रहता था।

रंगमंच के सबसे पहले भाग का नाम था रंगशीर्ष जो ८ हाथ लम्बा तथा ४ हाथ चौड़ा होता था। इससे आगेवाला भाग ठीक इतने ही परिमाण का होता था और **नेपथ्य-गृह** कहलाता था। रंगशीर्ष में अभिनय के रक्षक देवी देवताओं की विशिष्ट पूजा होती थी तथा नेपथ्य-गृह तो स्पष्टतः पात्रों के वेशभूषा के सजाने तथा परिवर्तन के निमित्त पृथक् प्रयोग में आता था। रंगशीर्ष के नेपथ्य गृह में आने के लिए दो दरवाजे बनाये जाते थे। नेपथ्य-गृह से आगे होता था **रंगपीठ** (१६ हाथ लंबा×८ हाथ चौड़ा) जिस पर पात्रों के द्वारा समग्र अभिनय दिखलाया जाता था। रंगपीठ से होकर नेपथ्य गृह में जाने के लिए एक दरवाजा होता था और इसी का उपयोग पात्र अपने प्रवेश तथा निर्गम के लिए किया करते थे। एक बात ध्यान देने की है कि रंगपीठ के दोनों बगल में डेढ़ हाथ ऊँची मत्तवारणी (बरामदा) बनाई

जाती थी। रंगशीर्ष के बनावट का विधान पाया जाता है। इसे न तो कूर्मपृष्ठ (कछुये की पीठ की तरह) होना चाहिए और न मत्स्यपृष्ठ, बल्कि दर्पण के समान समतल तथा चिक्कण होना चाहिए।[1] कभी कभी पात्र के प्रवेश की सूचना रंगपीठ पर नहीं दी जाती, प्रत्युत नेपथ्यगृह से ही उसके विषय में सूचना दी जाती है। ऐसे पात्रप्रवेश को 'चूलिका' कहते हैं (दशरूपक १।५५)।

नाट्यमण्डप पर्वत की गुफा के आकार का होना चाहिए। उसमें दो खण्ड (द्विभूमि) होते हैं। सम्भवतः ऊपरी खण्ड में देवताओं से सम्बद्ध घटनायें प्रदर्शित की जाती थीं तथा निचले खण्ड में मानवी घटनाओं का अभिनय किया जाता था।[2] नाट्यमण्डप के दिवालों को नाना प्रकार के चित्रों से सजाया जाता था जो सामयिक तथा विषय से सम्बद्ध होने से नितान्त उपयुक्त होते थे। रंगमंच की रचना विवात (विशेष हवादार) स्थान में नहीं होनी चाहिए, नहीं तो आवाज गम्भीर न होगी और न शब्दों की श्रुति ही ठीक ठीक श्रोताओं को हो सकेगी।

दर्शकों के बैठने के स्थानों की बड़ी सुन्दर व्यवस्था की जाती थी। आजकल के सीढ़ीनुमा या गैलरी वाले आसन को अधिकांश आलोचक पश्चिमी नाट्यकला की देन मानते हैं; परन्तु वस्तुतः यह भारतीय प्रतिभा का व्यावहारिक निदर्शन है। भरत मुनि ने गैलरी की ही व्यवस्था दर्शकों के निमित्त मान्य बतलाई है। दर्शकों के निवेशन अर्थात् बैठने के स्थान सोपानाकृति (सीढ़ी के ढंग के) होते थे। जमीन से सीढ़ियाँ एक हाथ ऊँची रखी जाती थीं तथा इनका निर्माण लकड़ी तथा ईंट की सहायता से किया जाता था। एक विशेष बात का ध्यान रखा जाता था कि बैठने के ये समग्र स्थान रंगपीठ से देखने योग्य होते थे (रंगपीठावलोक्य) अर्थात् निवेशनों की सजावट ऐसी

---

१ कूर्मपृष्ठं न कर्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च।
शुद्धादर्शतलाकारं रङ्गशीर्षं प्रशस्यते॥ —नाट्यशास्त्र २।७१

२ कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमण्डपः।
मन्दवातायनोपेतो निर्वातो धीरशब्दवान्॥ —नाट्य शास्त्र २।८७

होती थी कि कहीं बैठकर रंगपीठ के ऊपर अभिनय का साक्षात्कार भलीभाँति किया जा सके।

स्तम्भानां बाह्यतश्चापि सोपानाकृति पीठकम्।
इष्टकादारुभिः कार्यं प्रेक्षकाणां निवेशनम्॥
हस्तप्रमाणैरुत्सेधैर्भूमिभागसमुत्थितैः
रङ्गपीठावलोक्यं तु कुर्यादासनजं विधिम॥

—ना० शा० २।६७, ६८

प्राचीन प्रेक्षागृह का यह निखरा रूप भारतीयों की निजी प्रतिभा का विलास है। यूनानी रंगशाला से इसकी तुलना करने पर इसकी सर्वाङ्गीणता तथा वैज्ञानिकता का पता लग सकता है। प्राचीन यूनान की रंगशाला एक साधारण सी वस्तु होती थी। अत्यन्त प्राचीन काल में रंगपीठ के लिए एक ऊँचा स्थान होता था जिस पर वाद्यमण्डली (आरकेस्ट्रा) तथा एक दो पात्र बैठते थे। दर्शकों के लिए कोई व्यवस्था न होती थी। अभिनय प्रायः पहाड़ के बगल में नीची जमीन पर होता था जहाँ दर्शक अपने बैठने के लिए ऊँचा नीचा स्थान खोज लिया करते थे। बहुत पीछे गैलरी बनी। रोमन काल में ही रंगपीठ के पीछे नेपथ्यगृह के लिए भी विशिष्ट मकान बनाया गया तथा पूरे रंगमंच के सुव्यवस्थित प्रकार की योजना सम्पन्न हुई। यह अनेक शताब्दियों के उद्योग तथा प्रयास का सुपरिणाम था, परन्तु भारतवर्ष में प्रेक्षागृह का निर्माण नाट्यकला के प्रभातकाल में ही सम्पन्न हुआ और वह भी एक बार ही सर्वाङ्गीण सुव्यवस्थित रूप में। आधुनिक रंगशाला इस प्राचीन प्रेक्षागृह का ही विकसित रूप है जिसमें पश्चिमी नाट्यकला से छोटी-मोटी चीजें नवीन परिस्थिति के अनुसार यत्र तत्र निविष्ट कर ली गई हैं।

प्राचीन रंगपीठ यथार्थवादी था, परन्तु घृणा या उद्वेग के जनक दृश्यों का प्रदर्शन सर्वथा वर्जित था। आजकल जिन दृश्यों का प्रदर्शन उचित माना जाता है उनमें से अनेक प्राचीन काल में वर्ज्य थे जैसे रंगपीठ पर युद्ध का प्रदर्शन, भोजन, शयन आदि। फिर भी आवश्यकतानुसार घोड़े हाथी रंगमंच पर दिखलाये जाते थे। उस समय घास फूस के बने पदार्थों को

चाम से मढ़कर दिखलाने की प्रथा थी। इसका विशिष्ट नाम 'संधिम पुस्त' था[1]।

भरत के द्वारा निर्दिष्ट रंगमंच का एक उदाहरण रामगढ़ के समीप सीताबेंगारा नामक गुफा में उपलब्ध होता है। इस गुफा में एक विचित्र रचना दृष्टिगोचर होती है जिसके यथार्थ उद्देश्य के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। जानकार आलोचक इसे प्राचीन रंगमंच का ही एकमात्र उपलब्ध उदाहरण बतलाते हैं। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि पर्वत की गुफाओं का उपयोग संगीत, गायन तथा नृत्य के लिए किया जाता था। फलतः इस गुफा की विचित्र बनावट इसका स्पष्ट प्रमाण है कि रंगमंच के गाड़ने के लिए पत्थर में बने हुए छेदों को देखकर अनुमान लगाना सहज है कि यहाँ लकड़ी के बने हुए रंगमंच का प्रयोग भलीभाँति किया जाता था। प्राचीन रंगमंच का यही एक दुर्लभ दृष्टांत है।[2]

भारतीय रंगमंच का प्रभाव बृहत्तर भारत के नाट्य-प्रयोग पर विशेषरूप से पड़ा है। बरमा, स्याम, कम्बोज, जावा, बाली, मलय आदि समस्त देशों के नाट्य तथा अभिनय के ऊपर भारतीय नाटकों का व्यवस्थित प्रभाव पड़ा है। कम्बोडिया की राजकीय रंगशाला 'राम-राम' के नाम से पुकारी जाती थी। यह हमारी रंगभूमि के सदृश ही रचना के विषय में थी। इसमें एक तरफ बिल्कुल खुला रहता था। रंगपीठ के पास ही पात्रों की वेशभूषा के परिवर्तन तथा सजावट के लिए नेपथ्यगृह की व्यवस्था होती थी। रामायण के अभिनय के अवसर पर ही समग्र पात्र पुरुष होते थे, नहीं तो स्त्रियाँ ही नटों की भूमिका में अवतीर्ण होती थीं। रंगशाला का एक विशेष प्रबंधक होता था जो हमारे नाट्याचार्य के समान होता था। नटियों को सजाने, सिखलाने तथा तैयार करने का भार राजमहल की किसी विशिष्ट शिक्षित महिला के ऊपर

---

१ किलिञ्जवस्त्रचर्माद्यैर्यद्रूपं क्रियते बुधैः।
सन्धिमो नाम विज्ञेयः पुस्तो नाटकसंश्रयः॥ नाट्यशास्त्र २३।७

२ विशेष के लिए द्रष्टव्य—'दी थियेटर आफ हिन्दुज' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ, पृष्ठ २१७–२२४, कलकत्ता (१९५५)

था। जावा के नाटक छायानाटक ही होते थे जिन्हें 'वजंग' कहते हैं। इसके सात विभिन्न प्रकारों का वर्णन तथा विभाजन पाया जाता है। भारतवर्ष में 'पुत्तलिकानृत्य' के समान ही इनका भी प्रदर्शन किया जाता था। इन नाटकों के विषय तथा प्रकार के लिए जावा साहित्य भारतीय साहित्य का ऋणी नहीं है, प्रत्युत इनके अभिनय, प्रदर्शन तथा प्रयोग के लिए भी। इस प्रकार भारतीय रंगमंच अपनी वैज्ञानिकता, सुव्यवस्था तथा विपुल प्रभावशालिता के कारण विश्व की रंगशालाओं के इतिहास में अपना पर्याप्त महत्त्व रखता है।

५

आकृति और प्रकृति

संस्कृत नाटक की मूल प्रकृति तथा प्रवृत्ति में ऐसी विशिष्टताएँ हैं जो इन्हें दूसरे नाटकों से तुरंत पृथक् करती है। संस्कृत नाटककार का दृष्टिकोण सदा आदर्शवादी रहा है और इसी लिए उसका उद्देश्य व्यापार अथवा पात्र के साक्षात् चित्रण के द्वारा जीवन का दर्पण प्रस्तुत करना नहीं है। श्रव्यकाव्य के समान ही दृश्य काव्य का उद्देश्य दर्शकों के हृदय में रस का उन्मेष करना ही है और इसीलिए भारतीय नाटककार परिचित तथा प्रसिद्ध कथानकों को ग्रहण कर लोगों के हृदय में अपने नाटक के द्वारा रस का उन्मीलन करता है। 'रसोन्मेष' सिद्धांततः और व्यवहारतः नाटककार का ध्येय माना गया है और इसीलिए अन्य समस्त नाटकीय तत्व-व्यापार, चरित, संविधानक-योजना आदि इसी प्रधान लक्ष्य की सिद्धि के निमित्त गौण रूप से ही विद्यमान रहते हैं। सिद्धांत रूप से अवस्था की अनुकृति नाट्य मानी गई है (अवस्थानुकृतिः नाट्यम्), परंतु व्यापार तथा पात्र-चित्रण नाटककार के लिए गौण व्यापार होता है। इसके भीतर विद्यमान वैषम्य को वह सदा अपने से दूर रखता है कि कहीं इन्हीं में उलझा हुआ दर्शकों का मन रस के आस्वाद लेने से सद्यः पराङ्मुख न हो जाय। इसीलिए कवि प्रदर्शन के लिए परिचित आख्यान को ही पसंद करता है जिसके रसास्वादन की प्रचुर सामग्री को अंकित कर वह दर्शकों के हृदय में उन भावों को सद्यः स्फुरित कर सके जो उसके हृदय को प्रभावित और उल्लसित बनाये रहते हैं। रसोन्मेष के प्रति

संस्कृत आलोचकों का इतना अधिक आग्रह है कि अभिनवगुप्त के गुरु भट्ट तौत की सम्मति में काव्य का आनंद भी अभिनीयमान रस के ही कारण होता है। भरत मुनि ने तो स्पष्ट ही कहा है—नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते (नाट्य शास्त्र, षष्ठ अध्याय)। अतएव कथावस्तु की कल्पना तथा विविधता की कमी की ओर आधुनिक आलोचना उचित हो सकती है, परंतु वह भारतीय नाटक की मौलिक प्रकृति का विश्लेषण नहीं करती और इसलिए उसे हम मान्य नहीं मान सकते। भारतीय आलोचकों की सम्मति में वस्तु तथा रस दोनों के उन्मेष में किसी का अतिरेक नहीं करना चाहिए। न तो 'अतिरस' (रसातिरेक) के द्वारा वस्तु को नितान्त विच्छिन्न कर देना चाहिए और न वस्तु, अलंकार, सन्ध्यंगों आदि के द्वारा रस का तिरोधान करना चाहिए। मध्यमार्ग ही प्रशस्त होता है कवि के लिए—

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत्।
रसं वा न तिरोदध्याद् वस्त्वलंकारलक्षणैः॥

(दशरूपक ३।३२)

(१)

विषय की विभिन्नता का अभाव भारतीय नाटकों में आधुनिक दृष्टि में बेतरह खटकता है। रामायणी कथा का ही आश्रय लेकर विरचित इन रूपकों में यदि विचित्रता का अभाव तथा एकरूपता का सद्भाव है, तो आश्चर्य करने की जगह नहीं। ऐसी प्रतिकूल आलोचना का प्रतिनिधि उत्तर जयदेव ने अपने 'प्रसन्न राघव' में बड़ी मार्मिकता के साथ दिया है। उनका कथन है कि राम कथा का आश्रयण कवियों के प्रतिभा-दारिद्र्य का सूचक नहीं है, प्रत्युत मर्यादापुरुषोत्तम राम के महनीय गुणों का ही यह अवगुण है। राम में इतने अभिराम गुण अपने पूर्ण वैभव के साथ विराजमान हैं कि उनकी ओर आकृष्ट न होना कवियों के वश की बात नहीं[1]। आदर्श नायक के लिए

---

१ स्वसूक्तीनां पात्रं रघुतिलकमेकं कलयतां
कवीनां को दोषः स तु गुणगणानामवगुणः।

राम से बढ़ कर अधिक गुणशाली व्यक्ति की कल्पना ही असम्भव है। अतएव यदि कवियों की दृष्टि तथा लेखनी ने राम के गुण-गणों के कीर्तन में अपने को चारितार्थ बनाया, तो यह नितांत नैसर्गिक तथा युक्तियुक्त है। परंतु रामायणीय नाटक के कर्ताओं ने भी अपने नाटकों में घटना का वैचित्र्य तथा काव्य प्रतिभा का सरस विलास प्रदर्शित करने का भरसक पूरा उद्योग किया है।

इस क्षुण्ण मार्ग को छोड़कर प्रकरण तथा प्रहसन के प्रणेताओं ने मध्य श्रेणी के पात्रों तथा तत्सम्बद्ध घटनाओं को अंकित करने का उद्योग किया है। नाटक की रचना की ओर कवियों की स्वाभाविक रुचि इतनी अधिक थी कि 'प्रकरण' जैसे रूपक के उचित निर्माण की ओर उनका ध्यान नहीं गया। फिर भी शूद्रक का 'मृच्छकटिक' मध्यम श्रेणी के पात्रों की अवतारणा करने में तथा धनसम्पन्न नगर में दैनन्दिन घटने वाली सामाजिक घटनाओं के चित्रण में एक प्रकार से बेजोड़ नाटक है। उच्च श्रेणी के लोगों में नाटकीय कला की ओर स्वाभाविक रुझान के कारण उनका चरित्र चित्रित होना स्वाभाविक ही है, परंतु संस्कृत का नाटककार समाज के मध्य-श्रेणी के लोगों की अभिरुचि, नैसर्गिक प्रवृत्ति तथा आवश्यक मनोरंजन के प्रति कथमपि उदासीन नहीं है। प्राचीन काल में प्रसिद्ध तीन कथाचक्रों के आख्यानों के प्रति विशेष अनुराग दृष्टिगोचर होता है—(१) रामकथा, (२) महाभारत कथा तथा (३) उदयन कथा। प्रथम दोनों तो भारत की जातीय सम्पत्ति हैं। भारतीय सांस्कृतिक जीवन के आधार स्तम्भ होने के कारण इनका जनता के सामने नाना रूपों में प्रदर्शन जातीय गौरव की अभिवृद्धि के लिए तथा जातीय चरित्र के निर्माण के निमित्त नितांत आवश्यक है। उदयन की कथा प्राचीन काल की एक रोमाञ्चक (रोमाण्टिक) प्रणय-कहानी है जो अपने लालित्य, कौतूहलवर्धन तथा मनोज्ञ वातावरण के कारण कालिदास के समय से लेकर अनङ्गहर्ष के

यदेतैर्निःशेषैरपरगुण-लुब्धैरिव जग—
त्यसावेकश्चक्रे सतत-सुख-संवास-वसतिः

—प्रसन्नराघव की प्रस्तावना

युग तक जनता के हृदय का आकर्षण और आवर्जन करती रही है। लोक कथा के प्रति भी संस्कृत नाटक-कर्ताओं का ध्यान गया है और उसका चित्रण कर नाटक के प्रभाव को बढ़ाने का उन्होंने खूब उद्योग किया है। 'बृहत्कथा' को उपजीव्य कोटि में रखने का धनञ्जय का शास्त्रीय आदेश[1] इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। भास के द्वारा निबद्ध 'अविमारक' एक प्राचीन लोककथा पर अवलम्बित नाटक है। प्रहसन के रचयिताओं ने स्वाभाविक रीति से मध्यश्रेणी से अपने पात्रों को चुना है। उनकी दृष्टि विशेषतः उस युग के धार्मिक संघर्ष तथा नाना धर्मानुयायियों के चरित्र-वैषम्य की ओर स्वभावतः आकृष्ट हुई है, परन्तु उनका कथानक सामान्य जनता के जीवन को स्पर्श करता हुआ प्रवाहित होता है। इस प्रकार संस्कृत नाटक में लोकवृत्त के नाना रूपों की अभिव्यक्ति करने का पूर्ण उद्योग है। रामायण तथा महाभारत के बहुशः चित्रण के कारण नाटकीय आख्यानों के वैचित्र्य तथा प्रसृति में कमी पड़ती है; तथापि प्रकरण और प्रहसन के आख्यानों के द्वारा इस कमी की पूर्ति का विशेष प्रयत्न किया गया है।

(२)

यही कारण है कि संस्कृत नाटक रस तथा कविता के वातावरण से नितान्त पुष्ट रहता है जिससे नाटककार वस्तु के विन्यास तथा पात्रों के चरित के विकास की ओर अपनी दृष्टि न डालकर वह आदर्शवादी वातावरण उपस्थित करने में व्यस्त रहता है। इस विषय में नाटक की तुलना भारतीय ललित-कला के साथ पूर्णरूप से की जा सकती है। ललितकला (जैसे चित्र-कला) का उद्देश्य यह नहीं रहता कि वह अपने चित्रित वस्तुओं के रूप तथा आकृति को यथार्थ-रूपेण अंकित करे, प्रत्युत वह दर्शकों के हृदय पर आध्यात्मिक भावना, सौन्दर्य की कमनीय छाप तथा कमनीयता की कोमल अभिव्यक्ति डालने में ही अपने को कृतार्थ मानती है। इसलिए संस्कृत के नाटकों

---

१ इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं।
रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च ॥

—दशरूपक १।६८

का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश होता है भावाभिव्यंजना गीत्यात्मक पद्य जिनके द्वारा पात्रों की मानसिक वृत्तियों का पूर्ण चित्रण कवि प्रस्तुत करता है। पाश्चात्य नाटकों के समान यहाँ 'संवाद' को सजाने तथा विकसित करने की ओर नाटककार की प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रवृत्ति के कारण नाटकों में चित्रित पात्र परम्पराप्रयुक्त होते हैं और अपने समाज के प्रतिनिधि (टाइप) हैं। संस्कृत का नाटककार पात्रों में वैयक्तिक विशिष्टता दिखला कर उन्हें आधुनिक श्रेणी के पात्रों की कोटि में लाने का उद्योग नहीं करता। परन्तु इससे न समझना चाहिए कि संस्कृत में चरित्र चित्रण केवल कल्पना-प्रसूत व्यापार है, वास्तविकता तथा यथार्थता से वह मण्डित नहीं होता। परम्परा-बद्धता पात्रों के चरित-विकास में दूषण उपस्थित नहीं करती। संस्कृत नाटक-कार संसार की अनन्त विचित्रता की अनुभूति पर अपने पात्रों को विशिष्ट व्यक्ति, जीवित प्राणी, यथार्थ जीव बनाने से कभी पराङ्मुख नहीं होता। चारुदत्त परम्परायुक्त होने पर भी दीनों का रक्षक तथा आर्तों का सहायक है और ऐसे शोभन गुणों से मण्डित है कि वह कल्पना-जगत् का प्राणी न होकर भूतल पर चलने फिरनेवाला जीवित प्राणी है। दुष्यन्त भारत का सम्राट् अवश्य है, परन्तु फिर भी उसके जीवन में कवि ने जिस उत्थानपतन की, ह्रास-विकास की मार्मिक अभिव्यक्ति की है यह उसे अविस्मरणीय चरित्र का वास्तव व्यक्ति बना रही है। तथ्य यह है कि संस्कृत नाटकों में चित्रित पात्र वैयक्तिकता तथा जीवनी शक्ति से मण्डित हैं तथा उनके अनुरूप प्राणी ढूँढ़ने पर आज भी भारत में मिल जाते हैं। कुछ पात्रों को तो हम 'सर्वदेशीय' मानने के इसी लिए पक्षपाती हैं कि उनके भीतर चित्रित मानवता की अभि-व्यक्ति भारत में ही न मिलकर विश्व के अन्य देशों में पूर्णरीति से मिल सकती है। मृच्छकटिक का सभिक माथुरक, शकार तथा शर्विलक ऐसे ही सुन्दर तथा सार्वभौम चरित्र हैं।

आधुनिक दृष्टि से आलोचना करने पर संस्कृत के रूपक नाटक न होकर नाटकीय काव्य ही माने जा सकते हैं। परन्तु यह तो भारतीय आदर्श के अज्ञान का ही दुष्परिणाम है। संस्कृत नाटकों में कवित्वमय वातावरण है।

रोमाञ्च तथा कविता का सद्भाव उनमें विचित्र प्रकार की स्फूर्ति प्रदान करता है। रसोन्मेष ही लक्ष्य होने के कारण संस्कृत का नाटककार बाह्य प्रकृति तथा मानव प्रकृति के प्रभावोत्पादक वर्णन करने से कभी पराङ्मुख नहीं होता। पश्चिमी आलोचना भी तो नाटक के विषय में एकाकार नहीं है। वहाँ भी अब व्यापार की प्रमुखता नाटक का मूलाधायक तत्त्व नहीं माना जाता, प्रत्युत वर्णन भी उसका पोषक तत्त्व अंगीकृत किया गया है। अंग्रेजी के मान्य कवि टामस हार्डी ने अपने विपुलकाय 'डाइनास्ट' नामक नाटक की आकार-संगति के विषय में (जो भवभूति के उत्तर रामचरित्र का कम से कम तिगुना तो अवश्य ही होगा) स्पष्ट ही लिखा है कि रंगमंच के ऊपर अभिनेय नाटक क्षणिक मूल्य का होता है। आदर्श तथा मूल्यवान् नाटक वही होता है जो रंगमंच को दृष्टि में रखकर न लिखा गया हो, प्रत्युत बन्द कमरे के भीतर पढ़ने में जिसका आनन्द उठाया जा सके। हार्डी ने ऐसे नाटकों को 'एपिक ड्रामा' की संज्ञा दी है। हार्डी के दृष्टिकोण से संस्कृत का बड़ा से बड़ा नाटक भी अपने वर्णनात्मक रूप के कारण नाटकीयत्व से कथमपि वञ्चित नहीं माना जा सकता। तथ्य यह है कि संस्कृत नाटक का वातावरण नितान्त सभ्य, शिष्ट तथा उदात्त है। इसलिए अश्लीलता, घृणा तथा अरुचि उत्पन्न करनेवाले दृश्य—जैसे वध, युद्ध, लड़ाई, दंगा, भोजन, स्नान, सुरत, अनुलेपन आदि का बड़ी सोच समझ के बाद रंगमंच पर निषेध किया गया है।[1] इसमें वास्तविकता के अपलाप की बात नहीं है। इसीलिए दुःखान्त न होने पर भी संस्कृत के नाटक दुःख तथा वेदना, अन्तर्व्यथा तथा मार्मिक क्लेश की पूर्ण अभिव्यक्ति से कथमपि पराङ्मुख नहीं हैं।

(३)

हमारे मान्य नाटककारों का उद्देश्य जनता का केवल मनोरंजन नहीं है, प्रत्युत जनता के चरित्र को सुधारने का पूरा प्रयत्न है। नाटक लोक-वृत्त का अनुकरण है (लोकवृत्तानुकरणम्)। फलतः लोक में घटने वाली नाना

१ दशरूपक ३।३४—३५

रसात्मक घटनाओं का तथा नाना प्रकार के वैयक्तिक चरित्र का कीर्तन कवियों ने अपने रूपकों में किया है। पाश्चात्य आलोचकों की यह धारणा है कि कालिदास तथा भवभूति जैसे मान्य नाटककार भी जीवन के संघर्ष के प्रति उदासीन थे तथा उन्होंने 'जीवन-दर्शन' को अभिव्यक्त करने का कहीं भी प्रयत्न नहीं किया परन्तु यह आलोचना नितान्त एकाङ्गी, भ्रान्त तथा अधूरी है। भारतवर्ष की भूमि को प्रकृति ने इतना उर्वर, इतना सम्पन्न बनाया है कि यहाँ आर्थिक समस्याओं के विवेचन के लिए नाटक रचना का अवसर ही नहीं आता। क्योंकि देश की समृद्धि तथा जनता के सौख्य के कारण यहाँ आर्थिक स्तर पर भेदभाव की सत्ता मानना बिल्कुल असम्भव है। लोग सामान्यतः जीवन के रक्षाकारी साधनों से प्रचुर मात्रा में सम्पन्न थे। दरिद्रता कभी भी उनके सामने अपने नग्न रूप में नहीं नाचती थी। राजा प्रजा के हित-साधन में संलग्न था। वह प्रजा को अपनी सन्तान के समान समझता था। इसी पारस्परिक सौहार्द, राजा की प्रकृतिरंजनता तथा प्रजा की राजनिष्ठा के कारण जनता के भीतर उस सामाजिक तथा आर्थिक विषमता का वातावरण ही नहीं जनमा था जो आधुनिक 'समस्या-नाटकों' का जनक माना जाता है। क्षुद्र समस्याओं के समाधान की आशा अपने नाटककारों से करना इसीलिए असम्भव है। यूरोप में भी समस्या-नाटकों का जन्म अभी कल की घटना है। इब्सन ने ही तो सर्वप्रथम गद्यात्मक नाटकों के द्वारा किसी विशिष्ट सामाजिक समस्या का सुलझाना अपनी कला की विशिष्ट दिशा के लिए खोज निकाला। अंग्रेजी के प्रख्यात नाट्यकर्ता जार्ज बर्नार्ड शा ने इब्सन को ही आदर्श मानकर नाना प्रकार से रोचक समस्या-प्रधान रूपकों का प्रणयन किया। यूरोप की विषम सामाजिक परिस्थितियों में इसका उदय समयोचित हुआ है जिसका प्रभाव आज के नाटक-साहित्य पर विशेष रूप से पड़ रहा है। ऐसे समस्या नाटकों की दृष्टि से प्राचीन संस्कृत नाटकों की आलोचना अनुचित ही नहीं, प्रत्युत इतिहास-विरुद्ध भी है।

जीवन की शाश्वत समस्याओं को जैसे धर्म तथा काम के, धर्म तथा अर्थ के, प्रणय तथा कर्तव्य के, स्वार्थ तथा परमार्थ के पारस्परिक संघर्ष का अप

नयन तथा उनमें मंजुल समन्वय उपस्थित करने में संस्कृत नाटककार किसी भी शिष्ट साहित्य के नाटककार से आगे ही है। संस्कृत का नाटककार भारतीय संस्कृति का संदेश-वाहक कवि है जो उसके विशुद्ध रूप के प्रदर्शन में ही अपनी कला की पूर्ण अभिव्यक्ति मानता है। भारतीय संस्कृति धर्म, अर्थ तथा काम जैसे पुरुषार्थत्रयी के समसेवन पर आग्रह रखती है और इसलिए उसका आदर्श वाक्य यही है—

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः।
यो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः॥

मानवमात्र को धर्म, अर्थ तथा काम की सेवा समभाव से करनी चाहिए। वह व्यक्ति सचमुच जघन्य है जो एक ही पुरुषार्थ के सेवन में आसक्त रहता है। अनासक्त भाव से पुरुषार्थत्रय की उपासना तथा पारस्परिक सामञ्जस्य बुद्धि भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है और संस्कृत कवियों ने अपने नाटकों में इस शाश्वत सिद्धांत का प्रतिपादन बड़ी ही रोचकता के साथ अनेक प्रतीकों की उत्थापना कर किया है।

संस्कृत को नाटककार मनुष्यों की चित्तवृत्ति का नाना परिस्थितियों में चित्रण करता है। वह कामवासना की शक्ति से परिचित होता है तथा अर्थ की उपयोगिता तथा महत्व से अवगत होता है। मनुष्य जीवन के निर्वाह तथा विकास के लिए इन आवश्यक साधनों का वह कभी अलाप नहीं कर सकता। परंतु धर्म तथा अर्थ-काम पारस्परिक संघर्ष के लिए विरुद्ध पक्ष के योद्धाओं के समान आपस में लड़ने के लिए तैयार रहते हैं। कभी मनुष्य के हृदय को काम तथा अर्थ नित नूतन चाकचिक्य के द्वारा अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, तो कभी धर्म ही उसके ऊपर पूर्ण साम्राज्य स्थापित करने के लिए बद्धपरिकर होता है। ऐसी दशा में संघर्ष अनिवार्य होता है और संस्कृत का नाटककार अपने नाटक में इस संघर्ष का चित्रण कर उसमें पूर्ण सामञ्जस्य प्रदर्शन करता है। उत्तररामचरित्र में भवभूति ने प्रेम तथा कर्तव्य के बीच भीषण संघर्ष दिखलाने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। प्रजारञ्जक राम प्रजाओं के आश्वासन के निमित्त एक निराधार लोकनिंदा के

कारण अपनी सती पतिव्रता धर्मपत्नी का परित्याग उस विकट परिस्थिति में कर कर्तव्य की वेदी पर अपने वैयक्तिक सौख्य की तिलाञ्जलि देते हैं। वे जानते हैं कि सीता सर्वथा निर्दोष है, परंतु रघुवंश के पवित्र कुल के माथे पर कलंक की टीका लगने की आशंका से वे उद्विग्न हो उठते हैं और उसका परित्याग कर देते हैं। राम जीवमात्र के प्रतिनिधि हैं और जब भवभूति के राम अपनी दशा बतलाते कहते हैं कि दुःख की संवेदना के लिए ही राम में चैतन्य अर्पित किया गया है (दुःखसंवेदनायैव रामे चैतन्यमर्पितम्—उत्तरराम) तब भवभूति जगत् की दुःखमयी स्थिति की ओर स्पष्टतः संकेत करते हैं। भवभूति का यह निश्चित मत है कि काम को बीभत्स से बिना दूर किये न उसमें शुद्धता आ सकती है और न उसमें पवित्रता का जन्म हो सकता है। 'मालती माधव' में अघोरघण्ट मालती को श्मशान में वध करने के लिए चुरा ले जाता है तब माधव उसे मार कर मालती का उद्धार करता है। इस रहस्य की व्याख्या की जा सकती है। मालती प्रीतिस्थानीया है, अघोरघण्ट बीभत्सता का प्रतीक है और माधव ज्ञान का। प्रीति=भक्ति तथा ज्ञान का सामरस्य होने पर ही जगत् का वास्तव मंगल संपन्न होता है, परंतु प्रीति को सांसारिक भावनाएँ बलात् खींच कर उसे सन्मार्ग में ले जाती हैं। फलतः उसकी ऊर्ध्व गति, उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) न होकर बीभत्स कार्यों में लगने से अधोगति ही होती है। 'ज्ञान' ही बीभत्स से हटा कर प्रेम को विशुद्ध बनाने की क्षमता रखता है और तभी यह काम धर्माविरुद्ध बनकर जगत् का परम मंगल-वाहक होता है। धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि लोकेऽस्मि भरतर्षभ (गीता)। धर्माविरुद्ध काम भगवान् की विभूति है। भवभूति विशुद्ध दाम्पत्य-प्रणय के कवि हैं। वे स्वच्छंद अतएव उच्छृङ्खल प्रणय के प्रधान तिरस्कर्ता हैं। विशुद्ध दांपत्य प्रणय 'कर्तव्य-निष्ठा' के साथ किसी प्रकार का संघर्ष नहीं रखता। इसके रूप-चित्रण में उनका यह पद्य नितांत प्रसिद्ध है—

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः
न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।

विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः।

(उत्तरराम ६।१२)

महाकवि कालिदास ने अपनी अनुपम कृति 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में श्रेय और प्रेय के परस्पर संघर्ष का बड़ा ही उदात्त चरित्र खींचा है। शकुंतला को दो शक्तियाँ अपनी ओर खींच रही हैं। एक के प्रतिनिधि हैं दुर्वासा और दूसरे के प्रतिनिधि हैं दुष्यंत। दुर्वासा (दुष्ट वस्त्र वाला, बाहरी चाकचिक्य से विहीन व्यक्ति) आध्यात्मिकता का प्रतीक है जो डंके की चोट अपने अस्तित्व की सूचना देकर भारत-लक्ष्मी को अपनी ओर आकृष्ट करता है और उसे गर्त से बचने के लिए उपदेश देता है[1]। वह श्रेय का प्रतीक है। भारत का सार्वभौम राजा दुष्यंत भोग विलास या भौतिकवाद का अवतार है। वह छिपे चोर की तरह शान्त आश्रम में प्रवेश करता है और अपने प्रलोभनों से उसे अशुद्ध तथा अशान्त बना देता है। वह निश्चयेन प्रेय का प्रतीक है। शकुन्तला उपस्थित श्रेय का तिरस्कार कर अनुपस्थित दूरस्थ प्रेम को अपना हृदय दे देती है। परिणाम तुरंत मिलता है—भरी सभा में तिरस्कारपूर्ण बहिष्कार। वह फिर मारीच के आश्रम में अपनी माता मेनका के पास ऋषि के देखरेख में घोर तपस्या करती है। अपने कालुष्य को दूर भगाती है। स्वार्थ को परमार्थ की वेदी पर निछावर करती है। अपने प्रेय को श्रेय के अनुकूल बनाकर उसके साथ पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करती है। तब उसका जीवन धन्य होता है और वह शाश्वत सौख्य तथा शांति का वरण करती है। आधुनिक युग में कालिदास का संदेश नितांत उपादेय तथा उपयोगी है। विश्व के वर्तमान संघर्ष के लिये इससे अधिक उपयोगी तथा व्यापक संदेश हो नहीं सकता।

———

१ विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा, तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव॥

दशम परिच्छेद

नाटक का अभ्युदय

आज नाटक का आरम्भ महाकवि कालिदास की नाटकीय रचनाओं से होता है। कालिदास से पूर्ववर्ती नाटककारों में भास मुख्य थे जिनका वर्णन आगे किया जायगा। कालिदास तथा अश्वघोष के रूपकों का वर्णन पिछले परिच्छेद काव्य परिचय के अवसर पर किया गया है।

१

भास

प्रसिद्धि तथा प्राचीनता

कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में सूत्रधार[1] के मुख से स्पष्ट ही प्रश्न करवाया है कि प्रख्यात कीर्तिवाले भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि कवियों के प्रबंधों को छोड़कर कालिदास की कृति का इतना अधिक आदर क्यों हो रहा है? इस प्रश्न से अच्छी तरह मालूम पड़ता है कि कालिदास के समय में भास के नाटक अत्यंत लोकप्रिय थे। कालिदास के परवर्त्ती कवियों ने भी भास के रूपकों का अतिशय आदर किया है। बाणभट्ट का कहना है कि भास ने सूत्रधार (नाटक का मैनेजर तथा कारीगर) से आरम्भ किये गये, भूमिका (पार्ट और आङ्गन) वाले, तथा पताका (नाटक की मुख्य अवांतर घटना तथा ध्वजा) से सुशोभित मंदिरों के समान अपने नाटकों से खूब ही यश पाया[2]। राजशेखर ने भी भास के

१—'प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमानः'—मालविकाग्निमित्र।

२—सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव॥ —हर्षचरित

नाटकों की अग्नि-परीक्षा तथा स्वप्न-वासवदत्त के न जलने की बात लिखी है[1]। राजशेखर ने दशम शती के आरम्भ में भास के एक मान्य नाटक के नाम का प्रथम उल्लेख किया है और यह उल्लेख बड़े ही महत्त्व का है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में सर्वसाधारण में भास के नाटकों का खूब प्रचार था। भास का एक विशाल नाटक-चक्र था जिसमें स्वप्नवासवदत्त प्रमुख था।

इधर १९१२ ई० में महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री ने स्वप्नवासवदत्त आदि तेरह नाटकों को अनन्तशयन ग्रन्थमाला में प्रकाशित कर उन्हें प्राचीन भास की असंदिग्ध रचनायें माना है। परन्तु संदेहवादियों का कहना है कि इस नाटक-चक्र का केवल 'स्वप्नवासवदत्त' भासकृत हो सकता है, क्योंकि राजशेखर के पूर्वोक्त निर्देश के अतिरिक्त आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी "अभिनव भारती" में इस रूपक का उल्लेख किया है[2]। परन्तु अन्य रूपकों को भास-कृत मानने में कोई भी प्रबल प्रमाण नहीं है। स्वर्गीय पण्डित रामावतार शर्मा[3] की सम्मति में कुछ नाटकों के कतिपय अंश भासरचित अवश्य हैं, किंतु समग्र नाटकों की रचना भास ने नहीं की। किसी केरल कवि ने भास के उपलब्धांशों की पूर्ति कर दी है। अतएव इन नाटकों को भासकृत मानना समुचित नहीं है। डाक्टर[4] बार्नेट भी इन नाटकों के रचयिता को प्रसिद्ध भास मानने को उद्यत नहीं हैं। कतिपय भारतीय विद्वान् केरल देश में ही इनकी उपलब्धि होने से कुछ संदेह कर रहे हैं। वे इसे भास का न मानकर किसी केरलीय नाटककार की रचना समझ रहे हैं।

१—भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः॥

२—क्वचित् क्रीडा यथा वासवदत्तायाम्।

३—शारदा (संस्कृत पत्रिका) प्रथमवर्ष की पहिली संख्या।

४—देखिये Bulletin of School of Oriental Studies
J. R. A. S. 1919, p. 233 तथा p. 587

परन्तु कुछ प्रमाण[1] नीचे दिये जाते हैं, जो इन नाटकों को भासप्रणीत सिद्ध करने में अमूल्य सहायता देंगे।

यद्यपि 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक ही भास की एकमात्र रचना साधारण रीति से जान पड़ता है, तथापि प्राचीनकाल में भास के एक से अधिक रूपकों के होने का यथेष्ट प्रमाण मिलता है। बाणभट्ट के पूर्वोद्धृत 'सूत्रधार-कृतारम्भैर्नाटकैः' पद्य में प्रयुक्त बहुवचनांत 'नाटकैः' पद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सातवीं सदी में भास के नाम से अनेक नाटक प्रचलित थे। राजशेखर ने तो भास के 'नाटक-चक्र' का स्पष्टतः उल्लेख किया है। अभिनव गुप्त ने 'स्वप्न-नाटक' तथा 'दरिद्रचारुदत्त' का उल्लेख किया है। वामन ने 'प्रतिज्ञानाटिका', 'चारुदत्त' तथा 'स्वप्न-वासवदत्त' से कतिपय पद्यों को 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में उद्धृत किया है। भामह ने भी प्रतिज्ञा नाटक की वस्तु—कृत्रिम हस्ती के द्वारा वत्सराज की छलना—की आलोचना भामहा-लंकार में की है। 'प्रतिज्ञा' के एक प्राकृत अंश का संस्कृत अनुवाद भी उनके पद्यों में पाया जाता है[2]। इन सब प्रमाणों पर दृष्टि रखते हुए कहना पड़ता है कि प्राचीनकाल में भास की खूब प्रसिद्धि थी तथा उनके अनेक नाटकों का प्रचार सर्वत्र था।

यदि इस नाटकचक्र की भाषा संस्कृत तथा प्राकृत—पर उचित ध्यान दिया जाय, तो इसकी प्राचीनता स्वयं सिद्ध होगी। विद्वानों का कहना है कि इसके प्राकृत कालिदासीय प्राकृत से भी प्राचीन हैं। कुछ ऐसे प्राकृतरूप मिले हैं जो अश्वघोष के नाटक तथा अशोक के शिलालेखों को छोड़कर अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होते। स्वीकृत्यर्थक 'आम' का प्रयोग केवल पाली भाषा में ही पाया जाता है तथा कतिपय पुल्लिग शब्दों के बहुवचनांत रूप 'आनि' प्रत्यय जोड़कर इन नाटकों में बनाये गए हैं। यह रूप अति

१—Thomas–Plays of Bhasa. J.R.A.S. 1922. p.79.

२—इन उल्लेखों के लिये म० म० गणपति शास्त्री कृत स्वप्नवासवदत्त नाटक की भूमिका देखिये।

प्राचीन है, क्योंकि यह अश्वघोष के नाटक तथा अशोक की धर्मलिपियों में ही डाक्टर लूडर्स के द्वारा ढूँढ़ निकाला गया है। पीछे इन रूपों का अस्तित्व मिलता ही नहीं। यह तो हुई नाटकों की प्राकृत की कथा। इनकी संस्कृत के विषय में भी पूर्वोक्त सिद्धान्त अतिशय सत्यता से प्रयुक्त किया जा सकता है। इनमें ऐसे अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं जिनकी उपलब्धि केवल रामायण तथा महाभारत में ही प्रचुरता से होती है, अन्यत्र नहीं। इससे इनकी भाषा की दृष्टि से प्राचीनता स्पष्टतः सिद्ध होती है।

भास का प्राचीन उल्लेख

संस्कृत साहित्य में कतिपय विशेषण भास के लिये प्राचीन कवियों ने व्यवहृत किये हैं। यदि इन विशेषणों के अनन्तशयन में प्रकाशित ग्रंथावली के कर्ता के विषय में भी व्यवहृत होने का कारण मालूम हो तो इन्हें भासकृत मानने में अधिक संशय न होगा।

(क) संस्कृत नाटकों का साधारण नियम है कि नान्दी के अनन्तर सूत्रधार का प्रवेश होता है परन्तु इन नाटकों में नान्दी का सर्वथा अभाव है। ये नाटक नान्दी से न आरम्भ होकर सूत्रधार के द्वारा आरम्भ किये गये हैं। यह विशेषता भास के नाटकों में पाई जाती थी जिसका स्पष्ट उल्लेख बाणभट्ट ने 'सूत्रधारकृतारम्भैः' विशेषण के द्वारा स्वयं किया है। यह विलक्षणता उन्हें संस्कृत के अन्य नाटकों से पृथक् करती है। इसका इन रूपकों में पाया जाना भास की रचना होने का स्पष्ट प्रमाण है।

(ख) वाक्पतिराज ने अपने 'गउडवहो' नामक प्राकृत महाकाव्य[1] में भास को 'जलणमित्ते'—ज्वलनमित्रं, अग्नि का मित्र—कहा है। कतिपय विद्वानों की सम्मति में वासवदत्ता के जलने की झूठी खबर फैलाकर भास को नाटकीय वस्तु के विकास दिखलाने का उचित अवसर मिला है। अतः अग्निदाह का उपयोग करने वाले भास को ज्वलनमित्र कहा गया है। यदि

---

१ भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे तहावि रहुआरे
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारिअन्दे अ आणन्दो। (८००)

यही कारण ठीक हो, तो उपलब्ध वासवदत्त के कर्ता भास ही होंगे क्योंकि इसमें वासवदत्ता के अग्निदहन की वार्ता फैलाकर पद्मावती का विवाह सम्पन्न कराया गया है जिससे मुख्य कार्य—राज्य प्राप्ति निष्पन्न हुआ है।

(ग) जयदेव ने भास को 'कविता-कामिनी का हास' माना है[1]। इस विशेषण से हास्यरसवर्णन में भास की प्रवीणता प्रतीत होती है। उपलब्ध नाटकों में भी हास्यरस के प्रसंग अच्छे ढंग से दिखलाये गये हैं। इनमें हास्य के उद्धत तथा सुकुमार दोनों रूपों का समुचित वर्णन मिलता है। उद्धत हास्य के लिये 'प्रतिज्ञा' के विदूषक की श्लिष्ट भाषा पर ध्यान दीजिये तथा हास्य के सुकुमार रूप के देखने की अभिलाषा हो तो वासवदत्त के औदरिक विदूषक पर दृष्टिपात कीजिये। दोनों रूपों का जीता जागता चित्र आपके सामने आकर उपस्थित हो जायगा। कालिदास के ग्रंथों में केवल सुकुमार हास्य के ही दर्शन होते हैं। उद्धत हास्य की प्रतिमा तो केवल इन नाटकों में ही दीख पड़ती है। अतः जयदेव का कथन इन नाटकों के कर्ता के विषय में भी पूरे तौर से घटता है। अतएव विद्वानों ने इन प्रमाणों के आधार पर इन नाटकों को भासकृत मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की है।

नाटकों का कर्तृत्व

इन समग्र नाटकों की भाषा, भाव, नाटकीय रचना पद्धति आदि बातों में इतना साम्य है कि ये एक ही लेखक की निःसंशय रचनायें हैं। अतएव इनके समान कर्तृत्व के विषय में किसी भी लेखक को सन्देह नहीं हो सकता। प्रश्न है कि इनका कर्ता कौन है? आज तक इस विषय में प्रस्तुत मन्तव्यों को तीन श्रेणी में रखा जा सकता है—(क) भास को कर्ता मानना, (ख) इस मत के विरोधी लोगों का मत—कोई केरलदेशीय कवि ही रचयिता है; (ग) दोनों मतों के बीच मध्यमार्गी मत जिसके अनुसार स्वप्न तथा प्रतिज्ञा

---

१ भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
केषां नैषा कथय कविता-कामिनी-कौतुकाय।
—प्रसन्नराघव की प्रस्तावना।

यौगंधरायण के तो रचयितता भास ही हैं, परंतु अन्य नाटक उनकी रचना नहीं है। प्रथम मत इन नाटकों के आविष्कर्ता महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री हैं जिनका अनुगमन वेलवेलकर, याकोबी, जायसवाल, जाली, कीथ, कोनो आदि देशी तथा विदेशी—विद्वानों ने किया है। द्वितीय मत का प्रथम प्रचार—महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा ने किया जिनका अनुगमन डा० बार्नेट, कारपेंटियर, काँणे, कुन्हन राजा, सिलवाँ लेवी, पिशरोटी, कुप्पूस्वामी शास्त्री तथा ऊलनर हैं जो इन्हें भास की कल्पित रचनाएँ मानते हैं। तृतीय मत डा० विंटरनित्स, सुखठणकर तथा डा० डे का है जो मध्यमार्ग के मानने वाले हैं।

स्वप्नवासवदत्त नाटक के जो उदाहरण तथा विवरण रीतिग्रंथों में आते हैं वे प्रकाशित पुस्तक में मिलते नहीं। प्राकृत भाषा के आधार पर भी कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता। इस नाटक-चक्र को भास कवि-कृत न कहकर केरलदेशीय कविकृत कहना अत्यंत उपयुक्त है। अब तो महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा जी का मत ही ठीक मालूम पड़ रहा है कि इन नाटकों के कुछ अंश भास कवि के हो सकते हैं, परंतु केरल देश के किसी कवि ने इन्हें पूरा किया है। यही कारण है कि ये नाटक केरल के बाहर प्रसिद्ध नहीं हो सके। इनकी हस्तलिखित प्रतियाँ केरल में ही मिली हैं और केरल देश के ही नट लोग (जिन्हें चाक्यार कहते हैं) इनका अभिनय कर आज भी लोगों का मनोरंजन किया करते हैं। चाक्यार लोगों में यह प्रथा है कि वे किसी विशेष अवसर पर अभिनय के निमित्त बड़े नाटकों को भी छोटा कर देते हैं। संभवतः भास के बड़े नाटकों को उन्होंने संक्षिप्त बना दिया है। अतः इन रूपकों का कुछ अंश भास की रचनायें होने पर भी समग्र ग्रंथ किसी केरल कवि की ही रचनायें हैं। यह कतिपय विद्वानों की मान्यता है, परंतु पूरी सामग्री तथा प्रमाणों के अभाव में निर्णयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी अधिकांश आलोचकों की संमति को मानकर हम भी इन्हें भास की ही विशुद्ध रचना मानते हैं।

भास की रचना होने के कतिपय अन्य प्रमाण यहाँ उपन्यस्त किये जाते हैं:—

(१) नाट्यशास्त्र के अनुसार निर्मित नाटकों की आरंभिक भूमिका 'प्रस्तावना' कहलाती है और उसमें नाटक तथा कवि का नाम होना नितांत आवश्यक होता है। परंतु इन नाटकों में प्रस्तावना के स्थान पर 'आमुख' है परंतु उसमें न नाटक का नाम है और न कवि का—यह विलक्षणता शास्त्रीय परंपरा के प्रचलित होने से निःसंदेह पहिले की है।

(२) नाटकों के आदि और अंत प्रायः एक समान हैं। अनेक नाटकों के आदि में मुद्रालंकार के द्वारा पात्रों का अभिधान होता है और प्रत्येक नाटक में भी भरतवाक्य 'इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः' ही है या तत्सम अन्य कोई पद्य है।

(३) राजशेखर ने दशम शती के आरंभ में 'स्वप्न वासवदत्त' नाटक को भासकृत सर्वोत्तम रूपक स्वयं बतलाया है और उपलब्ध नाटक के संविधानक द्वारा इस अभिधान की यथार्थता स्फुट रूप से प्रकट होती है।

(४) प्राचीन ग्रंथकारों के द्वारा इन नाटकों के कहीं नाम संकेतित हैं और कहीं श्लोक उद्धृत किये गये हैं। प्राचीनतम आलंकारिक भामह ने 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' नाटक की मूल कथा की विस्तृत आलोचना ही नहीं की है, प्रत्युत उसके एक प्राकृत पद्य को भी संस्कृत रूप में उद्धृत किया है। दंडी ने 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' पद्य के अलंकार की मीमांसा बड़े पांडित्य के साथ की है और यह पद्य बालचरित और दरिद्रचारुदत्त दो नाटकों में उपलब्ध होता है।

(५) आचार्य अभिनवगुप्त (१० शती) ने स्वप्नवासवदत्ता का नाम तथा उसके एक पद्य को उद्धृत किया है। अभिनव भारती (१।७४) में 'क्वचित् क्रीडा यथा स्वप्नवासवदत्तायाम्' कह कर जो निर्देश किया है वह छपे ग्रंथ के द्वितीय अंक के नाट्यनिर्देश में मिलता है (पृ० ४०)। लोचन में स्वप्न नाटक से यह पद्य उद्धृत किया है—

सञ्चित-पक्ष्मकवाटं नयनद्वारं स्वरूपताडनेन।
उद्घाट्य सा प्रविष्टा हृदयगृहं मे नृपतनूजा॥

यह पद्य तो छपे ग्रंथ में नहीं मिलता, परंतु यह सम्भव है कि यह पद्य अभिनवगुप्त के समय में मूलग्रंथ में उपलब्ध रहा होगा।

(६) इन नाटकों में संस्कृत के अनेक अपाणिनीय (आर्ष) प्रयोग मिलते हैं जो इनकी प्राचीनता के स्पष्ट द्योतक हैं। इनकी प्राकृत कालिदास से पूर्ववर्तिनी सिद्ध होती है तथा भास में कालिदास के समान लालित्य तथा सौंदर्य का अभाव इनकी पूर्वभावित का परिचायक माना गया है।

(७) इनमें भरत के नाट्यशास्त्रीय सिद्धांतों का पूर्णतया पालन न होना, निषिद्ध दृश्यों का भी रंगमंच पर अभिनय करना उस युग की ओर संकेत करते हैं, जब भरत का यह मान्य ग्रंथ अभी पूर्णतः प्रतिष्ठित नहीं हो सका था।

इस विवेचन का निष्कर्ष यही है कि ये समस्त नाटक प्राचीन कवि भास की ही निःसंधिग्ध रचनायें हैं।

समय निरूपण

(१) डाक्टर बार्नेट इस नाटक-चक्र के 'कल्पित भास' को सप्तम शताब्दी का केरलीय कवि बतलाते हैं, क्योंकि उसी समय में लिखे गये महेंद्रवीर-विक्रम (सप्तम शती) विरचित 'मत्तविलास' प्रहसन से इन नाटकों की भाषा तथा परिभाषिक शब्द पूर्णतया समानता रखते हैं। 'राजसिंह' जिसका नाम भरतवाक्यों में अधिकता से पाया जाता है, केरल देश का सातवीं सदी का राजा माना गया है। परंतु भामह-द्वारा उद्धृत तथा बाण के द्वारा प्रशंसित होने से इनका समय अवश्य ही प्राचीन होना चाहिये। इन नाटकों के पारिभाषिक शब्द भी प्राचीनता के ही द्योतक हैं तथा राजसिंह को व्यक्ति-वाचक नाम मानने में कोई दृढ़तर प्रमाण नहीं है। अतः इस सिद्धांत में भी विद्वज्जन आस्था नहीं रखते।

(२) डा० लेस्नी, प्रिंट्ज, बैनर्जी शास्त्री, सुखथनकर आदि पश्चिमीय तथा पूर्वीय पण्डितों ने बाह्यपरीक्षण को छोड़कर नाटकों की आंतरिक परीक्षा की है—विशेषतः प्राकृतभाषा की विशिष्ट आलोचना की है। उससे वे निरू-

यता करते हैं कि भास कालिदास से पुराने हैं, परंतु अश्वघोष से अर्वाचीन। भास के रूपकों में उपलब्ध प्राकृत शब्दों के रूप प्राकृत वैयाकरणों की सम्मति में अत्यंत प्राचीन ठहरते हैं। यदि 'अस्मि' के अर्थ में भास ने 'ह्मि' का प्रयोग किया है, तो कालिदास ने 'म्हि' का। 'हमारे' अर्थ में भास ने 'अम्हअं' तथा 'अम्हाणं' का प्रयोग किया है; तो कालिदास ने नाटकों में केवल पहिले ही रूप का 'अहम्' के लिये भास ने 'अहके' तथा 'अहं' का प्रयोग किया है, परंतु कालिदास ने 'हग्गे' या 'हके' का। इसी प्रकार अश्वघोष की प्राकृत का विकास भास में दीख पड़ता है। इन विद्वानों की मान्यता के अनुसार कालिदास का आविर्भाव काल पञ्चम शतक था तथा वे अश्वघोष से पश्चाद्वर्ती कवि थे। इसीलिए वे लोग भास को इन दोनों कवियों के मध्य काल में मानकर उनका समय तृतीय शती मानते हैं। परंतु इस मत का मौलिक आधार प्राकृत भाषा का तुलनात्मक समीक्षण उतना दृढ़ नहीं है कि उसके ऊपर आश्रित मत को पुष्ट माना जाय। जैसा ऊपर कहा गया है लिपिकारों ने प्राकृत के लिखने में उतनी सावधानी नहीं बरती है। फलतः उन लोगों की सम्भाव्य अशुद्धियों को किसी कवि की विशेषता मान लेना उचित नहीं प्रतीत होता है।

(३) नाटकचक्र के समय का निरूपण एक दुरूह व्यापार है। इन नाटकों के अंतरंग तथा बहिरंग परीक्षण से हम समय का यथार्थ निरूपण कर सकते हैं।

अन्तरंग परीक्षण

(क) नाटकों का आधार रामायण, महाभारत तथा लोककथा में हैं। उदयन-सम्बद्ध नाटक ऐतिहासिक घटनाओं के ऊपर आश्रित है। उदयन तथा दर्शक छठी शती वि० पू० से सम्बद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। रामायण तथा महाभारत का समय भी छठी शती के आसपास है। फलतः इन नाटकों के रचनाकाल के लिए छठी शती वि० पू० उपरितन अवधि है[1]।

---

१ यो काश्यपगोत्रोऽस्मि, साङ्गोपाङ्ग वेदमधीये, मानवीयं धर्मशास्त्रं, माहेश्वरं योगशास्त्रं, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च।

(ख) प्रतिमा नाटक में उल्लिखित विद्याओं का काल षष्ठ शतक वि० पू० से प्राचीनतर है। **मानवीय धर्मशास्त्र** (वर्तमान मनुस्मृति का मूलरूप) धर्मसूत्रकार गौतम के द्वारा निर्दिष्ट होने से ६ शती वि० पू० से प्राचीनतर है। **बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र** महाभारत में निर्दिष्ट है और कौटिल्य के द्वारा अर्थशास्त्र में बहुशः स्वीकृत है। **मेधातिथि का न्यायशास्त्र** मेधातिथिरचित मनुस्मृतिभाष्य नहीं है, प्रत्युत गौतमरचित प्राचीन न्यायशास्त्र है। **माहेश्वर योगशास्त्र** पातञ्जल योगशास्त्र से प्राचीन शैवसम्प्रदायानुसार कोई पुराना योगशास्त्र है। पाशुपत योग पातञ्जल योग से अनेक सिद्धान्तों में पार्थक्य रखनेवाला एक प्राचीन योगसम्प्रदाय है जिसका उल्लेख पुराणों में बहुशः किया गया है। 'प्राचेतस श्राद्धकल्प' का अभी तक परिचय नहीं मिलता।

(ग) प्रतिमा, अविमारक तथा स्वप्न में निर्दिष्ट राजवंश प्राचीन हैं जो नन्द तथा मौर्यवंश के समकालीन प्रतीत होते हैं। राजगृह का राजधानी रूप में और पाटलिपुत्र का एक सामान्य नगर के रूप में उल्लेख स्पष्ट सूचित करते हैं कि नाटककार ५ शती वि० पू० से बहुत पीछे नहीं है।

(घ) सामाजिक दशाएँ जो इन नाटकों में निर्दिष्ट हैं अर्थशास्त्र तथा जातकों के साथ अपना सम्बन्ध दिखलाती हैं। जैसे प्रतिमा में उल्लिखित मन्दिरों के घेरे में बालू डालने की प्रथा आपस्तम्ब (लगभग ५ म शतक वि० पू०) के ही ग्रंथ में मिलती है। देवकुल की स्थापना, जिसमें मरे हुए राजाओं की प्रस्तरमूर्तियाँ रखी जाती थीं (जिसका उल्लेख अभिषेक नाटक में है) शैशुनाग राजाओं के युग की याद दिलाती है। मथुरा में शैशुनाग राजाओं की पुरुषाकार मूर्तियाँ खोज में मिली हैं।

(ङ) भरतवाक्य में उल्लिखित 'राजसिंह' व्यक्तिवाचक नाम नहीं है। हिमालय से लेकर विन्ध्याचल तथा समुद्र पर राज्य करने वाले राजा का उल्लेख सम्भवतः नन्दवंशीय नरेश की स्मृति में है।

इन बातों पर ध्यान देने से भास का समय चतुर्थ तथा पंचम शतक वि० पू० के बीच में माना जाना उचित प्रतीत होता है।

बहिरंग परीक्षण

(क) बाणभट्ट (७ शती) ने भास के नाटकचक्र की विशिष्टता का पूरा परिचय दिया है।

(ख) वामन (८ शती) ने अपनी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (४।३।२५) में व्याजोक्ति के उदाहरण में यह पद्य उद्धृत किया है—

शरच्चन्द्रांशु गौरेण वाताविद्धेन भामिनि।
काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं कृतम्॥

यह पद्य स्वप्न वासवदत्त (४।३) में मिलता है। केवल 'चन्द्रांशु' के स्थान पर 'शशांक' तथा 'कृतं' के स्थान पर 'मम' मिलता है। वामन ने चारुदत्त (१।२) तथा प्रतिज्ञा (४।२) के भी पद्यों का उद्धरण अपने ग्रंथ में (४।१।३; ५।२।१२) किया है।

(ग) शूद्रक (चतुर्थ शतक) ने अपने मृच्छकटिक का निर्माण भास के चारुदत्त नाटक के आधार पर ही किया है। दोनों की समानता आश्चर्य-जनक तथा व्यापक है।

(घ) अश्वघोष (द्वितीय शतक) ने अपने 'बुद्ध चरित' (१२।६०) में यह श्लोक लिखा है—

काष्ठं हि मथ्नन् लभते हुताशं
भूमिं खनन् विन्दति चापि तोयम्।
निर्बन्धिनः किञ्चन नास्त्यसाध्यं
न्यायेन युक्तं च कृतं च सर्वम्॥

जो भास के प्रतिज्ञा नाटक (१।१८) से शब्दतः तथा अर्थतः साम्य रखता है।

(ङ) कालिदास का निर्देश प्रकट करता है कि उनके समय में भास एक नितान्त लब्धप्रतिष्ठ नाट्यकार थे और इसी से दोनों के नाटकों में अनेक बातों में समानता मिलती है।

(च) कौटिल्य के अर्थशास्त्र (१०।३) में दो श्लोक उद्धृत हैं 'तदीह

श्लोको भवतः' कह कर। इनमें से दूसरा श्लोक प्रतिज्ञा (४।२) में भी उपलब्ध है जिसमें शूरों को युद्ध के लिये प्रोत्साहित करने का प्रसंग है। वह पद्य नीचे उद्धृत है:—

नवं शरावं सलिलैः सुपूर्णं
सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत् तस्य मा भून्नरकं च गच्छेद्
यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्॥

कौटिल्य ने इस पद्य को अपने प्रसंग के लिए बहुत ही उपयुक्त पाया और इसी लिए संभवतः भास से ही उद्धृत किया। यदि यह पद्य किसी स्मृतिग्रंथ का होता, तो वे अवश्य ही इनके पूर्व लिखते 'इति स्मृतौ'

इस प्रकार बहिरंग परीक्षण के आधार पर भास को कौटिल्य (चतुर्थ शती वि० पू०) से प्राचीनतर होना चाहिये। दोनों प्रमाणों के बल पर हम निःसंदेह कह सकते हैं कि भास का समय पंचम शती या चतुर्थ शती वि० पू० मानना सर्वथा न्याय्य तथा उचित है।

ग्रंथ

भास के नाटक विषयानुसार ५ श्रेणी में आते हैं—

(क) रामकथाश्रित—(१) प्रतिमा तथा (२) अभिषेक।

(ख) महाभारताश्रित—(३) पञ्चरात्र, (४) मध्यम व्यायोग, (५) दूत घटोत्कच, (६) कर्णभार, (७) दूतवाक्य, (८) उरुभंग।

(ग) भागवताश्रित—(६) बालचरित।

(घ) लोककथात्मक—(१०) दरिद्रचारुदत्त और (११) अविमारक।

(ङ) उदयन कथाश्रित—(१२) प्रतिज्ञायौगन्धरायण, (१३) स्वप्न-वासवदत्त।

इनमें कतिपय नाटक—महाभारताश्रित रूपक—एक ही अंक में समाप्त हैं। अतः उन्हें **'एकांकी रूपक'** कहा जा सकता है। इन रूपकों का संक्षिप्त परिचय यहाँ इसी क्रम से प्रस्तुत किया जाता है।

(१) प्रतिमा नाटक—राम का वनवास, सीताहरण आदि अयोध्याकाण्ड से लेकर रावणवध तक की घटनाओं का वर्णन इस नाटक में किया गया है। इस नाटक से प्राचीन भारत में कला-विषयक नवीन वृत्तांत का पता लगता है। प्राचीनकाल में राजाओं के देवकुल होते थे जिनमें मृत्यु के अनंतर राजाओं की पत्थर की बड़ी मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। इक्ष्वाकु-वंश का भी ऐसा ही देवकुल था जिसमें मृत नरेशों की मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। केकयदेश से आते समय अयोध्या के समीप देवकुल में स्थापित दशरथ की प्रतिमा को देखकर ही भरत ने उनकी मृत्यु का अनुमान आप ही आप कर लिया। इसी कारण इसका नाम 'प्रतिमा-नाटक' है।

(२) अभिषेक नाटक—इसमें राम के राज्याभिषेक का तथा किष्किंधा, सुंदर और लंकाकांड के कथानक का वर्णन किया गया है। इन दोनों नाटकों में बालकांड को छोड़कर रामायण के शेष कांडों की कथाएँ आ गई हैं।

(३) पञ्चरात्र—महाभारत की एक घटना को लेकर यह नाटक रचित है। द्रोण ने दुर्योधन से पांडवों को आधा राज्य देने के लिये कहा। दुर्योधन ने प्रतिज्ञा की कि पाँच रातों में यदि पांडव मिल जायँगे तो मैं उन्हें राज्य दे दूँगा। द्रोण के प्रयत्न करने पर पांडव मिल गये और दुर्योधन ने उन्हें आधा राज्य दे दिया। यह घटना कल्पित है और महाभारत में नहीं मिलती।

(४) मध्यमव्यायोग (५) दूतघटोत्कच (६) कर्णभार (७) दूतवाक्य (८) उरुभंग—ये नाटक महाभारत की विशिष्ट तत्तत् घटनाओं से सम्बद्ध हैं। **(९) बालचरित**—कृष्ण के बालचरित से सम्बद्ध है। **(१०) दरिद्रचारुदत्त**—धनहीन परंतु चरित्रसंपन्न ब्राह्मण चारुदत्त तथा गुणग्राहिणी वारवनिता वसंतसेना का आदर्श प्रेम वर्णित है। **(११) अविमारक**—प्राचीन आख्यायिका का नाटकीय रूप है जिसका संकेत कामसूत्र में मिलता है। इस नाटक में अविमारक तथा राजा कुंतिभोज की पुत्री कुरंगी के प्रेम का वर्णन किया गया है। प्रणय का चित्रण बहुत ही सुंदर तथा सरस है।

(१२) **प्रतिज्ञायौगन्धरायण**—कौशाम्बी के आखेट के प्रेमी राजा उदयन को कृत्रिम हाथी के छल से उज्जयिनी-नरेश महासेन ने पकड़ लिया। इस रूपक में उदयन के मन्त्री यौगन्धरायण ने दृढ़ प्रतिज्ञा करके केवल राजा को ही बन्धन से नहीं छुड़ाया, बल्कि कुमारी वासवदत्ता का भी कपट से हरण कराया। मन्त्री की दृढ़-प्रतिज्ञा तथा कुटिलनीति का यह सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है।

(१३) **स्वप्नवासवदत्त**—भास की नाट्यकुशलता का यह चूड़ान्त निदर्शन है। इसे 'प्रतिज्ञा' का उत्तरार्द्ध समझना समुचित होगा। राजा उदयन को अपने विरोधियों को परास्त करना है जिसके लिये मगध के राजा दर्शक की सहायता लेना नितान्त आवश्यक है। यौगन्धरायण दर्शक को ठगने के लिये वासवदत्ता के आग में जल जाने की झूठी खबर फैलाता है, परन्तु वास्तव में उसे दर्शक की भगिनी पद्मावती के पास वेश बदल कर रख जाता है। अनन्तर पद्मावती के साथ वत्सराज का शुभ विवाह हो जाता है। स्वप्न में राजा वासवदत्ता को देखता है जिससे मिलने से उसकी हार्दिक अभिलाषा अत्यन्त बढ़ जाती है और उसे वासवदत्ता के जीवित होने में कुछ विश्वास जमने लगता है। वत्सविजय के अनन्तर राजा के सामने वासवदत्ता लाई जाती है और दोनों का पुनः आनन्द-मिलन होता है। चरित्र चित्रण में भास ने अपनी नाट्यकला का अद्भुत चित्र खींचा है। ऐसे शुद्ध तथा विशद प्रेम का वर्णन किया है। नाटकीय घटनाओं की ऐसी मनोहारिणी संगति दिखाई गयी है कि अस्वाभाविकता पास फटकने नहीं पाई है। वास्तव में यह नाटक संस्कृत साहित्य का एक जाज्वल्यमान रत्न है।

भास की भाषा में एक विचित्र अनूठापन है। वाक्य हैं तो बड़े छोटे छोटे, परन्तु उनमें विचित्र भाव भरा हुआ है। भास की कविता-कामिनी अपने स्वाभाविक पदविन्यास के लिये जितनी प्रसिद्ध है, उतनी ही अपने भावों के लिये। कृत्रिमता तो कहीं देखने के लिये भी नहीं मिलेगी। इनकी कविता प्रशंसनीय सरलता तथा आदरणीय सुन्दरता से सर्वत्र व्याप्त है। भास मानव हृदय के विकारों के सच्चे पारखी हैं। बाह्य प्रकृति के भी सरल

वर्णनों में इनकी योग्यता किसी से घटकर नहीं है। अलंकारों के चुनाव में उपमा तथा स्वभावोक्ति पर ही विशेष स्नेह दीख पड़ता है।

भास की नाट्यकला

भास को मानव-जीवन के नाना क्षेत्रों को देखने तथा नाटकों में अंकित करने का अवसर मिला है। इसलिए उनके नाटकों में विविधता तथा बहुमुखता विशेषरूप से दृष्टिगोचर होती है। कुछ नाटक जैसे स्वप्नवासवदत्त, प्रतिज्ञा प्रतिमा आदि पूर्ण विकसित नाटक हैं, परन्तु मध्यम व्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार तथा उरुभंग केवल एक अंक के रूपक होने के हेतु 'एकांकी' कहे जा सकते हैं। इन नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता है—अभिनेयता। ये समग्र नाटक रंगमंच के ऊपर बड़ी खूबी के साथ दिखाये जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि इन रूपकों में न तो कहीं वर्णन की अधिकता है जो रूपक की अभिनेयता की अवहेलना करती है और न कहीं कथावस्तु का ही अनावश्यक विस्तार है जो कार्यान्वित को रोकता है। ये सब रूपक नाटकीय दृष्टि से चुस्त, व्यवस्थित तथा सुसंघटित हैं। पात्रों का संवाद भी विस्तृत नहीं है; पात्र ठीक मतलब की बातें थोड़े चुने हुए शब्दों में कहना पसन्द करते हैं। भास 'संवादतत्त्व' के विशेष मर्मज्ञ हैं। रूपकों में व्यापार की ही खूब प्रधानता है। इसीलिए भास के रूपक शास्त्र की दृष्टि से सरल, सुबोध तथा अभिनेय हैं।

कथावस्तु

भास ने रामायणीय रूपकों की कथावस्तु में विशेष नवीनता नहीं लाई है। वे प्रसिद्ध घटनाओं को नाटकरूप में रखनेवाले केवल सामान्य रूपक हैं। प्रतिमा नाटक में भास ने एक नवीन कल्पना को कथानक के परिबृंहण में लगाया है। 'देवकुल' की कल्पना उस युग की एक मान्य कल्पना थी जब प्रत्येक राजा के महल में एक पृथक् मन्दिर प्रतिष्ठित था जिसमें राजा की मृत्यु के अनन्तर उसकी पाषाणमूर्ति वहाँ स्थापित की जाती थी। यह भास की कोरी कल्पना नहीं है प्रत्युत ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित है। अजातशत्रु तथा बिम्बसार की पुरुषाकृति मूर्तियों से इस तथ्य की पर्याप्त पुष्टि होती

है। भास ने बिना किसी कारण के ही राम के द्वारा बाली का बध दिखलाकर उसे सदोष बना दिया है। बाली का रंगमंच के ऊपर मृत्यु दिखलाना नाट्य की प्रचलित प्रथा के सर्वथा विरुद्ध है।

महाभारत तथा कृष्ण सम्बंधी नाटकों में संविधानक की नवीनता के कारण विशेष चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। भास ने महाभारत की कथा का बहुशः अनुसरण किया है अवश्य, परंतु कहीं-कहीं वे नवीन संविधानक भी खोज निकालते हैं। 'पंचरात्र' की कथा—द्रोण के कथनानुसार पाँच रातों में ढूँढ़ निकालने पर पाण्डवों को आधा राज्य दे देना तथा दूत घटोत्कच का पूरा कथानक कवि की निजी कल्पना से प्रसूत है। 'कर्णभार' में कवि ने कर्ण के दानशील चरित्र का बड़ा ही उत्तम उपन्यास किया है। 'दूत वाक्य' में श्रीकृष्ण के चरित्र की महत्ता और दुर्योधन के चरित्र की हीनता बड़े कौशल से प्रदर्शित की गई है। 'उरुभंग' में भीम के द्वारा दुर्योधन को गदायुद्ध में परास्त करने तथा उनकी जंघा के चूर्ण करने का बड़ा ही विशद विवरण है। संस्कृत नाटकों में 'उरुभंग' ही दुखांत नाटक का एकमात्र प्रतिनिधि है और यहाँ भी दुर्योधन की मृत्यु रंगमंच के ऊपर दिखला कर भास ने भरत के शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन किया है।

भास कवि कृष्ण-भक्त प्रतीत होते हैं और इसीलिए इनका 'बालचरित' कृष्णनाटकों में आद्य नाटक प्रतीत होता है। नाम के अनुसार ही श्रीकृष्ण की अनेक बाललीलाओं का यहाँ नाटकीय चित्रण है। यहाँ दूत-वाक्य के समान ही कृष्ण के आयुध भी रंगमंच पर आते हैं तथा अरिष्ट दैत्य का बैल के रूप में आने पर भी मानवोचित व्यवहार करना अवश्यमेव खटकता है। अविमारक तथा दरिद्र-चारुदत्त में भास ने लोककथा को नाटक के रूप में परिवर्तित किया है और बड़े ही सुन्दर ढंग से यह परिवर्तन हुआ है। अविमारक और कुरंगी के प्रणय के चित्रण में कवि ने अधिक भावुकता दिखलाई है जो नाटक की प्रगति में व्याघातक प्रतीत होती है। प्रतिज्ञा तथा स्वप्नवासवदत्त दोनों ही उदयन के कथाचक्र से सम्बद्ध रूपक हैं। इनके कथानक के लिए कवि बृहत्कथा का ऋणी है। सम्भव है कि उस युग की प्रचलित

कथाओं के द्वारा भी भास प्रभावित हुए हैं। परन्तु यहाँ कथावस्तु का पौर्वापर्य इतनी सुन्दरता से प्रस्तुत किया गया है कि कृत्रिमता कहीं लेशमात्र भी नहीं दीखती। व्यापार की स्वाभाविक प्रगति नितांत आकर्षक तथा चमत्कारजनक है। प्रतिज्ञा के कथानक में भामह ने त्रुटि अवश्य दिखलाई है, परंतु लोक-कथाओं में ऐसी बातों की स्थिति अस्वाभाविक नहीं मानी जाती। इस प्रकार इन रूपकों का कथानक चुस्त तथा सुव्यवस्थित है।

पात्र-चित्रण

भास के पात्र प्रकारमात्र (टाइप) न होकर वस्तुतः सजीव व्यक्ति हैं। उनका व्यक्तित्व इतना सुस्पष्ट है कि हम उन्हें भूल नहीं सकते। भास के 'उदयन' में गम्भीरता है, धीरोदात्तता है। अपनी प्रियतमा के नाश की अभव्य बात सुनने पर भी विह्वलचित्त होकर वह विक्षिप्त नहीं बन जाता। इसकी तुलना में हर्ष का उदयन (प्रियदर्शिका तथा रत्नावली में चित्रित) बिलकुल फीका, विवर्ण तथा अनाकर्षक पात्र है। नाटिका के लिए उसे धीर-ललित बनाकर हर्ष ने उसके भव्य चरित्र का अपकर्ष ही दिखलाया है। प्रतिज्ञा नाटक में यौगन्धरायण की बुद्धिमत्ता तथा लोकचातुरी का रुचिर चित्रण कर भास ने उसे एक आदर्श अमात्य के रूप में दिखलाया है। भास की नायिकायें भी कम मनोरञ्जक नहीं हैं। वासवदत्ता के औदार्य का चित्रण पतिव्रता के आदर्शरूप की झाँकी है। वासवदत्ता अपनी वास्तविकता को छिपाकर अपने पतिदेव के कल्याण के निमित्त अपूर्व त्याग का परिचय देती है। पद्मावती के साथ रहने पर उससे किसी प्रकार सपत्नीद्वेष नहीं करती, प्रत्युत वह स्वयं पद्मावती के साथ उदयन का विवाह होने देती है। कुरंगी का चरित्र भी सुन्दर है, परन्तु उसमें भावों का संघर्ष नहीं है। नाटक के विषयानुसार नाना रसों का उन्मीलन है जिनमें वीर तथा श्रृंगार का प्राधान्य है।

इस प्रकार भास कथावस्तु के विन्यास में और पात्रों के चरित्रचित्रण में प्रतिभा-सम्पन्न नाटककार है—इसमें दो मत हो नहीं सकते।

भास और कालिदास

भास का अनुकरण पिछले युग के नाटककारों ने बड़े आग्रह के साथ किया विशेषतः कालिदास और शूद्रक ने। कालिदास के नाटकों में भास के रूपकों के साथ भाव तथा संविधानक में घनिष्ठ साम्य है। कालिदास के नाटकों में विशेष स्निग्धता, विशेष कला का दर्शन अवश्य मिलता है, परन्तु कतिपय उपादानों के लिये वे भास के ऋणी प्रतीत होते हैं।

शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में वृक्षलतादिकों के प्रति शकुन्तला के कोमल भावों की जो अभिव्यञ्जना मिलती है (पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या), वह अभिषेक नाटक में मन्दोदरीविषयक भावभंगी से नितांत साम्य रखता है (यस्यां न प्रियमण्डनापि महिषी देवस्य मन्दोदरी—चतुर्थ अङ्क)। शाकुंतल के प्रथम अङ्क में तपोवन का वर्णन तथा मुनिशिष्यों का वार्तालाप स्वप्न नाटक के प्रथम अङ्क के वर्णित उन वर्णनों में विशेष साम्य रखता है। शब्दों की समता चमत्कारिणी है[1]। यहाँ स्वप्न नाटक (१।५) के पद्य में कंचुकी सेवक से कहता है कि वह आश्रम के निवासियों को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचावे और यही भाव पूर्णतया शाकुन्तल (२।७) में भी उपलब्ध होता है। स्वप्न नाटक में वीणा की उपलब्धि से उदयन का शोक वासवदत्ता के निमित्त घनीभूत तथा दृढ़तर हो जाता है। इस प्रसंग की हुबहू छाया शाकुन्तल में मिलती है जब राजा दुष्यन्त को शकुंतला के हाथ से गिरी हुई अँगूठी मिलती है और दोनों नाटकों में किया गया उपालम्भ बिल्कुल एक प्रकार का ही है[2]। इसी प्रकार

---

१. विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाः।

—शाकुन्तल

विस्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्ययाः।

—स्वप्ननाटक

२ द्रष्टव्य 'श्रुति सुखनिनदे कथं नु देव्याः' (स्वप्न ६ अंक,=तव सुचरितमंगुलीय नूनं (शाकुन्तल ६।२); श्रोणी-समुद्वहन-पार्श्वनिपीडनानि (स्वप्न ६।२)=कथं नु तं बन्धुर कोमलाङ्गुलिं (शाकु० ६।१३)

शूद्रक ने अपने 'मृच्छकटिक' नाटक के प्रणयन में 'दरिद्र चारुदत्त' का पूरा उपयोग किया है। पूरी कथा को अपने ढंग से राजनैतिक वातावरण के साथ मिलाने और सजाने का उद्योग शूद्रक का अपना है परन्तु 'चारुदत्त' के प्रति उनका ऋण नितान्त सुव्यक्त है। पिछले युग के कवियों को प्रेरणा तथा स्फूर्ति देने के कारण भास सदा स्मरणीय रहेंगे। उनके रूपकों में नाट्यकला का प्रौढ़ रूप भले ही न दीख पड़े, परंतु चुस्त और सुव्यवस्थित, रंगमंच के लिए उपयुक्त, रूपक लिखने में भास की प्रतिभा अद्वितीय है–इसके विषय में किसी आलोचक को विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती [1]।

(२) विशाखदत्त

विशाखदत्त का मुद्राराक्षस संस्कृत नाटकों में अपनी महत्ता तथा गौरव में अद्वितीय है। संस्कृत के अधिकांश नाटकों की कथावस्तु प्रणय के ऊपर अवलम्बित रहती है और किन्हीं में युद्ध के ऊपर, परन्तु यह नाटक पूर्णतया ऐतिहासिक होने के अतिरिक्त कूटनीति के ऊपर मुख्यतया आश्रित है। इस दृष्टि से यह निःसन्देह एक बेजोड़ नाटक है। ग्रन्थकार स्वयं किसी राजवंश में उद्भूत थे और इसलिए राजनीति से उनका पूर्ण परिचय पाना स्वाभाविक ही है। इसके रचयिता विशाखदत्त ने प्रस्तावना में अपना जो कुछ परिचय दिया है, उससे पता चलता है कि इनके पितामह वटेश्वरदत्त अथवा वत्सराज किसी देश के सामन्त थे। पिता भास्करदत्त या पृथु ने महाराज की पदवी प्राप्त की थी। राजनीति विशेषतः कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा शुक्रनीति के प्रकाण्ड पण्डित होने के अतिरिक्त विशाखदत्त दर्शनशास्त्र, विशेषतः न्याय तथा ज्यौतिष, के भी पूरे पण्डित थे। वैदिक धर्मावलम्बी होने पर भी उनका मत इतना उदार था कि बुद्धधर्म को वह आदर की दृष्टि से देखते थे। जैन-धर्म के प्रति अवश्य उनकी जो अनास्था प्रतीत होती है वह उस युग की धार्मिक भावना का एक उद्गार है।

---

१ विशेष द्रष्टव्य डा० पुसालकर--भास (अंग्रेजी ग्रन्थ) प्र० भारतीय विद्याभवन, बम्बई; १९४३।

रचनाकाल—मुद्राराक्षस के रचनाकाल के निर्णय के लिये विद्वानों ने विशेष खोज किया है। भरतवाक्य में एक राजा का नाम आता है जिसे भिन्न भिन्न हस्तलिखित प्रतियों में दंतिवर्मा, चंद्रगुप्त तथा अवंतिवर्मा बतलाया गया है। इस भरत-वाक्य का आशय यह है कि जिस प्रकार भगवान् विष्णु ने हिरण्याक्ष के उत्पीड़नों से संतप्त भूतल का उद्धार वाराहरूप से किया, उसी प्रकार इस समय म्लेच्छों के द्वारा उद्विग्न होनेवाली पृथ्वी की यह पार्थिव अपने भुजबल से रक्षा करे :—

म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः।
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः॥

नामों में भिन्नता होना समय के निर्णय में नितांत बाधक है और यही कारण है कि विद्वानों में इस विषय में ऐकमत्य नहीं है और भिन्न भिन्न शतियाँ इस नाटक के निर्माण काल के लिए प्रस्तुत की गई हैं—

(१) दंतिवर्मा —दक्षिण के पल्लव नरेश माने गये हैं जो ७२० ईस्वी के लगभग राज्य करते थे। यदि यह बात सत्य हो तो इस ग्रंथ की रचना अष्टम शतक में हुई। परंतु उस समय किसी भी आक्रमणकारी म्लेच्छ का पता नहीं चलता है जिसके उत्पीड़न से रक्षा की प्रार्थना की जाय। (२) डाक्टर जायसवाल ने चंद्रगुप्त द्वितीय (३७५–४१३ ई०) विक्रमादित्य को ही इस भरत-वाक्य का विषय माना है। अतः उनके मत से इस ग्रंथ की रचना ४०० ईस्वी के लगभग हुई। परंतु यह भी मत ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि म्लेच्छों (हूणों) का आक्रमण-काल चंद्रगुप्त के राज्य के लगभग ५० वर्ष पीछे आरम्भ होता है। अतः उनसे भरत-वाक्य की संगति नहीं बैठती। (३) टीकाकार ढुण्ढिराज के अनुसार चंद्रगुप्त मौर्य का ही इस भरत-वाक्य में उल्लेख है। परंतु प्रायः प्रशस्तिवाक्य में नायक से किसी प्रकार का संबंध नहीं रहता। अतः चंद्रगुप्त से चंद्रगुप्त मौर्य की सूचना सर्वथा विरुद्ध है। (४) अवंतिवर्मा दो थे। एक काश्मीर के राजा और दूसरे कन्नौज के। कन्नौज-नरेश मौखरी वंश के थे। और इन्हीं के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ थानेश्वर के महाराज श्रीहर्ष की भगिनी राज्यश्री का विवाह हुआ था।

इस भरतवाक्य में इन्हीं का निर्देश ऐतिहासिक रीति से प्रमाणित होता है। इसी समय हूणों का उपद्रव पश्चिमोत्तर भारत (पंजाब) में विशेषरूप से हुआ था। इन हूणों को अवंतिर्मा ने थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन की सहायता से परास्त किया था। हर्षचरित में प्रभाकरवर्धन को इसी कार्य के हेतु 'हूण हरिण केसरी' कहा गया है। यह घटना ५८२ ई० के आसपास मानी जाती है। अतः इसकी रचना छठीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मानने वाले आलोचकों का भी एक पक्ष है।

इन मतों की समीक्षा से दो मत विशेष प्रौढ़ प्रतीत होते हैं (क) विशाखदत्त गुप्तवंश के चंद्रगुप्त द्वितीय (३७५-४१३ ई०) के समय में आविर्भूत हुए; (ख) विशाखदत्त के आश्रयदाता अवन्तिवर्मा मौखरी (५७६-६०० ई०) थे। समय की परीक्षा में दो तीन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। पहिला है चंद्रग्रहण की घटना जिसमें बुधयोग से पूर्णचंद्रग्रहण के होने में विप्रपत्ति दिखलाई गई है। वाराहमिहिर ने अपने प्रख्यात बृहत्संहिता में इस मत का प्रबल खंडन किया है। अतः विशाखदत्त का समय वाराह-मिहिर (लगभग ४९० ई०) से पूर्व ही होना चाहिए। जैनधर्म तथा बौद्धधर्म के प्रति लेखक की संमान-भावना भी विचारणीय वस्तु है। अङ्क ७, श्लोक ५ में बौद्धधर्म की विशेष प्रशंसा है। फलतः लेखक सप्तम शती के अनन्तर नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो बुद्धधर्म के ह्रास का युग है। तृतीय बात है भरतवाक्य में म्लेच्छों का उल्लेख। म्लेच्छों की पहिचान किनसे की जाय? डा० विल्सन म्लेच्छों का तात्पर्य पठानों से लगाते थे और इसलिए इस नाटक का समय ११वीं या १२वीं शती माना। के० टी० तैलंग ने म्लेच्छों का तात्पर्य आरम्भिक मुसलमान आक्रमणकारियों से लगाया और नाटक का समय ७वीं शती माना। परंतु बहुत सम्भव है कि म्लेच्छों से लेखक का आशय हूणों से हो जो गुप्त युग तथा उसके बाद भी बड़े भारी उत्पाती तथा भयंकर प्रतिपक्षी माने जाते थे।

बाह्य साक्ष्य भी विशेष महत्त्व का नहीं है। नाटक का सबसे प्राचीन उल्लेख है धनिक के दशरूपावलोक (१०वीं शती) में। यदि इस नाटक

को चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की रचना मानें, तो 'म्लेच्छैरुद्विज्यमाना' विशेषण उस राजा की ज्ञात घटनाओं के साथ मेल नहीं खाता। उस समय हूणों ने भारतवर्ष में प्रवेश नहीं किया था और न उस युग में वे उद्वेग के कारण ही थे। डा० हिलेब्रान्ट के संस्करण में 'अवन्तिवर्मा' पाठ पीछे का माना गया है। ऐसी विषम-स्थिति में यथार्थ निर्णय समय के विषय में नहीं किया जा सकता। विशाखदत्त का समय वराहमिहिर से पूर्व पञ्चम शती के मध्य में कभी मानना न्यायसंगत होगा।

इस नाटक में जो कुछ भी घटना घटती है वह इसी उद्देश्य को अग्रसर करती जाती है। चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन को दृढ़ बनाने के लिए नन्दनरेश के सुयोग्य मन्त्री राक्षस को मौर्य नरेश का प्रधानामात्य बनाना चाहता है। इस घटना का संयोजक स्वयं आचार्य चाणक्य ही है जो चन्द्रगुप्त के मन्त्री पद पर प्रतिष्ठित है। राक्षस को बुद्धिबल से परास्त कर चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनाना चाहता है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए उसने अपने जिस बुद्धि-वैभव का प्रदर्शन किया है वह राजनीतिज्ञों को भी उलझन में डालने वाला है। पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति में भी इस नाटक में घटना की एकता का जितना सुन्दर प्रदर्शन हुआ है उतना अन्यत्र नहीं। आदि से लेकर अन्त तक सभी घटनाएँ राक्षस के वशीकरण की ओर ही प्रवृत्त हो रही हैं। घटनाएँ बड़ी पेचीदी तथा विच्छिन्न सी प्रतीत होती हैं, परन्तु उनका समन्वय एक ही प्रयोजन की सिद्धि में अनुस्यूत है।

विशिष्टता

'मुद्राराक्षस' नाटक अनेक दृष्टियों से संस्कृत साहित्य में अद्वितीय है। संस्कृत की सामान्य नाट्यधारा के प्रतिकूल इसमें प्रेम कहानी का ही नितान्त अभाव नहीं है, प्रत्युत इसमें प्रणय का वातावरण भी नहीं है। इस नाटक में नायिका का एकदम अभाव है; न नाटक के वातावरण को स्निग्ध तथा ललित बनाने वाले विदूषक का ही कहीं पता है। सच तो यह है कि यह नाटक आदि से लेकर अन्त तक ओजस्विता, पौरुष ऊर्जस्वलता के ऊपर एकान्ततः आश्रित है और इसीलिए इसका नाटकीय वातावरण पूर्णरूपेण तेजस्विता से

ओत-प्रोत है। अन्य वीररसाश्रयी नाटकों से भी इसका पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है। भास का 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' भी कूटनीति के स्तम्भ पर आश्रित एक महनीय नाट्यप्रासाद है, परन्तु इसमें वह ओजस्विता नहीं है। 'वेणीसंहार' से भी इसकी तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि भट्टनारायण का यह नाटक समराङ्गण में प्रवर्तमान घोर युद्ध की विषमता से संक्रान्त है जिसमें योद्धाओं के सन्नाहों से टकरा कर तलवारों की झंझनाहट, घोड़ों की भयानक आवाज तथा भीषण मारकाट के कारण युद्ध की भीषण रंगस्थली पर्याप्त भय उत्पन्न करती है। परन्तु इस नाटक में वीररस तो अवश्यमेव विद्यमान है, लेकिन न तो तलवारों की झनझनाहट है, न नगाड़ों की गड़गड़ाहट। यहाँ युद्ध वीर सैनिकों के अस्त्रों से नहीं होता। यहाँ तो चाणक्य और राक्षस की बुद्धि और कूटनीति के खेल का ही यह पूरा नाटक एक विशाल अखाड़ा है जिसमें दो अक्खड़ पहलवान पर्दे की ओट से ही अपना दाव पेंच दिखलाकर दर्शकों को आश्चर्यचकित किया करते हैं। चन्द्रगुप्त का यह कथन बिल्कुल ठीक है कि बिना युद्ध के ही आर्य चाणक्य ने दुर्जय शत्रु-सेना को परास्त कर दिया (**विनैव युद्धादार्येण जितं दुर्जयं परबलमिति**)।

इस नाटक में कोई भी स्त्री पात्र नहीं है, केवल सप्तम अंक में चंदनदास की पत्नी का प्रवेश अवश्य होता है, परन्तु वह नाटक के मुख्य कार्य में किसी प्रकार की सहायता नहीं देती। वह चन्दनदास के चरित्र के उत्कर्ष को बतलाने के लिए ही रंगमंच पर लाई गई है। स्त्री पात्र के अभाव में तथा हास्यरस के उत्पादक विदूषक की अनुपस्थिति में भी इस नाटक में रोचकता तथा आकर्षण कम नहीं है। कवि का कथानक ही इतना पेचीदा तथा गहरा है कि दर्शक की जिज्ञासा न कहीं शान्त होती है, न उसका कौतुक या कौतूहल कहीं अवसान को प्राप्त कर सकता है। सफल नाटकों में जिस कौतूहलवर्धक आख्यान की योजना न्यायसंगत मानी जाती है वह इसमें पूर्णरूप से विद्यमान है। पूरे नाटक भर में चाणक्य तथा उसका प्रतिस्पर्धी राक्षस एक दूसरे को अपनी कूटनीति से परास्त करने की गरज से इतनी घटनाओं का विन्यास कर देते हैं कि आपाततः वे सब विच्छिन्न और विशृंखल प्रतीत होती

हैं; परन्तु अन्त में जब जाल खींचा जाता है, तब समग्र घटनाओं का संघटित फल एक साथ ही उद्‌बुद्ध होकर दर्शकों के सामने अपने वैभव को प्रदर्शित करता है। नाटक का व्यापार पूर्णरूपेण गत्यात्मक है—कहीं भी शैथिल्य तथा आरोचकता दृष्टि पर नहीं चढ़ती। सुघटित कथावस्तु की योजना में, वैयक्तिकता से मण्डित पात्रों के चित्रण में, ओजस्वी वायुमंडल की अवतारणा में तथा वीररस की अभिव्यञ्जना में 'मुद्राराक्षस' निःसन्देह संस्कृत साहित्य में एक अपूर्व सफल नाटक है; इसके विषय में आलोचकों के बीच दो मत हो नहीं सकते।

कथावस्तु

इस नाटक में सात अंक हैं। इस नाटक को जीवन प्रदान करने वाला पात्र वस्तुतः चाणक्य है। उसने नन्द-वंश का नाश कर अपने पूर्णभक्त शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य को राज्य सिंहासन पर बैठा तो दिया है अवश्य, परन्तु नन्दराज के भक्तिनिष्ठ अमात्य राक्षस को अपने पक्ष में लाकर चन्द्रगुप्त का उसे मन्त्री बनाना चाहता है। इस बुद्धि-कौशल का संघर्ष ही नाटक का मेरुदण्ड है। प्रथम अंक में चाणक्य को अपने गुप्तचरों से पता चलता है कि कुसुमपुर में तीन व्यक्ति राक्षस के प्रियपात्र हैं— क्षपणक जीवसिद्धि (जो वस्तुतः चाणक्य का ही गुप्तचर है), कायस्थ शकटदास तथा मणिकार-श्रेणी चन्दनदास जिसके घर पर राक्षस अपने कुटुम्ब को रखकर नगर से बाहर चला गया है। उसे राक्षस की अपनी एक मुद्रा (मोहर) भी मिल जाती है जिसको वह शकटदास से एक कूटलेख लिखवाकर मुद्रित कर देता है। यही मुद्रा (या मुद्राङ्कित लेख) राक्षस के पराजय का प्रधान कारण बनती है और 'मुद्राराक्षस' नाम का भी रहस्य इसी घटना में छिपा हुआ है। द्वितीय अंक राक्षस की कूटनीति की आरम्भिक पराजय का प्रथम निदर्शन है। कुसुमपुर में प्रवेश करते समय ही चंद्रगुप्त को मार डालने की गहरी योजना राक्षसों ने अपने गुप्तचरों की सहायता से तैयार की थी, परन्तु चाणक्य की जागरूकता के कारण वह योजना खिलने नहीं पाती, प्रत्युत कलिका के रूप में ही ध्वस्त हो जाती है। तृतीय अंक में

'कौमुदी महोत्सव' के प्रतिषेध की मनोरंजक कथा है जिसमें चन्द्रगुप्त चाणक्य से कपट विग्रह खड़ा करता है और राक्षस को अपनी नीति को सफल बनाने का स्वप्न देखने का अवसर देता है। शारदी पूर्णिमा को 'कौमुदी महोत्सव' मनाने की राजाज्ञा थी, परन्तु चाणक्य जानबूझ कर अवसर प्राप्त न होने से उस आज्ञा का उल्लंघन करता है। चतुर्थ अंक में राक्षस को अपनी योजना की विफलता का पता चलता है। वह नन्द के सिंहासन पर मलयकेतु को ही चन्द्रगुप्त को हटाकर बैठाना चाहता है। मलयकेतु स्वयं राक्षस से भेंट करता है और अपने स्वर्गीय पिता पर्वतेश्वर के आभूषणों को मन्त्रिवर्य के पहनने के लिए देता है। पञ्चम अंक इस नाटक की गर्भ सन्धि है तथा अंग्रेजी आलोचना के अनुसार इसमें कथावस्तु का सातिशय संघर्ष (क्लाइमैक्स) है। मुद्रित लेख तथा आभूषणपेटिका के साथ सिद्धार्थक पकड़ा जाता है और इन वस्तुओं की सहायता से मलयकेतु को पूर्ण विश्वास हो जाता है कि राक्षस गुप्तरूप से चन्द्रगुप्त का ही हित चाहता है और इसीलिए वह राक्षस से अलग हो जाता है। चाणक्य की कूटनीति के उत्कर्ष का प्रदर्शन इस अंक में पूर्णरूप से विद्यमान है। फलतः राक्षस से विरोध करने पर मलयकेतु अपने सहयोगी राजाओं के साथ पकड़ा जाता है। अन्तिम दो अंकों में राक्षस को पकड़ने का सफल उपक्रम है। षष्ठ अंक में राक्षस चन्दनदास की प्रवृत्ति जानने के लिए कुसुमपुर में लौट आता है। एक पुरुष से भेंट होती है जो उसे चन्दनदास के भावी प्राणहरण (फाँसी) की सूचना देता है। सप्तम अंक में चाण्डाल चन्दनदास को फाँसी देने के लिए वधस्थान पर लाते हैं जहाँ उसकी धर्मपत्नी अपने पुत्र के साथ अपने भी मर जाने की घोर प्रतिज्ञा पति से सुनाती है। अपने मित्र को इस घोर विपत्ति से बचाने के लिए जो उसी के परिवार में रखने से आई हुई थी राक्षस स्वयं उपस्थित हो जाता है और चाणक्य के सामने उसका वंशवद सुहृद् बन जाता है तथा चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाना स्वीकार कर लेता है। इसी घटना से नाटक का अन्त होता है। यह अन्तिम घटना चाणक्य की विशाल कूटनीति, गहरी चाल तथा असाधारण बुद्धि के ऊपर एक मनोरञ्जक भाष्य है। कार्य की अन्विति बड़ी ही सुन्दरता के साथ यहाँ प्रदर्शित हुई है।

पात्र-परीक्षण

चरित्र-चित्रण में विशाखदत्त की लेखनी बड़ी मजी हुई दीखती है। एक पात्र के चरित्र विकास के लिए अन्य सदृश पात्र की कल्पना नाटककार ने की है जिससे तारतम्य करने से दोनों की विशिष्टता का स्फुटीकरण सद्यः हो जाता है। चाणक्य तथा राक्षस, चन्द्रगुप्त तथा मलयकेतु ऐसे ही एक दूसरे के आमने-सामने खड़े होनेवाले युगलरूप में चित्रित पात्र हैं। **चाणक्य** की राजनैतिक चातुरी अपना तुलना नहीं रखती। कूटनीति के इस प्रकाण्ड पंडित के कार्यों के गुप्त बीज तब उद्घटित होते हैं जब उनका फल सबके सामने उज्ज्वल रूप से प्रगट हो जाता है। उसके प्रत्येक वाक्य में, प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक चेष्टा में कोई न कोई रहस्य अवश्य ही छिपा हुआ रहता है। चंद्रगुप्त को वह स्वतः स्वतंत्र रूप से आचरण करने तथा उसके आदेशों के उल्लंघन करने की स्वयं मंत्रणा देता है जिससे शत्रु को क्षणिक उल्लास हो और वह अपने उद्योगों में शिथिलता करने लगे। और यही फल हुआ भी। इस नाटक को गति तथा मति, प्रेरणा तथा स्फूर्ति देने का एकमात्र श्रेय यदि किसी को है तो वह चाणक्य को ही है। परन्तु चाणक्य में हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क ही अधिक है। भाव की अपेक्षा बुद्धितत्त्व का ही प्राबल्य है। अतः वह हमारे आदर का पात्र है, स्नेह का नहीं; आतङ्क से हम उसके सामने नत-मस्तक हो जाते हैं, परन्तु प्रेम से नहीं। उसमें उदारता की कमी नहीं है, परंतु अपनी कूटनीति की सिद्धि के लिए वह अकार्यों को भी प्रश्रय देने से पराङ्मुख नहीं होता।

उसकी तुलना में **राक्षस** की नीति अवश्य सफल नहीं होती, परन्तु फिर भी राक्षस की मानवता, कोमल-हृदयता तथा मित्रवत्सलता नितान्त श्लाघनीय है। राजनीति के अखाड़े में पराजित होने पर भी राक्षस मानवता के क्षेत्र में विजयी सिद्ध होता है। उसमें बुद्धितत्त्व की न्यूनता होने पर भी हृदयतत्त्व की प्रचुरता है। इसलिए वह दर्शकों के हृदय को बरबस अपनी ओर खींचता है। उसके लिए हमें सम्मान है तथा प्रेम है। वह अपने परलोकगत स्वामी के हित के लिए प्राणपण से चेष्टा करता है। वह विलीन

तथा अस्तंगत कार्यों तथा कामनाओं के लिए लड़ता है। बिना किसी आशा के ही स्वामिहित का सम्पादन उसकी स्वामिभक्ति का उज्ज्वल दृष्टान्त है। सौहार्द का तो वह जीवित प्रतीक ही है। चन्दनदास के प्राण बचाने के लिए वह प्रतिज्ञा को भूल जाता है। प्रतिज्ञा का विलयन भले ही हो जाय, परन्तु अपने सुहृद का उसके लिए बाल भी बाँका न होने पावे—यही उसके जीवन का आदर्श है। चाणक्य भी राक्षस की अलोक-सामान्य स्वामिभक्ति तथा उत्कृष्ट मित्रवात्सल्य से पूर्ण परिचित था और इसलिए वह उसे चंद्रगुप्त के अमात्य-पद पर प्रतिष्ठित करना चाहता था। इस प्रकार चाणक्य में बुद्धितत्त्व का प्राचुर्य है तो राक्षस में हृदयतत्त्व की प्रतिष्ठा है। दोनों पात्र एक दूसरे के संघर्ष में आकर खुलते हैं और खिलते हैं। चन्दनदास की भी सच्ची मित्रता श्लाघनीय है। वह विषम परिस्थितियों में आकर भी अपने निश्चय से नहीं हटता। चाणक्य उसे नाना प्रलोभनों से लुभाकर अपनी कार्यसिद्धि करना चाहता है, परन्तु यह सच्चा मित्र हिमालय के समान अडिग खड़ा रहता है। प्रलोभनों के आगे झुकने का नाम भी नहीं जानता। अपने कुटुंब को संकट में डालना तथा अपने प्राणों की आहुति वह इस सौहार्द-योग का परम आवश्यक अंग मानता है और इसी आदर्श-पालन के कारण वह हमारे हृदय में सम्मान का पात्र है।

मुद्राराक्षस का नायक चन्द्रगुप्त धीरोदात्त नायक है। वह अपने मार्ग-दर्शक गुरु का अन्धभक्त शिष्य है जो स्वप्न में भी अपने गुरु से काल्पनिक कलह करने में भी काँप उठता है। चाणक्य का वचन उसके लिए वेदवाक्य है। उसे अपने गुरु की अलौकिक कार्य-कुशलता और कूटनीति-पटुता में अटूट विश्वास है और यही उसकी गुरुभक्ति की आधार-शिला है। वह युद्धवीर है तथा अनुभवी शासक है और इसीलिए उसके सामने सिद्धियाँ स्वतः नत होती हैं। चाणक्य के बारंबार कहने पर वह कुछ काल के लिए स्वातन्त्र्य का ढोंग रचता है, परन्तु यह भी शत्रु को भुलावा देने के निमित्त ही। ठीक इसके विपरीत मलयकेतु है। बुद्धिहीन, अयोग्य तथा कच्ची बुद्धि का अभिमानी युवक अपना हित अनहित, मित्र-शत्रु के परखने की क्षमता से विहीन है। राक्षस सचमुच उसे मगध के सिंहासन पर प्रतिष्ठित

करना चाहता है, परंतु वह अपनी कच्ची बुद्धि के कारण राक्षस की सद्भावना तथा कार्यक्षमता में विश्वास नहीं करता। इसीलिए उसे पराजित होना पड़ता है। हमें उसकी मूर्खता पर दया आती है।

ये चारों पात्र नाटकीय 'टाइप' न होकर वैयक्तिक जीवन से सम्पन्न हैं। ये अपनी वैयक्तिक विलक्षणताओं से मण्डित सजीव पात्र हैं। राजनीति जैसे दुरूह विषय को लोकप्रिय बनाना तथा रंगमंच के ऊपर अभिनीत करना विशाखदत्त की नाटकीय चातुरी का प्रत्यक्ष उदाहरण है। वस्तु की एकता के संपादन में जैसे वह चतुर हैं, चरित्रों के चित्रण में भी वह उसी प्रकार दक्ष तथा समर्थ हैं।

कवित्व

'मुद्राराक्षस' की शैली में एक विलक्षण 'मर्दानगी' है जिससे उसका प्रत्येक अक्षर सुशोभित है। मुख्य रस वीर ही है। अलंकारों का पद्यों में उतना ही प्रयोग है जिससे भावों के प्रकटन में अथवा मूर्त की कल्पना में तीव्रता वैशद्य का जन्म हो जाता है। पात्रों के अनुकूल ही भावों का निवेश तथा भाषा की प्रतिष्ठा है। तृतीय अंक में शरद् ऋतु का भी रोचक वर्णन है, परन्तु वह सन्दर्भ तथा कथानक को एक उन्नत कोटि तक पहुँचाने का कार्य करता है। आशय यह है कि विशाखदत्त ने इस नाटक को ऊर्जस्वी और वीररस-मण्डित बनाने में कुछ उठा नहीं रखा है। चाणक्य को इस बात की आशंका से भी महान् क्षोभ हो रहा है कि उसके रहते हुए चन्द्रगुप्त का अभिभव और तिरस्कार कौन सोच रहा है। वह कहता है—

आस्वादित-द्विरद-शोणित-शोण-शोभां
सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य।
जृम्भा-विदारित-मुखस्य मुखात् स्फुरन्तीं
को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम्॥

—मुद्राराक्षस १।८

अर्थात् सिंह का तिरस्कार कर उसके दाढ़ (दाँत) को कौन व्यक्ति उखाड़ना चाहता है? हाथी को खाने के कारण उसके लोहू से लाल रंग की वह दंष्ट्रा अत्यन्त चमक रही है और सन्ध्याकाल में चंद्रमा की कला के समान लाल रंग की शोभा से मण्डित है। जँभाई लेते समय सिंह ने जब अपना मुँह खोला तब वह उसमें चमक रही है। ऐसी दंष्ट्रा को सिंह के मुख से उखाड़ लेनेवाला पुरुष काल के साथ साक्षात् युद्ध कर रहा है और अपने ही हाथों उसे न्यौता दे रहा है!!! अप्रस्तुत-भावना कितनी सुंदरता से अभिव्यक्त की गई है।

प्रकृति का वर्णन भी प्रस्तुत की भावना को तीव्र बनाकर अग्रसर कर रहा है। कुसुमपुर के इस उजड़े बगीचे का यह वर्णन कितना प्रकृत-रस का पोषक है—

विपर्यस्तं सौधं कुलमिव महारम्भरचनं
सरः शुष्कं साधो हृदयमिव नाशेन सुहृदाम्।
फलैर्हीना वृक्षा विगुण नृप योगादिव नया-
स्तृणैश्छन्ना भूमिर्मतिरिव कुनीतैरविदुषः।

(मुद्राराक्षस ६।११)

महामात्य चाणक्य की कुटिया का यह दृश्य बेजोड़ है। कहाँ तो वह सुगाङ्ग प्रासाद में मखमली फर्श पर चलने वाले तथा विशाल वैभव के भोक्ता चंद्रगुप्त की विभूति है और कहाँ उसके ही राज्यसंचालक चाणक्य की यह छोटी कुटिया है। महामात्य की सादगी तथा संन्यस्त जीवन की कितनी सुंदर व्यंजना है इस पद्य में—

उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां
बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तूपमेतत्।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि-
र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्॥

(मुद्राराक्षस ३।१५)

एक ओर उपलों को तोड़ने के लिए रखा हुआ पत्थर का एक टुकड़ा पड़ा हुआ है, तो दूसरी ओर छात्रों के द्वारा लाया गया कुशों का एक स्तूप खड़ा

हुआ है। उस कुटिया की दीवालें ही पुरानी और जीर्ण नहीं हैं, प्रत्युत उसकी छाजन भी सुखाई जानेवाली लड़कियों के कारण बिल्कुल झुकी हुई है। यही है राजाधिराज के मंत्री की विभूति !!!

विशाखदत्त राजनीति के प्रवीण पंडित थे, यह कहना व्यर्थ है और इसीलिए इस नाटक में कौटिल्य के अर्थशास्त्र का विपुल प्रभाव विशेष भावेन दृष्टिगोचर होता है। इनकी प्रतिभा राजनैतिक नाटकों के प्रणयन में विशेष सफल बिना किसी संदेह के मानी जा सकती है, क्योंकि इनका दूसरा अधूरा नाटक 'देवी-चंद्रगुप्त' भी पूर्ण राजनैतिक तथा ऐतिहासिक वृत्त से मंडित है। रामचंद्र तथा गुणचंद्र (१२ शतक) ने अपने नाट्य ग्रंथ 'नाटक दर्पण' में इस नाटक से अनेक लंबे उद्धरण दिये हैं जिससे प्रतीत होता है कि यह नाटक पाँच अंकों में अवश्य था। भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण में तथा अभिनवगुप्त की अभिनवभारती में भी इसके उल्लेख उपलब्ध होते हैं। यह नाटक शकराज के कारागार से रामगुप्त की महिषी ध्रुवदेवी के कुमार चंद्रगुप्त के हाथों उद्धार की मनोरञ्जक ऐतिहासिक कथा पर आश्रित है जिसे जयशंकर प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' में नाटक का रूप दिया है।

इस प्रकार हम भाषा तथा भाव, शैली तथा कवित्व, वस्तु तथा पात्र-चित्रण के समीक्षण के बल पर कह सकते हैं कि विशाखदत्त का यह नाटक वास्तव में एक महनीय सफल कृति है जिसमें कालिदास के समान कोमल भावों की तरलता नहीं है, न भवभूति के समान हृदय को रुलानेवाली करुणा का प्रसार है, न भट्टनारायण के समान योद्धाओं को समराङ्गण में प्राण देने के लिए न्यौता देनेवाले नगाड़ेकी गड़गड़ाहट है, परन्तु जिसमें दो विशाल राजनीतियों के बुद्धि-वैभव की नाना खेलों का विपुल आगार है और मानवता की भव्य मूर्ति को उपस्थित करनेवाली नाट्यकला का सुन्दर ओजस्वी रूप है। निःसंदेह मुद्राराक्षस संस्कृत के सफल नाटक होने के अतिरिक्त विश्वसाहित्य में अपना उचित स्थान बनाए रखने की योग्यता रखता है।[1]

---

१ आलोचना के लिए विशेष द्रष्टव्य डा० देवस्थली-इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आफ मुद्राराक्षस, बम्बई, १९४८ (पृ० ५१-८४)।

३

शूद्रक

मृच्छकटिक के रचयिता शूद्रक का कुछ परिचय ग्रंथ के आरंभ (१।४, १।५) में ही मिलता है। इसके अनुसार शूद्रक हस्तिशास्त्र में परम प्रवीण थे, भगवान् शिव के अनुग्रह से उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था, बड़े ठाट बाट से उन्होंने अश्वमेघ किया था; अपने पुत्र को राज्यसिंहासन पर बैठा दस दिन तथा सौ वर्ष की आयु प्राप्त कर अंत में अग्नि में प्रवेश किया। वह युद्धों से प्रेम करते थे, प्रमादरहित थे, तपस्वी तथा वेद जानने वालों में श्रेष्ठ थे। राजा शूद्रक को बड़े बड़े हाथियों के साथ बाहुयुद्ध करने का बड़ा शौक था। उनका शरीर था शोभन, उनकी गति थी मतङ्ग के समान; नेत्र थे चकोर की तरह, मुख था पूर्ण चंद्रमा की भाँति। तात्पर्य यह है कि उनका समग्र शरीर सुन्दर था। वे द्विजों में मुख्य थे। प्रतीत होता है कि किसी अन्य लेखक ने यह वर्णन यहाँ जान-बूझकर घुसेड़ दिया है। 'शूद्रकोऽग्नि प्रविष्टः' स्वयं लेखक की लेखनी इस भूतकाल का प्रयोग कैसे कर सकती है। निःसंदेह यह अंश प्रक्षेप है।

शूद्रक नामक राजा की संस्कृत साहित्य में खूब प्रसिद्धि है। जिस प्रकार विक्रमादित्य के विषय में अनेक दंतकथायें प्रख्यात हैं, उस प्रकार शूद्रक के विषय में भी हैं। कादम्बरी में विदिशा नगरी में, कथा-सरित्सागर में शोभावती तथा वेतालपञ्चविंशती में वर्धमान नामक नगर में शूद्रक के राज्य करने का वर्णन पाया जाता है। कथासरित्सागर का कथन है कि किसी ब्राह्मण ने राजा को आसन्नमृत्यु जानकर उसके दीर्घ जीवन की आशा से अपने प्राण निछावर कर दिये थे। हर्षचरित में लिखा है कि शूद्रक चकोर के राजा चंद्रकेतु का शत्रु था। राजतरंगिणीकार स्थिर-निश्चलता के दृष्टांत के लिये शूद्रक का स्मरण करते हैं। स्कन्दपुराण के अनुसार विक्रमादित्य के सत्ताइस वर्ष पहिले शूद्रक ने राज्य किया था। प्रसिद्धि है कि कालिदास के पूर्ववर्ती रामिल तथा सोमिल नामक कवियों ने मिलकर 'शूद्रक-कथा' नामक

पुस्तक लिखी थी। अतः शूद्रक राजा की पर्याप्त प्रसिद्धि है[1]। यूरोपियन लेखकों की सम्मति में शूद्रक इसके कर्ता नहीं हैं। बहुत से लोग तो शूद्रक की सत्ता में ही विश्वास नहीं करते, परन्तु ये सब भ्रान्त धारणायें हैं। तथ्य यह प्रतीत होता है कि विक्रमादित्य के समान ही शूद्रक भी ऐतिहासिक क्षेत्र से उठकर कल्पना-जगत् के पात्र माने जाने लगे थे और जिस प्रकार ऐतिहासिक लोग प्रथम शतक में विक्रमादित्य के अस्तित्व के विषय में ही सन्देहशील थे उसी प्रकार शूद्रक की भी दशा है। आधुनिक शोध से दोनों ही ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध होते हैं। ऐसी दशा में शूद्रक को मृच्छकटिक का रचयिता न मानने वाले डा० सिलवाँ लेवी तथा कीथ का मत स्वयं ध्वस्त हो जाता है। पिशेल ने जो दण्डी को इसका रचयिता होने का श्रेय दिया है वह भी कालविरोध होने से भ्रांत प्रतीत होता है। शूद्रक ऐतिहासिक व्यक्ति थे और वे ही मृच्छकटिक के यथार्थ लेखक थे।

स्थितिकाल

पुराणों में आन्ध्रभृत्य कुल के प्रथम राजा शिमुक का वर्णन मिलता हैं। अनेक भारतीय विद्वान् राजा शिमुक के साथ शूद्रक की अभिन्नता अंगीकार कर इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी में मानते हैं। यदि यह अभिन्नता सप्रमाण सिद्ध की जा सके, तो शूद्रक कालिदास के समकालीन अथवा उनके कुछ पूर्व के ही माने जायँगे। परन्तु मृच्छकटिक की इतनी प्राचीनता स्वीकार करने में बहुतों को आपत्ति है।

वामनाचार्य ने अपनी काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति में 'शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेषु' शूद्रक विरचित प्रबन्ध का उल्लेख किया है और—

१—इन्हीं सब ऐतिहासिक कथाओं का अनुशीलन कर श्री चंद्रबली पांडे ने बड़ी प्रामाणिक युक्तियों के आधार पर शूद्रक की वासिष्ठीपुत्र श्री पुलमावि (राज्यारोहण लगभग ई० सन् १३०, मृत्यु १५५ ई०) से अभिन्नता सिद्ध की है। पांडे जी के विचार नितान्त मौलिक हैं तथा अनुसन्धान योग्य हैं। द्रष्टव्य चन्द्रबली पांडे—शूद्रक, पृष्ठ १–३८, काशी, सं० २०१०।

'द्यूतं हि नाम पुरुषस्य असिंहासनं राज्यम्'

इस मृच्छकटिक के द्यूत-प्रशंसा-परक वाक्य को उद्धृत भी किया है जिससे कह सकते हैं कि आठवीं शताब्दी के पहले ही मृच्छकटिक की रचना की गई होगी। वामन के पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी (सप्तम शतक) ने भी काव्यादर्श में 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' मृच्छकटिक के इस पद्यांश को अलंकार-निरूपण करते समय उद्धृत किया है। इस बहिरंग प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि मृच्छकटिक की रचना सप्तम शताब्दी के पहले ही हुई होगी।

समय-निरूपण में मृच्छकटिक के अन्तरंग प्रमाणों से भी बहुत सहायता मिलती है। नवम अंक में वसन्तसेना की हत्या करने के लिये शकार आर्य चारुदत्त पर अभियोग लगाता है। अधिकरणिक के सामने यह पेश किया जाता है। अन्त में मनु के अनुसार ही धर्माधिकारी निर्णय करता है—

अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह (९।३९)

इससे स्पष्ट ही है कि मनु के कथनानुसार चारुदत्त का अपराध सिद्ध होता है और धनसम्पत्ति के साथ उसे देश से निकल जाने का दण्ड दिया जाता है। यह निर्णय ठीक मनुस्मृति के अनुरूप है—

न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतम्॥
न ब्राह्मणवधाद् भूयानधर्मो विद्यते भुवि।
तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत्॥

(८ अ०, ३८०–३८१)

अतः मृच्छकटिक की रचना मनुस्मृति के अनन्तर हुई होगी। मनुस्मृति का रचना-काल विक्रम से पूर्व द्वितीय शतक माना जाता है जिसके पीछे मृच्छकटिक को मानना होगा। भास कवि के 'दरिद्र चारुदत्त' तथा शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में अत्यन्त समता पाई जाती है। मृच्छकटिक का कथानक बहुत

विस्तीर्ण है, दरिद्रचारुदत्त का संक्षिप्त। यदि मृच्छकटिक को भास के रूपक के अनुकरण पर रचा गया मान लें, तो शूद्रक का समय भास के पीछे होना चाहिये।

मृच्छकटिक के नवम अंक में कवि ने बृहस्पति को अंगारक अर्थात् मंगल का विरोधी[1] बतलाया है; परंतु वराहमिरि ने इन दोनों ग्रहों को मित्र माना[2] है। प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर का सिद्धांत ही आजकल फलित ज्योतिष में सर्वमान्य है। आजकल भी मंगल तथा बृहस्पति मित्र ही माने जाते हैं, परंतु वराहमिहिर के पूर्ववर्ती कोई कोई आचार्य इन्हें शत्रु मानते थे, जिसका उल्लेख[3] बृहज्जातक में ही पाया जाता है। वराहमिहिर का परवर्ती ग्रन्थकार बृहस्पति को मंगल का शत्रु कभी नहीं कह सकता। अतः शूद्रक वराहमिहिर से पूर्व के ठहरते हैं। वराहमिहिर की मृत्यु ५८९ ईस्वी में हुई थी; इसीलिए शूद्रक का समय छठी सदी के पहले होना चाहिये।

इन सब प्रमाणों का सार यही है कि शूद्रक दण्डी (सप्तम शतक) और वराहमिहिर (षष्ठ शतक) के पूर्ववर्ती थे अर्थात् मृच्छकटिक की रचना पञ्चक शतक में मानना उचित है।

ग्रंथ की कथा

मृच्छकटिक में १० अंक हैं। पहले अंक का नाम 'अलंकारन्यास' है। इसमें उज्जयिनी की प्रसिद्ध वारवनिता वसन्तसेना को राजा का श्यालक शकार

---

१ अङ्गारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः।
ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः॥
(मृच्छ० ९।३३)

२ जीवेन्दूष्णकरा कुजस्य सुहृदः।
—बृहज्जातक २।१६।

३ जीवो जीवबुधौ सितेन्दुतनयौ व्यर्का विभौमाः क्रमात्।
वीन्द्वर्का विकुजेन्दवश्च सुहृदः केषांचिदेवं मतम्॥
—वही २।१५

वश में करना चाहता है। रास्ते में अंधेरी रात में विट तथा चेट के साथ शकार उसका पीछा कर रहा है। मूर्ख शकार के कथन से वसंतसेना को पता चलता है कि वह आर्य चारुदत्त के मकान के पास ही है। अतः उसके घर में घुसती है। विदूषक मैत्रेय शकार को डाँट डपट कर घर में घुसने से रोकता है। चारुदत्त से वार्तालाप करने के बाद शकार से बचने के लिये वसंतसेना अपना गहना उसके घर पर रख आती है। दूसरे अंक का नाम 'द्यूतकर संवाहक' है। दूसरे दिन सवेरे दो घटनाएँ घटती हैं। संवाहक पहले चारुदत्त की सेवा में था, पीछे पक्का जुआरी बन जाता है। वह जुए में बहुत सा धन हार जाता है जिससे वह चारुदत्त के घर भाग आता है। चारुदत्त उसे ऋणमुक्त कर देते हैं। संवाहक बौद्ध भिक्षु बन जाता है। उसी दिन प्रातःकाल वसंतसेना का हाथी रास्ते में किसी भिक्षुक को कुचलना ही चाहता है कि उसका सेवक कर्णपूरक उसे बचाता है। चारुदत्त अपना बहूमूल्य दुशाला उपहार में दे देते हैं। तीसरे अंक का नाम 'संधिच्छेद' है। वसन्तसेना की दासी मदनिका को शर्विलक सेवा से मुक्त कराना चाहता है। वह ब्राह्मण है; परंतु प्रेमपाश में बँधकर आर्यचारुदत्त के घर में सेंध मारता है और वसंतसेना का गहना चुरा लेता है।

चतुर्थ अंक का नाम 'मदनिका-शर्विलक' है जिसमें शर्विलक अलंकार लेकर वसंतसेना के घर जाता है और मदनिका को सेवा-मुक्त कर देता है। चारुदत्त की पतिव्रता पत्नी धूती अपनी बहुमूल्य रत्नावली उसके बदले देती है। मैत्रेय रत्नावली लेकर वसंतसेना के महल में जाता है और जुए में हार जाने का बहाना कर रत्नावली देता है। वसंतसेना सायंकाल चारुदत्त के घर आने के लिए वादा करती है। पाँचवें अंक का नाम 'दुर्दिन' है। इसमें वर्षा का विस्तृत वर्णन है। सुहावने वर्षाकाल में आर्यचारुदत्त उत्सुकता से वसंतसेना का राह जोहते बैठे हैं। चेट वसंतसेना के आगमन की सूचना देता है। चारुदत्त से प्रेम सम्मिलन होता है। उस रात वह वहीं बिताती है। षष्ठ अंक का नाम 'प्रवहणविपर्यय' है तथा सप्तम का 'आर्यकापहरण'। प्रातःकाल चारुदत्त पुष्पकरण्डक नामक बगीचे में गये हैं। उनसे भेंट करने के लिये वसन्तसेना जाना चाहती है, परन्तु भ्रम से शकार की गाड़ी में, जो समीप

में खड़ी थी, जा बैठती है। इधर राजा पालक किसी सिद्ध की भविष्यवाणी पर विश्वास कर गोपाल के पुत्र आर्यक को कैदखाने में बन्द कर देता है। आर्यक कारागृह से भागकर चारुदत्त की गाड़ी में चढ़ जाता है। शृंखला की आवाज को भूषण की झनझनाहट समझ गाड़ीवान गाड़ी हाँक देता है। रास्ते में दो सिपाही गाड़ी देखने जाते हैं जिनमें से एक आर्यक को देख उसकी रक्षा करने का वचन देता है और अपने साथी से किसी बहाने झगड़ा कर बैठता है। आर्यक बगीचे में चारुदत्त से भेंट करता है। अष्टम् अंक का नाम 'वसन्तसेना-मोचन' है। जब वसन्तसेना पुष्पकरण्यक उद्यान में पहुँचती है, तब प्राणप्रिय चारुदत्त के स्थानपर दुष्ट शकार-संस्थानक मिलता है जो उसकी प्रार्थना न स्वीकार करने से वसन्तसेना का गला घोंट डालता है। संवाहक, जो भिक्षु बन गया है, वसन्तसेना को समीप के विहार में ले जाता है और योग्य उपचार से उसे पुनरुज्जीवित करता है। नवम अंक में जिसका नाम 'व्यवहार' है, शकार चारुदत्त पर वसन्तसेना के मारने का अभियोग लगाता है। कचहरी में जज के सामने मुकदमा पेश होता है। उसी समय चारुदत्त का बालक-पुत्र रोहसेन मृच्छकट (मिट्टी की गाड़ी) लेकर आता है जिसमें वसन्तसेना के दिये सोने के गहने हैं। इसी आधार पर चारुदत्त को फाँसी का हुक्म होता है। 'संहार' नामक दशम अंक में उसी समय राज्यपरिवर्तन होता है। पालक को मार चारुदत्त का परम मित्र आर्यक राजा बन जाता है। वह चारुदत्त को क्षमा ही नहीं कर देता, प्रत्युत मिथ्याभियोग के कारण शकार को फाँसी का हुक्म देता है; परंतु चारुदत्त के कहने से क्षमा कर देता है। वसन्तसेना के साथ चारुदत्त का व्याह सम्पन्न होता है। इसी अन्तिम प्रेम-मिलन के संग यह रूपक समाप्त होता है।

इस प्रकरण के कथावस्तु के दो अंश हैं—पहिला भाग चारुदत्त तथा वसन्तसेना का प्रेम, दूसरा भाग आर्यक की राज्यप्राप्ति। शूद्रक ने पहले अंश को भास के 'दरिद्र-चारुदत्त' नाटक से अविकल लिया है। शब्दतः और अर्थतः दोनों प्रकार की समता इसमें दृष्टिगोचर हो रही है। राजनीतिक भाग कवि की अपनी सम्पत्ति है। विज्ञ आलोचक इस अंश को प्राचीन

ऐतिहासिक घटना के आधार पर लिखा गया मानते हैं। दोनों अंशों को शूद्रक ने बड़ी सुंदरता के साथ सम्बद्ध किया है।

चरित्रचित्रण

शूद्रक चरित्र-चित्रण में खूब सिद्धहस्त हैं। इनके पात्र जीते जागते हैं। सजीवता की मूर्ति हैं। प्रत्येक पात्र में कुछ-न,कुछ विशेषता है। मृच्छकटिक का नायक **चारुदत्त** है। प्रकरण का नायक धीरप्रशांत ब्राह्मण, वणिक या मंत्री हुआ करता है। चारुदत्त ब्राह्मण है तथा धीर-प्रशांत है। शूद्रक ने चारुदत्त के रूप में भारत के आदर्श नागरिक का चित्र खींचा है। वह सदाचार का निदर्शन है।

> **दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी**
> **आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः।**
> **सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो**
> **ह्येकः श्लाघ्यःस जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये॥**
> (मृच्छ० १।४८)

चारुदत्त दीनों के कल्पवृक्ष हैं। दरिद्रों की सहायता करते उसे दरिद्रता आ घेरती है, परन्तु फिर भी वह दीनों की सहायता करने से विरत नहीं होता। उसमें आत्माभिमान की मात्रा खूब है। उसे जानकर अत्यन्त दुःख होता है कि हमारे घर से छूँछे हाथ लौट जानेवाला चोर अपने मित्रों से मेरी दरिद्रता की निंदा करेगा। स्वभाव उसका बड़ा उन्नत है। वसंतसेना का अलंकार चोरी चला जाता है, परंतु उसे प्रसन्नता होती है कि उसके घर में सेंध मारनेवाला चोर विफल-मनोरथ होकर नहीं गया। वसंतसेना के अल्पमूल्य भूषण के बदले में बहुमूल्य रत्नावली देने में तनिक भी नहीं हिचकता। जो शकार उसके जीवन का गाहक था, जो उस पर वसंतसेना के मारने का मिथ्या अभियोग लगाकर शूली पर चढ़ाये जाने का कारण था, उसी दुष्टबुद्धि मूर्ख शकार को वह क्षमा कर देता है। सचमुच चारुदत्त के रूप में हम एक आदर्श आर्य सज्जन का मनोरम चित्र पाते हैं।

वसन्तसेना उज्जयिनी की वेश्या है जो इस प्रकरण की नायिका है। उसके चरित्र में हम अनेक स्त्रीसुलभ गुणों का सन्निवेश पाते हैं। वेश्या होने पर भी वह सच्चे प्रेम का मूल्य जानती है—माता के आग्रह करने पर भी वह शकार की संगति नहीं चाहती और विरोध करने पर भी सदाचारी आर्य चारुदत्त की प्रेमपात्री बनने के लिये वह सतत उद्योग करती है। उसका हृदय अत्यन्त कोमल है। सेवकों पर दया करना उसका स्वभाव है। यद्यपि शकार उसे मार डालने का उद्योग करता है, तथापि वह अपने सद्‌गुणों के कारण जीवित बच जाती है। वसन्तसेना तथा चारुदत्त के अतिरिक्त अन्य पात्रों के भी चरित्र चित्रण में शूद्रक को सफलता प्राप्त हुई है। धूता सच्ची पतिव्रता हिन्दू नारी है जो अपने पतिदेव की प्रसन्नता के लिए कठिन से कठिन संकट झेलने के लिये उपस्थित है। अपने पति को कलंक से बचाने के लिये वसन्तसेना के अल्पमूल्य आभूषण के लिये बहुमूल्य रत्नावली देते समय उसे तनिक भी दुविधा नहीं होती। **रोहसेन** भी स्निग्ध-हृदय पुत्र है। **मैत्रेय** केवल मोदक से अपनी उदर-ज्वाला को शान्त करनेवाला 'औद-रिक'—पेटू—नहीं है, न वह केवल हास्य का साधन है; प्रत्युत वह एक सच्चा मित्र है—विपत्ति में साथ देनेवाला सच्चा बन्धु है। अन्य साधारण पात्रों में **शर्विलक** का चरित्र सज्जनता तथा दुर्जनता का अपूर्व मिश्रण है। वेश्या की गृहदासी मदनिका को अपनी प्रिय-पात्री बनाने में यह ब्राह्मण देवता तनिक भी नहीं सकुचाते—उसे ऋणमुक्त करने के लिये चोरी करने में उसे कुछ भी लज्जा नहीं, परन्तु अपने मित्र आर्यक के कारागृह में बन्धन की वार्ता सुन वह अपनी प्रणयिनी को छोड़ सहायता करने के लिये खम ठोककर 'मैदाने जंग' में आ जुटता है।

मृच्छकटिक में सबसे विचित्र नाटकीय पात्र है—**शकार**। यह राजा का श्यालक है। नाम है संस्थानक। यह गर्व का जीता जागता पुतला है। उसमें दया छूकर भी नहीं है। वसन्तसेना को प्रणयपाश में बाँधना चाहता है, परन्तु वह इस मूर्ख को पसन्द नहीं करती। शकार चारुदत्त का अकारण शत्रु है। वसन्तसेना का गला अपने ही हाथ घोंट डालता है परन्तु दोष मढ़ता है चारुदत्त के सिर पर। अपने किये कर्म का फल चखने का भी सुयोग आता

है परन्तु चारुदत्त उसे क्षमा कर देता है। शकार के कथन सर्वथा क्रमहीन, लोक-विरुद्ध, न्याय-विरुद्ध तथा व्यर्थ होते हैं।

अपार्थमक्रमं व्यर्थं पुनरुक्तं हतोपमम्।
लोकन्यायविरुद्धं च शकारवचनं विदुः॥

इसकी शकार-बहुला भाषा भी शकारी के नाम से प्रसिद्ध है। शकार की भाषा तथा तात्पर्य के लिए यह श्लोक पर्याप्त होगा :—

झाणज्झणन्तबहुभूशणशद्दमिश्शं
किं दोवदी विअ पलाअशि लामभीदा।
एशे हलामि सहशत्ति जधा हणूमे
विश्शावशुश्श बहिणिं विअ तं शुभद्दम्॥ (१।२५)

अरी? अपने गहनों को झनझनाती हुई राम से डरी हुई द्रौपदी की तरह क्यों भग रही हो? मैं तुम्हें उसी भाँति ले भागता हूँ, जिस प्रकार हनुमान् विश्वावसु की भगिनी सुभद्रा को ले भागे थे। रामायण तथा महाभारत की कथा की कैसी अच्छी जानकारी है शकार को!!!

'शकार' की अवतारणा प्रथम तथा अन्तिम बार इसी नाटक में हुई है और इसलिए उसकी ओर आलोचकों का ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक है। वह राजा की रक्षिता का भाई है और इस पद की भूयसी प्रतिष्ठा का ज्ञान ही उसके अभिमान तथा अहंकार का एक जीता-जागता पुतला बनाये हुए है। नाटक में न तो उसके वर्ण का संकेत है, न उसके देश का। डाक्टर सिल्वन लेवी की यह कल्पना है कि वह शक जाति का था और उसका प्रवेश उस युग का स्मारक है जब भारतीय राजा लोग शक देश की स्त्रियों को अपने महलों में विवाहिता या रक्षिता बनाकर रखा करते थे। शकार की विचित्र भाषा तथा भारतीय परम्परा का स्थूलतम अज्ञान इस कल्पना के लिए आश्रय माने जा सके हैं, परन्तु इसकी पर्याप्त पुष्टि के साधन आज भी अपर्याप्त हैं। सबसे महत्त्व की बात यह है कि संस्कृत के नाटककार ने किसी भी विदेशी पात्र की कल्पना अपने नाटकों में नहीं की है। अतः यह कल्पना रोचक होने पर भी अभी तक पुष्ट मानी नहीं जा सकती।

सामाजिक दशा

मृच्छकटिक में तत्कालीन हिंदू समाज का सच्चा चित्र हमें मिलता है। राजा का प्रभुत्व अधिक था, परन्तु वह अपने मंत्रियों की सहायता से राज्य संचालन किया करता था। पुलिस का इन्तजाम भी उस समय में अच्छा था। उस समय मनुस्मृति के अनुसार मुकदमों का फैसला हुआ करता था—मनु की प्रामाणिकता सर्वत्र मानी जाती थी। अधिकरणिक (जज) की सहायता करने के लिये 'असेसर' हुआ करते थे जिसमें ब्राह्मण तथा साहूकारों को भी जगह मिलती थी। वैश्यों का उस समय अच्छा संगठन था। वे दूर देशों से व्यापार किया करते थे—विदेशों में उनके जहाज भी आया जाया करते थे। ब्राह्मणों का काम केवल अध्ययन अध्यापन ही न था, बल्कि उनमें भी बड़े बड़े धनाढ्य-सम्भवतः व्यापार से धन प्राप्त करनेवाले—व्यक्ति थे। आर्यचारुदत्त के पितामह बड़े भारी सेठ थे। ब्राह्मण यज्ञ किया करते थे—उनके घर मंत्रपाठ से सदा गूंजा करते थे। ब्राह्मण-धर्म पर खूब विश्वास था। उस समय की धार्मिक चर्या आजकल से भिन्न न थी। सन्ध्यावन्दन, बलि देना, देवताओं के मन्दिर में सायंकाल को दीपदान आदि आजकल की तरह उस समय भी प्रचलित थे। इन्द्रध्वज तथा कामदेवोत्सव आदि उत्सवों का सर्वत्र प्रचार था। ब्राह्मणधर्म के अतिरिक्त बौद्धधर्म भी समुन्नत दशा में था। चैत्य और विहार भिक्षुओं के लिये बने थे, जिनमें रोगियों की सुश्रूषा भी हुआ करती थी। उस समय लोग धनाढ्य थे-वसन्तसेना के महल में राजसी ठाटबाट था। इतना होने पर भी दाम देकर खरीदे गये दासों की प्रथा उस समय थी, परन्तु क्रीतदासों की दशा बहुत अच्छी थी—उनके साथ मालिक का व्यवहार बहुत अच्छा होता था।

उस युग में उज्जयिनी भारतवर्ष की एक समृद्ध नगरी थी जहाँ पश्चिम समुद्र के बंदरगाह भरुकच्छ (वर्तमान 'भड़ोंच') के साथ सीधा आवागमन का सम्बन्ध था और इसी मार्ग से विदेशों से आनेवाली वस्तुएँ भारत के भीतर आती थीं। समृद्धि नाना प्रकार की बुराइयों को भी पैदा करती है।

फलतः जूआ और चोरी जैसे जघन्य व्यवसाय दिनदहाड़े करनेवाले लोगों की वहाँ कमी न थी। नगर में 'वेशवाट' की सत्ता उसके नागरिकों की विदग्धता, केलिशीलता तथा भावुकता की पर्याप्त परिचायिका है। परन्तु रूपजीवी वेश्या के साथ ही साथ उदात्तचरित्र कलाप्रवीण गणिका (जैसे वसन्तसेना) का भी अस्तित्व नगरी की महत्ता का द्योतक था। राजशक्ति बहुत ही क्षीण थी। राजा बेहद कमजोर था। जनरक्षण का इतना कुप्रबन्ध या प्रबन्धाभाव था कि शाम होते ही बड़े घरों की बहू बेटियाँ घर से बाहर सड़क पर आने में भी भय खाती थीं कि कहीं उनकी इज्जत का गाहक कोई बदमाश कहीं से टूट न पड़े। नगर की रक्षा करनेवाले रक्षी पुरुष वहाँ अवश्य विद्यमान थे, परंतु शत्रु-मित्र की परख करने में बड़ी ढिलाई की जाती थी। राजा के इस कुप्रबंध के कारण ही घंटों में सिंहासन उलट जाता था और दूसरा राजा आ धमकता था। नाटक में प्रदर्शित राज्य-परिवर्तन का रहस्य इसी दुर्बल राजशक्ति के भीतर छिपा हुआ है।

कतिपय ब्राह्मण अपने पैतृक कार्य को छोड़कर व्यापार के द्वारा धनसंग्रह के कार्य में व्यस्त थे। आर्यचारुदत्त के पितामह इसी प्रकार के एक धनाढ्य सेठ थे। ब्राह्मणों के भीतर भी विशेष बुराई तथा छल-कपट का प्रवेश हो गया था और ब्राह्मण युवकों में से अनेक पुरुषों का जीवन जुआ और चोरी में बीतता था। शर्विलक ऐसा ही ब्राह्मण है जो अपने पवित्र जनेऊ की हँसी उड़ाने से बाज नहीं आता। बौद्ध धर्म भी सम्पन्नदशा में [अपना समय बिता रहा था, परन्तु इसके भी अनुयायियों में निकम्मे लोग भर गये थे। जो सर्वथा बेकाम तथा लाचार होता वह बौद्ध विहार में भिक्षु बनकर अपना कालक्षेप करता। "संन्यासं कुलदषणैरिव जनैः" (५।१४) का लक्ष्य ऐसे ही लोगों की ओर है। श्रमण का दर्शन 'अनाभ्युदयिक' माना जाता था।

गरज यह है कि वह युग समृद्धि का युग था और उसके साथ आनेवाली सब बुराइयों के लिए वहाँ पूरा दरवाजा खुला था। ऐसे भ्रष्ट वातावरण के भीतर से 'चारुदत्त' जैसे आदर्श तथा सच्चरित्र पात्र की कल्पना सचमुच कवि की विमल प्रतिभा का निदर्शन है।

प्राकृत का वैशिष्ट्य

मृच्छकटिक प्राकृत भाषा की दृष्टि से एक नितांत उपादेय रूपक है। यहाँ जितनी भाषायें तथा विभाषायें प्राकृत की उपलब्ध होती हैं उतनी अन्य किसी नाटक में नहीं। जान पड़ता है कि भरत के भाषाविधान (नाट्यशास्त्र अध्याय १८) को लक्ष्य में रखकर शूद्रक ने इन भाषाओं का प्रयोग भिन्न-भिन्न पात्रों के भाषणों के लिए किया है। टीकाकार पृथ्वीधर के कथनानुसार इस प्रकरण में शौरसेनी, मागधी, अवन्तिका, प्राच्या, शकारी चाण्डाली तथा ढक्की इन सात प्राकृतों का प्रयोग किया गया है जिनमें से प्रथम चार को वह 'भाषा' मानता है तथा अंतिम तीन शकारी, चाण्डाली तथा ढक्की को विभाषा। किसी भी मान्य प्राकृत व्याकरण के कर्ता ने 'विभाषा' के भाषा से पार्थक्य तथा वैशिष्ट्य का समुचित प्रतिपादन नहीं किया है। 'विभाषा' या तो वह प्राकृत भाषा है जो कवि के द्वारा किसी पात्रविशेष के बोलचाल के लिए ही कल्पित की गई है अथवा जिसमें नियमों का 'बाहुलकात्' प्रयोग होता है। पृथ्वीधर के अनुसार सूत्रधार, नटी रदनिका, मदनिका, वसंतसेना, उसकी माता, चेटी, कर्णपूरक, धूता, श्रेणी तथा शोधनक (११ पात्र) शौरसेनी बोलते हैं। संवाहक, तीनों चेट, भिक्षु तथा रोहसेन (छः पात्र)—पात्र मागधी का प्रयोग करते हैं। वीरक तथा चंदन अवन्ती बोलते हैं, तो विदूषक 'प्राच्या' बोलता है। शकार की भाषा 'शकारी' है, दोनों चाण्डालों की चाण्डाली, माथुर और द्यूतकर की भाषा ढक्की है। इन भाषाओं में शौरसेनी तथा मागधी तो सुप्रख्यात तथा बहुशः व्याख्यात भाषायें हैं। अवन्ती तथा प्राच्या का पृथ्वीधर द्वारा विहित लक्षण निर्देश नितांत अशुद्ध है क्योंकि यह लक्षण इन पात्रों की भाषाओं में नहीं मिलता। मार्कण्डेय कवींद्र (१६ शती) ने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' में इनके शुद्ध लक्षण देने की कृपा की है। उनके मतानुसार 'प्राच्या' की प्रकृति शौरसेनी है अर्थात् शौरसेनी के आधार पर कतिपय परिवर्तनों से 'प्राच्या' निष्पन्न होती है। इन नियमों में—'मूर्ख' का 'मुरुक्ख', भवती का भोदि, वक्र का 'वक्कु' या 'वंकुभ', नीच पात्र के सम्बोधन में आकार का दीर्घत्व आदि कतिपय मान्य नियम

है। आवन्ती महाराष्ट्री तथा शौरसेनी के मिश्रण से निष्पन्न भाषा है जिसमें सदृच्='सरिच्छ', क्त्वा=तूण, दृश=पेच्छ अथवा दरिस, भविष्य सूचक प्रत्यय=ज, या जा (भोज, भोजा=भविष्यति) आदि मुख्य हैं। लेखक की तो यह दृढ़ धारणा है कि इन भाषाओं के प्राचीन लक्षणों का निर्देश किसी कारण से नष्ट हो गया था और इसीलिए इस नाटक में उपलब्ध तत्तत् भाषाओं के समीक्षण पर ही मार्कण्डेय ने अपना नियम बनाया है। इसीलिए वे नियम पूरे तौर से न मिलते हैं, न सुसंगत होते हैं।

मागधी में शकार तथा ककार की बहुलता लाने से शकारी बनती है जो शकार के ऊटपटांग अनर्गल भाषण के लिए शूद्रक के द्वारा 'कल्पित' भाषा है। चाण्डाली की भी यही दशा है। ढक्की वस्तुतः ढक्क देश की भाषा थी जो पंजाब का पूरबी भाग माना जाता था। इस भाषा में उकार की इतनी बहुलता है कि यह अपभ्रंश की ओर सचमुच ढलती है। मार्कण्डेय कवींद्र ने किसी हरिश्चन्द्र नामक प्राकृत वैयाकरण की सम्मति दी है जो ढक्की को सचमुच अपभ्रंश ही मानते थे[1]। भरत के द्वारा निर्दिष्ट उकारबहुला भाषा हिमवत्[2], सिन्धु सौवीर देशों में बोली जाती थी। लेखक की सम्मति में ढक्क देश सिंधुसौवीर से मिला-जुला पंजाब का पूरबी भाग प्रतीत होता है और इसीलिए दोनों की भाषाओं में साम्य होना उचित ही है।

शूद्रक की काव्यकला

शूद्रक की शैली बड़ी सरल है। बड़े बड़े छंदों का बहुत कम प्रयोग किया गया है। नये नये भाव स्थान स्थान पर मिलते हैं। इस प्रकरण का मुख्य रस शृंगार है। रस की विभिन्न सामग्री से परिपुष्ट कर शृंगार का

१—हरिश्चन्द्रस्त्विमां भाषामपभ्रंश इतीच्छति ।
अपभ्रंशो हि विद्वद्भिर्नाटकादौ प्रयुज्यते ॥
—प्राकृत सर्वस्व १६।२

२—हिमवत् सिन्धु सौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिताः
उकारबहुलां तेषु नित्यं भाषा प्रयोजयेत् ॥
—नाट्यशास्त्र १८।४७

सुन्दर रूप कवि ने दिखलाया है। शूद्रक ने वर्षा का बड़ा विशद वर्णन किया है। इसमें चमत्कार-जनक अनेक सूक्तियाँ हैं।

चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशङ्खाकुलं
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम्।
नानावाशककङ्कपक्षिरुचिरं कायस्थसर्पास्पदं
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते॥
(मृच्छकटिक—९।१४)

इस श्लोक में राजकरण—कचहरी का खूब सच्चा वर्णन किया गया है। शूद्रक का कहना है कि कचहरी समुद्र की तरह जान पड़ती है। चिन्तामग्न मन्त्री लोग जल हैं, दूतगण लहर तथा शंख की तरह जान पड़ते हैं—इधर उधर दूर देशों में घूमने के कारण दोनों की यहाँ समता दी गई है। चारों ओर रहने वाले चार—आजकल के खुफिया पुलिस—घड़ियाल हैं। यह समुद्र हाथियों तथा घोड़ों के रूप में हिंस्र पशुओं से युक्त है। तरह तरह के ठग तथा पिशुन लोग बगुले हैं। कायस्थ मुंशी लोग जहरीले सर्प हैं। नीति से इसका तट टूटा हुआ है। यह प्राचीन काल के राजकरण का वर्णन है; आजकल की कचहरी तो कई अंशों से इससे भी बढ़कर है। कचहरी में पहले पहल पैर रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को शूद्रक के वर्णन की सत्यता का अनुभव पद-पद पर होगा।

शर्विलक के चरित्र का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। ये ब्राह्मण देवता आर्य चारुदत्त के घर में रात को सेंध मारने जाते हैं। पहुँचने पर उन्हें मालूम पड़ता है कि वह अपना मानसूत्र भूल आये हैं। झटपट गले में पड़े रहनेवाले डोरे की—जनेऊ की—सुधि उन्हें हो जाती है। बस, आप इसी से अपना कार्य सम्पादन करते हैं। इस प्रसंग में यज्ञोपवीत की उपयोगिता सुन लीजिये—

यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यं विशेषतोऽस्मद्विधस्य। कुतः

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गा-
न्नेतेन मोचयति भूषणसंप्रयोगान्।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च।

(मृच्छकटिक—३।१७)

ब्राह्मणों के लिये जनेऊ बड़े काम की चीज है, विशेष करके हमारे जैसे (चोर) ब्राह्मण के लिये। क्योंकि जनेऊ से भीत पर सेंध मारने की जगह को नापते हैं। आभूषणों के बंधन जनेऊ के द्वारा छुड़ाये जाते हैं। यंत्र से दृढ़ रूप से लगाये गये किवाड़ों को इसकी सहायता से खोलते हैं और यदि साँप या कीट काट खाय, तो उसे जनेऊ से बाँध भी सकते हैं (जिससे विष न चढ़े)। ठीक ही है! चोर ब्राह्मण के लिये जनेऊ का और उपयोग हो ही क्या सकता है?

शूद्रक की नाट्यकला

कला की दृष्टि से 'मृच्छकटिक' एक सुंदर तथा सफल नाटक निःसंदेह है। शूद्रक ने संस्कृत साहित्य में शायद पहिली बार मध्यम श्रेणी के लोगों को अपने नाटक का पात्र बनाया है। संस्कृत का नाटककार उच्च श्रेणी के पात्रों के चित्रण में तथा तदनुकूल कथानक के गुम्फन में अपनी भारती को चरितार्थ मानता है, परंतु शूद्रक ने इस पुराण मार्ग का सर्वथा परित्याग कर अपने लिए एक नवीन पंथ का ही आविष्कार किया है। उसके पात्र-दिन-प्रतिदिन हमारे सड़कों पर और गलियों में चलने फिरनेवाले, रक्तमांस से निर्मित पात्र हैं जिनके काम को जाँचने के लिए न तो कल्पना को दौड़ाना पड़ता है और न जिनके भावों को समझने के लिए मन के दौड़ की जरूरत होती है। मृच्छकटिक की इसीलिए शास्त्रीय संज्ञा **'संकीर्ण प्रकरण'** की है क्योंकि इसमें लुच्चे-लबारों, चोरों-जुआरों, वेश्या-विटों का आकर्षक वायु-मण्डल है जहाँ धौलधुपाड़ों की चौकड़ी सदा अपना रंग दिखाया करती है। आख्यान तथा वातावरण की इस यथार्थवादिता और नैसर्गिकता के कारण ही मृच्छकटिक पाश्चात्य आलोचकों की विपुल प्रशंसा का भाजन बना हुआ है।

कथावस्तु की एकता का यहाँ भंग नहीं है, यद्यपि वर्षावर्णन नाटक के व्यापार में शैथिल्य अवश्य ला देता है। शूद्रक का कविहृदय स्वयमापतित वर्षाकाल की मनोहरता से रीझ उठता है और वह कथा के सूत्र को छोड़कर उसके मनोहर वर्णन में जुट जाता है। सिवाय इस वर्णनात्मक विषय के कवि ने विभिन्न घटनाओं के सूत्रों का एकीकरण बड़ी सुंदरता से किया है। 'दरिद्र चारुदत्त' के समान इसमें केवल एकात्मक प्रणयाख्यान नहीं है, प्रत्युत प्रणय-आख्यान के साथ एक राजनैतिक आख्यान का भी पूर्ण सामञ्जस्य अपेक्षित है। शूद्रक ने इन दोनों आख्यानों को एक अन्विति के भीतर रखने का पूर्ण प्रयास किया है और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता भी मिलती है।

पात्रों के विषय में यह भूलना न चाहिए कि वे किसी वर्ग विशेष के 'प्रतिनिधि' (रिप्रिजेन्टेटिभ) न होकर स्वयं 'व्यक्ति' है। वे 'टाइप' नहीं हैं; प्रत्युत 'व्यक्ति' हैं। मृच्छकटिक के अमेरिकन भाषांतरकार डा० राइडर ने ठीक ही कहा है कि इस नाटक के पात्र 'सार्वभौम' ('कास्मोपालिटन') हैं अर्थात् इस विश्व के किसी भी देश या प्रांत में उनके समान पात्र आज भी चलते-फिरते नजर आते हैं। इसके सार्वभौम आकर्षण का यही रहस्य है। यूरोप या अमेरिका की जनता के सामने इस नाटक का अभिनय सदा सफल इसीलिए हो पाया है कि वह इसके पात्रों से मुठभेड़ अपने ही देश में प्रतिदिन किया करती है। इनमें पौरस्त्य चाकचिक्य की झाँकी का अभाव कभी भी इन्हें दूरदेशस्थ पात्रों का आभास भी नहीं प्रदान करता। डाक्टर कीथ भले हो इन्हें पूरे 'भारतीय' होने की राय दें, परंतु पात्रों के चरित्र में कुछ ऐसा जादू है कि वह दर्शकों के सिर पर चढ़कर बोलने लगता है। आज भी माथुरक जैसे सभिक तथा उसके सहयोगियों का दर्शन कलकत्ता तथा बम्बई की ही गलियों में नहीं होता, प्रत्युत लण्डन के ईस्ट एण्ड में भी वे घूमते-घामते धौल-धप्पड़ जमाते नजर आते हैं जहाँ का 'जुआड़ियों का अड्डा' (गैम्बलिंग डेन) आज भी पुलिस की नजर बचाकर दिन-दहाड़े चला करता है। तात्पर्य यह है कि शूद्रक के पात्र मध्यम तथा अधम श्रेणी के रोचक पात्र हैं जिनका इनता सुंदर चित्रण संस्कृत के रूपकों में फिर नहीं हो सका। शूद्रक की नाट्यकला वस्तुतः श्लाघनीय तथा स्पृहणीय है।

(४) हर्षवर्धन

बाणभट्ट के 'हर्षचरित' तथा ह्वेन्साङ्ग के यात्राविवरण से हमें स्फुटरूप से ज्ञात है कि हर्षवर्धन 'हूण-हरिण-केशरी' प्रभाकरवर्धन तथा यशोमती के पुत्र थे। ये अपने पिता के दूसरे लड़के थे। इनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम राज्यवर्धन था। 'राज्यश्री' नाम की इनकी बहिन सुयोग्य विदुषी थी। बाल्यकाल में इन्हें समुचित शिक्षा दी गई थी। पिता ने पंजाब में रहनेवाले हूणों को पराजित करने के लिए राज्यवर्धन को तथा इन्हें भेजा। राज्यवर्धन आगे जाकर शत्रुओं का विनाश कर रहे थे, इधर हर्षवर्धन आखेट आदि मनोरंजन से साथ-साथ शत्रुओं का पीछा कर रहे थे। इतने में पिता की अस्वस्थता के दुःखद समाचार को लिए हुये एक दूत आया। राजधानी लौट आने पर हर्ष ने पूज्य पितृदेव को मृत्युशय्या पर पाया। प्रभाकरवर्धन ने हर्षवर्धन को 'निरवशेषता शत्रवो नेयाः' का उपदेश देकर इस असार संसार से बिदाई ली। मंत्रियों के कहने पर ज्येष्ठ भ्राता के आगमन में कुछ विलम्ब जानकर हर्षवर्धन ने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। कुछ समय के अनंतर राज्यवर्धन ने आकर शासन भार अपने ऊपर लिया, परंतु इन्हें शासनसुख का सौभाग्य प्राप्त न हो सका। मालव-नरेश ने राज्यश्री के पति मौखरि राजा ग्रहवर्मा को मार कर राज्यश्री को कारागार में डाल दिया। राज्यवर्धन ने मालव नरेश पर चढ़ाई की, उसे मार डाला, अपनी भगिनी के कारावास के दुःखमय जीवन का अंत किया, परंतु वह स्वयं ही वङ्गीय नरेश शशांक की कुटिल नीति का शिकार बन गया। शशांक ने विश्वास दिलाकर राज्यवर्धन को मार डाला। हर्ष के हृदय में भ्रातृवध का समाचार सुनकर प्रतिहिंसा की प्रबल अग्नि प्रज्वलित हो उठी। हर्षवर्धन ने यथासमय शशांक का विनाश कर बंगाल को अपने राज्य में मिला लिया। रिक्त सिंहासन की बागडोर हर्षवर्धन ने अपने सुदृढ़ तथा अनुभवी हाथों में ली। इनकी राजधानी स्थाण्वीश्वर (थानेस्वर) में थी। इनका समृद्ध राज्यकाल ६०६ ई० से लेकर ६४७ ई० तक था। हर्षवर्धन ने दिग्विजय की श्लाघनीय प्राचीन प्रथा को पुनरुज्जीवित किया। उसने वंग, आसाम तथा बल्लभी राज्यों को जीतकर समग्र उत्तरीय

भारत पर एकच्छत्र राज्य स्थापित किया। दक्षिण में भी उसकी विजय वैजयन्ती फहराती; परन्तु चालुक्य नरेश प्रबल प्रतापी पुलकेशी द्वितीय ने इसकी मनस्कामना को सर्वथा ध्वस्त कर दिया। वास्तव में हर्ष ने जर्जरित हिन्दू-साम्राज्य की कीर्तिकौमुदी को पुनः विकसित किया। वह टिमटिमाती हुई हिन्दू-सभ्यता का अन्तिम देदीप्यमान दीपक था।

इसी हिन्दू-सम्राट् के समय में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसाङ्ग बौद्ध-धर्म विषयक जिज्ञासा-तृप्ति के लिये भारत में आया था। ह्वेन्सांग का हर्षवर्धन ने बड़ा स्वागत किया। उसके सत्संग से हर्षवर्धन बुद्ध-धर्म के महायान-सम्प्रदाय का प्रेमी बन गया तथापि उसके विचार बड़े उदार थे। वह शिव तथा विष्णु का केवल आदर ही न करता था; परन्तु समय समय पर उनकी पूजा-अर्चा में सहस्रों रुपये व्यय भी करता था। ह्वेन्साङ्ग के संसर्ग से वह बौद्ध दर्शन का अच्छा ज्ञाता हो गया था।

महाराज हर्षवर्धन केवल वीर-लक्ष्मी के उपासक ही न थे परन्तु ललित कलाओं से आपको अत्यंत प्रेम था। आपकी सभा को अनेक गुण और गौरव से युक्त विद्वान् सर्वदा सुशोभित किया करते थे। बाणभट्ट, मयूरभट्ट तथा मातङ्गदिवाकर जैसे कवियों से मण्डित इनकी सभा साहित्य-संसार में सदा प्रख्यात रही है।

सुना जाता है कि दिवाकर का जन्म नीच (चाण्डाल) जाति में हुआ था परन्तु ये अपनी गुणगरिमा से बाण और मयूर के समान ही राजा के आदरपात्र थे। इस बात को राजशेखर ने सरस्वती के प्रभाव को दिखलाते हुये बड़े ही अच्छे ढंग से कहा है—

अहो प्रभावो वाग्देव्याः यन्मातङ्गदिवाकर।
श्री हर्षस्याभवत् सभ्यः समो बाणमयूरयोः॥

दशवीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाले महाकवि पद्मगुप्त ने अपने 'नव-साहसांक चरित' नामक महाकाव्य में महाराज हर्ष की सभा में बाण और मयूर की उपस्थिति का वर्णन इस प्रकार से किया है :—

सचित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः।
श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः॥

महाराज हर्ष केवल कवि और पण्डितों के आश्रयदाता और गुणग्राही ही न थे, बल्कि उन्होंने स्वयं भी अनेक रमणीय और सरस ग्रन्थों की रचना कर सरस्वती के विपुल भण्डार को भरा है। इस बात को हम अच्छी तरह से कह सकते हैं कि महाकवि कालिदास की यह सरस सूक्ति 'निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन् द्वयं श्रीश्च सरस्वती च' महाराज हर्ष के विषय में अच्छी तरह से चरितार्थ होती है।

इस भारतवर्ष में विक्रमादित्य, शूद्रक, हाल प्रभृति अनेक विद्या के उपासक राजा हो गये हैं, परन्तु उन सब में ये महाराज हर्ष (हर्षवर्धन) अद्वितीय हैं। महाकवि पीयूषवर्ष जयदेव ने अपने प्रसन्नराघव नाटक में महाराज हर्ष को कविता कमिनी का हर्ष (हर्षो हर्षः) कहा है। उन्होंने बाणभट्ट के साथ हर्ष का नामोल्लेख भी किया है। विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाले सोड्ढल ने अपनी 'उदयसुन्दरीकथा' नामक चम्पू में श्रीहर्ष की, सरस्वती को हर्ष प्रदान करने के कारण 'गीर्हर्ष' कहकर प्रशंसा की है:—

श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु,
नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु।
'गीर्हर्ष' एष निजसंसदि येन राज्ञा,
सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः॥

इसी तरह से दामोदर गुप्त ने 'कुट्टनीमत' नामक ग्रन्थ में 'रत्नावली' का नाम लेकर संकेत किया है। यह पुस्तक किसी राजा के द्वारा बनाई गई है और उसके निर्माता महाराज हर्ष हैं, ऐसा कहते हुए उन्होंने उनकी (हर्ष की) काव्य-चातुरी की अत्यंत प्रशंसा की है। इत्सिङ्ग नाम का चीनी बौद्ध परिव्राजक अपने धर्मग्रंथों को पढ़ने की इच्छा से हर्ष की मृत्यु के बाद भारतवर्ष में आया था। उसने अपने यात्रा विवरणात्मक ग्रंथ में महाराज हर्ष को 'नागानंद' नाटक का रचयिता होना स्पष्ट ही लिखा है। उसने यह

लिखा है:—'राजा शीलादित्य (हर्ष) ने बोधिसत्त्व जीमूतवाहन की आख्यायिका को नाटक रूप में परिणत किया और उस नाटक का संगीतादि सामग्री के साथ नटों के द्वारा अभिनय कराया।' इस प्रमाण से स्पष्ट ही है कि महाराज हर्ष ने 'नागानन्द' नाटक का निर्माण किया था। परन्तु इन प्रमाणों के होते हुये भी जो लोग महाराज हर्ष के ग्रंथ-रचयिता होने में सन्देह करते हैं वे बाणभट्ट के इस कथन पर विचार कर अपने सन्देह को दूर कर लें। श्री बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में दो बार राजा (श्रीहर्ष) की काव्य-व्याकरणचातुरी की प्रशंसा की है। "राज्ञां संभाषणेषु परित्यक्तमपि मधु वर्षन्तं, काव्यकथास्वपीतमृतमुद्वमन्तमिति"। यह पूर्वोक्त बाणभट्ट का कथन हर्ष की काव्य-चातुरी को प्रकट कर रहा है। 'अस्य कवित्वस्य वाचो न पर्याप्तो विषयः'। इस प्रकार से बाणभट्ट ने हर्ष की काव्यरचना की चतुरता को स्पष्ट ही प्रकट किया है। इन ऊपर लिखित प्रमाणों से हमें पूर्ण विश्वास होता है कि महाराज हर्षवर्धन अच्छे कवि थे; कविता करने में खूब दक्ष थे।

श्रीहर्ष के तीन ग्रंथ मिलते हैं—रत्नावली, नागानन्द और प्रियदर्शिका। साहित्य संसार में रत्नावली के रचयिता के सम्बन्ध में बड़ा आन्दोलन हो चुका है। इस बड़ी गड़बड़ी का मूल कारण मम्मट के काव्यप्रकाश का एक वाक्यांश है। मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों में अर्थ प्राप्ति भी एक प्रयोजन माना है—हजारों महाकवि कविता देवी की पूजा कर लक्ष्मी के कृपापात्र बन गये हैं। उदाहरणार्थ, धावकादि ने हर्षवर्धन से असंख्य धन पाया। (श्री हर्षादेः धावकादीनामिव धनम्)। कतिपय काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने इससे यह अर्थ निकाला है कि धावक ने रत्नावली की रचना हर्षवर्धन के नाम से करके असंख्य सम्पत्ति पाई। काव्यप्रकाश के किसी-किसी काश्मीरी प्रति में धावक के स्थान पर बाण का नाम उल्लिखित है जिसके आधार पर कितने ही विद्वान् बाणभट्ट पर ही रत्नावली के कर्तृत्व का भार आरोपित करते हैं। परन्तु ये सब आधुनिक विद्वानों की अनिश्चित कल्पनायें हैं।

काव्य-प्रकाश के उल्लेख का यहाँ आशय है कि श्रीहर्ष ने बड़ी भारी सम्पत्ति कवियों को दे डाली। श्रीहर्ष जैसे उदाराशय तथा महादानी नरेश के

लिये यह बात असम्भव नहीं जान पड़ती है। जब असंख्यों ब्राह्मण, भिक्षु तथा जैनों का आदर होता तथा उनको प्रशंसनीय दान मिलता तब गुणग्राही हर्ष के लिये उसकी कीर्तिलता को पल्लवित करनेवाले कवियों को दान देने में—आदर करने में—भला संकोच कैसे हो सकता है? काव्यप्रकाश के उल्लेख का प्रकरण गम्य तात्पर्य यही है। अनेकों अर्वाचीन तथा प्राचीन कवियों ने श्रीहर्ष के समीचीन कवि-समाश्रय की शतशः प्रशंसा की है। अभिनन्द कवि ने मम्मट के कथन को दुहराया है:—

श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणीफलम्।

एक दूसरे काव्यमर्मज्ञ ने ठीक ही लिखा है:—

हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण समर्पितानि कवये बाणाय कुत्राद्य तत्।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिनिकरैरुट्टंकिताः कीर्तय-
स्ताः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ् मन्ये परिम्लानताम्।

भावार्थ है कि हर्ष ने बाणभट्ट को हजारों दिग्गज तथा असंख्य सम्पत्ति दे डाली परन्तु आज उनका नामोनिशान नहीं है, परन्तु बाण ने हर्ष की कीर्ति को काव्यरूप में जो जड़ दिया वह कराल काल के फेर में पड़कर भी मलिन नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि ये सब उल्लेख हर्ष के आश्रयदान तथा कविसत्कार को लक्षित करते हैं। हर्ष की स्वयं दर्शन में अच्छी गति थी। वह ह्वेनस्वांग के संसर्ग से बौद्ध दर्शन का एक अभिज्ञ पण्डित बन गया था। ऐसे उदार दानी तथा विद्वान् सम्राट् के ऊपर अपने नाम से काव्य गढ़ाने की कालिमा पोतना काव्यजगत् में अत्यन्त कलुषित कार्य है। उसका अपने आश्रित कवियों से सहायता लेना असंभवनीय कार्य नहीं प्रतीत होता; परन्तु उसको इन नाटकों के कर्तृत्व से वंचित करना हर्ष के महान् गुणों की हीनता दिखलाना है। एक क्षण के लिए बाण या धावक को रत्नावली का कर्ता मान भी लिया जाय, परन्तु नागानन्द तथा प्रियदर्शिका का कर्तृत्व हर्ष से ही सम्बद्ध है। कोई भी आलोचक बाणभट्ट को नागानन्द का कर्ता मानने को उद्यत नहीं है। सर्वसम्मति से इस नाटकत्रय की रचना हर्ष की लेखनी से

हुई है। अतएव रत्नावली के कर्तृत्व को बाण पर आरोपित करना निन्दनीय जान पड़ता है। पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि इन तीन नाटकों की रचना स्वयं सम्राट् हर्षवर्धन ने की है।

ग्रन्थ

इनकी तीन रचनायें हैं—(१) प्रियदर्शिका (२) रत्नावली (३) नागानन्द। ये तीनों रूपक एक ही लेखक की रचनायें हैं; इसमें सन्देह करने के लिए स्थान नहीं है। तीनों में घटनाओं का आश्चर्यजनक साम्य है। रत्नावली में सागरिका अपने चित्तविनोद के लिये राजा का चित्र खींचती है। नागानंद में जीमूतवाहन उसी उद्देश्य से मलयवती का चित्र बनाता है। दोनों स्थानों पर चित्रों के द्वारा ही पात्रों के स्निग्ध हृदय तथा प्रणय की कथा का परिचय दर्शकों को मिलता है। रत्नावली में अपमानित होने पर सागरिका अपने गले को लतापाश से बाँधकर प्राण देने का उद्योग करती है। नागानन्द में भी यही घटना है। नायिका मलयवती प्रणय में अपने अनादर से लतापाश से अपने गले को जकड़ कर मरने का प्रयास करती है। दोनों स्थानों पर नायक के द्वारा उनके प्राणों की रक्षा होती है। इतना ही नहीं, बहुत से पद्य इनमें परस्पर उद्धृत किये गए हैं। श्लोकांशों में भी साम्य वर्तमान है। फलतः ये तीन ही लेखक की लेखनी की सुचारु रचनायें हैं। इन रूपकों में लेखनक्रम का भी निर्णय अन्तरंग परीक्षा के बल पर किया जा सकता है। प्रियदर्शिका तथा रत्नावली दोनों हो प्रणय नाटिकायें हैं और एक ही कथाचक्र—उदयन के कथाचक्र—से सम्बन्ध रखती हैं। प्रियदर्शिका में घटना का विन्यास बहुत ही साधारण ढंग का है। रत्नावली में हम घटनाओं के प्रस्ताव में तथा नायिका के प्रणयवर्णन में एक सुन्दर सुधार पाते हैं जो निश्चयेन 'रत्नावली' को परवर्ती सिद्ध कर रहा है। नागानन्द के अंतिम नाटक होने का प्रमाण उसके अभिनेय विषय की गम्भीरता तथा महनीयता है। इसके भी तीन अंकों में प्रणय का वर्णन है, परंतु यहाँ कवि विवाह सम्बन्ध को प्रतिष्ठित करने के लिए गंधर्व विवाह की पद्धति अपनाता है जहाँ पूर्ववर्ती नाटिकाओं में द्वितीय विवाह की सिद्धि प्रथम विवाहिता राजमहिषी

की स्वेच्छा पर वह अवलम्बित करता है। श्री हर्ष का चित्त अब सांसारिक प्रपंचों से ऊब गया है और वह प्रणय से शान्ति की ओर जाता है। उसकी जीवन सन्ध्या के अनुरूप ही शान्त रसात्मक नागानंद का प्रणयन है जहाँ राजाओं के भोगविलासमय नगर से हट कर प्रधान घटनायें आश्रम के शांत वातावरण में ही घटित होती हैं।

वस्तुविन्यास

रत्नावली संस्कृत साहित्य की प्रथम नाटिका है और बहुत ही सफल नाटिका है। शास्त्रीय पद्धति से नाटिका नाटक तथा प्रकरण के मिश्रण से उद्भूत एक सुंदर नाटकीय रचना है जिसमें नायक को नाटक की भाँति इतिहास तथा परम्परा में प्रख्यात होता है तथा कथानक प्रकरण के तुल्य कवि-कल्पित रहता है। दोनों नाटिकाओं का नायक कौशाम्बी नरेश वत्सराज उदयन है जो प्राचीन इतिहास में अपने रोमाञ्चक प्रणय के कारण पर्याप्त प्रख्यात है। दोनों का विषय कवि-कल्पित है। नाटिका की शास्त्रीय कल्पना कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' के आधार पर गढ़ी गई प्रतीत होती है। इसलिए इन नाटिकाओं के ऊपर कालिदास के इस नाटक का प्रचुर प्रभाव खोजा जा सकता है, तथापि इन नाटकों में पर्याप्तरूपेण मौलिकता है।

प्रियदर्शिका का सम्बन्ध भी उदयन के कथाचक्र के साथ है। यह भी चार अंकों की एक प्रणयनाटिका है। इसकी वस्तु उतनी सुन्दरता के साथ उपन्यस्त नहीं है। उसमें उतनी चुस्ती तथा आकर्षण नहीं। वत्स का सेनापति विजयसेन दृढ़वर्मा की पुत्री प्रियदर्शिका को दरबार में लाता है तथा आरण्यकाधिपति विन्ध्यकेतु की कन्या के रूप में वहाँ रख देता है। महाराज उसे वासवदत्ता को सौंप देते हैं जो उसकी शिक्षा का प्रबंध करती है। द्वितीय अंक में राजा उदयन विदूषक के साथ उपवन में घूमने जाते हैं जहाँ फूल चुनने के लिए आई प्रियदर्शिका कमलों पर उड़ते हुए भौंरों से परेशान होती है और चिल्ला उठती है। राजा लताकुंज से प्रकट होकर उसे बचाता है यहीं नायिका का प्रथम दर्शन नायक को होता है तथा अनुराग का बीज इतनी देर में कवि यहीं बोता है। तृतीय अंक में गर्भाङ्क का सुंदर निवेश है।

मनोरमा (प्रियदर्शिका की सखी) तथा विदूषक की युक्ति से दोनों का सम्मिलन कल्पित किया जाता है। वासवदत्ता उदय-चरित से सम्बद्ध नाटक का अभिनय करना चाहती है जिसमें मनोरमा को उदयन बनना है और आरण्यका (प्रियदर्शिका) को वासवदत्ता। बड़े कौशल से मनोरमा के स्थान पर स्वयं उदयन ही पहुँच जाता है। वासवदत्ता को संदेश होता है और मनोरमा की सारी चाल पकड़ ली जाती है। चतुर्थ अंक में वासवदत्ता इसलिए चिंतित है कि उसका मौसा दृढ़वर्मा कलिंगराज के द्वारा बंधन में पड़ा हुआ है। उदयन उसे छुड़ाने के लिए अपनी सेना भेजता है। दृढ़वर्मा का कंचुकी आता है और प्रियदर्शिका को पहचान लेता है जिससे वासवदत्ता उदयन के साथ उसका विवाह करा देती है।

रत्नावली में चार अंक हैं। प्रथम अंक के आरम्भ में राजा का प्रधानामात्य यौगन्धरायण दैव की अनुकूलता तथा सहायता का संकेत करता है जिसके कारण उदयन के साथ परिणय के लिए आनेवाले सिंहलेश्वर की राजकन्या रत्नावली जहाज के डूब जाने पर भी बच जाती है तथा वह मंत्री के पास किसी सामुद्रिक बनिये के द्वारा लाई जाती है। मंत्री उसे सागरिका के नाम से वासवदत्ता की देख-रेख में रख आता है। कामदेव के उत्सव के प्रसंग में वासवदत्ता सद्यः कामवपुः राजा उदयन की ही पूजा करती है जिसे पेड़ों की झुरमुट से छिपे तौर से सागरिका प्रथम बार देखती है, उन्हें कामदेव समझती है तथा प्रणय के मधुर भाव के अंकुरण के लिए पात्र बनती है। द्वितीय अंक में सागरिका अपनी सखी सुसंगता के साथ चित्तविनोद के लिये राजा का चित्र अंकित करती है जिसके पास सुसंगता सागरिका का ही चित्र खींचकर उसे रतिसनाथ बना देती है। कुछ गुप्त प्रणय की भी चर्चा है। वाजिशाला से एक बंदर के तोड़ाकर भागने से महल में कोहराम मच जाता है। इसी हल्लागुल्ला में ये दोनों भाग खड़ी होती हैं। चित्रफलक वहीं छूट जाता है और राजा के हाथ पड़ने से वह गुप्त प्रेम के प्रकटन का साधन बनता है। इस प्रेम के प्रसारण में एक सारिका का भी कुछ हाथ है। तृतीय अंक इस नाटिका का हृदय है तथा कवि की मौलिक सूझ का उज्ज्वल उदाहरण है। वेष-परिवर्तन से उत्पन्न भ्रांति के कारण

जायमान घटना-सांकर्य बड़ा ही सुंदर है तथा शेक्सपीयर के 'कमेडी आफ एरर्स' नामक नाटक के समान है। सागरिका वासवदत्ता का तथा सुसंगता दासी काञ्चनमाला का वेष धारण कर राजा से पूर्व निश्चय के अनुसार मिलने आती है, परंतु असली वासवदत्ता के इनसे पहले ही आ जाने के कारण सारा गुड़ गोबर हो जाता है। असली और नकली का विभेद बड़ी ही हास्यजनक स्थिति पैदा करता है तथा अपमानित मानकर सागरिका लतापाश के द्वारा मरने जाती है, परंतु राजा उसे बचाता है। चतुर्थ अंक में जादूगर के 'अग्निदाह' का प्रभावशाली दृश्य है। सागरिका भूगर्भ में कैदकर रखी गई है। वह वहाँ से बचाकर सभा में लाई जाती है वहाँ उसके पिता के मंत्री वसुभूति तथा कंचुकी बाभ्रव्य उसे विदूषक के गले में लटकनेवाली 'रत्नावली' की सहायता से पहचानते हैं तथा वासवदत्ता स्वयं प्रसन्न होकर अपनी भगिनीभूता रत्नावली से राजा का विवाह करा देती है। यही मंगलमय अवसान है।

नागानन्द में पाँच अंक हैं। यह किसी बौद्ध अवदान के ऊपर आश्रित है। प्रथम अंक में जीमूतकेतु का आश्रम में जाना तथा उनके पुत्र जीमूतवाहन का भी पितृदत्त राज्य का परित्याग कर वहीं सेवार्थ जाना तथा गौरी के मंदिर में मलयवती के वीणावादन से उसके हृदय में अनुराग का संचार वर्णित है। द्वितीय अंक में जीमूतवाहन तथा मलयवती के आनंददायक विवाह का विस्तृत वर्णन है। तृतीय अंक भी विवाह कथा से ही सम्बद्ध है। चतुर्थ अंक में राजकुमार जीमूतवाहन का समुद्रतीर पर आना तथा प्रतिदिन एक नाग का गरुड़ के लिए भोजन बनने की बात वर्णित है। उस दिन अपनी माता के एकलौते पुत्र शंखचूड की बारी थी। उसकी माता के करुण रोदन से द्रवीभूत जीमूतवाहन स्वयं उसके स्थान पर गरुड़ का भोजन बनने जाता है, शंखचूड राजी नहीं होता, परंतु उसकी क्षणिक अनुपस्थिति में जीमूत अपने शरीर को रक्तवस्त्र से ढँककर शिला पर बैठ जाता है। गरुड़ आकर अपनी चोंच में उसे पहाड़ के शिखर पर उठा लेता है तथा खाता है। जीमूत दृढ़ है तथा इस त्याग पर पुष्पवृष्टि होती है। पंचम अंक में माता-पिता व्याकुल होकर जीमूत के समाचार के लिए सेवक भेजते हैं। शंखचूड से पूरी घटनाओं

का पता चलता है। गरुड़ को भी इस नाग की दृढ़ता पर आश्चर्य होता है। वह पूरा हाल पूछता है तथा नागों के न खाने की प्रतिज्ञा कर वह जीमूत के खाने से विरत होता है। मंगल के साथ नाटक समाप्त होता है।

रत्नावली की प्रसिद्धि अपने गुणों के कारण प्राचीनकाल से ही अक्षुण्ण चली आ रही है। शास्त्रीय पद्धति पर निर्मित एक शोभन रूपक के रूप में इसकी प्रख्याति का पता हमें 'दशरूपक' के विशिष्ट विश्लेषण से चलता है। धनंजय ने इसकी कथावस्तु का विस्तृत तथा विशद विश्लेषण 'दशरूपक' में किया है। विश्वनाथ कविराज ने भी सन्धियों तथा सन्ध्यङ्गों के दृष्टांत देने के लिए इसे ही विशेषतया चुना है। यह न समझना चाहिये कि नाटकीय विधिविधानों को प्रदर्शित करने के लिये ही श्रीहर्ष ने रत्नावली की रचना की है। यदि ऐसा होता तो यह नाटिका साधारण कोटि की ही ठहरती। परंतु तथ्य यह नहीं है। हर्ष ने एक आदर्श कथानक को लेकर एक भव्य रूप दिया है जिसके विश्लेषण करने से नाट्यशास्त्र के अनुसार वस्तु की पाँचों संधियाँ यहाँ स्पष्टरूप से उपस्थित हैं। रत्नावली नाटिका का बीच वत्सराज के द्वारा रत्नावली की प्राप्ति का कारणभूत अनुकूल दैव है जो राजा के अनुराग को बढ़ाने में सहायक होता है। इस प्रकार प्रथम अंक में अनुराग बीज का प्रक्षेप है और यहीं मुख-संधि भी वर्तमान है। बिंदु का उपक्षेप 'अस्तायास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवौ' वाले श्लोक में है। प्रतिमुख संधि द्वितीय अंक में आती है जहाँ वत्सराज और सागरिका के मिलन के लिये उद्योगशील सुसंगता और विदूषक उस अनुराग बीज को पूर्णतया जान लेते हैं। तथा वासवदत्ता भी चित्र-फलक के वृत्तांत से उस अनुराग का अनुमान करती है। इस प्रकार दृश्य और अदृश्यरूप से विकसित होने के कारण इस अंक में प्रतिमुख संधि है। गर्भ-संधि तृतीय अंक में है जहाँ वेश बदलकर सागरिका के अभिसरण से राजा के हृदय में उसकी प्राप्ति की आशा बँध जाती है परंतु वासवदत्ता के अड़ङ्गा लगा देने से उस आशा पर भी पानी फिर जाता है। अवमर्ष संधि रत्नावली के चतुर्थ अंक में आग लगने तक के कथानक तक है क्योंकि यहाँ वासवदत्ता की प्रसन्नता हो जाने से रत्नावली की प्राप्ति में किसी प्रकार का

विघ्न दृष्टिगोचर नहीं होता। निर्वहण संधि चतुर्थ अंक के अर्थ में है जहाँ वसुभूति तथा बाभ्रव्य के साक्षात् प्रमाण तथा विदूषक के गले में विद्यमान रत्नावली को देखकर सागरिका के सच्चे रूप का बोध होता है तथा राजा का उससे मिलन सम्पन्न होता है।

पात्रसमीक्षा

चरित्र के चित्रण में हर्ष ने अपनी स्वाभाविक निपुणता प्रदर्शित की है। वे स्वयं राजा थे और इसलिए वे दरबार से सम्बद्ध जीवन के चित्रण तथा कथानक के विन्यास में बड़ा कौशल दिखलाते हैं। उदयन का चित्रण धीरललित नायक के रूप में बड़ा सुंदर है। वह अपने प्रधानामात्य यौगंधरायण के ऊपर अपने राज्यसंचालन का भार रखकर स्वयं कला तथा प्रणय की आशक्ति में अपना जीवन बिताता है। उसके सौंदर्य प्रेम का परिचय 'कामोत्सव' के अवसर पर मिलता है। उसका चित्रण 'रोमांचक प्रणयी' (रोमाण्टिक लवर) के रूप में हर्ष ने बड़ी दक्षता से किया है।

नाटिका की नायिका रत्नावली रूप में बहुत ही सुंदरी तथा चरित्र में बहुत ही उदात्त है। वह सिंहलेश्वर की दुहिता है और इस अभिजात्य का उसे पूर्ण अभिमान है। उसके चरित्र में एक छोटा भी धब्बा नहीं है। उसका प्रत्येक कार्य औदात्य के द्वारा प्रेरित होता है। जब उसे उदयन का पूरा परिचय मिल जाता है कि यह वही नरेन्द्र है जिसके लिए पिता ने मुझे दिया था, तब ही वह प्रणय में अग्रसर होती है। यह प्रणय स्वाभाविकता तथा मर्यादा के बुलकुल भीतर आता है। वह अपने दासीभाव से खिन्न नहीं है। वह अपनी स्वामिनी की पूर्ण सेविका होने के नाते उसके प्रति किसी प्रकार अनुचित कार्य करने से सदा पराङ्मुख रहती है। संकेत-स्थल के लिए भी वह स्वयं अग्रसर नहीं होती, प्रत्युत विदूषक तथा सुसंगता के द्वारा ही वह इसमें प्रवृत्त कराई जाती है। महारानी इस वृत्तांत से परिचित हो गई हैं, यह जानकर वह इतनी लज्जित होती है कि अपना प्राण ही देना चाहती है। वह इसे अपनी मर्यादा के ऊपर घोर प्रहार समझती है। रत्नावली का

प्रणय रोमाञ्चक होकर भी संयत तथा मर्यादित है। उसके हृदय में राजा के लिए गाढ़ प्रेम का परिचय हमें चित्रफलक के वृत्तान्त से भली भाँति चलता है। उसके कार्यकलाप मर्यादा तथा अभिजात्य के सौरभ से सुगन्धित हैं। फलतः रत्नावली का चरित्र बड़ा ही उदात्त, प्रणयपूर्ण तथा कोमल है।

इसके विपरीत **वासवदत्ता** के चरित्र में प्रभुत्व तथा अधिकार का पूर्ण राज्य है। वह जानती है तथा अभिमान रखती है कि वह उदयन की पट्ट-महिषी है। राजा भी उसके अधिकारपूर्ण प्रणय के आगे अपना मस्तक झुकाता है और इसकी रट लगाये रहता है कि देवी को प्रसन्न करने के अतिरिक्त सागरिका से संगम का अन्य कोई उपाय नहीं है। (देवी-प्रसादनं मुक्त्वा नास्ति अन्योपायः)। वह इतनी प्रभुत्वशालिनी है कि अपराध करने पर वह अपनी दासियों को कौन कहे राजा के 'नर्मसचिव' विदूषक को भी बन्धन में डाल देती है। 'प्रभुता सर्वतोमुखी' की जीती प्रतिमा होने पर भी वह कोमल है, क्रूर नहीं। राजा का वास्तव हितचिंतक है, विद्वेषक नहीं। वह सचमुच पूर्ण पतिप्राणा है और प्रभुता की भावना इसी की बाह्य अभि-व्यक्ति है। वासवदत्ता के चरित्र के संदर्भ में रत्नावली का चरित्र कोमलता, मृदुता तथा अभिजात्य के आलोक से पूर्ण रूपेण आलोकित होता है।

नागानंद का नायक **जीमूतवाहन** अपने आदर्श चरित्र के लिए सदा स्मरणीय रहेगा। वह पितृभक्ति का उज्ज्वल प्रतीक है जो विशाल साम्राज्य के वैभव तथा सौख्य को लात मार कर अपने माता-पिता की सेवा के निमित्त जंगल में जाकर रहता है। वह कल्पवृक्ष के दान के द्वारा अपने परोपकार को सिद्ध करता है। वह साधारण पार्थिव जीव है; मलयवती के प्रेम से यही सिद्ध होता है। परोपकार की वेदि पर आत्मसमर्पण उसके जीवन का महान् उद्देश्य है। वह दृढ़निश्चयी है और उसके निश्चय तथा स्वार्थत्याग का सद्यः प्रभाव क्रूरहृदय नृशंस गरुण पर इतना अधिक पड़ता है कि वह उसी दिन से हिंसाव्यापार से विरत हो जाता है। नागानंद के मुख्य रस के विषय में आलोचकों में मतभेद है। कोई तो इसमें 'शांतरस' की प्रधानता मानता है, परंतु अभिनव गुप्त ने इसे 'दयावीर' का ही एक समुज्ज्वल दृष्टांत

माना है। जीमूतवाहन के शोभन गुणों का मञ्जुल वर्णन स्वयं उसके पिता के मुख से कितना यथार्थ है:—

निराधारं धैर्यं कमिव शरणं यातु विनयः
क्षमः क्षान्ति वोढुं क इह ? विरता दानपरता।
हतं सत्यं व्रजतु कृपणा क्वाद्य करुणा
जगज्जातं शून्यं त्वयि तनय ! लोकान्तरगते ॥

राजा जीमूतकेतु अपने पुत्र की मृत्यु से शोकोद्विग्न होकर कह रहा है—हे पुत्र ! तुम्हारे दूसरे लोक चले जाने पर—स्वर्गवासी होने पर-धैर्य बिना आधार का हो गया। विनय अब किसके शरण में जाय ? अब क्षमा को कौन धारण कर सकता है। अब दानशीलता उठ गई। सचमुच सचाई नष्ट हो गई। आज दीन बनकर करुणा कहाँ जाय ? सच तो यह है कि आज यह संसार सूना ही हो गया—निःसार हो गया। सचमुच परोपकारी प्राणी संसार का आलोकित करने वाला प्रदीप है।

हर्ष का नाट्य वैशिष्ट्य

हर्ष संस्कृत नाटककारों में रोमांचक 'प्रणय नाटिका' के निर्माता के रूप में सदैव सम्मानित रहेंगे। उनके ऊपर भास और कालिदास का प्रकृष्ट प्रभाव तथा प्रेरणा अवश्य विद्यमान है। भास ने भी उदयन से सम्बद्ध दो नाटकों की रचना की है—स्वप्न वासवदत्त और प्रतिज्ञा यौगन्धरायण। और इन दोनों नाटकों का प्रभाव विषय की एकता तथा कथानक की अभिन्नता होने के कारण हर्ष की इन दोनों नाटिकाओं के ऊपर पड़ा है। इसी प्रकार कालिदास के नाटकों की भी घटनाओं, वर्णनों तथा वार्तालापों में विशेष साम्य दृष्टिगोचर होता है—विशेषतः मालविकाग्निमित्र का। परन्तु हर्ष की मौलिकता तथा नवीन कल्पना में किसी प्रकार का सन्देह नहीं।

रोमान्टिक ड्रामा के जितने कमनीय तथा उपादेय साधन होते हैं उन सबका उपयोग हर्ष ने इन रूपकों में किया है। कालिदास के ही समान हर्ष भी प्रकृति और मानव के पूर्ण सामरस्य के पक्षपाती हैं। मानव भाव को जाग्रत करने के लिये दोनों ने प्रकृति के द्वारा सुन्दर परिस्थिति उत्पन्न

की है। कामोत्सव के द्वारा पूर्ण आनन्द का साम्राज्य जब चारों ओर व्याप्त हो जाता है तब सागरिका और उदयन के प्रथम दर्शन की अवतारणा की जाती है। गौरी के मन्दिर में वीणावादन की माधुरी से शान्त वातावरण में जीमूतवाहन मलयवती को पहली बार देखता है। इस प्रकार स्थान, ऋतु तथा सामग्री उपस्थित कर हर्ष ने रोमांचक प्रणय के उन्मेष के लिये उपयुक्त अवसर प्रदान किया है। इस प्रकार वे प्रणय नाटिका के प्रथम सफल नाटककार हैं। 'गर्भाङ्क' की योजना उनकी दूसरी शास्त्रीय विशेषता है जिसका अनुसरण भवभूति ने उत्तररामचरित में और राजशेखर ने बाल-रामायण में बड़े कौशल से किया है।

हर्ष की काव्यशैली सरल तथा सुबोध है। उनका वर्णन इतना विशद है कि पूरा दृश्य आँखों के सामने से गुजरता हुआ दिखाई पड़ता है। रत्नावली में होली का चटकीला वर्णन अन्यत्र अपनी समानता नहीं रखता। नागानन्द का आश्रम-वर्णन भी बड़ा सुन्दर सरस तथा नैसर्गिक है। इस प्रकार काव्यकला तथा नाट्यकला उभय दृष्टियों से हर्ष एक सफल कवि तथा रूपक-निर्माता हैं।

किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तवाप्यस्त्येव बिम्बाधरे
रत्ना० ३।१३

राजा उदयन सागरिका से कह रहा है कि तुम्हारे चन्द्रवदन के रहने पर यह दूसरा चन्द्रमा क्यों उदय ले रहा है? उदय से यह अपनी जड़ता क्या नहीं प्रदर्शित करता? इसके उदय होने की जरूरत ही क्या थी? तुम्हारा मुख क्या कमल की शोभा को नहीं नष्ट कर देता? क्या वह नेत्रों को आनंद नहीं देता? देखे जाने से ही क्या वह कामवासना को प्रबल नहीं बनाता? चन्द्रमा के जो कार्य विदित हैं वे तो तेरे मुख में भी विद्यमान हैं। यदि अमृत धारण करने के कारण चन्द्रमा को गर्व है, तो क्या तेरे बिम्बाधर में सुधा नहीं है? तुम्हारे चन्द्रवदन के सामने फिर चन्द्रमा के उदय लेने की क्या

जरूरत। यह पद्य काव्यप्रकाश में उद्धृत किया गया है (१० उ०)। चन्द्रोदय के समय पूर्व दिशा का यह वर्णन कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है—

उद्यतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ्निशानाथम्।
परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी ॥-रत्नावली १.२४

(५) भट्टनारायण

संस्कृत साहित्य के अन्य नाटककारों के समान भट्टनारायण का भी देश-काल हमारे लिए अनुमान का ही विषय है। नाटक की प्रस्तावना से यही ज्ञात होता है कि ये 'मृगराज लक्ष्मा' थे परन्तु इस शब्द के यथार्थ का ठीक परिचय नहीं मिलता। एक प्रख्यात किम्वदन्ती के अनुसार भट्ट नारायण मूलतः कान्यकुब्ज देश के मान्य विद्वान् नाटककार थे, परन्तु गौडदेश के राजा आदिशूर के निमन्त्रण पर बंगाल में ब्राह्मण-धर्म के संवर्धन के निमित्त जाने वाले पाँच ब्राह्मणों में ये अन्यतम थे। यह तो प्रसिद्ध ही घटना है कि आदिशूर ने बंगाल में वैदिक धर्म के अपकर्ष को दूर करने के लिए कान्यकुब्ज देश से पाँच ब्राह्मण परिवारों को बुलाया था जो आज भी बंगाली ब्राह्मणों में जात्या श्रेष्ठ अतएव कुलीन माने जाते हैं। इस किम्वदन्ती के आधार पर इनके आविर्भाव काल का भी पता लगाया जा सकता है। आदिशूर पालवंश के उत्थान से पूर्ववर्ती राजा माने जाते हैं जिनका समय सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध मानना न्याय संगत होगा। यही युग भट्ट नारायण के उदय का काल है। दशमशती में 'दशरूपालोक' के रचयिता धनिक ने अपने ग्रंथ में भट्ट नारायण निर्मित 'वेणीसंहार' की कथावस्तु का बड़ा मार्मिक तथा गम्भीर विश्लेषण किया है, जिससे धनिक की अपेक्षा इनका पूर्ववर्तित्व सुतरां सिद्ध होता है।

आनन्दवर्धन ने वेणीसंहार के 'कर्ता द्यूतच्छलानां' पद्य को ध्वनि के उदाहरण के लिये ध्वन्यालोक में उद्धृत किया है तथा वामन ने अपने काव्यालंकार में 'पतितं वेत्स्यसि क्षितौ' वाक्य में 'वेत्स्यसि' की व्याकरणानुकूलता सिद्ध की है। 'वेत्स्यसि' में पदभंग करने से दो पद तैयार होते हैं (वेत्सि+असि)

और ये दोनों शुद्ध प्रयोग हैं। एक पद मानने में व्याकरण सम्बन्धी त्रुटि अनिवार्य है। यह वेणीसंहार के एक श्लोक का चतुर्थ चरण है। वामन के द्वारा भट्ट नारायण के इस प्रयोग की व्याकरणसंगति के प्रदर्शन से सिद्ध होता है कि वे हमारे कवि को विशेष गौरव तथा आदर का पात्र समझते थे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि भट्ट नारायण का समय ८०० ईस्वी से पूर्व होना चाहिए। अर्थात् अष्टम शतक के मध्य में (७५० ई०) मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है। भट्ट नारायण की केवल एक ही रचना उपलब्ध होती है और वह है—वेणीसंहार नामक नाटक।

वस्तु-समीक्षा

'वेणीसंहार' की कथावस्तु के समीक्षण से पूर्व उससे स्वल्प परिचय नितान्त आवश्यक है। यह नाटक महाभारत के एक महत्त्वपूर्ण घटना पर आश्रित है—द्रौपदी के द्वारा वेणी का बाँधना। दुःशासन के घोर अपमान से सन्तप्त होकर द्रौपदी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि दुःशासन और दुर्योधन के मारे जाने पर ही वह अपनी वेणी बाँधेगी। इसी घटना की पूर्ति में महाभारत का पूरा कथानक बड़े कौशल के साथ यहाँ विन्यस्त किया गया है।

इसमें छः अंक है। नाटक का आरम्भ श्रीकृष्ण के दौत्य से आरम्भ होता है जिसे कुरुराज की सभा में जाकर दोनों पक्षों में सन्धि करा देने की गरज से उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था। सन्धि की बात सुनकर भीमसेन का हृदय क्षुब्ध हो उठता है। द्रौपदी के आगमन से वह क्षोभ अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। दुर्योधन श्रीकृष्ण के सौम्य वचनों पर कान तो देता नहीं, प्रत्युत वह उन्हें पकड़कर बन्दी बनाना चाहता है। भीम उसकी इस मूर्खता पर खीझते हैं और श्रीकृष्ण की भगवत्ता का प्रतिपादन करते हैं। अपने परमप्रिय तथा हितोपदेष्टा भगवान् कृष्णचन्द्र के इस अपमान से युधिष्ठिर भी क्रुद्ध हो उठते हैं और समरदुन्दुभि का ताडन उनके क्रोध का प्रतीक बनाता है (प्रथम अङ्क)।

द्वितीय अंक में हमारे सामने दुर्योधन तथा उनकी पतिप्राणा पत्नी भानुमती आती है तथा परस्पर वार्तालाप का क्रम चलता है। भानुमती ने सपने में

एक सोने का नकुल देखा है जिसकी ओर उसकी आसक्ति स्वतः हो जाती है। इस घटना से अपने पति के भावी अकल्याण की आशंका से वह क्षुब्ध हो उठती है तथा इस अमंगल को दूर करने के निमित्त वह देवार्चन करती है। इसी बीच दुर्योधन स्वयं आकर उसकी आशंका का वारण करता है; उसके देवार्चन में विघ्न डालता है तथा नाना प्रकार के कामुक प्रलोभनों से वह कालकेलि की ओर उसका मन आकृष्ट करना चाहता है। बीच में बड़े जोरों की आँधी आती है जिससे दुर्योधन का रथ भग्न हो जाता है। यह आँधी भविष्य में आनेवाली संग्रामरूपी आँधी को सूचित मात्र करती है। रानी डरती है परंतु राजा दुर्योधन उसे ढाढस बँधाता है। यह प्रसंग तब तक चलता है जब तक जयद्रथ की माता अर्जुन की भीषण प्रतिज्ञा सुना कर अपने पुत्र की रक्षा के लिए गिड़गिड़ाती है। दुर्योधन आश्वासन देता है।

तृतीय अंक के आरम्भ में एक लम्बा प्रवेशक है जिसमें रुधिरप्रिय नामक राक्षस और उसकी वसागन्धा नाम्नी पत्नी के बीच बातचीत से हमें पता चलता है कि धृष्टद्युम्न ने केश पकड़कर अपनी तलवार से द्रोणाचार्य का वध कर डाला है। इससे अश्वत्थामा का क्रोध अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। वे उन कौरव सेनापतियों की घोर निन्दा करते हैं जिन्होंने यह जघन्य कार्य अपने नेत्रों से देखा, परंतु नपुंसक के समान अपने हाथों में हथियार रखे ही रह गये। अश्वत्थामा के क्रोधावेश का बड़ा ओजस्वी वर्णन कवि करता है जो इस भूतल को ही 'अकेशव' तथा 'अपाण्डव' कर देने पर तुला हुआ है। कर्ण दुर्योधन को समझा देता है कि आचार्य द्रोण गुप्त रूप से अपने पुत्र अश्वत्थामा को ही राजगद्दी पर बैठाने वाले थे तथा पुत्र के सामने पिता की घोर निन्दा करता है। संघर्ष होने की नौबत आती है, परन्तु दुर्योधन दोनों को समझा बुझाकर अलग कर देता है।

चतुर्थ अंक में कथा आगे बढ़ती है। दुःशासन के खून का प्यासा भीम उसे मार डालने के लिए घोर आक्रमण करता है। उसे बचाने के लिए दुर्योधन स्वयं रणाङ्गण में उतरता है, परन्तु भीम के बाणों से अचेत बदहोश होकर रथ में गिर पड़ता है। उसका कुशल सारथि रथ हटाकर अपने राजा

के प्राणों को बचाता है, परंतु होश में आने पर दुर्योधन अपने सारथि पर बेहद खीझ उठता है कि इसी समय अंगराज कर्ण का सेवक सुन्दरक उसे खोजता हुआ आता है। भेंट होने पर वह युद्ध की सारी कथा बड़े विस्तार के साथ कहता है। दुर्योधन को दुःशासन की भीषण मृत्यु का पता चलता है तथा कर्ण के हीनबल और अशक्ति से भी वह नितांत दुःखित होता है। इस अंक में युद्ध का सुन्दरक के द्वारा वर्णनमात्र है। विवरण की प्रधानता के कारण यहाँ नाटकीय व्यापार में वास्तव में गत्यवरोध हो गया है।

पंचम अंक में गांधारी तथा धृतराष्ट्र दुःशासन की मृत्यु का भीषण समाचार सुनकर तथा दुर्योधन की दुर्दशा सुनकर स्वयं आते हैं। दुर्योधन शक्ति रहते भी अपने अनुज को नहीं बचा सका, इससे वह नितान्त दुःखित होता है। ये माता-पिता अपने पुत्र से अभी भी पाण्डवों से संधि कर लेने के लिये आग्रह करते हैं, परंतु स्वाभिमानी दुर्योधन का अभिमान उबल पड़ता है और अपने जीवन की रक्षा के लिए वह अभद्रजनोचित प्रस्ताव का तिरस्कार करता है। इसी समय शल्य कर्ण की मृत्यु का समाचार लेकर आता है। सब लोग शोक से अभिभूत हो जाते हैं तथा कर्ण के शोभन गुणों की चर्चा करते हैं। अश्वत्थामा इस समय आकर दुर्योधन को धैर्य धराता है। अर्जुन तथा भीम दुर्योधन को लड़ने के लिए खोजते आते हैं और धृतराष्ट्र के सामने अर्जुन नम्रतापूर्ण, परंतु भीम औद्धत्यपूर्ण अपना परिचय देता है।

षष्ठ अंक की कथा में नाटकीय कौतुक की अवतारणा बड़े अच्छे ढंग से की गई है। राजा युधिष्ठिर का प्रवेश इतने विलम्ब के बाद इसी अंतिम अंक में होता है। पाञ्चालक द्रौपदी तथा युधिष्ठिर से भीमसेन की विजय तथा दुर्योधन के उरुभंग की बात कहकर उचित पारितोषिक से सन्तुष्ट किया जाता है। राजा की प्रसन्नता से एक विघ्न उपस्थित हो जाता है चार्वाक मुनि के आगमन से। वह कौरवों का सुहृद् है और ऐसा दम्भ रचता है कि युधिष्ठिर द्रौपदी के साथ अग्नि में प्रवेश कर अपना अंत कर देना ही उचित समझते हैं। वह कहता है कि मैं अपनी आँखों अर्जुन तथा दुर्योधन का गदायुद्ध देखकर आ रहा हूँ। वह कहता है कि भीमसेन का कभी अंत

हो गया और तभी अर्जुन ने युद्ध त्याग का मार्ग ग्रहण किया है। युधिष्ठिर के शोक का अंत नहीं और वे घोर विलाप करते हुए अग्नि में प्रवेश करना ही चाहते हैं कि दुर्योधन के लोहू से अपने हाथ को सिक्त किये हुए भीम द्रौपदी को खोजता भीषण वेश में प्रवेश करता है। युधिष्ठिर उसे दुर्योधन समझकर त्रस्त होते हैं, परंतु कंचुकी के पहचानने पर भीम का परिचय मिलता है। सब प्रसन्न होते हैं और कृष्ण के आशीर्वाद से नाटक का अंत होता है।

संस्कृत नाट्यज्ञों के द्वारा वेणीसंहार शास्त्रीय दृष्टि से एक आदर्श नाटक माना गया है जिसमें संधियों तथा पताकास्थानकों का सन्निवेश उचित स्थानों पर किया गया है। नाटक का उद्देश्य पाण्डवों के ऊपर कौरवों के द्वारा किये गये अपमान का निराकरण तथा तत्फलस्वरूप राज्य की प्राप्ति है। द्रौपदी के द्वारा वेणी का 'संहार' (संयमन या बाँधना) तो उसका अवांतर फल है। इस प्रयोजन की सिद्धि का बीज है युधिष्ठिर का क्रोधभाव और इस भाव का सूचक है नाटक का प्रथम अंक (क्रोधज्योतिरिदं महत् कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते—१।२४) और यही मुखसंधि की योजना है। प्रतिमुख संधि द्वितीय अंक में है जहाँ यह क्रोधबीज नाना रूपों में बढ़ता हुआ 'बिन्दु' का रूप धारण करता है। गर्भसंधि बड़ी लम्बायमान है तृतीय अंक से लेकर पंचम अंक तक। इन अंकों के कथानकों में क्रोध बीज का खूब विकास हुआ है—कभी वह दृष्ट होता है और कभी वह गुप्त ही रहता है। षष्ठ अंक के आरम्भ में हम युधिष्ठिर को भीमसेन के विषय में चिन्तित पाते हैं। यही अवमर्श संधि चार्वाक मुनि के वार्तालाप के अन्त तक चलती जाती है। चार्वाक मुनि की कल्पना भट्टनारायण की विकसित प्रतिभा का फल है। गर्भ० सन्धि के भीतर ही कुछ तत्त्व ऐसे रखे जाते हैं जिनसे निर्वहण का रूप स्पष्ट होने लगता है और तब दर्शकों की कौतूहल वृत्ति को जागरूक तथा टिकाऊ बनाने के लिए अवमर्श सन्धि की योजना नितांत आवश्यक होती है यदि ऐसा नहीं होता, तो दर्शक नाटक देखने से उदासीन बन जाते हैं तथा नाटक देखने का आनन्द ही गायब हो जाता है। ऐसी स्थिति से 'वेणीसंहार' को बचाने के लिए चार्वाक मुनि का प्रसंग नितान्त आवश्यक है। भीमसेन

की युद्धसिद्धि में युधिष्ठिर को पूर्ण विश्वास उत्पन्न हो जाता है, परन्तु चार्वाक मुनि के आने से यह विश्वास डाँवाडोल हो उठता है, अनुज की रक्षा की आशंका से उनका हृदय व्याकुल हो जाता है और वे अग्नि में प्रवेश करने के लिए उद्यत होते हैं। कृष्ण के द्वारा अभिषेक की योजना तथा राज्य की प्राप्ति से निर्वहण संधि सिद्ध होती है। इस प्रकार पञ्चसंधियों का विन्यास नितान्त श्लाघनीय है। परन्तु इस वैलक्षण्य से हम यह नहीं कह सकते कि शास्त्र को सामने रखकर कवि ने इस नाटक का प्रणयन किया है। सच्चा नाटककार शास्त्र को दृष्टि में रखकर ही नाटक की रचना नहीं करता, प्रत्युत उसकी प्रतिभा से उद्भूत रूपक में नाटकीय तत्त्व स्वतः स्थान स्थान पर आते रहते हैं। 'वेणीसंहार' में अनेक पताकास्थानक तथा गण्ड के उदाहरण मिलते हैं, विशेषतः द्वितीय अंक में जहाँ दुर्योधन अपने उरु को भानुमती के बैठने के लिए उचित स्थान बतला रहा है (ममोरुयुग्मम् २।२३)। उसी समय कंचुकी 'भग्नं भग्नं' चिल्लाता है जो बीच में आने से 'रथकेतनम्' से अभीष्ट संबंध रखने पर भी 'उरुयुग्म' से भी स्वतः सम्बद्ध हो जाता है अर्थात् दुर्योधन के उरु को भीम ने भग्न कर दिया;[1] इस भावी घटना की सूचना मिल जाती है। नाटकीय घटना का ऐसा सुंदर विन्यास जो भावी घटना का पर्याप्त परिचायक होता है 'गण्ड' कहलाता है।

पात्र-समीक्षण

'वेणीसंहार' के पात्र इतिहासप्रसिद्ध हैं और इतिहास में जो चरित्र उनका परम्परा-प्राप्त है उसी का निखरा रूप हमें इस नाटक में मिलता है।

---

१ पर्याप्तमेव करभोरु ममोरु युग्मम् (१।२३)

कञ्चुकी—देव भग्नं भग्नम्।

राजा—भग्नं भीमेन भवतो मरुता रथकेतनम्।

पतितं किङ्किणी-क्वाण-बद्धाक्रन्दमिव क्षितौ॥

—वेणीसंहार १।२४

भीमसेन का चरित्र बहुत ही व्यापक, प्रभावशाली तथा आकर्षक है। उसकी ओजस्विता, अदम्य पराक्रम का परिचय उनके भाषणों से सर्वदा ही मिलता है। श्रीकृष्ण के दौत्यकार्य तथा संधिप्रस्ताव से वे नितांत क्षुब्ध हो उठते हैं कि जिन कौरवों पर क्रोध करना न्यायप्राप्त है उनके ऊपर क्रोध न कर युधिष्ठिर हमी लोगों पर क्रोध करते हैं। भीम दृढ़प्रतिज्ञ हैं और एकबार जो प्रतिज्ञा कर ली है उसे वे अंत तक निभाते हैं। द्रौपदी के अपमान की घटना उनके हृदय में विषम तीर के समान चुभ गई है और समग्र पापों के मूल दुर्योधन का संहार ही 'वेणीसंहार' का प्रधान उपाय है; इसे वे भली-भाँति जानते हैं। बदला लेने की तीव्र इच्छा, युद्ध कर अपने अपमान को नगद चुकाने की अभिलाषा इतनी प्रबल है उनमें कि कभी-कभी भीम अपने औद्धत्य का भी प्रदर्शन करने से नहीं चूकते। धृतराष्ट्र के सामने अपना परिचय देते समय भीम की विकत्थना पूर्णरूपेण प्रकट होती है जब वे कहते हैं कि अशेष कौरव सेना को चूर्ण करनेवाला, दुःशासन के खून से मतवाला तथा (भविष्य में) सुयोधन के जंघों को तोड़नेवाला यह भीम आपको सिर से प्रणाम करता है (५।२८)। इससे बढ़कर अस्थान में विकत्थना क्या हो सकती है? भीम के चरित्र का यह अविभाज्य अंग ही है।

दुर्योधन का चित्रण भी काफी अच्छा अंकित हुआ है। उसके चरित्र की सबसे बड़ी विशिष्टता है—आत्मविश्वास का अतिरेक। वह अपनी विजय का, और अपने सैन्यबल का इतना विश्वासी है कि उसे हम सावधानी बरतते हुए नहीं पाते। भानुमती के साथ उसे कामकेलि की ओर अग्रसर करा कर कवि ने उसके चरित्र की उदात्तता को बिगाड़ दिया है। युद्ध में पराक्रम प्रदर्शन के अवसर पर यह कामक्रीड़ा का अनुचित आलाप दुर्योधन के चरित्र में बट्टा लगाता है। मम्मट की दृष्टि में यह (अस्थाने प्रथनं नामक) रसदोष है। परन्तु उसके हृदय में अपने आश्रितों के प्रति महती दया तथा स्नेह का संचरण है। इसलिए धृतराष्ट्र के युद्ध को रोक देने के लिए विशेष आग्रह करने पर वह कह बैठता है कि अपने शरीर की रक्षा के ही लिए उदात्तपुरुष के लिए लज्जास्पद असुखावसान पांडवों के साथ वह सन्धि क्यों करे। शौर्य का वह सच्चा प्रतिनिधि है। वह युद्ध से मुँह मोड़ना नहीं

जानता और इसीलिए वह अपने सारथि पर नितान्त रुष्ट है क्योंकि वह उसे अचेतन दशा में समर भूमि से रथ लौटा लाया है।

अश्वत्थामा को कवि ने अपूर्ण व्यक्तित्व से मण्डित पात्र के रूप में चित्रित किया है। वह सच्चा पुत्र है और पिता द्रोणाचार्य के अन्यायपूर्ण वध से वह इतना क्षुब्ध है कि वह समग्र मही को केशवहीन तथा पाण्डव-विरहित करने के लिए उद्यत है। उसमें शौर्य की, पराक्रम की, कमी नहीं है, परन्तु उसे अपने अन्तःसत्व को बाहर प्रकट करने के लिए अवसर ही नहीं मिलता। कर्ण की पिशुनता के कारण दुर्योधन ऐसे वीर के पराक्रम से तनिक भी लाभ नहीं उठाता। इतने आदम्य शौर्य का आश्रय अश्वत्थामा अधखिले फूल की तरह अपने समग्र गुणों को अपने भीतर ही समेट कर रह जाता है। कभी बाहर खिलने का अवसर ही नहीं मिलता उसे।

युधिष्ठिर का दर्शन पंचम अंक के अन्त तथा षष्ठ में ही हमें मिलता है। वीर होते हुए भी वे न्याय को तिलांजलि नहीं देते। अनुजों के ऊपर उनका स्नेह बहुत ही अधिक है। भीमसेन की मृत्यु का समाचार सुनकर वे इतने विह्वल हो उठते हैं कि घटना की सम्भावनीयता पर बिना विचार किये ही वे अपने को अग्निदेव को अर्पण करने के लिए उद्यत हो जाते हैं तथा इस अवसर पर अपने बाल्यकाल की मधुर स्मृति उनके चरित्र मे लालित्य का संचार करती है। **श्रीकृष्ण का** प्रवेश नाटक के आदि तथा अन्त में ही केवल एक एक बार होता है। वे स्वयं सन्धि कराने के लिए दूत बनकर जाते हैं, परन्तु दुर्योधन के अस्वीकार करने पर उनका दौत्यकर्म निष्फल हो जाता है। अन्तिम दृश्य में वे युधिष्ठिर को विजय के लिए बधाई देते हैं और ऋषियों की सहायता से उनका अभिषेक करते हैं। कवि ने अर्जुन का चरित्र विकसित होने नहीं दिया। महाभारत युद्ध का सबसे बड़ा योद्धा केवल पृष्ठ-भूमि में ही रह कर अपना कार्य निष्पादन करता है। खुल कर बाहर मैदान में नहीं आता; इसका दोष भट्ट नारायण का अवश्य है।

स्त्रीपात्रों में दो ही हैं—द्रौपदी तथा भानुमती। भानुमती का चरित्र बड़ा कोमल है। पतिव्रता की साक्षात् प्रतिमा भानुमती स्वप्न में दृष्ट घटना

से भी अपने पतिदेव दुर्योधन के भावी अमंगल की कल्पना से बेचैन हो जाती है और उसे दूर करने के लिए देवताओं की सहायता के लिए अर्चना का विधान करती है। उसके चरित्र में जितना लालित्य है, उतना ही औदात्य है द्रौपदी के चरित्र में। द्रौपदी भरी-सभा में पराक्रमी पतियों की आँखों के सामने अपमानिता, तिरस्कृता तथा विदलिता नारी की प्रतिमूर्ति है। उसमें क्रोध का तीव्र आवेग होना स्वाभाविक है। वह अपनी प्रतिज्ञा से टस से मस नहीं होती। स्त्री होते हुए भी वह पौरुष से मण्डित है। युधिष्ठिर की न्याय-प्रियता को वह दुर्बलता का ही पर्याय मानती है और इसी लिए भीम के पराक्रम की वह श्लाघा करती है। वह पूर्ण भारतीय नारी है। कितना भी हो वह अपने कार्यों को तथा व्यवहार को सीमा का अतिक्रमण नहीं करने देती। उसकी प्रतिज्ञा पूरी होती है और चिर अभिलाषा का कुसुम विकसित होकर उसके जीवन को सुगन्धित बनाता है।

साहित्यिक समीक्षण

'वेणीसंहार' महाभारत के समग्र रूप को नाटकीय कोटि में लाने का प्रथम स्तुत्य उद्योग है। भास ने भी इस कार्य के लिए प्रयत्न किया था, परंतु दोनों का अंतर स्पष्ट है। भास ने समग्र महाभारत के प्रसिद्ध आख्यानों को ही पृथक् रूप से नाटक में निबद्ध किया है। फलतः उनके स्वल्पकाय रूपकों के द्वारा महाभारत जैसे वीररसप्रधान आख्यान का एक सामूहिक तथा प्रभाव-शाली विन्यास नहीं हो पाया है। भट्ट नारायण इस विषय में सफल नाटक-कार हैं। इस नाटक के द्वारा सम्पूर्ण महाभारत युद्ध की मुख्य घटना अपने पूर्ण वैभव तथा उदात्तता के साथ हमारे नेत्रों के सामने सजीव होकर झूलने लगती है। कवि ने समग्र घटनाओं के भीतर एक कार्यान्विति रखने का उद्योग किया है, परन्तु नाटकीय पद्धति से बाध्य होने के कारण युद्ध वाले अंकों में गत्यात्मकता के स्थान पर गत्यवरोध ही विशेष दीखता है। तृतीय अंक में सुन्दरक का संवाद इस गत्यावरोध का एक उज्ज्वल उदाहरण है जहाँ सुन्दरक उपन्यास के ढंग पर कथा कहता जाता है और दुर्योधन अपने सारथि के साथ केवल सुनता जाता है। महाभारत इतना भारी भरकम ग्रंथ है

कि उसकी समग्र घटनाओं का एकत्र विन्यास एक प्रकार दुःसाध्य ही है, कुछ घटनाओं का आवश्यक वर्णन अवश्यंभावी है, तथापि यह कहना ही पड़ेगा कि भट्ट नारायण को वस्तुविन्यास में काफी सफलता मिली है और इस भव्य नाटक के देखने से 'महाभारत' का समग्र चित्र अपने असली रंग में हमारे सामने बलात् उपस्थित हो जाता है। चरित्रचित्रण में भी कवि की कुशलता श्लाघनीय है। पात्रों में सजीवता खूब है। धर्मराज की चिन्ता अपनी प्रजा के कल्याण के लिए जितनी अधिक है उतनी अपने शरीर के लिये नहीं। दुर्योधन का अभिमान सजीव होकर दर्शकों के सामने आता है। भीम शौर्य के प्रतिनिधि हैं परन्तु उनमें उतावलापन इतना अधिक है कि कभी-कभी जोश में आकर अपने न्यायी भ्राता युधिष्ठिर के शासन के उल्लंघन करने को उद्यत हो जाते हैं। अर्जुन में वीरता कूट-कूट कर भरी है। द्रौपदी भारतीय नारी की प्रतिष्ठा तथा आत्मगौरव की सजीव मूर्ति है। इस प्रकार चरित्रचित्रण नितांत श्लाघनीय हुआ है। केवल द्वितीय अङ्क में युद्ध के अवसर पर दुर्योधन का भानुमती के साथ प्रेम-प्रदर्शन रसदृष्टि से अनुचित हुआ है। मम्मट ने इसे 'अकाण्डे प्रथनम्' (अनुचित स्थान में रस का विस्तार) के अन्तर्गत एक रसदोष माना है। इस प्रकार वेणीसंहार को हम एक सफल नाटक भली-भाँति मान सकते हैं।

काव्य की दृष्टि से भट्टनारायण का यह ग्रंथ वीररस को उन्मीलित करने में सर्वथा समर्थ है। मुख्य रस वीर है तथा अंगरस रौद्र तथा शृंगार है। ओजोगुण का सर्वातिशायी प्रभाव है। भट्ट नारायण की प्रतिभा बड़े ऊँचे दर्जे की है और इसी लिए उनकी कविता में ओजस्विता और तेजस्विता कूटकूटकर भरी है। उनके पद्य तेज से प्रज्वलित हैं और उनकी शैली समास-बहुला होने से विषय तथा रस दोनों के अनुकूल है। उनके पद्यों में सुप्त चित्त को प्रज्वलित करने की क्षमता है। युद्ध के अनुकूल विकट वर्णों का विन्यास तथा समास की बहुलता से गाढ़बन्ध का चातुर्य वेणीसंहार के साहित्यिक सौन्दर्य के पर्याप्त परिचायक हैं। भट्ट नारायण वैष्णव कवि थे और इसलिए उन्होंने नान्दी के भीतर ही राधाकृष्ण की केलि की एक अत्यन्त सुन्दर झाँकी

प्रस्तुत की है (श्लोक १।२) और भगवान् श्रीकृष्ण की भगवत्ता तथा माहात्म्य का यह शोभन वर्णन किया है—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोत्सेकाद् विघटित-तमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा पुरस्तात्
तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम् ॥
—वेणीसंहार १।२३

[अपने में ही रमण करने वाले, निर्विकल्प समाधि में सर्वदा प्रेम रखनेवाले, ज्ञान के आधिक्य से जिन पुरुषों के अज्ञान की ग्रंथियाँ खुल गई हैं, ऐसे सत्त्वनिष्ठ व्यक्ति अर्थात् योगी लोग भी जिनको अंधकार से और प्रकाश से परे देखते हैं, उन पुराण पुरुषोत्तम को यह मोह से अंधा होने वाला दुर्योधन भला कैसे जान सकता है। उसकी, योग्यता ही नहीं है कि वह श्रीकृष्ण के माहात्म्य तथा गौरव को जान सके।]

भीमसेन की प्रतिज्ञा का भव्य निदर्शन इस पद्य में किया गया है—

चञ्चद्भुज-भ्रमित-चण्ड-गदाभिघात-
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्ध-घन-शोणितशोणपाणि—
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः। (१।२१)

[यह भीमसेन शीघ्र ही फड़कती हुई भुजाओं से घुमाकर फेंकी गई गदा के आघात से दुर्योधन की जाँघों को चूर्ण कर देगा। अधिक मात्रा में गिरे हुए चपके हुए गाढ़े-गाढ़े रुधिर से जिसके हाथ लाल हो गए हैं ऐसा भीमसेन तुम्हारे इन खुले हुए बालों को स्वयं अपने हाथों से बाँधेगा। अतः तुम विश्वस्त रहो। तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होकर रहेगा।]

विरोध का प्रदर्शन कितने सुन्दर ढंग से किया गया है इस प्रशस्त पद्य में—

शाखारोधस्थगितवसुधामण्डले मण्डिताशे
पीनस्कंधे सुसदृशमहामूलपर्यन्तबन्धे।

दग्धे दैवात् सुमहति तरौ तस्य सूक्ष्माङ्कुरेऽस्मिन्
आशाबन्धं कमपि कुरुते छायायार्थी जनोऽयम् ॥
—वेणीसंहार ६।२६

जिसने अपनी शाखाओं से सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल को व्याप्त कर रखा था, जिससे सब दिशाओं की शोभा बढ़ रही थी, जिसका तना बहुत ही मोटा था, जिसकी जड़ बहुत नीचे तक गहरी पैठी थी और जिसका आलबाल उसके ही समान महान् था, ऐसे पाण्डुकुलरूपी महान् वृक्ष के दैवयोग से जल जाने पर भी छाया के चाहने वाले ये लोग उसके छोटे से अंकुर पर ही आशा लगाये हैं। भीम अर्जुन जैसे महारथियों के मारे जाने पर यह द्रौपदी अपने वंश की रक्षा के लिए इस चार मास के गर्भ पर ही आशा लगा रही है। उसका आशा बाँधना उपहास का ही विषय है, सम्मान का नहीं।

इस प्रकार नाटक की दृष्टि से नितान्त निर्दोष रचना न होने पर भी वेणीसंहार काव्य की दृष्टि से सुन्दर, शोभन तथा हृदयावर्जक प्रभावशाली कृति है—इसमें कोई भी आलोचक संशय नहीं कर सकता।

(७) भवभूति

सौभाग्य का विषय है कि भवभूति ने अपने ग्रन्थों में विशेषतः महावीर चरित की, प्रस्तावना में अपना यत्किञ्चित् परिचय प्रदान किया है। उससे जान पड़ता है कि भवभूति विदर्भ देश (आजकल बरार) के पद्मपुर के रहने वाले थे। ये काश्यपगोत्री थे तथा कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के मानने वाले थे। भवभूति के पिता का नाम **नीलकण्ठ**, माता का **जतुकर्णी**; पितामह का **भट्टगोपाल** था। भवभूति के पूर्वज अपने सदाचार तथा वेदाध्ययन के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध थे। वे पंक्तिपावन थे तथा पाँच अग्नियों की स्थापना करने वाले थे। उन्होंने सोमयज्ञ भी किये थे वे श्रौत के भारी वेत्ता थे। इनके कुल में काव्यकला की भी पूजा कुछ कम न थी, क्योंकि इनके पाँचवें पूर्वज कोई 'महाकवि' थे। इनके गुरु का नाम **'ज्ञाननिधि'** था। डाक्टर भांडारकर का कहना है कि भवभूति के जन्मस्थान के आसपास इस समय भी कुछ कृष्णयजुर्वेदी तैत्तिरीय शाखाध्यायी महाराष्ट्र ब्राह्मणों के कुल विद्यमान

है। कवि ने अपने को 'भट्ट श्रीकण्ठपदलांछनो भवभूतिर्नाम' लिखा है। अतः कुछ टीकाकारों का अनुमान है कि इनका असली नाम 'श्रीकण्ठ' था परन्तु—

'साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः'

अथवा

तपस्वी कां गतोऽवस्थामिति स्मेराननाविव।
गिरिजायाः स्तनौ वन्दे भवभूतिसिताननौ॥

पद्य के, जिनमें 'भवभूति' शब्द आया है, लिखने के कारण इनका प्रसिद्ध नाम भवभूति पड़ा। यह पण्डितों में परम्परागत प्रसिद्धि है।

ऊपर इनके 'ज्ञाननिधि' नामक गुरु का उल्लेख किया गया है। परन्तु अब सप्रमाण सिद्ध हो चुका है कि भवभूति प्रख्यात मीमांसक कुमारिल भट्ट के शिष्य थे। श्री शंकर पाण्डुरंग पण्डित को मालती-माधव की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति मिली थी जिसके तृतीय अंक के अन्त में वह प्रकरण कुमारिल-शिष्य के द्वारा विरचित बतलाया गया है तथा षष्ट अंक के अन्त में कुमारिल के प्रसाद से वाग्वैभव को प्राप्त करनेवाले उम्वेकाचार्य की कृति कहा गया है। इससे जान पड़ता है कि भवभूति का ही एक नाम 'उम्वेक' था। उम्वेक मीमांसाशास्त्र के बड़े भारी आचार्य थे। इनके मत तथा ग्रंथ का उल्लेख कितने ही प्राचीन दर्शन-ग्रंथों में पाया जाता है।

'प्रत्यग्रूप भगवान्' अथवा प्रत्यक्स्वरूप भगवान् नामक ग्रंथकार ने चित्सुखाचार्य की 'तत्त्वप्रदीपिका' की नयन-प्रसादिनी नामक टीका में 'उम्वेक' का नाम कई स्थानों में लिया है। चित्सुखी में एक स्थल पर 'अविनाभाव' (व्याप्ति) के लक्षण का खण्डन किया गया है। प्रत्यग्रूप भगवान् ने चित्सुखी के इस स्थल पर टीका लिखते समय उम्वेक की टीका का उल्लेख किया है,[1]

---

१ प्रत्यग्रूप भगवान् अपने समय के एक अच्छे विद्वान् समझे जाते थे। 'प्रत्यक् प्रकाश' नामक कोई संन्यासी इनके पूज्य गुरुदेव थे। इन्होंने 'नयन-प्रसादिनी' में अनेक स्थलों पर 'महाविद्या-विडम्बन' के कर्त्ता वादीन्द्र के नाम तथा मत का उल्लेख किया है। वादीन्द्र सिंघण नाम के राजा के धर्माध्यक्ष

जिसे उम्बेक ने कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक (पृ० ३४८) की 'सम्बन्धो व्यातिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना' पंक्ति पर की है (चित्सुखी की टीका पृ० २३५)। 'उक्तं चैतदुम्बेकेन' आदि चित्सुखी के मूल की व्याख्या लिखते समय टीकाकार ने 'उम्बेक' को महाकवि 'भवभूति' बतलाया है (चित्सुखी पृ० २६५)। इन उद्धरणों से स्पष्ट सूचित होता है कि भवभूति ने कुमारिल के श्लोकवार्तिक पर टीका लिखी थी तथा वे उम्बेक नाम से प्रसिद्ध थे।

श्रीहर्ष [बारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग] के प्रसिद्ध ग्रंथ 'खण्डन-खण्डखाद्य' की विद्यासागरी' नामक टीका के रचयिता 'आनन्दपूर्ण' ने भी 'असती वा न विशेषिका' आदि मूल ग्रंथ की व्याख्या लिखते समय श्लोक-वार्तिक से दो श्लोकों को उद्धृत किया है। टीकाकार ने यह भी सूचना दी है कि 'उवैक' ने इन श्लोकों की टीका लिखी है तथा आवश्यक अंश को उद्धृत भी किया है।

बोधघनाचार्य ने अपनी पुस्तक 'तत्त्वशुद्धि' के 'भेदाभेद निराकरण प्रकरण' में निम्नलिखित टिप्पणी की है जिससे उम्बेक के एक प्रबल पक्ष वाले पण्डित होने की बात सिद्ध होती है। बोधघन की टिप्पणी यह है।—'अयं तु क्षपणकपक्षादपि पापीयानुम्बेकपक्ष इत्युपेक्ष्यते' अर्थात् उम्बेक का मत जैनों के मत से भी बुरा है। अतएव उसकी उपेक्षा की गई है।

हरिभद्र का 'षड्दर्शनसमुच्चय' नामक ग्रंथ संस्कृत जानने वालों के लिये बड़े काम की चीज है, क्योंकि इस छोटे ग्रंथ में षड्दर्शनों के सिद्धान्त 'कारिका' के रूप में सरलता से समझाये गये हैं। इस ग्रंथ की टीका गुणरत्न नामक जैन लेखक (१४०६ ई०) ने की है। उसने मीमांसाशास्त्र के अनेक मतों का उल्लेख कर नीचे का श्लोक दिया है:—

थे। अतएव उनका समय १२२५ ई० के लगभग आता है। (देखो महा-विद्याविडम्बन की भूमिका पृ० १४, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज नं० १२) प्रत्यग्रूप भगवान्-रचित इण्डिया आफिस में सुरक्षित हस्त-लिखित पुस्तकों की १४१० ई० में कापी की गई थी। अतः प्रत्यग्रूप भगवान का समय १३००—१४०० ई० के बीच में होगा।

ओ (ऊ ?) म्बेकः कारिकां वेत्ति तन्त्रं वेत्ति प्रभाकरः।
वामनस्तूभयं वेत्ति न किञ्चिदपि रेवणः॥

ओम्वेक 'कारिका' का अच्छा वेत्ता है। प्रभाकर तन्त्र को जानता है। वामन दोनों का विशेषज्ञ है और रेवण कुछ भी नहीं जानता। इस श्लोक की 'कारिका' से कुमारिल के श्लोकवार्तिक का अभिप्राय समझना चाहिये, क्योंकि प्रत्यग्रूप भगवान और आनन्दपूर्ण की माननीय सम्मति में उम्वेक ने श्लोकवार्तिक की व्याख्या लिखी थी। अतएव उस व्याख्या की प्रौढ़ता तथा सारगर्भिता के कारण गुणरत्न ने उम्वेक को 'कारिका'—श्लोकवार्तिक—का अच्छा जानने वाला बतलाया है।

पूर्वोक्त उद्धरणों को सम्मिलित करने से वही सिद्धान्त समुचित जान पड़ता है कि महाकवि भवभूति का दूसरा नाम 'उम्वेक'[1] था; ये कुमारिलभट्ट के शिष्य थे, और अपने पूज्य गुरु के 'श्लोकवार्तिक' के ऊपर उन्होंने व्याख्या भी लिखी थी। इस व्याख्या का एक अंश प्रकाशित भी हुआ है। मण्डन मिश्र के 'भावनाविवेक' पर उम्वेक रचित व्याख्यान काशी से ही प्रकाशित है।

विश्वरूप

शंकर दिग्विजय के सप्तमसर्ग में मण्डन मिश्र का हाल दिया हुआ है। उसमें लिखा है कि मण्डन का नाम 'विश्वरूप' भी था तथा साधारणतया वे 'उम्वेक' के नाम से भी प्रसिद्ध थे। शंकराचार्य से दीक्षा लेने पर मण्डन मिश्र ही सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस वर्णन के आधार पर मण्डन, विश्वरूप, उम्वेक तथा सुरेश्वर एक ही व्यक्ति माने जाते हैं। परन्तु इधर

---

१ यह नाम प्रत्येक ग्रन्थ में कुछ भिन्न ही मिलता है। प्रत्यग्रूप भगवान् ने इसे 'उम्बक' तथा 'उम्बेक' दोनों लिखा। 'बोधघन' ने उम्बेक, आनन्दपूर्ण ने 'उवैक' तथा गुणरत्न ने 'ओम्बेक' लिखा है। मालतीमाधव की प्रति में 'हम्बेक' मिलता है। इन सबसे 'उम्बेक' शब्द की ही सत्यता सिद्ध होती है। लेखक के प्रमाद से अन्य अन्य रूपों की उत्पत्ति सहज में समझी जा सकती है।

विद्वानों को इनके दार्शनिक सिद्धान्तों में भेद के कारण मण्डन और सुरेश्वर की एकता में सन्देह होने लगा है। वे इन दोनों को भिन्न भिन्न व्यक्ति बतलाते हैं[1]। विश्वरूपाचार्य ने याज्ञवल्क्य स्मृति पर **बालक्रीडा** नामक टीका लिखी है। इस टीका के ऊपर भी कालांतर में अनेक टीकाग्रंथ रचे गये। इनमें सबसे प्राचीन टीका किसी **यतीश्वर वेदात्मन्** नामक विद्वान् की लिखी '**विभावना**' है। इस विभावना के आरम्भ में यह महत्त्वपूर्ण पद्य उपलब्ध हुआ है—

यत्प्रसादादयं लोको धर्ममार्गस्थितः सुखी।
भवभूतिसुरेशाख्यं विश्वरूपं प्रणम्य तम्।

इससे पता लगता है कि हमारे कविवर भवभूति का ही नाम विश्वरूप तथा सुरेश्वर था। एक आलोचक ने विश्वरूप तथा भवभूति की एकता सिद्ध करने के लिए बालक्रीडा तथा उत्तर-रामचरित में अनेक कथनों की समानता दिखलाई है[2]। विश्वरूप और भवभूति की एकता के विषय में विद्वानों ने अभी तक विशेष ध्यान नहीं दिया है, परंतु यह तो प्रायः माना जाने लगा है कि जिस प्रतिभाशाली विद्वान् ने नाटकों में अपना नाम 'भवभूति' रखा; उसी ने मीमांसा-शास्त्र के ग्रंथों में अपना 'उम्वेक' नाम दिया तथा उसी ने कालान्तर में भगवान् शंकराचार्य के द्वारा अद्वैत-मत में दीक्षित होने पर 'सुरेश्वराचार्य' के नाम से ख्याति प्राप्त की।

भवभूति के जीवन की घटनाएँ अज्ञानान्धकार में छिपी हैं। उनके ग्रंथों की आलोचना से जान पड़ता है कि तत्कालीन विद्वान् इन्हें आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे। पहले किसी राजा का भी आश्रय इन्हें नहीं मिला था, क्योंकि प्रायः इनके नाटकों का अभिनय राज-सभा में न होकर उज्जयिनी में महाकाल की यात्रा के समय एकत्रित जनता के सामने ही हुआ था। परंतु जीवन के

1 J. R. A. S. 1923. pp. 559-663.
2 Indian Historical Quarterly, Vol VII (1931) No. 2 pp. 305-308.

अंतिम काल में कान्यकुब्ज के विद्वान् राजा यशोवर्मा के आश्रय में हमलोग भवभूति को पाते हैं। सम्भवतः भवभूति को अपनी अलौकिक नाट्यकला के कारण विद्वत्प्रेमी यशोवर्मा का आश्रय मिल सका। जीवन के आरम्भ में तत्कालीन साहित्य सेवियों के द्वारा निरादृत होने की सम्भावना इनके कतिपय गर्वोक्तियों से अनुमित होती है। मालती-माधव की प्रस्तावना में भवभूति ने इन्हीं दुरालोचकों को लक्ष्य करके यह हृदयोद्गार निकाला है :—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

भावार्थ है कि जो कोई मेरी अवज्ञा किया करते हैं, उन मूर्खों के लिये यह मेरा यत्न नहीं है। समय का अन्त नहीं और पृथ्वी भी बड़ी लम्बी-चौड़ी है। इसमें जो कोई मेरा स्पर्धी इस समय है या आगे पैदा होगा उसके लिये मेरा नाटक-रचना-रूप यत्न समझना चाहिये।

भवभूति का पाण्डित्य

भवभूति वेद तथा दर्शनों के अगाध पण्डित थे[1]। भगवती श्रुति के रहस्यों का उन्होंने खूब पता लगाया था। उनके नाटकों में उनके वैदिक-ज्ञान-गरिमा की सूचना अनेक स्थलों पर पाई जाती है। उत्तररामचरित के चतुर्थ अंक में 'नामांसो मधुपर्को भवति' की सूचना मिलती है। महावीर-चरित में सूर्यवंश के कुल-पुरोहित वसिष्ठजी का वर्णन करते समय भवभूति ने ऐतरेय-ब्राह्मण के अन्तिम (४० वाँ) अध्याय में उल्लिखित पुरोहित-प्रशंसा के 'राष्ट्रगोपाः पुरोहितः' वाले कई पद्यों को ज्यों का त्यों अपने नाटक में रखा है। उपनिषद् तत्त्व के वे परमवेत्ता थे। उत्तररामचरित में उन्होंने जनक के मुख से 'असुर्या नाम ते लोकाः' आदि प्रसिद्ध ईशावास्य श्रुति की व्याख्या कराई

---

१ यद् वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च।
ज्ञानं तत्कथनेन किं नहि ततः कश्चिद् गुणो नाटके ॥ (मा० मा०)

है। 'विद्याकल्पेन मरुताम्' (उत्तर ६।६) श्लोक के द्वारा भवभूति ने अपने औपनिषद अद्वैतवाद का संक्षेप में सुन्दर तात्त्विक वर्णन किया है। योगशास्त्र का प्रकृष्ट ज्ञान हमें मालती-माधव के पञ्चम अंक में मिलता है। 'समधिक-दशनाडीचक्रमध्यस्थितात्मा' में भवभूति ने अपने योग तथा तन्त्र के ज्ञान का अनुपम मेल दिखलाया है। स्थान स्थान पर भवभूति की भाषा में दर्शन शास्त्र के परिभाषिक शब्द इस सरलता से अनायास आते हैं कि जान पड़ता है कि नाटककार सदा इन दर्शनों के चिन्तन में संलग्न रहा है। सचमुच महाकवि भवभूति संस्कृत साहित्य के एक अद्वितीय कवि हैं—इन्हें छोड़कर 'पांडित्य' और 'वैदग्ध्य' का अनुपम तथा श्लाघनीय सम्मिलन अन्यत्र कहाँ प्राप्त हो सकता है ?

समय

यह हमारे सौभाग्य की बात है कि भवभूति जैसे महाकवि का समय निश्चित रूप से निर्णीत हो चुका है; कालिदास के समान वह कई शताब्दियों के झमेले में नहीं पड़ा हुआ है। राजतरंगिणी में **ललितादित्य** नामक विजयी काश्मीर-नरेश का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। क्षात्र तेज से प्रभावित होकर ललितादित्य ने अपनी विजय-वैजयन्ती समग्र उत्तरीय भारत में फहराई। उसने न केवल आसपास के राजाओं को ही अधीन किया, बल्कि सुदूर गौड़ देश (बंगाल) को भी अपना विजित प्रदेश बनाया। इसी प्रभावशाली नरेश ने कान्यकुब्ज के महाराज **यशोवर्मा** को समरभूमि में परास्त किया। यशोवर्मा ने इनका लोहा मान लिया।[1] यह यशोवर्मा न केवल विद्वानों का ही आश्रयदाता था बल्कि स्वयं सरस्वती देवी का पुजारी था। उसने 'रामाभ्युदय' नामक नाटक की रचना की थी। दशरूपक आदि ग्रन्थों में इस नाटक का उल्लेख है; परन्तु अभी तक यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ। इसी की सभा **भवभूति, वाक्पतिराज** आदि कवि-सम्राटों से अलंकृत

---

१ कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥

थी। श्रीयुत शंकर पांडुरंग पंडित ललितादित्य के राज्याभिषेक का समय ६६५ ई० मानते हैं और दिग्विजय का समय उनकी राय में इस (ललितादित्य) के शासन के आरम्भिक वर्ष थे। अतः भवभूति का समय ७०० ई० के आसपास पड़ेगा, परन्तु चीनदेशीय इतिहास से ललितादित्य का समय ३२ वर्ष उतर कर होना सिद्ध होता है। अर्थात् उसका राज्याभिषेक ७२५ ई० के आसपास हुआ। चीन के इस इतिहास की प्रामाणिकता वाक्पतिराज रचित गउडवहो में (८२६ गाथा) उल्लिखित एक सूर्यग्रहण के समय से सिद्ध होती है। डाक्टर याकोबी ने दिखलाया है कि यह सूर्यग्रहण १४ अगस्त सन् ७३३ ई० में कन्नौज में दिखाई पड़ा था। अतः यशोवर्मा का समय ७३३ ई० के आसपास सिद्ध होता है, क्योंकि गउडवहो में यशोवर्मा द्वारा मारे गये किसी गौड़ देश के राजा का वृत्तान्त वर्णित है; परन्तु ललितादित्य के द्वारा उसके पराजित किये जाने की चर्चा तक नहीं है। यशोवर्मा ने ७३३ ई० के लगभग काश्मीर नरेश की अधीनता स्वीकार की। अतः महाकवि भवभूति का समय भी आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

यदि कल्हण पंडित ने भवभूति के आश्रयदाता के नामोल्लेख की कृपा न की होती, तो भी हम परवर्ती कवियों के उद्धरणों से भवभूति का समय निश्चित कर सकते थे। सबसे पहले आलङ्कारिक-प्रवर वामन ने अपनी 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' में भवभूति के कई पद्यों[1] को उद्धृत किया है। अतएव वामन से भवभूति की प्राचीनता सिद्ध होती है। वामन का समय आठवीं सदी का उत्तरार्द्ध तथा नवीं का आरम्भ है। अतः भवभूति के आठवीं सदी के पूर्वार्द्ध में होने के विषय में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता।

ग्रन्थ

भवभूति की तीनों रचनायें नाटक ही हैं।

(१) मालती-माधव – यह दश अङ्कों का एक विशाल प्रकरण है।

१ वामन ने 'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोः' (उत्तररामचरित १।३८) को रूपकालंकार के उदाहरण में उद्धृत किया है।

वस्तु कविकल्पनाप्रसूत है। मालती तथा माधव का प्रेम-प्रसंग बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है। इसमें यौवन के उन्मादक-प्रेम का बड़ा ही रसीला चित्रण है। पूरे प्रकरण में प्रेम की बड़ी ही ऊँची उदात्त कल्पना दर्शकों के सामने रखी गयी है। धर्म से विरोध करने वाले प्रेम को भवभूति ने समाज के लिये हानिकारक समझ उसकी एकदम उपेक्षा कर दी है।

(२) **महावीर-चरित**—में रामकथा का वर्णन किया गया है। इसमें छः अङ्क हैं। इस नाटक में कथानक का ऐक्य प्रदर्शन करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया गया है। राम के विरुद्ध जितने कार्य किये गये हैं वे सब रावण की प्रेरणा से ही। राम का चरित्र नितान्त उदात्त तथा वीरभावापन्न है। इस नाटक में वीररस की प्रधानता है। राम को आदर्श पुरुष के रूप में दिखलाने के उद्देश्य से भवभूति ने राम के कितने ही दोषों को भिन्न रूप से प्रदर्शित किया है। बाली रावण का सहायक बनकर राम से लड़ने आया था, इसीलिये राम ने उसका वध किया।

(३) **उत्तर-रामचरित**—में रामायण का उत्तरार्द्ध प्रदर्शित है। इस सप्तांक रूपक में राम के वन प्रत्यागमन पर राजगद्दी पाने से लेकर सीता-मिलन तक की सम्पूर्ण कथायें कुछ कल्पना-प्रसूत घटनाओं के साथ दिखाई गई हैं। भवभूति की कवि-प्रतिभा का यह सर्वोच्च निदर्शन है। इसमें सात अंक हैं। नाटक का आरम्भ 'चित्रदर्शन' से होता है और रामचरित की समस्त प्राचीन घटनायें एक एक कर सामने आती हैं और उनपर राम अपनी प्रतिक्रिया का निर्देश करते हैं। अयोध्या के लोगों में रामाभिषेक से उत्पन्न प्रतिक्रिया का निरीक्षण कर दुर्मुख आता है और राम से सीता के लंकाप्रवास के विषय में उत्पन्न लोकनिन्दा की चर्चा करता है। गर्भिणी सीता वन को देखने की इच्छा प्रकट करती है और लक्ष्मण उसे वाल्मीकि के आश्रम पर छोड़ आते हैं। द्वितीय अंक में वासन्ती तथा आत्रेयी के संवाद से सीता के दो पुत्रों की उत्पत्ति, वाल्मीकि के द्वारा पोषण तथा शिक्षण आदि बातों का परिचय मिलता है। राम शम्बूक नामक शूद्र तापस के मारने के लिए दण्डका वन में आते हैं और प्राचीन दृश्यों को देखकर मुग्ध

हो जाते हैं। तृतीय अंक में राम पंचवटी में प्रवेश करते हैं जहाँ वासन्ती नामक वनदेवता से सीता के परित्याग से उत्पन्न अपनी तीव्र मनोव्यथा का वर्णन करते हैं; कभी-कभी वे मूर्च्छित हो उठते हैं। तब सीता देवी जिसे देवता के प्रसाद से कोई देख नहीं सकता अपने करस्पर्श से उन्हें पुनरुज्जीवित कर देती हैं। राम के हृदय में विद्यमान गाढानुराग की बात तथा प्रजा की उत्कट भर्त्सना देखकर तथा सुनकर सीता का विषण्ण हृदय कुछ आश्वस्त होता है। सीता के प्रकट न होने के कारण यह 'छायांक' नाम से प्रसिद्ध है। चतुर्थ अंक में हम वाल्मीकि के आश्रम पर पहुँचते हैं जहाँ विष्कम्भक के द्वारा जनक तथा कौशल्या आदि रानियों के आगमन की सूचना हमें मिलती है। जनक, अरुन्धती तथा कौशल्या के बीच सीता परित्याग से उत्पन्न स्थिति का मर्मभेदी विवेचन है। अंक के अन्त में रामचन्द्र के अश्वमेघीय घोड़े को लव के द्वारा पकड़ने की घटना का उल्लेख है। पंचम अंक में चन्द्रकेतु तथा लव के बीच भीषण संग्राम का दृश्य है। वीररस के प्रकर्ष के लिए यह सबसे सुन्दर अंक है। षष्ठ अंक में विद्याधर तथा विद्याधरी के द्वारा युद्ध की विविध लीला का विवरण हमें मिलता है। रामचन्द्र के आने से यह युद्ध शान्त होता है और कुश के आगमन पर राम इन दोनों में सीता की आकृति की समता पाकर हर्ष तथा विषाद का क्रमशः अनुभव करते हैं। सप्तम अंक में गर्भाङ्क की कल्पना है। प्रजा के सामने नाटक खेला जाता है जिसमें गंगा तथा पृथ्वीदेवी सीता को निर्दोष सिद्ध कर रामचन्द्र को अर्पण करती हैं। जृम्भकास्त्र की सिद्धि से लव कुश राम के पुत्र रूप में पहिचाने जाते हैं और सार्वत्रिक सौख्य के साथ नाटक का अवसान होता है।

इसके तीसरे (छायांक) अंक में कवि ने चमत्कार दिखलाया है। एक ओर राम अपने वनवास के प्रियमित्र पंचवटी के परिचित स्थानों को देखकर सीता के लिये विलाप करते-करते मूर्च्छित हो जाते हैं, दूसरी ओर छाया-सीता राम के इस प्रेममय स्मरण से अपने वनवास के कठिन दुःखों को भी लात मारकर अपने जीवन को धन्य समझती हैं। राम इस

छाया-सीता के स्पर्श का अनुभव तो अवश्य करते हैं परन्तु आँखों से देख नहीं पाते। यहाँ कवि ने खूब ही 'काव्य-न्याय' दिखलाया है। सीता को वनवास देने वाले राम के रोदन को दिखाकर कवि ने सीता के अपमानित तथा दुःख भरे हृदय को बहुत शान्त किया है। करुण रस का प्रवाह जैसा इस अंक में दिखाया गया है वैसा कदाचित् ही कहीं अन्यत्र दृष्टिगोचर हो। भवभूति ने बे-जान पत्थरों को भी रामचन्द्र के विलापों से खूब ही रुलाया है। ऐसा चमत्कार किसी अन्य कवि ने नहीं पैदा किया है। करुण रस की पराकाष्ठा को लक्ष्य कर कोई आलोचक ठीक ही कहता है—

जडानामपि चैतन्यं भवभूतेरभूद् गिरा।
ग्रावाप्यरोदीत् पार्वत्याः हसतः स्म स्तनावपि ॥

उत्तररामचरित का आधार तो वाल्मीकीय रामायण का उत्तरकाण्ड है, परन्तु भवभूति ने अपने नाटक को शोभन तथा अलंकृत बनाने के लिए अनेक मौलिक परिवर्तन किये हैं। वाल्मीकि में रामकथा दुःखपर्यवसायी कथा है; क्योंकि उसका अन्त राम के द्वारा परित्यक्ता जानकी के पाताल-गमन से ही होता है। परन्तु भवभूति ने नाट्य-परम्परा का अनुकरण कर उत्तररामचरित को सुखांत रूपक बनाया है। इसके अतिरिक्त अनेक घटनायें भवभूति की मौलिक कल्पना से प्रसूत चमत्कारिणी सृष्टि हैं। चित्रदर्शन दृश्य (उत्तर १ अंक), राम का पुनः दण्डकारण्य में आना तथा वनदेवता वासन्ती से भेंट (२ अंक); दण्डकारण्य में छाया सीता की सत्ता (३ अंक) तथा गर्भाङ्क (७ अंक)—ये सभी कवि की मौलिक कल्पना से उत्पन्न चमत्कारी दृश्य हैं।

भवभूति की नाट्यकला

भवभूति का 'उत्तररामचरित' उनकी नाट्यप्रतिभा को प्रकट करनेवाला सर्वोच्च नाटक है। भवभूति स्वभाव से ही गम्भीर प्रकृति के कवि हैं जिन्हें अपनी अनुभूति से संसार में विषाद तथा वेदना का अधिक संचार दृष्टिगोचर होता है। फलतः वे भावप्रवण कवि हैं और इस भावप्रवणता का प्रभाव उनके नाटकों पर, विशेषतः उत्तररामचरित पर, अधिकता से पड़ा है। भावों के

स्निग्ध चित्रण के कारण यदि उत्तरचरित गीति-नाटक (लिरिक ड्रामा) है, तो प्रकृति तथा युद्ध के वर्णनों के विन्यास के कारण यह 'एपिक ड्रामा' भी कहा जा सकता है। घटनाओं की योजना में मालती-माधव का दश अंकवाला प्रकरण कुछ अव्यवस्थित तथा दुर्व्यवस्थित भले ही दिखाई पड़े, परन्तु राम सम्बन्धी दोनों नाटकों में घटना-शैथिल्य का सर्वथा अभाव है। 'उत्तर राम चरित' में घटना का संविधान बड़े ही मनोवैज्ञानिक पद्धति पर प्रदर्शित किया गया है। आरम्भ में चित्रदर्शन की योजना बड़ी फलप्रद सिद्ध होती है। राम जैसे एकपत्नीव्रतधारी पति सीता जैसी सती का पूर्ण गर्भावस्था की स्थिति में परित्याग कर देते हैं, इस घटना को स्वाभाविक रीति से सम्भाव्य बनाने के लिए ही भवभूति ने चित्रदर्शन की कल्पना की है जो कालिदास के संकेत के ऊपर ही आधारित है (रघु० १४।२५)। परंतु भवभूति ने इसका पूर्ण नाटकीय साफल्य दिखलाया है। जंगल के पूर्वानुभूत दृश्यों को देखकर सीता के हृदय में उन्हें पुनः देखने की नैसर्गिक अभिलाषा उदय होती है। वह राम से निवेदन करती हैं और राम को अपनी ओर से कठोर व्यवहार का आभास भी दिखलाना नहीं पड़ता। वह सीता के दोहद की पूर्ति के साथ ही साथ एक बड़े आवश्यक कार्य का नैसर्गिक ढंग से सम्पादन कर देते हैं। इतना ही नहीं, गंगा और पृथ्वी देवी को सीता के लिए 'शिवानुध्यान पारायण' होने की प्रार्थना, जृम्भकास्त्र के प्रदर्शन से लवकुश के रामपुत्र होने की पहिचान, आदि घटनाओं का उद्देश्य 'चित्रदर्शन' के द्वारा भली भाँति सिद्ध होता है। तृतीय अंक की 'छाया सीता' की कल्पना भवभूति के मनोवैज्ञानिक वैशिष्ट्य का एक विशिष्ट प्रतीक है। अपमानित नारी के साथ उसी पुरुष का पुनर्मिलन तब तक हो नहीं सकता, जबतक उसकी अपमानजनित वेदना का अपनयन स्वाभाविक रीति से न हो जाय। मानसिक ग्रन्थि का शैथिल्यकरण तथा हृदय में गुप्त विषाद का दूरीकरण सीता के पक्ष में तभी होता है जब वह राम के मुँह से स्वयं अपनी प्रशंसा सुनती है। उसके विषण्ण हृदय पर यह अंक ठंडे मलहम का काम करता है जिससे सप्तम में उसका पुनर्मिलन स्वाभाविक रीति से सम्पन्न होता है। सप्तम के 'गर्भाङ्क' की भी कल्पना एकदम नवीन है जो ऐतिहासिक वृत्त के साथ साथ शोभन सुखांत रूप को मिलता है तथा

अद्भुत रस के योग से दर्शकों के चित्त में कौतूहल वृत्ति का उदय करती है। इस प्रकार घटनाओं का संविधान एक अन्विति से समवेत है। 'महावीर चरित' में भावप्रवणता के लिए स्थान नहीं है और इसकी घटनाओं में परस्पर सम्बद्धता का निर्वाह इसीलिए पूर्ण रीति से किया गया मिलता है।

चरित्र-चित्रण में भी भवभूति एक सिद्धहस्त नाटककार हैं। अपनी गम्भीर प्रकृति के अनुरूप ही उन्होंने राम और सीता जैसे परम पावन आदर्श चरित्र पात्रों को अपने नाटक के लिए चुना है। भवभूति ने वाल्मीकि के आदिकाव्य का गम्भीर अनुशीलन किया था और इससे उन्होंने अनेक बातें जैसे मूर्त पदार्थों की अमूर्त से तुलना, करुण रस की सर्वोपरि तथा सर्वमान्य स्थिति आदि तथ्यों को अंगीकार किया है। राम का चरित्र बड़ा ही उदात्त, आदर्श तथा प्रख्यात परम्परा के सर्वथा अनुरूप है। 'रामराज्य' का आदर्श रूप अपने वैभव के साथ यहाँ दीख पड़ता है। राम आदर्श राजा हैं। उनका व्रत ही 'प्रकृतिरंजन' है। स्नेह, दया, सौख्य, यहाँ तक ही पवित्र चरित्र जनकनन्दिनी का भी छोड़ते हुए राम को व्यथा नहीं है—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

—उत्तरराम १।१२

यह पवित्र उद्गार जिस राजा के मुख से स्वतः निकलता है उसके चरित्र की पावनता का माहात्म्य किन शब्दों में वर्णित किया जा सकता है? वे जानकी के सच्चे पूत चरित्र से परिचित न हों; ऐसी बात नहीं है, परन्तु लोकाराधन की वेदी पर अपने निजी सौख्य को तिलाञ्जलि देना राम की कर्तव्यनिष्ठता का, आदर्श भूपतित्व का, उज्ज्वल दृष्टान्त है। तृतीय अंक (उत्तर चरित) में राम वासन्ती के सामने अपने सच्चे भावों को प्रकट करने से पराङ्मुख नहीं होते, वे 'लोक' की निन्दा भर पेट करते हैं। 'लोक' के अस्तव्यस्त, अमर्यादित स्वरूप से वे भली भाँति परिचित हैं, परन्तु फिर भी उनकी कर्तव्यनिष्ठा, 'लोक' के अनुरञ्जन के लिए प्रियतम वस्तु का परित्याग करने के लिए बाध्य करती है। सीता पीड़िता नारी का प्रतीक है। वह राम

के द्वारा कठोर गर्भावस्था में भी परित्यक्ता होने पर भी अपने पति के लिए एक शब्द भी प्रतिवाद के रूप में नहीं कहती। राम के भावसंघर्ष को वह भली भाँति पहचानती है। एक ओर राम अपने निजी जीवन के लिए व्यस्त हैं और दूसरी ओर प्रजानुरंजन उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करता है। भावों के इस संघर्ष के कारण राम का हृदय टूक टूक हो जाता है। सीता अपने दुःख से दुःखित नहीं है, प्रत्युत राम की विषम दशा के चिन्तन से चिन्तित है। ऐसे पातिव्रत का वर्णन मिलना नितांत दुर्लभ है। राम की मूर्छा देखकर वह स्वयं बदहोश हो जाती है और अनेक उपायों के द्वारा वह चेतन दशा में आती है। राम और सीता का यह आदर्श चित्रण भवभूति की नाट्यकला का चरम अवसान है।

भवभूति की काव्यकला

भवभूति की कविता बड़ी चमत्कारिणी है। संस्कृत भाषा के ऊपर आपका पूरा प्रभुत्व है। वाग्देवी ब्रह्मा की तरह आपकी वश्या थी। इनकी कविता में भाषा तथा भाव में अनुपम सामञ्जस्य है; जैसा भाव वैसी भाषा। जो भवभूति भयंकर युद्ध के वर्णन के समय लम्बे-समास-वाले ओजोगुणविशिष्ट दृश्य के कठोर अभिव्यंजक पद्य लिख सकते हैं (उत्तररामचरित ५।६), वही भवभूति ललिताभाव के वर्णन करते समय ऐसा सुन्दर अनुष्टुप् लिख सकते हैं जिसमें एक भी समास नहीं है (उत्तर २।८)। इस सामञ्जस्य का अनुरूप उदाहरण कभी कभी एक ही पद्य में मिलता है जिसके एक भाग में युद्ध वर्णन के लिए टवर्ग के अनुप्रास में गाढबन्धता रखी गई है और जिसके दूसरे भाग में कोमलवस्तु के वर्णन के हेतु सुकुमार पदावली प्रयुक्त की गई है। यह भवभूति के भाषाधिपत्य को प्रकट कर रहा है। नीचे के पद्य में ऐसा सुंदर शब्दविन्यास है कि पढ़ते समय ही तुंगतरंग-वाली, गद्गद नाद के साथ बहनेवाली, नदियों का प्रत्यक्ष चित्र सामने खड़ा हो जाता है—शब्दों में नदियों के परस्पर मिलन से उत्पन्न घोर रोर का कोलाहल स्पष्ट मालूम पड़ता है—

एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयो
मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः क्षोणीभृतो दक्षिणाः।
अन्योन्यप्रतिघातसंकुलचलत्कल्लोलकोलाहलै—
रुत्तालास्त इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्संगमाः॥
(उत्तर २।३०)

इस प्रकार ध्वनि के द्वारा अर्थ की द्योतना कवि की विशिष्टता है। उनके युद्ध वर्णन पढ़ने से ऐसा मालूम पड़ता है मानो युद्ध हमारे नेत्रों के सामने अपनी पूर्ण भयंकरता तथा रोमाञ्चकता के साथ आकर उपस्थित हो गया हो। आपकी शिखरिणी सबसे अच्छी है। क्षेमेन्द्र ने सुवृत्ततिलक में भवभूति के शिखरिणी वृत्त की प्रशंसा की है—

भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी।
चकिता घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति॥

माननीय भावों की गहराई में प्रवेश करने तथा उन्हें उसी प्रकार मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त करने में भवभूति नितान्त दक्ष हैं। किसी भाव या मनोवेग का वर्णन करते समय उनका लक्ष्य है उस गूढ़ से गूढ़ सूक्ष्म दशा की तत्तुल्य शब्दों के द्वारा साक्षात् अभिव्यक्ति। वे उपमा तथा उत्प्रेक्षा का व्यूह रचकर उस भावसौन्दर्य को अनावश्यक आडम्बर की लपेट में कभी नहीं रखना चाहते। हृदय के सीधे भावों का वर्णन सीधे शब्दों में ही अधिक जँचता है। चित्र-दर्शन से उत्पन्न राम के मनोभाव का यह वर्णन कितनी सुन्दरता के साथ कवि ने किया है—

अयं ते बाष्पौघस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरो
विसर्पन् धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः।
निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधर-नासापुटतया
परेषामुन्नेयो भवति च भराध्मात-हृदयः॥—उत्तर १।२९

'भावशबलता' के अवलोकन तथा वर्णन की अद्भुत क्षमता भवभूति को मिली थी। किसी विशिष्ट अवसर पर मानव के हृदय में जो भावपुंज अभि-

व्यक्त होते रहते हैं उसका एकत्र वर्णन कर भवभूति ने अव्यक्त हृदय का एक व्यक्त चित्र प्रस्तुत कर दिया है। भगवती सीता तमसा के साथ पंचवटी में जा रही हैं; अचानक रामचन्द्र के मसृण वचन सीता के कर्ण-कुहर में प्रवेश करते हैं। सुदीर्घ द्वादश वर्ष के वियोग के अनन्तर प्राणप्यारे के इन वचनों को सुनकर सीता की विचित्र दशा का वर्णन तमसा के मुख से कवि ने करवाया है—

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशात्
वियोगे दीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनोत्तस्मितमिव।
प्रसन्नं सौजन्यादपि च करुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव॥

हे सखि! तुम्हारा हृदय निराशा से—राम से संयोग होने की निराशा से—अभी उदासीन था तथा राम के इस दुर्व्यवहार से कलुषित था। परन्तु अब इस दीर्घवियोग में अचानक भेंट हो जाने से बिलकुल स्तब्ध हो गया है; राम की सुजनता से प्रसन्न है और विलापों के कारण इसमें शोक की तीव्र धारा चल रही है; राम के प्रेम प्रकट करने से यह हृदय आनन्द से पिघला जा रहा है। हृदय के भावों का सूक्ष्म विश्लेषण उचित शब्दों में करना भवभूति की प्रतिभा का विलास है।

प्रकृति—भवभूति चेतन मानवीय प्रकृति के ही सच्चे चित्रकार नहीं हैं, बल्कि बाह्य प्रकृति के भी। उन्होंने प्रकृति का निरीक्षण बड़ी सावधानी से किया था। कालिदास ने प्रकृति के केवल सुकुमार पक्ष, कोमल पहलू का ही वर्णन किया है। परन्तु भवभूति की दृष्टि उसके उग्र, भयङ्कर तथा विषम पक्ष ही पर गई थी। दण्डकारण्य का जैसा सच्चा वर्णन उत्तररामचरित में पाया जाता है, जंगल का वैसा वर्णन अन्यत्र और उपलब्ध नहीं होता। संस्कृत कवियों का प्राकृतिक वर्णन सदैव अलंकृत रहता है जिससे लोगों को संदेह होने लगता है कि क्या यह दृश्य कवि की कल्पना से प्रसूत हुआ है या उसके प्रकृति पर्यवेक्षण से। परन्तु भवभूति का यह वर्णन अंग्रेजी के महाकवियों को

समान विस्तृत तथा वास्तविक है। मालतीमाधव के श्मशान-वर्णन की भी यही विचित्रता है! दण्डकारण्य की भीषणता पर जरा दृष्टिपात कीजिये:—

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित् क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः ।
सीमानः प्रदरोदरेषु विलसत्स्वल्पाम्भसो यास्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते ।
(उत्तर राम० २।१६)

[जंगल का कोई भाग बिल्कुल शान्त है और कहीं हिंसक जानवरों की प्रचण्डध्वनि सुन पड़ती है। कहीं पर स्वेच्छया सोये हुये विस्तृत फन वाले भुजंगों के श्वास से आग पैदा हो रही है। जल का नाम नहीं है, कहीं कहीं छोटी गड़हियों में थोड़ा सा पानी झिलमिला रहा है; विचारे प्यासे गिरगिटों को पानी नहीं मिलता। क्या करें, अजगर के पसीने को पीकर अपनी प्यास बुझाते हैं।] कितना भयानक दृश्य है!

पहाड़ों पर सोते बहे चले जा रहे हैं। उनका वर्णन कितना यथार्थ तथा रोचक है:—

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्—
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति ।
फलभरपरिणामजम्बूनिकुञ्ज—
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः ॥
(उत्तर राम० २।२०)

[यह देखो, झरने बह रहे हैं। इनके किनारे वानीरलता उगी हुई है। उनके ऊपर मधुरकंठवाले पक्षीगण विहार करते हैं। उनके बैठने से लता के फूल झरनों में गिर जाते हैं जिससे उनका पानी सुगन्धित हो जाता है। पहाड़ों से बहने के कारण नदियों का जल स्वभाव से ही शीतल तथा स्वच्छ है। उनकी धारायें पके हुए फलों से लदे, काले जम्बू वृक्षों के कुंज से टकराने पर अत्यन्त शब्द करती हुई अनेक मार्गों से बह रही हैं।]

रससिद्धि—भवभूति अनेक रसों के सिद्ध कवि हैं। अपने नाटकों में उन्होंने वीररस का सजीव वर्णन किया है। वीरों का गर्वीला गर्जन, अस्त्रों की झंकार, स्यन्दनों की खटखटाहट और बाणों की सनसनाहट—ये सब हमारे सामने सच्ची युद्धभूमि का चित्र हठात् उपस्थित कर देते हैं। मालतीमाधव में शृंगार रस का खासा वर्णन किया गया है। श्मशानदृश्य में बीभत्स तथा भयानक की मात्रा यथेष्ट है परन्तु भवभूति सबसे अधिक करुणरस के उन्मेष में सिद्धहस्त हैं। कालिदास ने भी रतिविलाप तथा अजविलाप के द्वारा करुण का करुणोत्पादक प्रभाव खूब ही दिखलाया है परन्तु भवभूति के वर्णन में कुछ अलौकिकता है, विचित्र चमत्कार है, जो अन्यत्र दीखने को नहीं मिलता। भवभूति करुणरस के प्रधान आचार्य हैं। आलंकारिकों में आदि-रस के विषय में बड़ा मतभेद है। महाराज भोजदेव शृंगार को ही रसों का सिरताज समझते हैं, तो शैवागम के अनुयायी काश्मीरी कविगण शांत रस को ही मुख्य रस मानते हैं; परन्तु हमारे भवभूति ने करुणरस को ही सबमें प्रधानता दी है। इन्होंने अपनी सम्मति स्पष्ट शब्दों में दी है:—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त्त बुद्बुद तरंगमयान् विकारा-
नम्भो यथा,सलिलमेव तु तत्समग्रम्।

(उत्तर राम० ३।४७)

करुण ही प्रधान रस है। रससामग्री (स्थायीभाव आलम्बन, उद्दीपन आदि) की विभिन्नता से वह भिन्न होता हुआ भिन्न-भिन्न परिणामों को धारण करता है परन्तु है एक ही। एक ही जल कभी भँवर के रूप को, कभी बुदबुदों तथा तरंगों के रूप को धारण करता है परन्तु वास्तव में वह सब जल ही है। इस प्रकार 'करुण' ही सब रसों की प्रकृति है। अन्यरस तो उसकी विकृति हैं। जब करुणरस के विषय में भवभूति की ऐसी उच्च धारणा थी, तब उसके करुण वर्णनों की क्या कथा? इसी करुण-वर्णन-वैचित्र्य को लक्ष्य कर गोवर्धनाचार्य ने ठीक ही कहा है:—

भवभूतेः सम्बन्धात् भूधरभूरेव भारती भाति
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा।

राम सीता के लिये विलाप कर रहे हैं :—

हा हा देवि ! स्फुटति हृदयं, स्रंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ् मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि ॥(३।३८)

[हा देवि ! तुम्हारे बिना मेरा हृदय फटा जाता है; शरीर शिथिल पड़ रहा है, संसार को सूना समझता हूँ, मेरे हृदय में सदा ज्वाला बल रही है, मेरी दुःखित आत्मा गाढ़ अंधकार में धँसी जाती है, चारो तरफ से अज्ञान मुझे घेर रहा है। अब मैं मन्दभाग्य क्या करूँ; कहाँ जाऊँ ?]

भवभूति का करुणरस अत्यन्त गम्भीर तथा मर्मस्पर्शी है। उन्हीं की स्वीकारोक्ति के अनुसार वह उस 'पुटपाक' के समान है जो ऊपर से तो पंक-लिप्त होने से नितान्त शान्त, परन्तु भीतर ही भीतर तीव्र अन्तर्वेदना से उत्तप्त होता रहता है:—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वात् अन्तर्गूढघनव्यथः।
पुटपाक-प्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः॥—उत्तर ३।१

करुण रस कभी अमर्यादित उद्वेग तथा प्रलाप का रूप नहीं धारण करता, परंतु अपनी तीव्रता के कारण वह बारंबार मूर्च्छा की अवस्था में अपने पात्र को ढकेल देता है। भवभूति जानते हैं कि शोकातिरेक की दशा में एकांत में जी भरकर रोने से चित्त हलका हो जाता है जिस प्रकार बढ़े हुए पानी के निकाल देने से तालाब में शोधन हो जाता है।

पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया (उत्तर ३।२९)

इसी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भवभूति के पात्र अपने भावशोधन के लिए विलाप के द्वारा अपना शोक बाहर प्रकट करते हैं। देखिये, राम की यह करुणामयी सूक्ति कितनी हृदयस्पर्शी है :—

चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः
प्रवासेऽप्याश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः।
जगज्जीर्णारण्यं भवति च विकल्पव्युपरमे
कुकूलानां राशौ तदनु हृदयं पच्यत इव॥

—उत्तर ६।३८

प्रवास में प्रिय का बारंबार ध्यान करते समय प्रतीत होता है कि वह सामने ही आकर उपस्थित है; इसी से वह वियोग में आश्वासन प्रदान करता है। परन्तु कल्पित मूर्ति के नाश होते ही यह संसार बीहड़ सुनसान जंगल के समान जान पड़ता है और तदनन्तर भूसे की आग में हृदय पकने लगता है जो धीरे धीरे हृदय को सुलगा कर भस्म कर देती है। यहाँ 'कुकूल' का संकेत कवि के गाढ़ अनुभव की ओर है। कुकूल की आँच बहुत तेज होती है, परन्तु वह एक साथ न जल कर धीरे धीरे बलती रहती है जिससे हृदय में असीम दुःसह वेदना की तीव्र अभिव्यञ्जना बलात् होती है।

कालिदास से तुलना

(क) रस का परिपाक—कालिदास सरस्वती देवी के सौभाग्यशाली लाडिले हैं। फलतः शारदा की कृपा उनके ऊपर नैसर्गिक है। विक्रमादित्य जैसे भारतवर्ष के प्रभावशाली महाराजा की सभा की शोभा बढ़ाने का गौरव उन्हें प्राप्त था। फलतः वे कोमल तथा ललित वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होते हैं और उन्हें अपनी प्रतिभाशाली लेखनी से चमका देते हैं। कालिदास उतने ही स्वाभाविक ढंग से कविता करते हैं जिस प्रकार प्रभात का स्निग्ध वायु बहता है अथवा श्रावण में जिस प्रकार वर्षा की आनन्ददायिनी बौछार जीवों को तृप्त करती है। भवभूति ने अपने पाण्डित्य के बल पर सरस्वती से मानों कविता लिखने की कला को बलात् प्राप्त किया है। उनमें पाण्डित्य का जोर अधिक है। वे वेद तथा उपनिषद् के, सांख्य तथा योग के, तंत्र तथा मंत्र के ग्रंथाभ्यासी विद्वान् हैं। फलतः उनकी कविता में शास्त्रीय पाण्डित्य का प्रकर्ष अवश्यमेव मिलता है। कालिदास की कविता में हास्य का पुट है और उनके नाटकों में विदूषक का स्निग्ध हास्य दर्शकों को सदा आनन्दित तथा प्रफुल्लित किया

करता है, परन्तु गम्भीर प्रकृति के होने से भवभूति में हल्के-फुल्के हास्य का प्रयोग विरल है, परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उनके गाम्भीर्य को हास्य कभी अभिभूत ही नहीं करता। भवभूति के नाटकों में विदूषक का अभाव इसी तथ्य की ओर खींच सकता है, परन्तु भवभूति के सुनियन्त्रित प्रणय-प्रसंग में विदूषक जैसे ओछे पात्र की मध्यस्थता करने की आवश्यकता ही नहीं होती। हमारे कवि ने राम और सीता जैसे उदात्त चरित्र को अपने नाटकों का आधार-पीठ बनाया है जिनके जीवन को मर्यादित प्रणय की प्रभा फूटकर स्निग्ध तथा आलोकित किया करती है। ऐसी दशा में यदि विदूषक का प्रयोग जानबूझ कर नहीं किया गया, तो कोई हानि या त्रुटि नहीं। परन्तु भवभूति को हास्य से एकदम कोरा मानना भी उचित नहीं होगा। उनके जैसे भाव-प्रवण व्यक्ति के हृदय में हास्य ने कभी गुदगुदी पैदा नहीं की होगी, यह कल्पना भी दुरूह मालूम पड़ती है। लेखक की सम्मति में भवभूति का हास्य बहुत ही उच्चकोटि तथा शास्त्रीयता को स्पर्श करनेवाला था जिसे पण्डित जन ही ठीक-ठीक समझ सकते थे, सामान्य जन की समझ से वह निःसन्देह बाहर था। उत्तरचरित के चतुर्थ अंक के आरम्भ में 'दाण्डायन' तथा 'सौधातकि' का वार्तालाप शास्त्रीय हास्य का पूर्ण परिचायक है जिसमें 'समांसो मधुपर्कः' के शास्त्रीय विधान की छानबीन कर बड़े बूढ़ों पर छींटें उछाले गये हैं। करुणरस का परिपाक भवभूति की काव्यकला का वैशिष्ट्य है।

भवभूति वाल्मीकि तथा कालिदास दोनों के काव्यों के गम्भीर अनुशीलनकर्ता थे। फलतः उनकी छाया इनके पद्यों में होना स्वाभाविक है। माधव मालती के कुशल जानने के लिए मेघ को संदेशहारक बनाता है। यहाँ मेघदूत के पद्य की छाया नितांत स्पष्ट है[1]। वाल्मीकि के रामायणीय भावों तथा कल्पनाओं का अस्तित्व ढूँढ़ने पर भवभूति के नाटकों में बहुत मिल जाता है। महाकवि राजशेखर की सम्मति में भवभूति वाल्मीकि के ही

१ मालतीमाधव (६ अंक, श्लोक २५-२६) 'कच्चित् सौम्य प्रियसहचरं विद्युदालिङ्गति त्वाम्' आदि दो पद्य।

नवीन अवतार थे। इतना होने पर भी उनमें कुछ ऐसी विशेषता है जो इनकी कविता को कालिदास की रचनाओं से सर्वथा पृथक् करती है।

(ख) शैली का विलास—कालिदास की कविता में व्यञ्जना की प्रधानता है। थोड़े से चुने हुए शब्दों में भाव की अभिव्यक्ति की गई है, परन्तु भवभूति कुछ विस्तार के साथ भावों को प्रकट कर वाच्य बना देते हैं। जहाँ कालिदास के पात्र केवल आँसू बहाकर अपने चित्तोद्वेग की सूचना देते हैं, वहीं भवभूति के पात्र फूट फूट कर बहुत देर तक रोते हैं—आँसुओं की धारा बहाकर अपने मानसिक विकार को बिल्कुल प्रत्यक्ष कर देते हैं। कालिदास ने प्रकृति के केवल ललित तथा सुकुमार पक्ष पर अपनी दृष्टि डाली है, उसी अंश को अपनी कविता में दिखलाया है। भवभूति ने प्रकृति के निकट, उग्र तथा भयानक अंश को ही अपनाया है और अपने नाटकों में दर्शाया है। कालिदास के हिमालय-वर्णन तथा भवभूति के विन्ध्य-वर्णन की तारतम्य-परीक्षा करने से यह विभेद पाठकों के सामने आ सकता है। युद्धों के वर्णन में भवभूति की कुशलता कालिदास की अपेक्षा निःसन्देह अधिक है। भवभूति में शाब्दी ध्वनि करने की निपुणता के कारण श्रवणमात्र से युद्ध का भीषण दृश्य नेत्रपटल पर अंकित हो जाता है। 'झणज्-झणित कङ्कण क्वणित-किङ्किणीकं धनुः (उत्तरचरित ६।१) के श्रवण करते ही आयोधन में धनुष की बजनेवाली किंकिणी की आवाज कानों में सुनाई पड़ने लगती है। 'गाढ़-बन्ध' की कारीगरी में इतना कुशल शब्दकार मिलना एकांत कठिन है। इस प्रकार की शाब्दी ध्वनि तथा युद्ध का संघर्षमय वीराश्रय वर्णन कालिदास में ढूँढ़ने पर भी न मिलेगा।

(ग) प्रणय का चित्रण—प्रेम के चित्रण में भी दोनों में भेद दीखता है। भवभूति ने जैसा उज्ज्वल दाम्पत्य प्रेम का चित्र खींचा है वैसा संस्कृत साहित्य में अत्यन्त दुर्लभ है। अन्य कवियों ने, स्वयं कालिदास ने भी सांसारिक- वासना भरे काम का ही अधिकतर वर्णन किया है। भवभूति ने यौवनकाल की उद्दाम कामवृत्ति का वर्णन मालतीमाधव में किया है और विश्वस्त हृदय के सच्चे शुद्ध प्रेम का चित्र उत्तररामचरित में दिया है।

भवभूति के पात्र कहीं भी 'स्वच्छन्द' प्रेम के पक्षपाती नहीं हैं, प्रत्युत समाज के द्वारा अभिनन्दित धर्मानुयायी प्रणयमार्ग के पथिक हैं।

कवि सच्चे प्रेम को दैवी वरदान मानता है। सच्चे प्रेम की परिभाषा कितनी यथार्थ तथा मार्मिक है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं, सर्वास्ववस्थासु यत्
विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते।(उत्तर १।३९)

सच्चा प्रेम सुख तथा दुःख में एक सा रहता है। हर दशा में, चाहे विपत्ति हो या सम्पत्ति, वह अनुकूल रहता है, जहाँ हृदय विश्राम लेता है, वृद्धावस्था आने से जिसमें रस की कमी नहीं होती। समय बीतने पर बाहरी लज्जा, संकोच आदि आवरणों के हट जाने से जो परिपक्व स्नेह का सार बच जाता है वही सच्चा प्रेम है। भवभूति ने स्पष्ट ही लिखा है कि यह प्रेम बाहरी रूप से हृदय में अंकुरित नहीं होता, बल्कि एक हृदय को दूसरे हृदय से जोड़ने के लिए कोई भीतरी कारण होता है—

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु—
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः (उत्तर० ६।१२)

प्रीति किसी बाहरी कारण से पैदा नहीं होती, बल्कि कोई भीतरी कारण पदार्थों को आपस में मिलाता है। कहाँ तालाब में सकुचा हुआ कमल और कहाँ आकाश में उदित सूर्य! परन्तु सूर्य के उदय होते ही कमल खिल जाता है और चन्द्रमा के उदय होने पर चन्द्रकान्त-मणि पिघलने लगता है। अतः वास्तव में प्रेम का उद्गम भीतरी कारणों से होता है। भवभूति ने इस सिद्धान्त को दृढ़ करने के लिए सांसारिक उदाहरणों को न देकर प्रकृति के अटल नियमों का उल्लेख किया है। यह कवि के गूढ़ दार्शनिक विचारों को प्रकट कर रहा है। इन्हीं विशिष्टताओं के फलस्वरूप प्राचीन

आलोचकों की सर्वमान्य सम्मति रही है—उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते। और यह सम्मति यथार्थ है।

अपकर्ष-काल के नाटककार

कालिदास से लेकर भवभूति तक का युग संस्कृतनाट्य के इतिहास में सचमुच सुवर्ण युग था। इस आठ सौ वर्षों के सुदीर्घ काल में नाटक अपने पूर्ण वैभव तथा उत्कर्ष पर पहुँच चुका। अब उसके अपकर्ष का काल आरम्भ होता है। इस युग के नाटककारों ने अपने रूपकों को 'अभिनेय' न बनाकर केवल 'पाठ्य' बना दिया है। अभिनेता के लिए जिस प्रकार के व्यापार का निवेश उचित है तथा जिस गत्यात्मकता की आवश्यकता होती है उधर हमारे इन नाटककारों का ध्यान ही नहीं गया। वे प्रसंगानुसार ललित विषयों के वर्णन में ही अपनी प्रतिभा को कृतकार्य मानने लगे। 'वर्णन' ही अब उनका प्रधान विषय बन गया। फलतः इस युग के महाकाव्यों से इन नाटकों का अन्तर विशेष अधिक न रह सका। दोनों का ही लक्ष्य अब पण्डितों का ही हृदयावर्जन रह गया। सामान्य जनता का चित्ताकर्षक अब उनकी दृष्टि से ओझल हो गया। प्राचीन नाटकों का प्रदर्शन किसी सामूहिक उत्सव के अवसर पर या राजा के विदग्धपरिषद् में एकत्र मण्डली के सामने हुआ करता था। अब ऐसे उत्सव कम होते गये और नाटक का प्रणयन संवाद से संवलित वर्णन के ही लिए होने लगा। जनता से वे दूर चले गये। ऐसे युग में भी सुन्दर नाटकों की रचना हुई है जिनमें से कतिपय का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

८—अनङ्गहर्ष

उदयन कथाचक्र से सम्बद्ध नाटकों में 'तापसवत्सराज'[1] की ख्याति बहुत ही विपुल थी। इसकी लोकप्रियता तथा प्रसिद्धि का परिचय इसी

१ इस महनीय नाटक की केवल एक अधूरी प्रति बर्लिन के राजपुस्तकालय में विद्यमान है और उसी के आधार पर इसका एक संस्करण यदुगिरी स्वामी के सम्पादकत्व में मैसूर से प्रकाशित हुआ है, १९२९।

घटना से लग सकता है कि इसके पद्यों का उद्धरण तथा विषय का समीक्षण मम्मट, कुन्तल, भोजराज, राजशेखर, अभिनव गुप्त, हेमचंद्र तथा आनंदवर्धन के द्वारा बड़ी विशदता तथा मार्मिकता के साथ किया गया है। कुंतल ने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' में इसके बहुत से पद्यों को ही उद्धृत नहीं किया, प्रत्युत नाटक की प्रति-अंक-गत वस्तु की समीक्षा पुंखानुपुंख रूप में की है। अभिनवगुप्त का समीक्षण भी इसी प्रकार मार्मिक है। भोजराज ने अपने दोनों ग्रंथों में उद्धरण तथा समीक्षण का कार्य किया है। ये समस्त उल्लेख इसके नाट्यसंविधानक के गौरवाधायक हैं। इस नाटक के 'उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता' (२।१६) पद्य को आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में उद्धृत किया है और यही इसका प्राचीनतम उद्धरण है। फलतः इस नाटक की रचना शताब्दी से प्राचीन है, परंतु कितना प्राचीन ? इसका भी अनुमान किया जा सकता है।

प्रस्तावना से पता चलता है कि इसके प्रणेता नरेन्द्रवर्धन के पुत्र 'अनङ्गहर्ष' अपरनामक श्री मातृराज थे। राजशेखर ने कलचुरि राजवंश में उद्भूत किसी 'माउराज' की प्रशस्त स्तुति की है।[1] हमारी दृष्टि में 'माउराज' मातृराज का ही असली नाम प्रतीत होता है। यदि यह ठीक हो, तो ये कलचुरि वंश के कोई राजा प्रतीत होते हैं। 'मालती-माधव' की कामन्दकी के अनुकरण पर इन्होंने इस नाटक में 'सांकृत्यायनी नामक बौद्ध भिक्षुणी की अवतारणा की है जिससे स्पष्ट है कि ये भवभूति के पश्चाद्वर्ती हैं। फलतः भवभूति तथा आनन्दवर्धन के अन्तराल काल में (अष्टम शतक के उत्तरार्ध में) इस नाटककार का उदय मानना युक्तिसंगत होगा।

'तापसवत्सराज' में राजा उदयन वासवदत्ता के जल जाने की बात सुनकर नितान्त खिन्न होकर तापस बन जाता है और प्रयाग में आत्महत्या करने के लिए तैयार हो जाता है। अनेक युक्तियों से उसके प्राणों की रक्षा की जाती

१ 'माउराज'-समो जज्ञे नान्यः कलचुरिः कविः।
उदन्वतः समुत्तस्थुः कति वा तुहिनांशवः॥

है। वह तापस वेष में घूमता हुआ आश्रम में जाता है जहाँ वासवदत्ता से उसकी भेंट होती है। अन्त में मगध की राजकुमारी पद्मावती के साथ उसका विवाह सम्पन्न होता है। नाटक की कथावस्तु बड़ी ही वेदनामयी और रोचक है जिसे कवि ने अच्छे ढंग से सजाया है तथा घटनाओं में कार्यान्विति की पूर्ण सत्ता है। इसीलिए कुन्तक तथा अभिनवगुप्त ने इसके आख्यान का अपने ग्रन्थों में विश्लेषण किया है। काव्यदृष्टि से भी यह क्रम सुन्दर नहीं है।

उदयनविषयक रूपकों में वह 'तापस वत्सराज' पाँचवा तथा अन्तिम ग्रन्थ प्रतीत होता है। भास तथा श्रीहर्ष के एतद्विषयक दो दो नाटकों की चर्चा तथा समीक्षा पीछे की गई है। तदनन्तर कालक्रम से इसी का निर्देश न्याय-प्राप्त है। उदयनविषयक दो नाटकों का नाम्ना निर्देश उपलब्ध होने पर भी उनकी ग्रंथतः प्राप्ति अभी तक नहीं हुई है। ऐसे नाटकों में एक है महाकवि **सुबन्धुकृत वासवदत्ता-नाट्यधारा** (जिसके एक लम्बा गद्य-पद्यात्मक उद्धरण अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के २१ वें अध्याय में किया है) तथा दूसरा है **विशाखदेव** रचित **'अभिसारिता वञ्चितकम्'** (जो भोज राज के द्वारा नामतः निर्दिष्ट किया गया है)। इन दोनों की उपलब्धि होने से उदयन-विषयक नाटकों के अध्ययन तथा विश्लेषण का विशेष अवसर आलोचकों को मिल सकता है। इन दोनों में से सुबन्धु का उल्लेख वामन ने अपनी 'अलंकार-सूत्रवृत्ति' में किया है जिससे नाट्यधारा की सम्भवतः अष्टम शती से प्राचीनता सिद्ध होती है। 'अभिसारिता वञ्चितक' के रचयिता और मुद्राराक्षस के प्रख्यात प्रणेता विशाखदत्त एक ही अभिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

'तापसवत्सराज' नाटक में सरल तथा सुबोध भाषा का प्रयोग किया गया है। कथानक को अलंकृत करने का प्रयत्न कवि ने अच्छे ढंग से किया है। शार्दूल-विक्रीडित वृत्तों का यहाँ बहुल तथा रुचिर प्रयोग पाया जाता है। भाषा के सुबोध होने के कारण से यह नाटक चित्त के ऊपर अपना प्रभाव जल्दी जमाता है। राजा अपने विरह का वर्णन बड़े सुंदर शब्दों में कर रहा है (१।४)—

तद्वक्त्रेन्दुविलोकनेन दिवसो नीतः प्रदोषस्तथा
तद्गोष्ठ्यैव निशापि मन्मथकृतोत्साहैस्तदङ्गार्पणैः ।
तां संप्रत्यपि मार्गदत्तनयनां द्रष्टुं प्रवृत्तस्य मे
बद्धोत्कण्ठमिदं मनः किमथवा प्रेमाऽसमाप्तोत्सवः ॥

[अपनी प्रियतमा के चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख के देखने में मैंने दिन को बिता दिया । उसके विषय में मीठी बातचीत करते हुए प्रदोष (रात्रि का आरम्भ) को बिता डाला । रात्रि भी कामजन्य क्रीडाओं को समर्पित कर दी गई । यह तो संयोग की मधुर स्मृति है । इस वियोग में भी उत्सव समाप्त नहीं हुआ, प्रत्युत आज भी मैं उसके आने की प्रतीक्षा में उसी ओर टकटकी बाँधे बैठा हूँ । सच्ची बात तो यह है—**प्रेमा असमाप्तोत्सवः** । प्रेम के उत्सवों की कभी समाप्ति ही नहीं होती । प्रेम में, चाहे संयोग हो या वियोग, उत्सवों का ताँता बँधा ही रहता है]

६—मु रा रि

इनकी केवल एकमात्र रचना मिलती है—**अनर्घराघव** । ये मौद्गल्य-गोत्री श्रीवर्धमानक तथा तनुमती के पुत्र थे । उपाधि थी 'बाल वाल्मीकि' की । इनकी कविता में वर्णनों के अतिरिक्त कोई विशेष चमत्कार नहीं दिखलाई पड़ता जिसमें हम इस उपाधि को युक्तियुक्त समझें । सूक्तिग्रन्थों में उद्धृत इनके प्रशंसात्मक पद्यों से प्रतीत होता है कि ये माघ तथा भवभूति के अनन्तर आविर्भूत हुए[1] । एक आलोचक का कहना है कि वे भवभूति (शंकर और कवि) के पक्षपाती नहीं हैं; इसलिए वे मुरारि (कृष्ण तथा कवि) के पद (चरण और शब्द) की चिन्ता में अपने चित्त को लगा रहे हैं[2] । यह कथन मुरारि को भवभूति से पश्चाद्वर्ती नाटककार बतला रहा है । रत्नाकर ने

---

१ मुरारि-पदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा ।
भवभूतिं परित्यज्य मुरारिमुररीकुरु ॥

२ भवभूतिमनादृत्य निर्वाणमतिना मया ।
मुरारिपदचिन्तायामिदमाधीयते मनः ॥

अपने हरिविजय में श्लेषरूप से नाटककार मुरारि का उल्लेख किया है[1]। अतः मुरारि को रत्नाकर से (८२५ ई०) पूर्ववर्ती मानना ही उचित है। इस प्रकार भवभूति और रत्नाकर के बीच में—अष्टम शतक के उत्तरार्ध में—मुरारि की सत्ता निश्चित की जा सकती है।

इनका अनर्घराघव सात अंकों में समाप्त हुआ है। प्रस्तावना में सूत्रधार का कहना है कि रौद्र, बीभत्स, भयानक तथा अद्भुत रस से युक्त नाटक के अभिनय को देखते-देखते दर्शक लोग उद्विग्न हो गये हैं। अतः वे 'अभिमत रस' से युक्त नाटक का अभिनय देखना चाहते हैं। इस कथन में भवभूति के नाटकों पर व्यंग्य कसा गया है। भवभूति के होते हुए मुरारि का अपने समर्थन में यही कहना है कि उनका नाटक वीर और अद्भुत रस से युक्त तथा गम्भीर और उदात्त वस्तु से सम्पन्न है। अतएव समस्त काव्य-रसिकों को आनन्द देने वाला है[2]। कवि की यह उक्ति मार्मिक अवश्य है। इन्होंने अपने नाटक द्वारा इस उक्ति को चरितार्थ करने का प्रयत्न अवश्य किया है, पर आलोचकों की दृष्टि में यह प्रयत्न प्रयासमात्र रहा है, इन्हें सफलता नहीं मिली है। भवभूति के अनन्तर रामकथा पर नाटक लिखना कोई सरल काम नहीं था। सफलता उसी कवि की चेरी बनकर रहती है जिसमें काव्यप्रतिभा प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहती है। मुरारि में इसका नितान्त अभाव था। अतः नाटक की दृष्टि से अनर्घराघव सफल प्रयास नहीं कहा जा सकता। कविता पर्याप्त रूप में अच्छी है। सप्तम अंक में राम के लङ्का से अयोध्या आते समय मुरारि ने रघुवंश के तेरहवें सर्ग का अनुसरण किया है। कविता में प्रौढ़ता है, ओज का प्रकर्ष है, वर्णन की बहुलता है; परन्तु हम उस सुकुमारता को नहीं पाते जो हमें कालिदास की कविता में मिलती है, और न वह मानव हृदय के भावों की परख पाते हैं जिसके कारण भवभूति के नाटक सहृदयों का मनोरंजन करते हैं।

---

१ अङ्कोत्थ-नाटक इवोत्तमनायकस्य ।
नाशं कविर्व्यधित यस्य मुरारिरित्थम् ॥—हरविजय ३८।६७

२ तस्मै वीराद्भुतारम्भगम्भीरोदात्तवस्तवे ।
जगदा[illegible]महे ॥ [illegible]

१०—राजशेखर

समाधिगुणशालिन्यः प्रसन्नपरिपक्त्रिमाः ।
यायावरकवेर्वाचो मुनीनामिव वृत्तयः ॥ —धनपाल ।

कविराज राजशेखर के जीवनवृत्त से हम विशेषतः परिचित हैं। उन्होंने अपनी जीवनी नाटकों की प्रस्तावना में विस्तार के साथ दी है। ये यायावर वंश में उत्पन्न हुए थे। यह वंश कवियों के प्रसव के लिए कल्पतरु था। इसी कुल को अकालजलद, सुरानन्द, तरल, कविराज आदि अनेक कवियों ने अलंकृत किया था। ये महाराष्ट्र-चूड़ामणि कविवर अकाल-जलद के प्रपौत्र थे तथा दुर्दुक और शीलवती के पुत्र थे। इन्होंने **अवन्ति-सुन्दरी** नामक चौहानवंशी क्षत्रियललना से विवाह किया था। अवन्ति-सुन्दरी बड़ी भारी विदुषी थीं, संस्कृत भाषा की ही नहीं बल्कि प्राकृत भाषा की भी। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में 'पाक' के विषय में इनके विशिष्ट मत का उल्लेख किया है। 'पाक' के विषय में आचार्य वामन का कथन है कि पदों का विन्यास इतना मंजुल होना चाहिए कि वे अपने स्थान से हटाए न जा सकें। इस पर अवन्तिसुन्दरी का कथन है कि यह तो अशक्ति है—कवि की कमजोरी है कि वह एक पद को हटाकर उसके स्थान पर दूसरे अनुरूप पद का प्रयोग नहीं कर सकता[1]। हेमचन्द्र ने देशी-नाम-माला में अवन्तिसुंदरी के 'देशी-शब्द-कोष' का उल्लेख किया है तथा उनके द्वारा कई शब्दों के जो नये अर्थ किये गये हैं उनका भी उल्लेख किया है। प्राकृत कविता की परख और उसमें रुचि होने का प्रबल प्रमाण इस घटना से भी हो सकता है कि इन्हीं के आदेश से 'कर्पूरमंजरी' का प्रथम अभिनय किया गया था। इस प्रकार राजशेखर ने अपने पूर्वजों से कविता की दिव्य प्रतिमा को पैतृक वित्त के रूप में प्राप्त किया था।

---

१ आग्रहपरिग्रहादपि पदस्थैर्यपर्यवसायः तस्मात्पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं 'पाकः' इति वामनीयाः। इयमशक्तिर्न पुनः पाकः इत्यवन्तिसुन्दरी।
—काव्यमीमांसा, पृष्ठ २०१।

ये महाराष्ट्र, सम्भवतः विदर्भ, के निवासी थे। परंतु कान्यकुब्ज के राजा के ये उपाध्याय पद पर विराजते थे। इनके आश्रयदाता का नाम महेंद्र-पाल था जो कन्नौज के प्रतिहारवंशी राजाओं में विशेष गौरवशाली माना जाता है[1]। इन्हीं के आदेश से राजशेखर ने बालरामायण का अभिनय प्रस्तुत किया था। कुछ दिनों के लिए ये दूसरे नरेश के यहाँ चले गये थे जिनकी अध्यक्षता में 'विद्धशालभंजिका' का अभिनय किया गया था। यहाँ से लौटकर ये फिर कान्यकुब्ज आये और महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल के सभासद् होकर रहे। इन्हीं के आदेश से 'बालभारत' या 'प्रचण्डपाण्डव' का अभिनय किया गया। इन राजाओं के समकालीन होने से इनका समय नवम का अंत तथा दशम शताब्दी का पूर्वार्ध मानना उचित होगा।

राजशेखर का पाण्डित्य काव्यक्षेत्र में बहुत बढ़ा चढ़ा था। वे अपने को वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ और भवभूति का अवतार मानते हैं[2]। इससे स्पष्ट है कि राजशेखर ने भवभूति के नाटकों का ही अध्ययन नहीं किया था अपितु वाल्मीकि के रामायण तथा भर्तृमेण्ठ के हयग्रीव-वध का भी गाढ़ अनुशीलन किया था। राजशेखर की प्रतिभा महाकाव्य की रचना के उपयुक्त थी, नाटक-निर्माण के लिए वह उतनी अनुरूप न थी। उक्त महाकाव्य रचयिताओं के प्रति समधिक आदर दिखलाने का भी यही रहस्य है। इन्होंने अपने को 'कविराज' कहा है। ये भूगोल के बड़े भारी ज्ञाता थे। भारत के प्राचीन भूगोल की अनुपम सामग्री काव्यमीमांसा में भरी पड़ी है। इन्होंने इस

---

१ आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारां निधिः
त्यागी सत्यसुधा-प्रवाहशशभृत् कान्तः कवीनां गुरुः।
वर्ण्यं वा गुणरत्न-रोहण-गिरेः किं तस्य साक्षादसौ
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः॥

—बालरामायण १।१८

२ बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

—वही।

विषय पर 'भुवनकोष' नामक ग्रंथ भी बनाया था जो आजकल उपलब्ध नहीं होता। बालरामायण का दशम अङ्क भौगोलिक वर्णन से भरा पड़ा है।

काव्यमीमांसा के अनुसार कवि की दश अवस्थाओं में 'महाकवि' के पद से बढ़कर 'कविराज' का पद स्वीकृत किया गया है। जो केवल एक प्रकार के प्रबन्ध में प्रवीण होता है वह 'महाकवि' कहलाता है परन्तु कविराज का दर्जा इससे एक सीढ़ी बढ़कर है। जो सब भाषाओं में, सब प्रबन्धों में और भिन्न-भिन्न रसों में स्वतन्त्र होता है, 'कविराज' कहा जाता है। संसार में ऐसे प्रसिद्ध कविराज विरले होते हैं'[1]। राजशेखर वस्तुतः कविराज थे। संस्कृत, प्राकृत, पैशाची तथा अपभ्रंश भाषाओं में इनकी अबाध गति थी तथा इन भाषाओं में इनकी ललित लेखनी कमनीय कविता की सृष्टि करती थी। राजशेखर का बहुभाषाविज्ञान एक विलक्षण वस्तु है। उन्होंने स्वयं इस तथ्य को प्रकट किया है:—

गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुराः
सुभव्योऽपभ्रंशः सरसरचनं भूतवचनम्।
विभिन्नाः पन्थानः किमपि कमनीयाश्च त इमे
निबद्धा यस्त्वेषां स खलु निखिलेऽस्मिन् कविनृपः॥

ग्रंथ

राजशेखर ने स्वयं अपने षट्प्रबन्धों का निर्देश किया[2] है। इन प्रबंधों में पाँच प्रबंध उपलब्ध हैं तथा प्रकाशित हुए हैं। एक प्रबंध 'हरविलास' का केवल उद्धरण हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन विवेक' में दिया है। काव्यमीमांसा का सम्बन्ध अलंकारशास्त्र से है। इन दोनों को छोड़ देने पर शेष चारों रचनाएँ रूपक हैं जिनके नाम हैं—

---

१ योऽन्यतरप्रबन्धे प्रवीणः स महाकविः। यस्तु तत्र तत्र भाषा—विशेषे, तेषु तेषु प्रबन्धेषु, तस्मिन् तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपये—काव्यमीमांसा पृ० १६

२ विद्धि नः षट्प्रबन्धान्—बालरामायण १।१२

(१) **बालरामायण**—इसमें दश विशालकाय अंकों में राम की कथा को भव्य नाटक-रूप दिया गया है (२) **बालभारत** (या प्रचंडपाण्डव) महाभारत की कथा का विराट नाटकीय रूप है। परन्तु इसके केवल आरंभ के दो ही अंक उपलब्ध होते हैं। (३) **विद्धशालभञ्जिका**—चार अंक की सुन्दर नाटिका है। (४) **कर्पूरमञ्जरी** यह भी चार जवनिकांतरों में समाप्त नाटिका ही है, परन्तु केवल प्राकृतभाषा में निबद्ध होने के कारण यह 'सट्टक' कहा जाता है। इसमें चण्डपाल और कुंतल देश की राजकुमारी कर्पूरमंजरी का विवाह कौलमतावलंबी भैरवानंद की अलौकिक शक्ति से सम्पन्न दिखलाया गया है।

'बालरामायण'[1] में रामायण की कथा विस्तार के साथ निबद्ध की गई है। भवभूति ने समग्र रामकथा की महत्ता तथा विशालता के पूर्ण निर्वाह के लिए उसे दो ग्रंथों में नाटकीय रूप दिया है। राजशेखर ने पूर्वरामचरित को ही अपने विपुल-काय 'बालरामायण' में प्रस्तुत किया है।

'बालरामायण' की रचना में राजशेखर ने अपनी काव्यप्रतिभा का प्रदर्शन खूब ही किया है। इसके प्रणयन में उन्होंने अपनी समस्त काव्य-चातुरी तथा पदविन्यास कौशल को प्रस्तुत करने के निमित्त कोई प्रयत्न छोड़ नहीं रखा है। इसमें १० अंक हैं और प्रत्येक अंक काफी लम्बे तथा श्लोकों से पूर्ण हैं। प्रथम अङ्क (प्रतिज्ञा-पौलस्त्य) में रावण जनकपुर में आकर सीता से विवाह करने की प्रतिज्ञा करता है तथा जनक से उनकी कन्या के लिए प्रार्थना करता है। द्वितीय अंक (राम-रावणीय) में परशुराम तथा रावण के परस्पर कलह का वर्णन है। रावण ने अपने सेवक मायामय को परशुराम के पास उनके परशु के माँगने के लिए भेजा था। इस प्रस्ताव से ही परशुराम जी आगबबूला होकर रावण को खरी-खोटी सुनाते हैं (२।२२) और दोनों में परस्पर नोकझोंक होती है। तृतीय अंक (विलक्ष लंकेश्वर) में राजशेखर ने नवीन नाटकीय योजना प्रस्तुत की है। रावण सीता की अप्राप्ति

---

१ गोविन्ददेव शास्त्री द्वारा मूलमात्र सम्पादित, काशी से प्रकाशित सन् १८६९।

से नितान्त खिन्न है और इसीलिये उनके मनोविनोद के निमित्त 'सीता-स्वयम्वरण' नामक गर्भनाटक का प्रदर्शन किया जा रहा है। इस नाटक में ही राम के साथ सीता का विवाह शिवधनु के तोड़ने के अनन्तर होता है। रावण इस दृश्य को देखकर उद्विग्न हो जाता है परन्तु यह केवल प्रेक्षणक ही है, यह जानकर उसे संतोष होता है और क्रोध नहीं करता। चतुर्थ अंक (भार्गव-भंग) में राम और परशुराम के साथ धनुष तोड़ने के बाद महान् वादविवाद खड़ा हो जाता है। कवि की एक नई योजना यह है कि इन्द्र दशरथ जी को आकाशमार्ग से मातलि के साथ जनकपुर में भेजते हैं जो स्वयं अपने नेत्रों से राम के हाथ इस पराक्रम तथा परशुराम के पराजय की घटना को देखकर अत्यन्त आह्लादित होते हैं। पञ्चम अंक (उन्मत्त-दशानन) में कवि का अपने काव्यकौशल दिखलाने का अच्छा अवसर हाथ लगता है। सीता के वियोग में रावण का उन्माद कवि ने बड़ी प्रौढ़ता से दिखलाया है जहाँ रावण स्वयं मनोविनोद के लिए छओं ऋतुओं से सम्पन्न अपने लीलोद्यान में जाता है तथा प्रत्येक ऋतु का सुन्दर वर्णन करता है। षष्ठ अङ्क (निर्दोष-दशरथ) में राजशेखर ने राम के वनगमन में दशरथ को सर्वथा निर्दोष सिद्ध किया है। रावण के ही आदेश से शूर्पणखा और मायामय अयोध्या जाते हैं और क्रमशः कैकेयी तथा दशरथ का रूप धारण कर लेते हैं और इन्हीं माया कैकेयी और माया दशरथ के ही उद्योग से राम का निर्वासन सम्पन्न किया जाता है। इस घटना के द्वारा कार्यान्विति लाने का पर्याप्त उपयोग कवि ने किया है। 'रत्नशिखण्ड' राम के वनवास सम्बन्धी समस्त घटनाओं का क्रमशः वर्णन दशरथ जी को सुनाता है। वे इन विषम घटनाओं को सुनकर नितांत दुःखी होते हैं।

सप्तम अंक (असम-पराक्रम) में समुद्र और राम के बीच कथनोपकथन का वर्णन है। समुद्र के तीर पर राम बैठते हैं जहाँ रावण के दुर्व्यवहार से तंग विभीषण राम की शरण में आते हैं। समुद्र का बन्धन होता है तथा राम लंका में पहुँच जाते हैं। अष्टम अंक (वीर-विलास) में लंका के युद्ध का विपुल वर्णन है। कङ्कालक नामक पात्र रावण से युद्ध में उतरनेवाले वीरों कुंभकर्ण, मेघनाद आदि के अतुल पराक्रम की बातें बताता है। उनके निधन से रावण

का मान ध्वस्त हो जाता है। नवम अंक में रावण के वध की कथा है। अंतिम अंक (सानन्द रघुनंदन) में सीता के अग्निशोधन के बाद रामचन्द्र पुष्पक विमान पर चढ़कर अयोध्या लौटते हैं। रास्ते में पड़नेवाले देशों का साहित्यिक परिचय कवि ने बड़ी सुन्दर भाषा में दिया है। कालिदास के पथ का अनुसरण कर राजशेखर ने भारत के नाना प्रान्तों की भौगोलिक और सांस्कृतिक विशेषताओं का वर्णन बड़े अच्छे ढंग से किया है।

राजशेखर ने इस विशालकाय रामायणीय नाटक की घटनाओं में कार्यान्विति दिखलाने का पूर्ण प्रयत्न किया है। राम नायक हैं तथा रावण प्रतिनायक और इस नाटक में आरंभ से ही राम—विरोधी समस्त घटनायें रावण की ही प्रेरणा तथा कुमंत्रणा से प्रवर्तित होती हैं। यहाँ तक कि राम के निर्वासन में न दशरथ का कोई दोष है और न कैकेयी का, प्रत्युत दोनों पात्रों के रूप में मायामय तथा शूर्पणखा आकर ही सारा अमंगल रचते हैं। कार्यान्विति लाने का यह ढंग अनूठा है। रावण के चित्र-विनोदन के निमित्त 'सीतास्वयम्बर' के गर्भनाटक की कल्पना भी कवि की मौलिक सूझ है जिससे आरम्भ में ही रावण का राम के साथ संघर्ष होने नहीं पाता है और कुछ काल के लिए विपत्ति माथे से टल जाती है। इस प्रकार कार्यान्विति की योजना सुन्दरता से की गई है। परन्तु गत्यात्मकता का इस नाटक में नितान्त अभाव है। कवि वर्णन का इतना रसिक है कि वह हमेशा वर्णनों में—ऋतु के, मनुष्यों के तथा युद्धों के ही—अपनी भारती को उलझाये हुए रहता है। इसीलिए हम राजशेखर को महाकवि मानते हैं, नाटककार नहीं। वह सचमुच प्रौढ़ महाकाव्य लिखने की प्रतिभा से मण्डित कवि (एपिक जीनियस) थे। उन्होंने अपने आपको भवभूति का अवतार माना है अवश्य, परन्तु भवभूति की रससिद्धि लेखनी का चमत्कार यहाँ कहाँ? कोमल भावों के प्रदर्शन के लिए कवि ने किसी भी ललित प्रसंग की कल्पना नहीं की है। वीररस की यह अद्वितीय रचना राजशेखर को महाकवियों की श्रेणी में उन्नत स्थान देने के लिए अवश्यमेव पर्याप्त समझी जावेगी।

'कर्पूरमञ्जरी' की कथावस्तु विशेष घटना-प्रधान नहीं है। इस सट्टक का प्रारम्भ वसन्त वर्णन से होता है 'भैरवानन्द' नामक एक तांत्रिक अलौकिक

सिद्धि के बल पर विदर्भनगर की राजकुमारी 'कर्पूर-मञ्जरी' को उसके स्नानागार से राजा के सामने ला देता है। बातचीत से वह महारानी की सम्बन्धिनी सिद्ध होती है। अतः वह उसे अपने अन्तःप्रासाद में लाकर रखती है (प्रथम अंक)। कर्पूरमञ्जरी का अलौकिक सौन्दर्य राजा के चित्त-में प्रेमांकुर उत्पन्न करने में समर्थ होता है। वह राजा के लिए अपने भावों के प्रकटन के लिए एक 'मदनलेख' भेजती है। 'हिन्दोलक चतुर्थी' के दिन कर्पूरमञ्जरी महारानी के आदेशानुसार 'हिन्दोल' पर झूला झूलती है जिसको देखने के लिए राजा विदूषक के साथ एकान्त में जाता है और उसके झूलने का रमणीय वर्णन करता है। पौधों के खिलने के लिए दोहद दान के लिए जब कर्पूरमञ्जरी वाटिका में जाती है तब राजा को उसकी असामान्य सुन्दरता को नजदीक से देखने का अवसर मिलता है (द्वितीय अंक)। रानी के कानों में राजा की इस नयी कामलीला की भनक पड़ती है और वह कर्पूरमञ्जरी को एकान्त में कैद कर लेती है। परन्तु विचक्षणा की बुद्धि यहाँ काम कर जाती है। सुरंग से वह छिपे ही छिपे राजा से भेंट करने जाती है (तृतीय अंक) रानी इस लीला को बन्द करने के लिए दासियों की एक लम्बी सेना उस कारागृह की रक्षा में रख देती है, परन्तु तान्त्रिक भैरवानन्द की नयी युक्ति के सामने वह हार मान लेती है। वह तान्त्रिक रानी की सम्मति से सार्वभौम-पद की प्राप्ति के लिए लाटदेश की घनसारमंजरी का विवाह राजा से कर देता है। 'घनसारमञ्जरी' वस्तुतः 'कर्पूरमञ्जरी' का ही कल्पित अभिधान है। इस प्रकार राजा की प्रेमलीला अपने सफल पर्यवसान पर पहुँच जाती है (चतुर्थ अंक)।

समीक्षण

अपनी अभिरुचि तथा प्रवाह के कारण राजशेखर की प्रतिभा नाटकीय होने की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य के प्रणयन के लिए विशेषतः अनुकूल थी। 'बालरामायण' का विशाल विस्तृत रूप उसे अभिनेय रूपक होने से सर्वथा रोकता है। राजशेखर वर्णन करने में नितान्त निपुण हैं, परन्तु ये वर्णन नाटक की प्रकृति से विरुद्ध होने से उसमें खप नहीं सकते। बालरामायण में

७४१ पद्य हैं जिनमें ८६ पद्य स्रग्धरा में तथा २०० पद्य (समग्र ग्रंथ का चतुर्थ से भी अधिक अंश) शार्दूल-विक्रीडित में निबद्ध हैं। अन्तिम अंक में रामचन्द्र के पुष्पक विमान पर चढ़ 'अयोध्या प्रत्यावर्तन' का वर्णन १०५ पद्यों में किया गया है जो स्वयं किसी पूर्ण नाटक के लिए भी पर्याप्त माना जा सकता है। लम्बे-लम्बे छन्दों में संस्कृत तथा प्राकृत कविता अनायास निबद्ध करना कवि के बायें हाथ का खेल है। शार्दूलविक्रीड़ित तो राजशेखर का सिद्ध छन्द है—

शार्दूल-क्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः
शिखरीव परं वक्रैः सोल्लेखैरुच्चशेखरः ॥—सुवृत्ततिलक

राजशेखर अपनी नाट्यकला की इस त्रुटि से अपरिचित प्रतीत नहीं होते। उन्होंने अपने नाटकों में 'भणितिगुण' की प्रशंसा की है, 'नाट्य गुण' की नहीं। 'भणितिगुण' से तात्पर्य उन गुणों से है जो उक्ति को सुन्दर, सरस तथा सुबोध बनाते हैं। अपने विरोधी आलोचकों का मुखमुद्रण करने के लिए वे पूछ बैठते[1] हैं कि मेरे 'बालरामायण' में भणितिगुण विद्यमान है या नहीं? यदि गुण की सत्ता है, तो इन्हें पाठ करने में प्रेम रखो, प्रेम से पढ़ो (न कि आनन्द से देखो)। राजशेखर की सम्मति में भी यह नाटक पढ़ने में ही विशेष आनन्ददायक है, अभिनय में नहीं। यह स्वीकारोक्ति कवि की सच्ची आलोचना है।

राजशेखर 'शब्द कवि' हैं। इनके पदों की रमणीय शय्या किस रसिक के मन को नहीं हर लेती? वेद के ज्ञाता के लिए 'श्रुत्यर्थवीथीगुरुः' का प्रयोग कितना शोभन तथा श्रवण-सुखद है? नोंकझोंक वाले शब्दों का विन्यास इनके नाटकों में अद्भुत चमत्कार पैदा करता है। इनकी काव्य-प्रतिभा प्रथम कोटि की है। इसका परिचय कर्पूरमंजरी के अनुशीलन से ही मिल जाता है। इन्होंने अपने वर्णनों में बहुत ही निपुणता दिखलायी है।

---

१ ब्रूते यः कोऽपि दोषं महदिति सुमतिर्बालरामायणेऽस्मिन्
प्रष्टव्योऽसौ पटीयान् इह भणितिगुणो विद्यते वा न वेति।
यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भव पठनरुचिः......। —बालरामायण १।१२

शैली विशेषतः गौड़ी है; परंतु उसमें पाञ्चाली का स्थान-स्थान पर पुट है। भवभूति के ये तो पक्के शिष्य हैं। इनके काव्य में भी शब्दों से अर्थ की प्रतिध्वनि होती है। यह शब्दचमत्कार इनकी रचना में पद-पद पर मिलता है। परंतु रस का वह परिपाक, हृदय के भावों की गहरी परख, प्रकृति और मानव का परस्पर रागात्मक संबंध जो भवभूति की काव्यकला के भूषण हैं, वे यहाँ खोजने पर भी नहीं मिलते। इनके काव्य में लोकोक्तियों तथा मुहावरों का विशेष चमत्कार दीख पड़ता है। 'वरं तत्कालोपनता तित्तिरी न पुनः दिवसांतरिता मयूरी' हिंदी के 'नव नगद न तेरह उधार' का ही पुराना प्रतिनिधि है। इनके नाटकों में गतिशीलता का अभाव भले ही हो, परंतु पात्रों की सजीवता निश्चय ही चमत्कारिणी है।

कर्पूरमञ्जरी में कवि ने विरहवर्णन के प्रसंग में सच्ची काव्यप्रतिभा का परिचय दिया है—

परं जोण्हा उण्हा गरलसरिसो चन्दणरसो
खतक्खारो हारो रअणिपवणा देहतवणा।
मुणाली बाणाली जलइ च जलद्दा तणुलदा
वरिट्ठा जं दिट्ठा कमलवअणा सा सुणअणा॥

तात्पर्य है कि जब वह कमलनयनी सुंदरी दृष्टिपथ में आयी तब से चाँदनी ताप उत्पन्न करने लगी, चन्दनरस गरल के समान प्रतीत हुआ। हार काँटों पर नमक सा लगने लगा, रात के ठंढे पवन देह को जलाने लगे। मृणाल बाणावली प्रतीत हुआ और जल से आर्द्र तनुलता भी जलने लगी।

सीता की सुषमा के वर्णन-प्रसंग पर कवि कह रहा है कि सीता के सामने चंद्रमा मानों अंजन से लिप्त कर दिया गया है। मृगियों के नेत्रों में मानों जड़ता ने प्रवेश कर लिया है। मूँगे की लता की लालिमा फीकी पड़ गई। सोने की कान्ति काली हो गई है। कोकिलाओं के कलकण्ठ में कला ने रूखेपन का मानों अभ्यास कर रखा है। और तो क्या? मोरों के चित्र-विचित्र पंख निंदा के बोझ से मानो लद गये हैं। उत्प्रेक्षा की छटा नितान्त अवलोकनीय है—

इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमलता श्यामेव हेमद्युतिः ।
पारुष्यं कलया च कोकिलवधू-कण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव ॥
—बालरामायण १।४२

राजशेखर के समकालीन क्षेमीश्वर राजा महीपाल (कन्नौज नरेश) के सभापण्डित थे। इनके लिखे हुए दो नाटक हैं (१) चण्डकौशिक तथा (२) नैषधानन्द; जिन में चण्डकौशिक विशेष प्रसिद्ध है। सत्यहरिश्चन्द्र का जीवनचरित्र नाटक रूप में दिखलाया गया है। इसमें पाँच अंक हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसी नाटक के आधार पर अपना 'सत्यहरिश्चन्द्र' नामक प्रख्यात नाटक हिंदी में लिखा है।

(१०) शक्तिभद्र

इनका सर्वप्रसिद्ध नाटक **'आश्चर्यचूड़ामणि'** संस्कृत के मूर्धन्य नाटककारों की श्रेणी में इन्हें स्थान देने के लिए पर्याप्त है। ये केरल देश के कवि थे तथा स्थानीय प्रसिद्धि के आधार पर ये आद्य शंकराचार्य के शिष्य माने जाते हैं। कहा जाता है कि शक्तिभद्र ने अपने इस नाटक को शंकराचार्य को सुनाया था। फलतः किसी दुर्घटनावश नाटक के जल जाने पर शंकर ने स्वयं अपनी स्मृति से ग्रंथ को लिखवाया तथा इसका उद्धार किया। इस ग्रंथ की प्रस्तावना से पता चलता है कि दक्षिण देश का यह सर्वप्रथम नाटक था तथा इससे पहिले उस देश में नाटकों की रचना नहीं होती थी। सूत्रधार का यह कथन सुनकर कि वह दक्षिण देश के एक नाटक का अभिनय प्रदर्शित कर रहा है नटी बड़े व्यंग्य के स्वर में कह उठती है कि दक्षिण देश में यदि नाटक का निर्माण हुआ है तो आकाश में फूल उग आये हैं और बालू से तेल निकल आया है। अर्थात् दक्षिण में नाटक की रचना एक असम्भव व्यापार है। इस आलोचना की उपयुक्तता तभी सिद्ध हो सकती है जब हम शक्तिभद्र को कुलशेखर वर्मा से पूर्ववर्ती मानें। कुलशेखर

केरल के ही राजा थे जिन्होंने केरल के रंगमंच में उचित सुधार कर उसे संस्कृत नाटकों के अभिनय-योग्य बनाया। उन्होंने दो नाटकों की भी रचना की थी जिनके नाम हैं—तपतीसंवरण तथा सुभद्रा-धनञ्जय। इनके समय के विषय में भी मतैक्य नहीं है। एक मत के अनुसार इनका समय दशम शती का मध्यकाल (९३५ ई०—९५५ ई०) माना जाता है। आश्चर्यचूड़ामणि की प्रस्तावना में पूर्वोक्त कथन की उपपत्ति इसी बात से हो सकती है कि ये कुलशेखर वर्मा से पूर्ववर्ती थे। इसके शंकराचार्य के शिष्य होने की परंपरा से भी इनका दशम शतक से पूर्ववर्ती होना निश्चित होता है। फलतः इनका समय शंकराचार्य तथा कुलशेखर के बीच में कभी होने से नवम शती माना जा सकता है।

इनकी एकमात्र पूरी उपलब्ध रचना **'आश्चर्यचूड़ामणि'** ही है[1]। इनकी अन्य रचना में अनुपलब्ध या अपूर्ण 'उन्माद वासवदत्ता' का केवल उल्लेख ही मिलता है। 'वीणावासवदत्ता' का प्रकाशन तो हुआ है (ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास) परन्तु यह अधूरा ही है। सम्भव है कि खोज करने से ये दोनों ग्रंथ पूरे उपलब्ध हो जाँय। **'आश्चर्य चूड़ामणि'** रामकथा का नाटकीय रूप है, परन्तु इसकी सर्वमान्य विशिष्टता है। **'आश्चर्य रस का प्रदर्शन'**। इस विषय में यह अनुपम नाट्यकृति है जिसमें समस्त वस्तु के निर्माण में आश्चर्य रस का प्रदर्शन ही मुख्यतया प्रेरक माना जा सकता है। इसमें ७ अंक हैं जिनमें आश्चर्यप्रधान घटनाओं की एक रोचक परम्परा उपस्थित की गई है। नाटक की दृष्टि से यह नाटक समग्र राम नाटकों में अग्रगण्य माना गया है। यद्यपि कवित्व की दृष्टि से यह 'उत्तर रामचरित' की तुलनाओं में टिक नहीं सकता, परन्तु अभिनेयता की दृष्टि इसे उत्कृष्ट मानने के पक्ष में है।

केरल में उपलब्ध तथा भास के नाम से प्रख्यात नाटकों की नाट्यशैली यहाँ भी उपलब्ध होती है। फलतः कतिपय आलोचक शक्तिभद्र को इस नाटक

---

१ म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्री द्वारा संपादित 'श्री बालमनोरमा सीरीज' (नं० ६) में प्रकाशित, मद्रास, १९२६।

चक्र के रचयिता मानने के पक्ष में हैं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। सामान्यतः सादृश्य की कमी नहीं है, परंतु सूक्ष्म दृष्टि से भाषा तथा भाव की तुलना करने पर दोनों का पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है[1]। ऐसी दशा में शक्तिभद्र को इन नाटकों का रचयिता मानना नितान्त अनुचित है। शक्तिभद्र को केरल देश का आद्य नाटककार होने का गौरव प्राप्त है तथा अद्भुतप्रधान नाटकों का एकमात्र प्रतिनिधि होने से उनका यह नाटक संस्कृत के नाट्य साहित्य में एक प्रकार से अप्रतिम है।

११—जयदेव

इनके सप्तांकी नाटक 'प्रसन्नराघव' में रामकथा का वर्णन बड़े ही सुंदर ढंग से चित्रित किया है। इसमें भवभूति के नाटकों के समान हृदय के भावों का चित्रण नहीं है और न राजशेखर के बालरामायण की तरह वर्णन का विस्तार है। परन्तु इतनी मंजुल पदावली है कि पढ़ते ही पूरा चित्र आँखों के सामने खिंच जाता है। प्रसादमयी कविता के कारण इसका 'प्रसन्नराघव' नाम यथार्थ है।

प्रसन्नराघव की प्रस्तावना से केवल इतना ही पता चलता है कि जयदेव का गोत्र कौंडिन्य था और वे सुमित्रा तथा महादेव के पुत्र थे। वे कवि तथा तार्किक दोनों एक साथ थे और इस बात पर उनका विशेष आग्रह है कि कोमलकाव्य के निर्माण में लीलावती भारती कर्कशतर्क से युक्त वक्र-वचन के उद्गार में भी पूर्णतया समर्थ हो सकती है और इसीलिए कविता और तार्किकत्व का एक स्थान में निवास विस्मयकारी नहीं मानना चाहिए। अनुमान से कवि के देश तथा काल का परिचय लगता है। जयदेव मिथिला के निवासी थे तथा न्यायशास्त्र में आलोक नाम्नी टीका लिखने वाले जयदेव से ये भिन्न नहीं हैं। परन्तु गीतगोविन्दकार जयदेव से ये भिन्न तथा काल-क्रम से अर्वाचीन हैं। गीतगोविंद के कर्ता जयदेव भोजदेव तथा राधा

---

१ द्रष्टव्य कुप्पुस्वामी—अभिनन्दन ग्रन्थ, मद्रास, पृष्ठ ३—८।

(रामा) देवी के पुत्र तथा लक्ष्मण सेन (११ शती) के समकालीन कवि थे तथा बंगाल के केन्दुबिल्व (वर्तमान केंदुली) के निवासी थे। विश्वनाथ कविराज (१४ शती) ने प्रसन्नराघव का एक पद्य 'कदली कदली' ध्वनि के उदाहरण में उद्धृत किया है जिससे इनका समय उनसे पूर्ववर्ती त्रयोदश शतक में मानना उचित होगा।

'प्रसन्नराघव' में सात अंक हैं। कवि को बालकांड की कथा से इतना अधिक प्रेम है कि उन्होंने प्रथम चार अंकों में उसी का विस्तार किया है। प्रथम अंक में मञ्जीरक और नुपूरक नामक शब्दीजनों के द्वारा सीतास्वयम्बर की सूचना मिलती है जिसमें रावण और बाणासुर अपने अपने भुजबल की प्रचुर प्रशंसा करते हैं और आपस में संघर्ष कर बैठते हैं। द्वितीय अंक में हम जनक की वाटिका में उपस्थित जानकी को पाते हैं वहाँ राम और लक्ष्मण फूल तोड़ने के लिए आते हैं और सीता के देखने का उन्हें प्रथम अवसर प्राप्त होता है। तृतीय अंक में विश्वामित्र राम लक्ष्मण के साथ स्वयम्बर-मंडप में पधारते हैं। जनक जी के साथ इनका परिचय कराते हैं जो राम के सौंदर्य को देखकर मुग्ध हो उठते हैं, धनुष चढ़ाने की. प्रतिज्ञा से वे चिन्तित हो जाते हैं। इसी बीच विश्वामित्र के आदेश से राम धनुष को चढ़ाने के स्थान पर तोड़ देते हैं। विवाह आनन्द के साथ सम्पन्न होता है। चतुर्थ अंक में परशुराम का प्रसंग उपस्थित किया गया है जिसमें राम के साथ उनका वाक्कलह होता है। प्रथमतः तांड्यायन ने रावण को ही धनुष का तोड़नेवाला कहा था, परन्तु पीछे सच्ची बात का पता चलता है। परशुराम जी के पूछने पर राम ने सरल उत्तर दिया कि यह पुराना धनुष छूते ही स्वयं टूट गया। लक्ष्मण के साथ भी नोंक-झोंक की बातें होती हैं। पंचम अंक में गंगा, यमुना और सरयू के संवाद रूप में राम का वनवास तथा दशरथ की मृत्यु आदि घटनायें अंकित हैं। हंस नामक पात्र सीताहरण तक की कथा सुनाता है। षष्ठ अंक में वियोगी राम का बड़ा ही मार्मिक चित्रण है। हनुमान लंका जाते हैं जहाँ जानकी अशोक से जल मरने के लिए अंगार की याचना करती है। उसी समय हनुमान जी रामनाम से अंकित अंगूठी गिराते हैं। सप्तम अंक में मंत्री माल्यवान् का परिचारक 'करालक' आरंभ में विभीषण आदि की बातें कहता

है। विद्याधर तथा विद्याधरी युद्ध का वर्णन करते हैं। रावण मारा जाता है। चंद्रमा के उदय होने पर सुग्रीव तथा विभीषण बड़ी सुन्दर कल्पनायें सुनाते हैं। अंत में पुष्पक-विमान पर चढ़कर राम अयोध्या लौट आते हैं।

'प्रसन्नराघव' की कथा के वर्णन से स्पष्ट है कि इस नाटक में नाटकीयत्व की अपेक्षा कवित्व की ही सत्ता विशेष है। कवि में कोमल कविकला की पूर्ण अभिव्यक्ति करने की क्षमता है और वह ऐसे ललित अवसरों की खोज में रहता है। द्वितीय अंक का वाटिकावृत्तांत कवि की निजी कल्पना है और बहुत ही सुन्दर कल्पना है। षष्ठ अंक में राम का विरहीरूप बड़ा करुणाजनक है जब वह जंगल की प्रत्येक वस्तु से सीता के समाचार पूछते तथा विलखते हुए घूमते हैं। इसी प्रकार प्रभात तथा चंद्रोदय का वर्णन भी प्रतिभासंपन्न है। इस प्रकार कविता की दृष्टि से यह बहुत ही सुन्दर, प्रसाद गुण से युक्त तथा लालित्य से मंडित है। परन्तु नाटकीय दृष्टि से इसका मूल्यांकन विशेष नहीं किया जा सकता। प्रसिद्ध घटनाओं का यहाँ केवल नाटकीय रूप दिया गया है। उसमें व्यापार की प्रसृति तथा प्रगति खोजने पर भी नहीं मिलती। हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास ने अपने 'रामचरित मानस' में जयदेव की अनेक सूक्तियों को अपनाया है। वाटिकावाला वृत्तांत, जो मानस में अपनी चारुता तथा रुचिर कल्पना के लिए यथार्थतः प्रसिद्ध है, इसी नाटक के आधार पर निर्मित किया गया है[1]।

हनुमान् जी के द्वारा राम का यह संदेश कितना सुन्दर तथा रुचिर है—

कस्याख्याय व्यतिकरमिमं मुक्तदुःखो भवेयं
को जानीते निभृतमुभयोरावयोः स्नेहसारम्।
जानात्येवं शशधरमुखि! प्रेमतत्त्वं मनो मे
त्वामेवैतत् चिरमनुगतं तत् प्रिये किं करोमि।

---

१ तुलसी और जयदेव के इस परस्पर सम्बन्ध के लिये देखिए बलदेव उपाध्याय—काव्यानुशीलन, पृष्ठ ६१–७८ —जयपुर, सन् १९५६।

इस पद्य का आशय बड़े थोड़े में तुलसीदास ने प्रकट किया है—

तत्त्व प्रेमकर मम अरु तोरा।
जानत प्रिया एक मन मोरा।
सो अब रहत सदा तव पाँहीं।
जानु प्रीति रस इतने माँहीं॥

इनकी सरस कविता का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः
परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः।
निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालवालः
कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः॥

ऐसे कवि तो अनेक हैं जो अपनी कविता के द्वारा आनंद प्राप्त करते हैं। ठीक ही है "निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होय अथवा अति फीका।" परन्तु ऐसे कवि तो उँगली पर गिनने लायक हैं जो दूसरों की कविता सुन कर आनंद की प्राप्ति करते हैं। अपने घने मकरन्द के चूने से जिसका आलवाल भर गया है ऐसा आम का वृक्ष घड़े के द्वारा जल का सेचन नहीं चाहता क्या? अर्थात् अवश्यमेव चाहता है। इसी प्रकार दूसरों के काव्यों से आनन्द उठाना सज्जनों का ही काम है।

इतर नाटक और नाटककार

(१) **कुलशेखर वर्मा** (९३५ ई०–९५५ ई०)—तपतीसंवरण और सुभद्रा धनंजय के रचयिता। ट्रावनकोर रियासत के महोदय नामक राज्य के राजा थे। केरल में इनके नाटकों और काव्यग्रंथों का बड़ा सम्मान है। ये वैष्णव मत के विशेष प्रचारक माने जाते हैं। **तपतीसंवरण**—इसमें ६ अङ्क हैं जिनमें कुरु के पिता संवरण तथा माता 'तपती' का चरित्र वर्णित है। यह कथा महाभारत के आदिपर्व में आई है। **सुभद्रा-धनञ्जय**—यह पाँच अंकों का नाटक है। इसमें महाभारत की प्रसिद्ध सुभद्राहरण की कथा वर्णित है। इसमें वीररस प्रधान है।

(२) **हनुमन्नाटक**—इसके दो संस्करण उपलब्ध होते हैं। प्रथम

६ वा १० अंकों की पुस्तक मधूसूदन मिश्र कवि विरचित, दूसरा १४ अंकों की पुस्तक दामोदर मिश्र विरचित है। अंकों की अधिकता के कारण यह 'महानाटक' कहलाता है। इसमें नाटकीय अंश बहुत ही कम है। वर्णन ही अधिक है। कहीं कहीं प्राचीन कवियों के प्रसिद्ध श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं।

(३) रामचन्द्र—(११००-७५ ई०) नलविलास तथा निर्भय भीम-व्यायोग के कर्ता। ये प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे तथा गुजरात के राजा कुमारपाल तथा अजयपाल के समकालीन थे। इनकी विद्वत्ता बड़ी चढ़ी-बढ़ी थी। इसीलिए हेमचन्द्र ने इन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाया था। 'नल-विलास' में नल की कथा का वर्णन है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का विषय स्पष्ट है। "कौमुदी मित्रानन्द" दश अंकों का एक लम्बा प्रकरण है।

(४) जयसिंह सूरि—(१२२५ ई०)—"हम्मीर-मद-मर्दन" ही इनका एकमात्र नाटक है जिसमें गुजरात के हम्मीर पर यवनों के आक्रमण तथा राजा की दुर्दशा, वीरधवल और उनके प्रसिद्ध मंत्री वस्तुपाल की कीर्ति का वर्णन है।

(५) रविवर्मा—(१३ वीं का उत्तरार्ध)—'प्रद्युम्नाभ्युदय' में इन्होंने प्रद्युम्न की कथा लिखी है। यह नाटक पाँच अंकों का है। रविवर्मा केरल के अंतर्गत 'कोलम्बपुर' का राजा था। वह परम वैष्णव, अच्छा गायक, कवि तथा आलंकारिक था।

(६) वामनभट्ट बाण (१४२० ई० के लगभग)—ये दक्षिण के बड़े भारी पण्डित थे इन्होंने 'पार्वती परिणय' में शिव पार्वती के विवाह की कथा लिखी है। इसमें पाँच अंक हैं। नाम की समता से यह नाटक महाकवि बाणभट्ट का ही मान लिया जाता है। परन्तु यह बात ठीक नहीं। शृङ्गारभूषण भाण इनका प्रचलित भाण है। कवि—सार्वभौम, साहित्य-चूड़ामणि आदि—उपाधियों से इनकी विद्वत्ता का परिचय मिलता है।

(७) महादेव (१६ श०)—ये रामभद्र दीक्षित के समकालीन दाक्षिणात्य कवि हैं। समय १६ वीं का उत्तरार्ध है। इनका 'अद्भुत

दर्पण' रामकथा के विषय में है। अंगद के दौत्य से आरम्भ कर रामचन्द्र के राज्याभिषेक तक की कथा वर्णित है। राम-नाटक होने पर भी इसमें विदूषक भी विद्यमान है।

(८) धीरनाग—कुन्दमाला। यह नाटक हाल ही में प्रकाशित हुआ है। कथा रामायण से सम्बद्ध है। उत्तररामचरित का विशेष अनुकरण कवि ने किया है। अतः इनका समय अष्टम शतक के अनन्तर होना चाहिए। साहित्यदर्पण में उद्धृत किये जाने के कारण यह नाटक १४ वीं शताब्दी से पुराना है। सम्भवतः ११ या १२ वीं शताब्दी में इसकी रचना हुई। इस नाटक के कर्ता का नाम 'धीरनाग' है। कुछ लोग प्रसिद्ध बौद्धाचार्य दिङ्नाग को ही इसका लेखक मानते हैं। परन्तु यह कदापि मान्य नहीं है। बौद्ध कवि अपने धार्मिक विषय को छोड़कर रामचरित पर नाटक लिखेगा, यह सहसा विश्वास नहीं होता। भवभूति के पर्याप्त अनुकरण होने के कारण यह नाटक अष्टम शतक से कथमपि प्राचीन नहीं हो सकता।

(९) कौमुदी महोत्सव—इस नाटक के रचयिता के नाम का पता नहीं चलता। सुनते हैं कि प्रसिद्ध स्त्रीकवि विज्जका की यह रचना है। इसमें पाँच अंक हैं। यह नाटक पाटलिपुत्र के राजा देवकल्याण वर्मा के नये राज्य की प्राप्ति के उपलक्ष्य में किया था। यह नाटक ऐतिहासिक महत्त्व का माना जाता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि इसका कथानक गुप्त साम्राज्य के उदय से सम्बन्ध रखता है। नाटक साधारणतया अच्छा है। दक्षिण भारत सीरीज मद्रास से प्रकाशित हुआ है।

रूपक के अन्य भेद

नाटिका

दशरूपक के अनुसार प्रकरण और नाटक के मिश्रण को 'नाटिका' कहते हैं। नायक नाटक से लिया जाता है और वृत्त प्रकरण से। इसीलिए नाटिका के नायक इतिहासप्रसिद्ध व्यक्ति ही होते हैं, परन्तु इनका वृत्त कविकल्पना-प्रसूत होता है। संस्कृत साहित्य में सबसे पहली नाटिकायें महाराज हर्षवर्धन की रत्नावली तथा प्रियदर्शिका हैं। इन्होंने जिस परम्परा को अग्रसर किया उसी का अनुसरण पिछली नाटिका के

लेखकों ने किया। बिल्हण की 'कर्णसुन्दरी' नाटिका १०८० ई० और १०९० ई० के आसपास की रचना है। बिल्हण अपने महाकाव्य के लिए प्रसिद्ध हैं। इस नाटिका में चार अङ्क हैं। इसमें 'अणहिलवार' के राजा कर्णदेव त्रैलोक्य-मल्ल (ई० १०६४–१०९४) का वृद्धावस्था में कर्णाटक के राजा जयकेशी की कन्या के साथ विवाह सम्पन्न होने का वर्णन है। कथानक का प्रदर्शन 'विद्धशालभञ्जिका' से मिलता है।

धारा के परमारनरेश अर्जुनवर्मा के गुरु मदनपाल सरस्वती ने 'विजयश्री' या 'पारिजातमञ्जरी' नामक नाटिका लिखी है। इस नाटिका में भी चार अङ्क हैं जिसके केवल दो अङ्क धारा में शिला पर उल्लिखित होने से सुरक्षित हैं। इस नाटिका का समय १३ वीं शताब्दी का प्रारम्भ है। अर्जुनवर्मा ही इसके नायक हैं। कवि ने दिखलाया है कि जब अर्जुनवर्मा ने चालुक्य नरेश भीमदेव द्वितीय को परास्त किया था तब उनकी छाती पर एक माला गिरी और गिरते ही वह एक सुन्दरी के रूप में परिणत हो गयी। यह सुन्दरी चालुक्य नरेश की कन्या थी और इसी से राजा का विवाह हुआ। नाटिका का यही कथानक है जिसमें कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी प्रतीत होता है।

मथुरादास ने राधाकृष्ण के प्रेम को 'वृषभानुजा नाटिका' में बड़ी सुन्दरता से दिखलाया है। इस नाटिका के रचयिता गंगा के तीरस्थ सुवर्णशेखर नामक स्थान के कायस्थ थे। राधा कृष्ण के हाथ में किसी सुन्दरी का चित्र देखकर उनसे मान कर बैठती है। पीछे देखने पर यह राधा का ही चित्र निकलता है। यही वृत्तान्त इस नाटिका में दिखलाया गया है। बिल्हण की 'कर्णसुन्दरी' कवि की प्रसिद्ध उदात्त शैली में लिखी गयी है जिसका निदर्शन हमें 'विक्रमांकदेव चरित' में मिलता है। 'वृषभानुजा' नाटिका की भाषा कर्णसुन्दरी से अपेक्षाकृत सरल है। मथुरादास की पदावली अत्यन्त कोमल है जो राधा-कृष्ण की लीलाओं के वर्णन के लिए नितांत उचित है[1]।

---

१ कर्णसुन्दरी काव्यमाला (नं० ७) में तथा वृषभानुजा भी वहीं (नं० ४६) में प्रकाशित हुई है।

सट्टक का इतिहास

सट्टक नाटिका के समान ही होता है, परंतु प्राकृत-भाषा में समग्रतया निबद्ध रहता है तथा उसमें विष्कम्भक, प्रवेशक तथा अंक नहीं होते। 'अंक' के स्थान पर 'जवनिकांतर' का प्रयोग किया जाता है। सट्टक का लक्षण भरत के नाट्यशास्त्र में नहीं; अभिनवगुप्त के कथनानुसार कोहल ने इसका लक्षण दिया है। सट्टकों में सर्वप्रथम रचना है राजशेखर की (१) 'कर्पूरमञ्जरी' इस ग्रंथ ने सट्टक का इतना सुन्दर तथा निखरा हुआ रूप प्रस्तुत किया कि पिछले सट्टकों के रूप, कथानक तथा वर्णन-प्रकार के ऊपर इस ग्रंथ का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा है। अन्य सट्टकों का सामान्य परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

(२) **रम्भामंजरी**—हम्मीर महाकाव्य के रचयिता जैन कवि नयचंद्र ने इसकी रचना की है। नयचंद्र ने अपने महाकाव्य में नैषधीय के प्रणेता श्रीहर्ष तथा पद्मानंद महाकाव्य के लेखक अमरचंद्र (१३ शतक का मध्य काल) का निर्देश किया है। हम्मीर ने अलाउद्दीन खिलजी के विरोध में घनघोर युद्ध किया तथा १३०१ ई० में युद्धस्थल में मरा। नयचंद्र का समय १५ शती का आरम्भकाल है। 'रम्भामंजरी' में काशी के राजा जैयचंद्र (सम्भवतः गहड़वाड नरेश राजा जयचन्द्र) के रम्भा नामक सुन्दरी से विवाह करने का विचित्र प्रबन्ध प्रस्तुत किया गया है। इसमें केवल तीन ही 'जवनिकांतर' हैं जो निर्धारित नियम से विरुद्ध है। कहीं कहीं संस्कृत के भी श्लोक आते हैं। साहित्यिक दृष्टि से यह 'कर्पूरमंजरी' की अपेक्षा न्यून कोटि की है। (प्रकाशित बम्बई)

(३) **विलासवती**—इसके लेखक मार्कण्डेय रवींद्र ने 'प्राकृत-सर्वस्व' में इसका निर्देश मात्र किया है। १७ शती के उत्तरार्ध में उत्कल नरेश मुकुन्ददेव के वे समकालीन थे। यह सट्टक अभी तक उपलब्ध नहीं है (अनुपलब्ध)।

(४) **चंद्रलेखा**—इसके लेखक **रुद्रदास** केरल देश की पारशव जाति में (जो वहाँ 'वारियर' के नाम से आज भी विख्यात है) उत्पन्न हुए थे।

कालिकट के राजा (जमोरिन) मानवेद द्वितीय (राज्यकाल १६५८–१६६२ई०) के ये सभापंडित या समकालीन थे। अतएव इस ग्रंथ का रचनाकाल १६६० ई० माना गया है। 'चंद्रलेखा' एक बहुत ही सुंदर तथा सरस सट्टक है जिसमें ग्रंथकार के आश्रयदाता मानवेद के अंगदेश की राजकुमारी 'चंद्रलेखा' के साथ परिणय-प्रसंग का वर्णन बड़ी ही रोचक शैली में किया गया है। चिंतामणि देवता के प्रसाद से वह सुन्दरी चम्पा के उद्यान में क्रीडा करने के समय केरल में माया के द्वारा लाई गई। मुख्य रस शृंगार है, पर अद्भुत आदि रसों का भी समावेश किया गया है। रुद्रदास की कविता ऊँचे दर्जे की है। ऋतु का वर्णन भी बड़ा ही शोभन तथा सुन्दर है। कर्पूरमंजरी की यत्र-तत्र छाया होने पर भी सट्टक में अपना व्यक्तित्व है और यह कवि के पांडित्य तथा कवित्व के मनोरम सामञ्जस्य का परिणत फल है[1]।

(५) **शृंगारमंजरी**—इसके रचयिता संस्कृत आलोचना शास्त्र के मर्मज्ञ विश्वेश्वर पंडित हैं, जिनका जन्म अलमोड़ा जिले में १८वीं शती के प्रथम चतुर्थांश में हुआ था। विश्वेश्वर पांडेय अपने युग के एक महान् साहित्य-स्रष्टा थे। इन्होंने 'नवमालिका' नामक नाटिका तथा 'शृंगारमंजरी' सट्टक का प्रणयन किया। यह सट्टक काव्यदृष्टि से बहुत ही सुन्दर है और विश्वेश्वर ने अपनी प्रतिभा के बलपर नवीन बातों की उद्भावना की है। राजशेखर के वे ऋणी अवश्य हैं, परन्तु प्राकृत भाषा की प्रवाहमयी सरस कविता लिखने में उनका प्रभुत्व अक्षुण्ण प्रतीत होता है। (काव्यमाला गुच्छक सं० ८ में प्रकाशित)

(६) **आनंद सुंदरी**—इसके रचयिता घनश्याम अपने को 'महाराष्ट्र चूडामणि' बतलाते हैं। 'कंठीरव' उनकी उपाधि थी। महादेव तथा काशी के वे पुत्र थे और चौण्डाजी बाला जी के पौत्र। सुंदरी और कमला उनकी

---

१ भारतीय विद्या ग्रन्थावली (ग्रन्थकार ६) में डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये के सम्पादकत्व में उपयोगी भूमिका के साथ प्रकाशित बम्बई १९४५।

दो स्त्रियाँ थीं। चन्द्रशेखर और गोवर्धन दो पुत्र थे। १७०० ई० उसका जन्म हुआ और १७५० ई० तक जीवित रहे। उनतीस साल की उम्र में वे तंजोर के राजा तुकोजि प्रथम (१७२९–१७३५ ई०) के मन्त्री नियुक्त हुए। घनश्याम एक बड़े भारी लेखक तथा कवि थे जिनकी ६४ पुस्तकें संस्कृत में, २० प्राकृत में तथा २५ देशीभाषा में थीं। अपने युग के वे साहित्यगगन के, एक प्रकाशमान विभूति थे। उन्होंने राजशेखर से काव्यकला के विषय में लोहा लिया है।

'आनन्द सुन्दरी' चार जवनिकान्तर में निबद्ध एक प्रेम कथानक है जो अभी तक प्रकाशित नहीं है। घनश्याम संस्कृत के महनीय कवि थे। फलतः उनकी प्राकृतभाषा उतनी स्वाभाविक तथा रोचक नहीं है जितनी विश्वेश्वर पंडित की। इस सट्टक में उन्होंने दो 'गर्भनाटक' की अवतारणा की है जो मूलकथानक से सर्वथा सम्बद्ध है। यही इस सट्टक की नाटकीय विशिष्टता है। राजशेखर ने कहीं कहीं अपने सट्टक में देशी शब्दों का व्यवहार किया है। घनश्याम ने इसे बढ़ाकर बहुत से मराठी शब्दों तथा क्रियाओं का भी प्रयोग किया है जो आज भी प्रचलित हैं। इसमें हास्य का पुट बड़े आकर्षक ढंग से दिया गया है। घनश्याम को अपनी विद्वता तथा पाण्डित्य का विशेष गर्व तथा अभिमान है। इस सट्टक में प्रतिष्ठित पारिजात नामक कवि उन्हीं के प्रतिनिधि प्रतीत होते हैं। कहा जाता है कि इन्होंने 'बैकुण्ठ चरित' तथा एक अज्ञात नामक सट्टक (संभवतः 'नवग्रह चरित') नामक दो अन्य सट्टकों का भी प्रणयन किया था जिसके लिये अभी पूर्ण प्रमाण नहीं मिलता[1]। (अप्रकाशित)।

प्रकरण

प्रकरण नाटक से ही मिलता जुलता है। केवल इसका नायक धीरप्रशांत ब्राह्मण, मन्त्री या कोई बनिया होता है। मालतीमाधव तथा शूद्रक का 'मृच्छकटिक' महनीय प्रकरण हैं जिनका वर्णन नाटक के प्रसंग में किया

---

१ सट्टकों के इस विवरण के लिए लेखक डा० उपाध्ये की पाण्डित्यपूर्ण भूमिका का विशेष ऋणी हूँ।

गया है। अन्य प्रकरणों की रचना कालान्तर में की गई। प्रथम प्रकरण निम्नलिखित हैं—

(१) मल्लिकामारुत[1]—इस प्रकरण में १० अंक हैं। रचयिता का असली नाम उद्दण्ड कवि है जो वस्तुतः कालिकट के राजा की सभा के पंडित थे तथा १७ वीं शताब्दी के मध्यभाग में विद्यमान थे। कथानक बिल्कुल मालतीमाधव के समान है। नाम साम्य से कभी कभी यही प्रकरण दण्डी के मत्थे भी मढ़ा जाता है।

(२) कौमुदीमित्रानन्द[2]—यह हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र की कृति है जिसकी रचना ११७३—७६ ई० के बीच में हुई। यह प्रकरण अभिनय के लिए उपादेय नहीं है। इधर-उधर विकीर्ण कथनोपकथन का संग्रहमात्र प्रतीत होता है।

(३) प्रबुद्धरौहिणेय—जयप्रभसूरि के शिष्य रामभद्रमुनि (१३ शतक) के द्वारा रचित जैनधर्म में प्रसिद्ध एक आख्यान का प्रकरणरूप से निर्माण हुआ है।

(४) मुद्रितकुमुदचन्द्र[3]—धनदेव के पौत्र तथा पद्मचन्द्र के पुत्र यशचन्द्र की रचना है। यह प्रकरण एक विख्यात धार्मिक शास्त्रार्थ का अवलम्बन कर लिया गया है जो ११२४ ई० में श्वेताम्बर मुनि देवसूरि और दिगम्बरमुनि कुमुदचन्द के बीच हुआ था। इसमें कुमुदचन्द्र का मुख-मुद्रण हो गया। इसलिए इस रूपक का सार्थक नाम है।

भाण

एक अंक में समाप्त होने वाले, धूर्त तथा विट के चरित्र को वर्णन करनेवाले रूपक को 'भाण' कहते हैं। संस्कृत साहित्य में प्राचीनता की दृष्टि से भाण का स्थान नाटक से किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। केरल में

---

१ जीवानन्द विद्यासागर के द्वारा प्रकाशित।

२ भावनगर से १९१७ में प्रकाशित।

३ काशी से प्रकाशित वीर सं० २४३२।

प्राचीनकाल में लिखित 'भाण' उपलब्ध हुए हैं जिनका प्रकाशन 'चतुर्भाणी' के नाम से हुआ है[1]। इन भाणों की भाषा और भावसरणि प्राचीनता की प्रधान प्रतीक है। इन भाणों के रचयिता वररुचि, ईश्वरदत्त, श्यामलिक, तथा शूद्रक। इनके विषय में किसी प्राचीन आलोचक का यह श्लोक मिलता है—

वररुचिरीश्वरदत्तः श्यामलिकः शूद्रकश्च चत्वारः।
एते भाणान् बभणुः का शक्तिः कालिदासस्य॥

कालक्रम से इन भाणों का संक्षिप्त वर्णन यों है—

(१) उभयाभिसारिका—इसके रचयिता वररुचि हैं। वररुचि के 'कण्ठाभरण' काव्य का उल्लेख महाभाष्य में मिलता है। अतः यह ईस्वी पूर्व तृतीय शतक से अर्वाचीन नहीं है। इस भाण की भाषा तथा शैली बड़ी प्रौढ़ है। पाटलिपुत्र में इस भाण का अभिनय हुआ था।

(२) पद्मप्राभृतक—इसके रचयिता 'शूद्रक' कवि हैं जिनका वर्णन नाटक-प्रकरण में विस्तार के साथ किया गया है। शूद्रक राजा होने के अतिरिक्त रूपककार भी थे। प्राचीनकाल में विक्रमादित्य के समान ही सरस्वती के उपासक तथा कवियों के आश्रयदाता होने से इनकी पर्याप्त ख्याति थी। इनके विषय में रामिल और सोमिल ने 'शूद्रककथा' लिखी थी। किसी अज्ञात कवि का 'विक्रान्त शूद्रक' नामक नाटक तथा पंचशिख का 'शूद्रक चरित-नाटक' का उल्लेख मिलता है। इस भाण में प्राचीनकाल के प्रसिद्ध कला-वेत्ता 'मूलदेव' का चरित्र-चित्रण किया गया है। इसके पढ़ने से प्राचीन काल के पण्डितों की नोंक-झोंक की बात जानी जा सकती है। इस भाण का एक पद्य हेमचन्द्र के काव्यानुशासन (पृ० १८८) में उद्धृत किया है। अन्य ग्रन्थों में भी इनके उद्धरण मिलते हैं।

---

१ शिवपुरी (मद्रास) से प्रकाशित, १९२२। 'श्रृंगारहाट' के नाम से हिन्दी में अनूदित (भूमिका तथा टिप्पणी के साथ; बम्बई १९५९)

(३) धूर्तविट संवाद—इसके रचयिता का नाम है 'ईश्वरदत्त'। भोजदेव ने शृंगार-प्रकाश में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने इस ग्रंथ के एक पद्य का उल्लेख अपने काव्यानुशासन में किया है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व का है। इस रूपक में विट और धूर्त का परस्पर संवाद कामिनियों तथा वेश्याओं के विषय में दिया गया है। भाषा में बड़ी प्रौढ़ता है।

(४) पादताडितक—इसके रचयिता का नाम है श्यामलिक। इन्होंने अपने को उदीच्य लिखा है जिससे यह ज्ञात हो सकता है कि वे काश्मीर के थे। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचारचर्चा' में श्यामलिक का जो पद्य उद्धृत किया है वह इस भाण में मिलता है। अभिनवगुप्त ने श्यामलिक का नाम निर्देश किया है तथा 'पादताडितक' से उद्धरण भी दिए हैं। अतः इनका समय ८००–६०० ई० के बीच होना चाहिए। बहुत सम्भव है कि ये महिमभट्ट के गुरु 'श्यामलिक' ही हों।

१६ वीं शताब्दी के बाद भी अनेक भाणों की रचना होती रही जिनमें 'वामनभट्ट बाण' का शृंगारभूषण', 'रामभद्रदीक्षित' का शृंगारतिलक', (या अय्या भाण), 'वरदाचार्य' का 'वसन्ततिलक' (अम्मा भाण), 'शंकर कवि' का 'शारदा तिलक', 'नल्ला कवि' (१७ वीं लगभग) का 'शृंगार-सर्वस्व', 'युवराज' कृत 'रससदन भाण' मुख्य हैं। इन भाणों का कथानक, लेखनशैली तथा वर्णनप्रकार बिलकुल मिलते जुलते हैं। जिस चतुर्भाणी का उल्लेख विस्तार से ऊपर किया गया है उसकी शैली से इनकी शैली भिन्न है।

प्रहसन का इतिहास

हास्य का मानव जीवन में विशिष्ट उपयोग है। क्रोध तथा प्रीति आदि भावों का अस्तित्व पशुपक्षी आदि जीवों में देखा जाता है, परन्तु हास्य का सीधा लगाव मनुष्य के जीवन से है। साहित्यिक के हाथ में हास्य एक विशिष्ट साधन है जिसके द्वारा वे समाज में बुराई का प्रचार करने वाले व्यक्तियों की मीठी चुटकी लेता है और बिना किसी संघर्ष तथा विरोध के वह

अपने अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि कर लेता है। जब समाज को दिन-प्रतिदिन घटित होने वाली घटनायें जर्जरित करने लगती हैं, तब भावनाशील सच्चे कलाकार का मस्तिष्क इनके विचार विमर्श करने के लिये विवश हो जाता है। घटनाओं का उत्तरदायित्व समाज के प्राणियों पर ही रहता है। यदि वह प्राणी संयोगवश अपनी धार्मिक प्रतिष्ठा तथा राजनैतिक अधिकार के कारण श्रद्धा तथा सम्मान का भाजन होता है और साथ ही साथ गुप्तरूप से समाज-हित से विरुद्ध कार्यों में संलग्न होता है, तो वह सारे समाज को पतन के गर्त की ओर ले जाने का दोषी ठहराया जा सकता है। ऐसे ही व्यक्ति सहृदय कलाकार की लेखनी के लिए प्रेरणा तथा स्फूर्ति के स्रोत बन जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के चारित्रिक दोष का भंडाफोड़ करना कलाकार के लिए समाज के हित की दृष्टि से नितान्त आवश्यक हो जाता है। परन्तु इस काम के लिए लेखक में चाहिए शिष्ट हास्य के प्रयोग की क्षमता। हास्य की लेखनी तलवार से भी अधिक जोरदार हथियार है जिसका आघात तो बाहार से दिखलाई नहीं पड़ता, परंतु उसकी चोट भीतर से मर्म को विद्ध करती है और अपने अभीष्ट की सिद्धि में सफल होती है।

भारत एक धर्मप्रधान देश है। यहाँ धर्म के आचार्यों के हाथ में नेतृत्व की बागडोर सदा से रही है। आजकल भारत में राजनीतिक लीडरों का बोल-बाला है, परन्तु कभी यहाँ धर्म के आचार्यों के हाथ में समाज के बनाने या बिगाड़ने की महती शक्ति थी। कभी धार्मिक जगत् के नेतृत्व का भार बौद्ध भिक्षुओं के हाथ में था। उस समय भिक्षु त्याग तथा तपस्या की उज्ज्वल मूर्ति माना जाता था तथा 'बिहार' (बौद्ध मठ) उच्चकोटि की चारित्रिक साधना की भूमि का प्रतीक था; परंतु कालक्रम से भिक्षु मानवीय दुर्बलता के शिकार बन गये। उस पवित्र चरित्र का सर्वथा लोप हो गया। बौद्ध भिक्षुणी राजाओं के पुत्र और पुत्रियों की कामकेलि के संवर्धन में अपने को व्यस्त करने लगीं। अन्य धर्मों की भी यही दशा थी। मध्ययुग में मुसलमानों के राज्य-काल में भोग-विलास का बाजार गरम हो गया। यवनों के चारित्रिक पतन का प्रभाव हिंदू राजा-महाराजा, साधु-सन्त तथा अन्य लोगों पर भी

पड़ने लगा। वातावरण ही दूषित हो उठा। यही कारण है कि मध्ययुग के धार्मिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार की विशेष वृद्धि हुई और इसीलिए इस युग में प्रहसनों की साहित्य के एक मान्य प्रकार की दृष्टि से विशेष रचना हुई।

'प्रहसन' का हमारे साहित्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। भरत ने हास्य की तीनों कोटियों—उत्तम, मध्यम तथा अधम का बड़ा ही उपादेय वर्णन किया है (नाट्यशास्त्र, ६ अध्याय, श्लोक ५१-६०) और इससे हम जानते हैं कि प्राचीन आचार्य शिष्ट हास्य और अशिष्ट हास्य के पार्थक्य को भलीभाँति जानते थे। हास्य के लिखने में इसीलिए बड़ी सावधानी तथा क्षमता की आवश्यकता होती है क्योंकि थोड़ीसी गलती से वह अश्लिष्ट तथा अश्लील के रूप में उद्वेजक बन जाता है। इस सूक्ष्म भेद को कवि के लिए जानना नितांत आवश्यक होता है। बहुत से आलोचकों की यह धारणा है कि संस्कृत साहित्य में शिष्टहास्य का नितांत अभाव है। इसमें व्यक्तिगत आक्षेप—एक दूसरे के ऊपर छींटाकशी के सिवाय विशेष कुछ नहीं के समान है, परंतु यह धारणा भ्रांत है। शुद्ध तथा साहित्यिक हास्य की मात्रा अपने साहित्य में कम नहीं है। कालिदास का विदूषक कभी भी अश्लील रिमार्क करता हुआ नहीं पाया जाता। वह औदरिक है—पेटपूजन के प्रति उसकी विशेष आसक्ति है और इसीलिए उसकी बातचीत में उसके द्वारा प्रयुक्त अलंकारों में, इसी विषय के सम्बन्ध की विशेष चर्चा है। किसी व्यक्ति के ऊपर वह अश्लील बातों का आक्षेप कभी नहीं करता। प्राचीन प्रहसन भी काव्य दृष्टि से विशुद्ध हास्य के पोषक हैं और अश्लीलता से कोसों दूर हैं। इनमें चार्वाक, जैन, बौद्ध, शैव तथा कापालिक के मतों की खासी दिल्लगी इसलिए उड़ाई गई है कि उनके अनुयायियों के सिद्धांत और व्यवहार में, कथनी और करनी में, जमीन आसमान का फर्क है। उनके आक्षेपजनक सिद्धांतों की बुराइयों की ओर, जिनसे जनता के बीच अनाचार फैलने की आशंका है, बड़े मार्मिक रूप से संकेत किया गया है। मध्ययुगीन प्रहसनों में अश्लीलता की जो छाया दीख पड़ती है वह तत्कालीन विकृत तथा विलासी समाज की प्रतिच्छाया है। दुख इतना ही है कि रूपक के इस कोमल प्रकार के प्रति कवियों का उतना आग्रह नहीं रहा। प्रहसनों की संख्या उँगली पर गिनने लायक है, जहाँ

नाटकों की रचना से साहित्य भरा पड़ा है। कतिपय प्रख्यात प्रहसनों की आलोचना यहाँ की जा रही है।

संस्कृत के प्राचीनतम प्रहसन–**मत्तविलास**—के रचयिता **महेंद्र विक्रम वर्मा** थे जो प्रस्तावना के अनुसार पल्लव नरेश सिंहविष्णु वर्मा (५७५ ई०–६०० ई०) के पुत्र थे। इस राजा के विषय में अनेक शिलालेख मिलते हैं जिनमें उसकी नाना संज्ञायें – गुणभर, मत्तविलास, अवनिभाजन, शत्रुमुल्ल आदि उपलब्ध होती हैं। इन नामों का प्रकारांतर से निर्देश इस प्रहसन के श्लोकों में यत्रतत्र किया गया है। अतः इसका प्रणयनकाल सप्तम शतक का पूर्वार्ध (६०० ई०–६५० ई०) मानना उचित है, क्योंकि यह राजा पुलकेशी द्वितीय तथा हर्षवर्धन का समकालीन माना गया है। यह एकांकी प्रहसन छोटा होने पर भी बड़ा ही रोचक तथा तत्कालीन धार्मिक दशा का पर्याप्त द्योतक है। युवती के साथ कोई कापालिक शराबपान करता है; मांसपिंड से युक्त होने के कारण उसके कपाल को कुत्ता ले भागता है परन्तु शराब की बदहोशी में उसे इसका पता नहीं चलता, प्रत्युत एक बौद्ध भिक्षु को वह अपने कपाल का चोर समझकर उससे झगड़ा कर बैठता है तथा झगड़ा निपटाने के लिए पाशुपत का आश्रय करता है। परन्तु उस कपाल की प्राप्ति होती है एक पागल के पास से जा उसे कुत्ते से छीनकर अपने पास रखे रहता है। बस इतनी ही कथा हास्य से संपुटित कर बड़े सुंदर ढंग से यहाँ वर्णित है। विभिन्न धर्मानुयायियों का यह संघर्ष बड़ी ही संयत भाषा में निबद्ध किया गया है। किसी प्रकार की अश्लीलता तथा अनियंत्रित भाषा तथा भाव की यहाँ उपलब्धि नहीं होती है। कांचीपुरी में अपनी धार्मिकता के प्रचारक इन संतों का विचित्र चरित्र ऐतिहासिक दृष्टि से भी कम उपादेय नहीं है। कापालिक सुरापान तथा स्त्री समागम को मोक्षमार्ग का साधन मानता हुआ बेचारे शंकर की प्रशंसा कर रहा है क्योंकि उनके मत का प्रथम प्रवर्तन उसी भोले बाबा ने किया है—

पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यं
ग्राह्यः स्वभावललितो विकृतश्च वेषः।

येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म
दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः ॥

—मत्त विलास प्रहसन[1], श्लोक ७ ।

इस प्रहसन के लगभग पाँच सौ वर्ष के अनंतर कान्यकुब्ज नरेश गोविंद-चंद्र के सभाकवि **कविराज शंखधर** ने 'लटक मेलक' नामक अत्यंत प्रख्यात तथा लोकप्रिय प्रहसन की रचना की। प्रस्तावना के भीतर (श्लोक ४) ही राजा का नाम निर्दिष्ट है। फलतः जयचंद्र के पिता गोविंदचंद्र (१२ शती) के राज्यकाल में प्रणीत यह प्रहसन 'नैषधचरित' का समसाम-यिक है। इसकी लोकप्रियता का परिचायक शार्ङ्गधर-पद्धति में दो श्लोकों का उद्धरण तथा विश्वनाथ कविराज के द्वारा संकीर्ण प्रहसन के दृष्टांतरूप में 'लटकमेलक' का निर्देश तथा 'गुरोर्गिरः' आदि प्रसिद्ध श्लोक का उद्धरण माना जा सकता है।

लटक-मेलक (= धूर्तसम्मेलन) का कथानक काफी मनोरंजक है। दो अंकों में निबद्ध इसका कथानक शाक्त तथा जैन साधुओं की प्रेम कहानी से सम्बन्धित है। कौलमतानुयायी 'सभासलि' की श्रीमती जी का नाम 'कलहप्रिया' था, परन्तु शाक्त जी 'मदनमंजरी' नामक वेश्या के घर जाया करते थे जहाँ 'जटासुर' नामक दिगम्बर सूरिजी का आना-जाना तो होता था, परन्तु उनका प्रेम हो गया वेश्या की अंगरक्षिका कुटनी 'दन्तुरा' के साथ। सभासलि अपने उद्योग से जटासुर की दन्तुरा के साथ शादी करा देते हैं और स्वयं 'मदनमंजरी' के प्रणयिहृदय को अपनी ओर खींच लेते हैं। इस प्रधान वृत्त के साथ साथ जंतुकेतु वैद्य, मदनमंजरी के असफल प्रेमी 'संग्राम-विसर', 'मिथ्याशुक्ल' जैसे शुष्क पंडित, सनकी दार्शनिक फुँकट मिश्र, बौद्ध-भिक्षु 'व्यसनाकर' आदि की अवांतर कथा के कारण वह प्रहसन बहुत ही रोचक तथा कौतुकवर्धक हो गया है। पात्रों का चरित्र तो एक ही दो वाक्यों या पद्यों में इतनी सुन्दरता से खींचा गया है कि दर्शकों के चित्त पर उनकी

---

१ अनंतशयन-संस्कृत ग्रन्थावलि (नं० ५५) में प्रकाशित, १९१७।

अमिट छाप पड़ जाती है। ग्रंथ-चुम्बक दार्शनिक फुँकट मिश्र जी का यह पाण्डित्यद्योतक चरित्र कितना सुंदर है—

> गुरो गिरः पंचदिनान्युपास्य
> वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयं च।
> अमी समाघ्रात-वितर्कपादाः
> समागताः फुङ्कटमिश्र-पादाः॥

जंतुकेतु वैद्यराज की चिकित्सा-पद्धति अविस्मरणीय है। समस्त वैद्यक ग्रंथों को चाटकर चरक संहिता से यही नुस्खा उनके हाथ लगा है कि जिस किसी पेड़ के जड़ को जिस किसी चीज के साथ पीसकर जिस किसी रोगी को दे देना चाहिए। इसका फल भी जैसा-तैसा होकर रहेगा। मूर्ख वैद्यों का मंत्र-भूत प्रख्यात पद्य यही है—

> यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केनापि पेषयेत्
> यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति॥२३॥

चमरसेन नामक विहार के निवासी बौद्ध 'व्यसनाकर' का प्रेम एक धोबिन के साथ कवि ने दिखलाया है। जातिहीन स्त्री के संस्पर्श दूषित माने जाने पर वह भिक्षु चिल्ला उठता है कि बुद्ध के मतानुसार 'जाति' नामक पदार्थ पदार्थों से भिन्न रूप से तो कभी प्रतीत नहीं होता। हमारे मत से तो समस्त पदार्थ ही क्षणिक हैं और न आत्मा ही स्थायी होता है। फलतः रजकी का दूषण ही कैसे हो सकता है? इसमें देवी की उपासना के नाम से पञ्चमकार के उपासक शाक्तों के सामाजिक भ्रष्टाचार, बौद्धभिक्षुओं के मिथ्याविहारी दार्शनिकों की अल्पज्ञता तथा दम्भ का वर्णन मनोरंजक ढंग से लेखक ने अतिशय सजीव भाषा में किया है। मेरी दृष्टि से यह प्रहसन[1] हास्यरस के उन्मीलन में, सामाजिक दशा के वर्णन में तथा धार्मिक दम्भ के प्रकटीकरण में निःसन्देह एक सफल रचना है।

'ज्योतिरीश्वर कविशेखर' का 'धूर्तसमागम' १५ वीं शताब्दी में रचित प्रहसन है। 'जगदीश्वर' का 'हास्यार्णव' विषय की दृष्टि से बड़ा ही सुंदर

१ काव्यमाला (संख्या २८) में प्रकाशित, मुंबई, १८८६।

तथा रोचक है। 'गोपीनाथ चक्रवर्ती' का 'कौतुक सर्वस्व' तथा 'सामराज-दीक्षित' (१७०० ई०) का 'धूर्त-नर्तक' पिछले कोटि के प्रहसन हैं जिनमें दुराचार-निरत तथा कामिनीलोलुप धर्मध्वजियों का भण्डाफोड़ किया गया है।

रूपक के दश भेदों में नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन और व्यायोग की रचना पर्याप्त रूप से लोकप्रिय रही है और इसीलिए इनके नमूने भी अधिक मात्रा में मिलते हैं। डिम, समवकार, वीथि, अंक तथा ईहामृग—इन रूपकों का प्रचलन बहुत ही कम रहा है। नाट्य ग्रंथों में इनके लक्षण अवश्य मिलते हैं परन्तु लक्ष्य ग्रंथों का विशेष अभाव ही है। इस समय एक कवि की कृपा से हमें इन प्रकारों के रूपकों के भी उदाहरण मिलते हैं।

वत्सराज

इस कवि का नाम **वत्सराज** है। ये कालिंजर के राजा 'परमर्दिदेव' के अमात्य थे तथा उनके पुत्र 'त्रैलोक्यवर्मदेव' के समय में भी उसी पद पर प्रतिष्ठित रहे। परमर्दिदेव का समय ११६३ ई०–१२०३ ई० तक था तथा उनके पुत्र का समय १३वीं शताब्दी के मध्य भाग तक था। इस प्रकार वत्स-राज का समय १२वें शतक का उत्तरार्ध तथा १३वें शतक का पूर्वार्ध है। ये परमर्दिदेव ही 'परमाल' के नाम से प्रसिद्ध थे जिनके पृथ्वीराज के द्वारा पराजित होने की घटना का वर्णन चन्दवरदाई के 'रासो' (महोबा समय) में मिलता है। वत्सराज के ये छहों रूपक[1] बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। इन अप्रचलित रूपकों के स्वरूप का ज्ञान हमें इन्हीं ग्रंथों से मिलता है। भाषा में प्रवाह है। वह लम्बे समासों से न तो दबी है और न अप्रचलित शब्दों के प्रयोगों से भरी है।

(१) **कर्पूरचरित-भाण**—नीलकण्ठ के यात्रा-महोत्सव में यह भाण 'परमाल' की आज्ञा से खेला गया था। इसमें एक द्यूतकर की द्यूतक्रीड़ा तथा वेश्या के साथ उसकी प्रणयलीला का मनोहर वर्णन किया गया है।

---

१ 'रूपक षट्क' नाम से प्रकाशित; गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, संख्या ८, बड़ोदा, १९१८।

(२) हास्यचूड़ामणि-प्रहसन। यह प्रहसन एक अंक का है। इसमें भारतवर्ष में एक आचार्य 'ज्ञानराशि' की खूब दिल्लगी उड़ाई गई है। इस आचार्य को केवली विद्या आती थी जिसके सहारे वह गड़े हुए धन का तथा भूली हुई वस्तुओं का पता लगाया करता था। धार्मिक कृत्य को छोड़ कर लौकिक कार्यों की अनुरक्ति को लक्ष्य कर इस प्रहसन की रचना की गई है।

(३) त्रिपुरदाह—डिम। इस डिम में चार अंक हैं। कथा पुराण से ली गयी है। भगवान् शंकर ने त्रिपुर असुर का नाश किस प्रकार किया था, इसी का साङ्गोपाङ्ग वर्णन इस डिम में है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में 'त्रिपुरदाह' नामक डिम के प्रथम प्रयोग का उल्लेख किया है। इसी संकेत को ग्रहण कर वत्सराज ने इस रूपक की रचना की है। रौद्र रस का परिपाक पूर्ण रूप से विद्यमान है। अन्य डिम बहुत पीछे के हैं। 'घनश्याम' रचित डिम, वेङ्कटवर्य का 'कृष्णविजय', 'रामकवि' कृत 'मन्मथोन्मथन' डिम के अन्य उदाहरण हैं।

(४) किरातार्जुनीय—व्यायोग। व्यायोग एक अंक का होता है। इस एकांकी रूपक में अर्जुन और शिव का युद्ध दिखलाया गया है। कथानक वही है जो भारवि के सुप्रसिद्ध महाकाव्य का है। 'प्रह्लादनदेव' रचित 'पार्थ-पराक्रम' इससे कुछ प्राचीन है। इसके रचयिता चंद्रावती (जोधपुर) के परमार राजा धारावर्ष के भाई थे। धारावर्ष आबू के परमार राजाओं में नितान्त प्रसिद्ध हैं। प्रह्लादनदेव का समय ११६३–१२०६ ई० है। 'पार्थ-पराक्रम' लोकप्रिय व्यायोग है जिसमें महाभारत के विराटपर्व में उल्लिखित अर्जुन के द्वारा विराट राजा की गायों का कौरवों के पंजे से छुड़ा लेने का (गोग्रहण) वर्णन है। 'काञ्चनाचार्य' का 'धनंजय-विजय', 'रामचंद्र' का 'निर्भयभीम' (१२वीं शतक), विश्वनाथ' (१३५०) का 'सौगंधिकाहरण' व्यायोग के अन्य उदाहरण हैं। भास का 'मध्यम व्यायोग' इन सबों से प्राचीन है।

(५) समुद्रमथन—समवकार। तीन अंक के इस समवकार में समुद्र मथन का वृत्तान्त बड़े विस्तार के साथ दिया गया है। भरत ने समुद्रमथन को समवकार आदर्श बतलाया है। इसी सूचना के अनुसार वत्सराज ने

इस रूपक का प्रणयन किया है। समवकार के अन्य उदाहरण उपलब्ध नहीं होते।

(६) वीथी—इस रूपक में भाण के समान ही कथानक होता है जिसमें शृंगाररस तथा कैशिकी वृत्ति की प्रधानता रहती है। परन्तु शृंगार की भी सूचनामात्र रहती है। एक दो पात्र रहते हैं। 'माधवी' वीथी का नाम तो मिलता है, पर ग्रंथ अप्रकाशित है।

(७) अंक—इसमें कथानक पुराण तथा इतिहास से लिया जाता है। करुण रस की प्रधानता रहती है। वास्तव युद्ध का वर्णन नहीं रहता; केवल वाक्-युद्ध ही दिखलाई पड़ता है। 'शर्मिष्ठाययाति' इस रूपक का उदाहरण है परन्तु यह अप्राप्य है। भास्कर कवि का 'उन्मत्तराघव' अंक मिलता है पर इसके रचनाकाल का पता नहीं चलता। इसमें वर्णन विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक के समान है।

(८) ईहामृग—इसका वृत्त मिश्र होता है। इसमें चार अंक और तीन ग्रंथियाँ रहती हैं। कथानक में संघर्ष इतना है कि प्रतीत होता है कि तुमुल संग्राम हुए बिना न रहेगा। परन्तु फिर भी वह युद्ध व्याज से रोक दिया जाता है। मृग के समान अलभ्य नायिका की अभिलाषा के कारण इसका नाम सार्थक दीख पड़ता है। 'वीरविजय' तथा 'रुक्मिणीहरण' का पता नहीं चलता। वत्सराज का 'रुक्मिणी-परिणय' इसका एकमात्र उपलब्ध उदाहरण है। तीन अंक के इस रूपक में कृष्ण के साथ शिशुपाल तथा रुक्मी के विशेष संघर्ष का तथा छलपूर्वक युद्ध रोकने का वर्णन है।

वत्सराज के ये रूपक काव्य दृष्टि से नितान्त सुंदर हैं। भाषा साफ-सुथरी है। श्लोक प्रसाद गुण से युक्त हैं। इसका निवेश रूपक के स्वरूप के अनुकूल ही है। 'रुक्मिणी-हरण' ईहामृग की यह नान्दी बड़ी ही सुन्दर है:—

दरमुकुलितनेत्रा स्मेरवक्त्राम्बुजश्री-
रूपगिरिपतिपुत्रि मानसाद्भ्रमलोला।

मनसिजमयभावैर्भावितध्यानमुद्रा
वितरतु रुचितं वः शाम्भवी दम्भभङ्गिः ॥

छाया-नाटक

नाट्यग्रंथों में रूपक में भेदों के 'छायानाटक' का निर्देश नहीं किया गया है, परंतु वस्तुतः छाया नाटक की रचना होती रही है। छाया नाटक से अभिप्राय उन नाटकों से है जिनके पात्र वस्तुतः रंगमंच पर नहीं आते, बल्कि उनकी छाया ही पुतलियों के द्वारा परदे के ऊपर चलती-फिरती दिखायी पड़ती हैं। डा० पिशल के अनुसार छायानाटक ही नाटक का सबसे प्राचीन तथा आदिम रूप हैं। **सुभट** कवि का 'दूतांगद' ही इसका सर्वप्रसिद्ध प्रतिनिधि है। यह नाटक अणहिलपट्टन के चालुक्य राजा त्रिभुवनपाल की सभा में कुमारपाल की यात्रा के अवसर पर १२४३ ई० में खेला गया था। इस प्रकार कवि का समय १३वीं शतक है। सोमेश्वर ने कीर्तिकौमुदी में सुभट की पर्याप्त प्रशंसा की है—

सुभटेन पदन्यासः स कोऽपि समितौ कृतः।
येनाऽधुनाऽपि धीराणां रोमाञ्चो नापचीयते ॥

दूतांगत में रावण की सभा में अंगद के दौत्य का वर्णन है। कवि ने भवभूति तथा राजशेखर के प्रसिद्ध श्लोकों को भी इसमें स्थान-स्थान पर दिया है।

प्रतीक-नाटक

संस्कृत साहित्य में एक नये प्रकार के रूपक उपलब्ध होते हैं जिनमें श्रद्धा, भक्ति आदि अमूर्त पदार्थों को नाटकीय पात्र बनाया गया है। कहीं तो केवल अमूर्त पदार्थों की ही मूर्त्त-कल्पना उपलब्ध होती है और कहीं पर मूर्त्त-अमूर्त्त का मिश्रण है। साधारण नाटक के लक्षण से इनमें किसी प्रकार पार्थक्य नहीं मिलता। इसीलिए नाट्य के लक्षण-कर्ताओं ने इसका पृथक्

वर्गीकरण नहीं किया है। यहाँ इस प्रकार के नाटकों को हमने 'प्रतीक नाटक'[1] कहा है, क्योंकि इनके पात्र अमूर्त पदार्थों के प्रतीक-मात्र होते हैं; उनकी भौतिक जगत् में स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती।

इन नाटकों की उत्पत्ति कब हुई ? इसका ठीक ठीक उत्तर देना कठिन है। मध्य-एशिया से बौद्ध नाटकों के जो त्रुटित अंश मिले हैं उनमें एक प्रतीक नाटक के भी अंश हैं। जिस हस्तलिखित प्रति में अश्वघोष का 'शारीपुत्र प्रकरण' उपलब्ध होता है उसी में इस नाटक के भी अंश उपलब्ध हुये हैं। अतः निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये प्रसिद्ध अश्वघोष की रचना है या नहीं। इस नाटक में बुद्धि, कीर्ति, धृति रंगमंच पर आती हैं और वार्तालाप करती हैं। इसके अनन्तर बुद्ध स्वयं मंच पर आते हैं। ग्रन्थ के त्रुटित होने से नहीं कहा जा सकता कि बुद्ध और इन प्रतीक पात्रों का सचमुच परस्पर वार्तालाप हुआ है या नहीं। जो कुछ भी हो, जान पड़ता है कि प्रतीक-नाटकों की प्राचीन परम्परा थी जो कालांतर में किसी कारण से विच्छिन्न हो गयी थी। ११ वीं शताब्दी के मध्यभाग में कृष्णमिश्र ने 'प्रबोध चंद्रोदय'[2] नामक सुप्रसिद्ध नाटक लिखकर इस परम्परा को पुनरुज्जीवित किया।

कृष्ण मिश्र की यह कृति संस्कृत-साहित्य में एक नवीन नाट्यधारा की प्रवर्तिका है। पिछले नाटककारों ने इस शैली का अनुकरण कर अनेक सुंदर प्रतीकनाटकों की रचना की है। वह नाटक जेजकभुक्ति के चंदेलवंशीय राजा कीर्तिवर्मा के समक्ष गोपाल की प्रेरणा से अभिनीत हुआ था। चेदि के राजा कर्ण ने (जो १०४२ ई० में जीवित थे) कीर्तिवर्मा को परास्त किया था। परन्तु सेनानी गोपाल ने अपने बाहुबल से उन्हें परास्त कर कीर्तिवर्मा को पुनः राज्यासन पर स्थापित किया[3]। इनसे प्रतीत होता है कि गोपाल

---

१ Allegorical drama.

२ दो टीकाओं के साथ नि० सा० प्रे० से प्रकाशित।

३ गोपालो भूमिपालान् प्रसभमसिलतामात्रमित्रेण जित्वा।
साम्राज्ये कीर्तिवर्मा नरपतितिलको येन भूयोऽभ्यषेचि॥
—प्रबोधचन्द्रोदय १।४

कीर्तिवर्मा के सेनापति थे। कीर्तिवर्मा के पूर्वज राजा धंग के शिलालेख १००२ ई० में खजुराहों के विश्वनाथ मन्दिर में मिलते हैं। चन्देलों की कलाप्रियता के प्रतीक खजुराहों के शैव मन्दिर आज भी उनकी विपुल कीर्ति का स्थापन करते हैं। कीर्तिवर्मा का सम्बन्ध खजुराहों के साथ निश्चित रूप से था। सम्भवतः यह उनकी राजधानी थी। नाटक का रचना-काल ग्यारहवीं सदी का मध्यभाग है।

इस रूपक में अद्वैत वेदान्त तथा विष्णुभक्ति का सम्मिलन बड़ी सुन्दरता से दिखलाया गया है। राजा मोह के पंजे में फँस जाने के कारण पुरुष अपने सच्चे स्वरूप के ज्ञान से भी वंचित हो जाता है। विवेक के द्वारा जब मोह का पराजय होता है तभी पुरुष को शाश्वत ज्ञान उत्पन्न होता है। विवेकपूर्वक उपनिषद् के अध्ययन करने तथा विष्णुभक्ति के आश्रय लेने से ही ज्ञान-रूपी चन्द्रमा का उदय होता है। इस विषय का प्रतिपादन बड़ी ही युक्ति तथा सुन्दरता के साथ किया गया है। पात्रों में सजीवता है। द्वितीय अंक में दम्भ और अहंकार का वार्तालाप अतीव हास्योत्पादक है। इसी प्रकार का हास्यमिश्रित कौतूहल जैन, बौद्ध तथा सोम सिद्धान्त के परस्पर वार्तालाप के अवसर पर दर्शकों को होता है। कृष्णमिश्र उपनिषदों के रहस्य-वेत्ता थे, यह कहना अनावश्यक है। कवित्व का चमत्कार इस नाटक में कम नहीं है। अद्वैत वेदान्त तथा वैष्णव धर्म का समन्वय इस नाटक की महती विशेषता है। आत्मकल्याण का मार्ग बताते समय सरस्वती का उपदेश कितना रमणीय है—

नित्यं स्मरन् जलदनीलमुदारहार-
केयूरकुण्डलकिरीटधरं हरिं वा।
ग्रीष्मे सुशीतमिव वा ह्रदमस्तशोकं
ब्रह्म प्रविश्य भज निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥

प्रबोधचन्द्रोदय की प्रसिद्धि हिन्दी के प्राचीन कवियों में खूब थी। तुलसीदास ने अयोध्याकाण्ड में पंचवटी के वर्णन-प्रसंग में जिस आध्यात्मिक रूपक की योजना की है उसमें इस नाटक के प्रसिद्ध पात्रों को भी अपनाया

है। प्रसिद्ध कवि केशवदास ने (१६ वीं शतक) तो इसका छन्दोबद्ध अनुवाद ही 'विज्ञानगीता' के नाम से किया है।

जैन कवियों ने पहले-पहल कृष्णमित्र के इस प्रतीक नाटक का अनुसरण अपने धर्म के प्रचार के लिए उपयोगी साधन समझ कर किया। ऐसे नाटक का नाम 'मोहराजपराजय' है, इसके रचयिता **यशःपाल** कवि हैं जो मन्त्री धनदेव और रुक्मिणीदेवी के पुत्र थे, जाति में मोढ़ बनिया थे तथा राजा अजयदेव चक्रवर्ती अभयदेव के कृपापात्र थे। ये अभयदेव प्रसिद्ध चालुक्यवंशी गुजरात-नरेश कुमारपाल के अनन्तर गुजरात के राजा थे जिन्होंने १२२९–१२३२ ई० तक राज्य किया। यह नाटक पहले पहल कुमारबिहार में महावीर के उत्सव के समय अभिनीत हुआ। **मोहराज पराजय'**[1] में पाँच अंक हैं। गुजरात के चालुक्यवंशी नरेश कुमारपाल का हेमचन्द्र के द्वारा जैनधर्म का ग्रहण करना, पशुओं की हिंसा का निषेध करना तथा हेमचन्द्र के उपदेशानुसार निःसंतान मरनेवालों की सम्पत्ति को राज्याधीन न करना आदि विषयों का वर्णन किया गया है। इसमें कुमारपाल, हेमचन्द्र तथा विदूषक तो मनुष्यपात्र हैं, शेष—पुण्यकेतु, विवेक, कृपासुंदरी, व्यवसायसागर आदि—पात्र शोभन या अशोभन गुणों के प्रतीक हैं। इस प्रकार इस नाटक में कल्पित और वास्तव पात्रों का परस्पर सम्मिलन तथा वार्तालाप लाया गया है। गुणों की दृष्टि से नाटक कम महत्त्व का नहीं है। यह सरल सुबोध संस्कृत में लिखा गया है जिसमें लम्बे समासों तथा भड़कीले गद्य का प्रयोग जान-बूझकर नहीं किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह उपादेय है। कुमारपाल के समय में जैनधर्म के प्रचार के लिए जो व्यवस्था की गयी थी उसका प्रकृष्ट वर्णन इस नाटक में उपलब्ध होता है। समकालीन कृति होने से इसका प्रामाण्य माननीय है।

वेदान्तदेशिक का 'संकल्प सूर्योदय' नामक नाटक एक प्रसिद्ध प्रतीक नाटक है। ये अपने समय के विशिष्टाद्वैत मत के बड़े भारी प्रतिष्ठापक थे।

---

१ गायकवाड ओरियण्टल सीरीज (ग्रन्थांक ८) में प्रकाशित, बड़ोदा, १९२०।

इनका समय तेरहवीं शताब्दी है। संकल्प सूर्योदय का विषय वही है— मोह का पराजय तथा विवेक का उदय। इनका कथन है कि शांत रस ही चित्त के खेद को दूर करनेवाला, वास्तव आनंद देनेवाला, एकमात्र रस है। शृंगार-रस तो असभ्य कोटि में आता है। वीर-रस भी एक दूसरे के तिरस्कार और अवहेलना को अग्रसर बनाता है। अद्भुत-रस की गति स्वभावतः विरुद्ध है। अतः शान्तरस ही निःसन्दिग्ध वास्तव रस है—

> असभ्यपरिपाटिकामधिकरोति शृंगारिता
> परस्परतिरस्कृति परिचिनोति वीरायितम्।
> विरुद्धगतिरद्भुतस्तदलमल्पसारैः परैः
> शमस्तु परिशिष्यते शमितचित्त-खेदो रसः॥

वेदांतदेशिक प्रथम कोटि के पण्डित थे। अतः उनकी कविता में पाण्डित्य का महान् उत्कर्ष दिखलाई पड़ना स्वाभाविक है।

चैतन्यदेव के पार्षद शिवानन्दसेन के पुत्र परमानन्ददास का जन्म १५२४ ई० में हुआ। चैतन्यदेव ने इन्हें 'कर्णपूर' की उपाधि प्रदान की। इनके लिखे हुए नव ग्रंथों का पता चलता है जिसमें 'चैतन्यचन्द्रोदय' मुख्य है। इसकी रचना जगन्नाथ क्षेत्र के अधिपति गजपति प्रतापरुद्र की आज्ञा से १५७९ ई० में की गई। उस समय कवि की अवस्था ५५ वर्ष की थी। अतः यह कवि की प्रौढ़ अवस्था की रचना है। इसमें दस अंक हैं। महाप्रभु चैतन्यदेव के जीवनवृत्त को जानने के लिए यह नाटक बड़ा ही प्रामाणिक तथा उपादेय है। इसके पात्रों में मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पात्रों का सम्मिश्रण है। अमूर्त पात्रों में भक्ति, विराग, कलि, अधर्म आदि हैं। मूर्त पात्रों में चैतन्य तथा उनके प्रसिद्ध शिष्य हैं। चैतन्य के सिद्धांतों के ज्ञान के लिए भी इस नाटक का अध्ययन आवश्यक है। भाषा सरल तथा सुबोध है। नाटक आदि से अंत तक प्रसाद गुण से युक्त है (७।७)—

> मनो यदि न निर्जितं किममुना तपस्यादिना
> कथं स मनसो जयो यदि न चिन्त्यते माधवः।

किमस्य च विचिन्तनं यदि न हन्त चेतोद्भवः
स वा कथमहो भवेद्यदि न वासनाद्यालनम् ॥

आनंदराय मखी तंजोर के राजा शाहजी (१६८४, १७१० ई०) तथा शरभोजी (१७११-१७२० ई० के) प्रधान मन्त्री थे। इनका समय १८ वीं सदी का प्रथमार्ध है। ये बड़े भारी शैव तथा सरस्वती के उपासक थे। इनकी प्रसिद्धि 'वेद कवि' नाम से थी। पाण्डित्य के कारण राजदरबार में इनका बड़ा सम्मान था तथा अपने समय के दाक्षिणात्य कवियों के ये अग्रगण्य थे। इनके दो प्रतीक नाटक मिलते हैं:— (१) विद्यापरिणयन और (२) जीवानन्दन। **विद्यापरिणयन** में सात अङ्क हैं जिसमें अद्वैत वेदान्त के साथ शृंगाररस का मंजुल सामञ्जस्य दिखलाया गया है। शिवभक्ति के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है; यही दिखलाना नाटक का प्रधान उद्देश्य है। जैनमत, सोम सिद्धांत, चार्वाक, सौगत आदि पात्रों का सन्निवेश ठीक प्रबोधचंद्रोदय की शैली पर किया गया है। नाटक की भाषा सरल और सुबोध है। अभिनय के लिए नितांत उपयुक्त है। **'जीवानन्दन'**[1] में भी सात अङ्क हैं। गलगण्ड, पाण्डु, उन्माद, कुष्ठ, गुल्म, कर्णमूल आदि रोगों का चित्रण पात्ररूप से एक विचित्र वस्तु है। शारीरिक व्याधियों में राजयक्ष्मा ही सबसे बढ़कर है। इसके पाश में पड़े हुए जीव का छुटकारा पारद रस के ही प्रयोग से होता है। स्वस्थ शरीर होने पर ही चित्त स्वस्थ रहता है तथा स्वात्म-कल्याण के मार्ग में संलग्न रह सकता है। आयुर्वेद के तत्त्वों का नाटकीय रूप में प्रदर्शन का यह सफल प्रयास है और वैद्यक के सिद्धांत अपने सच्चे रूप में यहाँ प्रदर्शित किये गये हैं।

इस तत्त्व का प्रतिपादन इस नाटक में किया गया है। कवि ने स्वयं इस पद्य में सूचना दी है (६।३२)—

मन्त्रिन् जन्मैव दोषः प्रथममथ तदप्याधिभिः व्याधिभिश्चे—
ज्जुष्टं कष्टं बतातः किमधिकमपि तु त्वन्मतेवैंभवेन।

---

१ काव्यमाला में प्रकाशित। अड्यार से १६५० में तथा हिन्दी अनुवाद के साथ काशी से १६५५ में प्रकाशित।

देव्या भक्त्याः प्रसादात् परमशिवमहं वीक्ष्य कृच्छ्राणि तीर्ण-
स्सर्वाणि द्राक्तदत्यद्भुतमिह शुभदं संविधानं तवेदम् ॥

नल्लाध्वरी ने भी इस प्रकार के दो नाटकों का प्रणयन किया है—(१) चित्तवृत्ति-कल्याण तथा (२) जीवन्मुक्ति-कल्याण[1]। इन्होंने तंजोर के महाराजा शाहजी के सदस्य रामभद्र दीक्षित के समकालीन रामनाथ दीक्षित से बालकपन में ही सकल विद्याओं का अध्ययन कर बीस वर्ष के वय होने से पूर्व ही 'शृंगार सर्वस्व' भाण तथा 'सुभद्रा परिणय' नाटक का निर्माण किया था। अन्त में परम शिवेन्द्र तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती से वेदान्त का अध्ययन कर तथा उनके गाढ़ सम्पर्क में आकर इन दोनों प्रतीक नाटकों की रचना की। 'अद्वैतरस-मञ्जरी' नामक वेदान्त ग्रंथ की रचना भी इसी काल से सम्बन्ध रखती है। इन ग्रंथों में परस्पर श्लोकों का भी साम्य है। ग्रंथकार गणपति के भारी उपासक थे और इसका परिचय नाटकों की नान्दी से स्पष्टतः मिलता है। 'जीवन्मुक्ति कल्याण' का नायक राजा जीव अपनी प्रियतमा बुद्धि के साथ जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्त दशाओं में भ्रमण करता हुआ संसार के विषयों से विषण्ण हो उठता है और जीवन्मुक्ति की कामना करता है। उसे काम-क्रोध आदि षड्रिपु इस कार्य में विघ्न उत्पन्न करते हैं। तब वह दया, क्षान्ति, आदि आठ आत्मगुणों के द्वारा उन्हें ध्वस्त करता है। अन्त में वह चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करता है, साधन चतुष्टय की प्राप्ति करता है तथा शिव के प्रसाद से तथा गुरु के अनुग्रह से ब्रह्मज्ञान पाकर 'जीवन्मुक्ति' का आनन्द उठाता है। संक्षेप में नाटक का यही वर्ण्य विषय है। नाटक का विषय दुरूह अध्यात्मतत्त्व है, परन्तु कवि ने उसे सरल तथा सुबोध भाषा में प्रस्तुत करने में विशेष सफलता प्राप्त की है। श्लोकों में प्रवाह है तथा नाटक के पात्रों में पर्याप्त सजीवता है। जीव अपनी सांसारिक दशा का वर्णन कितने सुबोध शब्दों में कर रहा है—

---

१ प्रकाशक श्री शंकर गुरुकुल, श्रीरंगम्, १९४४ ई०।

स एष मधुरः स्वरो रुचिर एष रूपोच्चयः,
सुसौरभमिदं त्वियं शिशिरता रसोऽसाविति ।
इतः श्रवणमेकतो नयनमन्यतो घ्राणम—
न्यतस्त्वगपि हन्त मां रसनमग्रतः कर्षति ॥ (१।२३)

शिव के प्रसाद तथा गुरु के अनुग्रह का जीवन्मुक्ति के लाभ में कितना योग होता है; इसे कवि ने बड़ी सुन्दरता से दिखलाया है। नल्लाध्वरी आनन्दराय मखी के ही समकालीन प्रतीत होते हैं। तंजोर के मराठा नरेशों की शीतल छाया में ऐसे सुन्दर रूपकों का प्रणयन ऐतिहासिक दृष्टि से कम महत्त्व की बात नहीं है।

प्रतीक रूप से लिखे गये नाटकों का यही संक्षिप्त परिचय है। इसी प्रकार के नाटक यूरोप के मध्ययुग में भी विद्यमान थे जिन्हें 'मारेलिटी' के नाम से पुकारते हैं। रंगमंच के ऊपर इन कल्पित पात्रों को लाना तथा उनके द्वारा दार्शनिक तथा धार्मिक तत्त्व दिखलाना इन नाटकों का प्रधान उद्देश्य है। यूरोप में विज्ञान-युग के प्रारम्भ होते ही ये धार्मिक नाटक नष्ट हो गये। परन्तु भारतवर्ष में ऐसे प्रतीक नाटकों की धारा अनेक शताब्दियों तक जनता का मनोरंजन तथा शिक्षण करती आयी है।

चतुर्थ खण्ड

शास्त्र खण्ड

साहित्य-शास्त्र

तथा

दर्शन-शास्त्र

अपूर्वं यद् वस्तु प्रथयति विना कारणकलां
जगद् ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्-सारयति च।
क्रमात् प्रख्योपाख्यप्रसरसुभगं भासयति यत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयताम्।

—अभिनवगुप्ताचार्य

द्वादश परिच्छेद

अलंकार शास्त्र

(१)

अलंकारशास्त्र आलोचकों की सूक्ष्म आलोचना-पद्धति का पर्याप्त सूचक है। यह शास्त्र वेदों से लेकर लौकिक ग्रन्थों के पूर्ण ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसी उपकारिता के कारण राजशेखर ने अलंकार-शास्त्र को वेद का अङ्ग माना है।[1] उन्होंने साहित्य-शिक्षा को स्वतन्त्र विद्या ही नहीं माना है, प्रत्युत उसे प्रसिद्ध चार विद्याओं—तर्क, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति का—निचोड़ स्वीकार किया है।[2] अलंकारशास्त्र की महत्ता नितान्त व्यक्त है। कविता में शब्द तथा अर्थ का सौन्दर्य लाने तथा हृदयंगम बनाने में अलंकारशास्त्र की भूयसी उपयोगिता है।

नामकरण

इस शास्त्र का नाम है अलंकार-शास्त्र। वह नाम उतना समुचित न होने पर भी बहुत ही प्राचीन है। भामह ने अपने अलंकार ग्रंथ को 'काव्यालंकार' के नाम से पुकारा है। अतः प्राचीन नाम अलंकारशास्त्र है; इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। यह उस युग का अभिधान है जब काव्य में अलंकार की सत्ता सबसे अधिक आवश्यक तथा उपादेय मानी जाती थी। अलंकार-युग ही इस शास्त्र के इतिहास में सर्वप्रथम युग है और इसी युग में यह नामकरण किया गया। राजशेखर ने इस शास्त्र को 'साहित्य विद्या' कहा है। यह नामकरण भामह के (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्) काव्य-

---

१ उपकारकत्वादलंकारः सप्तमङ्गमिति यायावरीयः।
ऋते च तत्स्वरूपरिज्ञानादेवार्थानवगतिः॥

२ पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः।
सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः॥ —काव्यमीमांसा

लक्षण के आधार पर दिया गया है। काव्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ का समुचित सामञ्जस्य हो, 'साहित्य' हो। साहित्य की यह कल्पना पिछले आलंकारिकों ने खूब अपनाया।

कुन्तक साहित्य की कल्पना को अग्रसर करने वालों में मुख्य हैं। भोजराज का 'श्रृंगार प्रकाश' साहित्य की कल्पना के ऊपर ही रचित हुआ है। साहित्य विद्या या साहित्य शास्त्र—यह नामकरण बड़ा सुन्दर तथा युक्तियुक्त है। परन्तु यह उतना प्रसिद्ध न हो सका। बहुत प्राचीन काल में इसका नाम 'क्रियाकल्प' था। वात्स्यायन ने (कामसूत्र १।३।१६) चौसठ कलाओं के अंतर्गत 'क्रियाकल्प' को भी एक कला माना है। क्रिया का अर्थ है काव्यग्रंथ और कल्प का अर्थ है विधान। इस प्रकार 'क्रियाकल्प' इस शास्त्र की प्राचीन संज्ञा है। परंतु ये नाम प्रसिद्धि न पा सके। प्रसिद्ध नाम हुआ 'अलंकार शास्त्र' ही; परंतु अलंकार की कल्पना बदलती गई। वामन की दृष्टि में अलंकार केवल शब्द और अर्थ की शोभा करने वाला बाह्य उपकरण मात्र नहीं है, प्रत्युत काव्य को रोचक बनानेवाला आंतर धर्म है। वामन अलंकार को सौंदर्य का पर्यायवाची मानते हैं (सौन्दर्य-मलंकारः)। इस प्रकार अलंकारशास्त्र काव्य के सौन्दर्य को सम्पन्न करनेवाले समस्त उपकरणों का प्रतिपादक शास्त्र है। 'अलंकार' शब्द का यही व्यापक अर्थ है।

प्राचीनता

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इस शास्त्र की उत्पत्ति की रोचक कथा लिखी है। उनके अनुसार भगवान् शंकर ने इस शास्त्र की शिक्षा पहले पहल ब्रह्माजी को दी जिन्होंने इसका उपदेश अनेक देवताओं तथा ऋषियों को किया। अठारह उपदेशकों ने अठारह अधिकरणों में इस शास्त्र की रचना की। भरत ने रूपक का निरूपण किया। नन्दिकेश्वर ने रस का, धिषण ने दोष का, उपमन्यु ने गुण का निरूपण किया। पता नहीं यह वर्णन काल्पनिक है या वास्तविक। काव्यादर्श की टीका हृदयंगमा का कथन है कि काश्यप और वररुचि ने काव्यादर्श के पहले अलंकार ग्रंथ बनाये।

श्रुतानुपालिनी टीका में काश्यप, ब्रह्मदत्त तथा नंदी स्वामी का नाम दण्डी से पूर्व आलंकारिकों में गिनाया गया है। परन्तु ये ग्रंथ आजकल उपलब्ध नहीं होते। अग्निपुराण में अलंकारशास्त्र का विषय प्रतिपादित किया गया है, परंतु इसकी प्राचीनता में विद्वानों को पर्याप्त सन्देह है। द्वितीय शतक के शिलालेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय अलंकारशास्त्र का उदय हो चुका था। रुद्रदामन् के शिलालेख की भाषा ही अलंकारपूर्ण नहीं है, बल्कि उसमें अलंकार-शास्त्र के कतिपय सिद्धांतों का भी निर्देश है। काव्य के गद्य पद्य दो भेद थे। गद्य को स्फुट, मधुर, कांत तथा उदार होना आवश्यक था। यहाँ काव्यादर्श में वर्णित प्रसाद, माधुर्य, कांति और उदारता गुणों का स्पष्ट निर्देश है। हरिषेण ने समुद्रगुप्त को 'प्रतिष्ठित कविराज-शब्द' लिखकर अलंकारशास्त्र की सत्ता की ओर संकेत किया है। वह शास्त्र इससे भी प्राचीन है। पाणिनि ने कृशाश्व तथा शिलालि के द्वारा निर्मित नटसूत्रों का नाम निर्देश किया है। इनसे भी पहले यास्क ने उपमालंकार का विस्तृत वर्णन किया है। यास्क के पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य ने उपमा का बड़ा ही वैज्ञानिक लक्षण प्रस्तुत किया है (अर्थात् उपमा यद् अतत् तत्-सदृशमिति गार्ग्यः)। निरुक्त ने उपमा के उदाहरण में ऋग्वेद के अनेक मंत्रों को उद्धृत किया है। भरत के नाट्यशास्त्र के अनंतर तो इस शास्त्र का अनुशीलन स्वतंत्र शास्त्र के रूप में बहुलता से होता रहा। यहाँ इस शास्त्र का संक्षिप्त इतिहास तथा नाना अलंकार-संप्रदायों के सिद्धांतों का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

२

शास्त्र के आचार्य

भरत

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में शिलालि तथा कृशाश्व के द्वारा रचित नटसूत्रों का उल्लेख किया है[1]। नट-सूत्रों से अभिप्राय उन ग्रंथों से है जिनमें

१—पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षु नटसूत्रयोः।
कर्मन्द कृशाश्वादिनिः ॥

रंगमंच पर नटों के खेलने, वस्त्र धारण करने तथा अन्य आवश्यक उपकरणों का विधान रहता है। पाणिनि के द्वारा निर्दिष्ट नटसूत्र आजकल उपलब्ध नहीं हैं। आजकल नाट्य तथा अलंकारविषयक उपलब्ध प्राचीनतम ग्रंथ भरत-रचित नाट्यशास्त्र है। इस ग्रन्थ को हम भारतीय ललित कलाओं का विश्वकोश कह सकते हैं; क्योंकि इसमें नाट्य की प्रधानता होने पर भी तदुपकारक अलंकार शास्त्र, संगीत शास्त्र, छंदः शास्त्र आदि शास्त्रों के मूल सिद्धांत का भी प्रतिपादन हम यहाँ पाते हैं। ग्रंथ में ३६ अध्याय हैं तथा ५००० श्लोक हैं जो अधिकतर अनुष्टुप् ही हैं। केवल छठें, सातवें तथा २८ वें अध्याय में कुछ अंश गद्यात्मक भी हैं। नाट्यशास्त्र एक ही काल की रचना नहीं है, प्रत्युत अनेक शताब्दियों के दीर्घ साहित्यिक प्रयास का सुन्दर फल है। नाट्य शास्त्र में तीन अंश विद्यमान हैं—(१) सूत्र-भाष्य=यह गद्यात्मक अंश ग्रंथ का प्राचीनतम रूप है। मूलग्रंथ में सूत्र तथा भाष्य ही थे जिसमें विकास होने पर अन्य अंश संमिलित कर दिये गये। (२) कारिका; मूल ग्रंथ के अभिप्राय को विस्तार से समझाने के लिए इन कारिकाओं की रचना की गई। (३) अनुवंश्य श्लोक=गुरु-शिष्य-परंपरा से आनेवाले प्राचीन पद्य, जो आर्या अथवा अनुष्टुप् में निबद्ध हैं। अभिनवगुप्त की टीका के अनुसार ये पद्य भरतमुनि से भी प्राचीनतर आचार्यों के द्वारा रचित हैं[1]। अपने सूत्रों की पुष्टि में भरत ने इन्हें इस ग्रन्थ में संग्रहीत किया है।

भरत रससम्प्रदाय के आचार्य हैं। इनकी सम्मति में नाटक में रस की ही प्रधानता रहती है। अलंकारशास्त्र का विवेचन आनुषंगिक रूप से ६, ७, १६ अध्यायों में किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना का निश्चित समय अभी तक अज्ञात है। परन्तु यह ग्रंथ कालिदास से प्राचीन ही है। कालिदास भरत को देवताओं के नाट्याचार्य के रूप में उल्लिखित करते हैं और नाटकों में आठ रसों के विकास होने तथा अप्सराओं के द्वारा अभिनय किये जाने का निर्देश

१—ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः।
मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः।
—अभिनवभारती, अध्याय ६।

करते हैं[1]। कालिदास से प्राचीनतर होने से भरत मुनि का समय ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी से उतर कर नहीं हो सकता। मूल सूत्रों का समय तो और भी प्राचीन है।

भामह

भरत के अनन्तर अनेक शताब्दियाँ हमारे लिए अंधकारपूर्ण प्रतीत होती हैं, क्योंकि इस समय के आलंकारिकों के नाम तथा काम से हम बिलकुल अपरिचित हैं। भामह का काव्यालंकार ही भरत-पश्चात् युग का सर्वप्रथम मान्य ग्रंथ है जिसमें अलंकारशास्त्र नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से अपने को उन्मुक्त कर एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है। भामह के पूर्ववर्ती आचार्यों में मेधाविरुद्र का नाम निर्दिष्ट मिलता है परन्तु इनकी रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। भामह का ग्रंथ भी अभी हाल ही में उपलब्ध हुआ है। भामह के पिता का नाम था रक्रिल गोमी। ये काश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं। एक समय था जब दण्डी और भामह के काल-निर्णय के विषय में विद्वानों का बड़ा मतभेद था। परन्तु अब तो प्रबलतर प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि भामह दण्डी के पूर्ववर्ती हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ में 'प्रत्यक्ष' का लक्षण प्रसिद्ध बौद्धाचार्य दिङ्नाग के अनुसार दिया है, धर्मकीर्ति के अनुसार नहीं। इससे इनका समय इन दोनों आचार्यों के बीच षष्ठ का मध्यभाग मानना उचित होगा।

भामह के ग्रंथ का नाम काव्यालंकार है। इसमें ६ परिच्छेद हैं। पहले परिच्छेद में काव्य के साधन, लक्षण तथा भेदों का वर्णन है। दूसरे तथा तीसरे में अलंकारों का विशिष्ट वर्णन है। चौथे परिच्छेद में भरत-प्रदर्शित दश दोषों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है जिसमें न्याय-विरोधिदोष की मीमांसा पूरे पञ्चम परिच्छेद में की गई है। छठे परिच्छेद में कतिपय विवादास्पद पदों के शुद्धरूप का विवेचन किया गया है। इस प्रकार छः परिच्छेदों तथा चार सौ

१—मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।

—विक्रमोर्वशी

श्लोकों में अलंकारशास्त्र के समस्त महनीय तथ्यों का यहाँ समावेश किया गया है। भामह के सिद्धांत समस्त आलंकारिकों को मान्य हैं। इनके कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त हैं—(क) शब्द-अर्थ युगल का काव्य होना—शब्दार्थौ काव्यम् (ख) भरतप्रतिपादित दश गुणों का ओज, माधुर्य तथा प्रसाद—इस गुणत्रय के भीतर ही समावेश। (ग) 'वक्रोक्ति' का समस्त अलंकारों का मूल होना जिसका चरम विकास कुन्तक की वक्रोक्ति-जीवित में दीख पड़ता है (घ) दश-विध दोषों का सुन्दर विवेचन।

दण्डी

इनके जीवन-चरित तथा समय का विवेचन गद्य काव्य के अवसर पर किया जा चुका है। इनका 'काव्यादर्श' पण्डितों में सदा लोकप्रिय रहा है। इसी का अनुवाद कन्नड भाषा की प्राचीन पुस्तक 'कविराज-मार्ग' में, सिंघली ग्रंथ 'सिय-बस-लकर' (स्वभाषालंकार) में तथा तिब्बती भाषा में उपलब्ध होता है। इससे इस ग्रंथ की प्रसिद्धि की पर्याप्त सूचना मिलती है। इस ग्रंथ में चार परिच्छेद हैं तथा श्लोकों की संख्या ६६० है। प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण; विस्तृत भेद, वैदर्भी तथा गौडी रीति, दश गुणों का विस्तार के साथ वर्णन है। दूसरे परिच्छेद में ३५ अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण सुंदर रूप से दिये गये हैं। दण्डी ने उपमा अलंकार के अनेक प्रकार दिखलाए हैं। तीसरे परिच्छेद में शब्दालंकारों का विशेषतः यमक अलंकार का व्यापक वर्णन है। चतुर्थ परिच्छेद में दश-विध दोषों का लक्षण तथा उदाहरण है। दण्डी ने भामह के सिद्धान्त का खण्डन स्थान-स्थान पर किया है। ये अलंकार-संप्रदाय के अनुयायी थे, पर वैदर्भी और गौड़ी रीतियों के पारस्परिक भेदों को प्रथम बार स्पष्टतः दिखलाने का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है। इस प्रकार ये रीति सम्प्रदाय के भी मार्गदर्शक माने जा सकते हैं।

वामन

वामन के ग्रंथ में रीति-संप्रदाय का चरम उत्कर्ष दिखलाई पड़ता है। ये रीति को काव्य की आत्मा माननेवाले महनीय आलंकारिक हैं-रीतिरात्मा काव्यस्य। इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकार-सूत्र' है जिसमें इन्होंने अलंकार

शास्त्र के समग्र सिद्धांतों का विवेचन सूत्रों में किया है और इन सूत्रों के ऊपर स्वयं वृत्ति भी लिखी है। सूत्रों की संख्या ३१९ है। ग्रंथ में कुल पाँच परिच्छेद या अधिकरण हैं। प्रथम (शरीर) अधिकरण में काव्य के प्रयोजन, रीति तथा वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली रीतियों का वर्णन है। द्वितीय (दोष दर्शन) अधिकरण में पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोष प्रतिपादित हैं। तृतीय (गुण विवेचन) में दश गुणों के शब्दगत तथा अर्थगत होने से बीस भेद बतलाये गये हैं। चतुर्थ (आलंकारिक) में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का लक्षण तथा उदाहरण है। अंतिम अधिकरण में कतिपय शब्दों की शुद्धि तथा प्रयोग की बात कही गई है। काव्यालंकार सूत्र के प्राचीन टीकाकार 'सहदेव' का कथन है कि वामन का यह ग्रंथ किसी कारण से नष्ट हो गया था जिसका उद्धार मुकुलभट्ट ने दशम शतक के आरम्भ में किया।

वामन काश्मीर नरेश जयपीड के मंत्री थे :—

मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमाँस्तथा।
बभूवुः कवयः तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥

जयापीड का समय अष्टम शतक का अन्तिम भाग है। वामन का भी यही समय है। वामन रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं। रीति को काव्य की आत्मा जैसे सिद्धांत के प्रतिपादन का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है। इनके विशिष्ट सिद्धांत ये हैं :—(क) गुण और अलंकार का परस्पर विभेद (ख) वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली त्रिविध रीतियाँ (ग) वक्रोक्ति का विशिष्ट लक्षण (सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः) (घ) विशेषोक्ति का विचित्र लक्षण (ङ) आक्षेप की द्विविध कल्पना (च) समग्र अर्थालंकारों को उपमा-प्रपंच मानना।

उद्भट

ये वामन के समकालीन थे। जयापीड़ की सभा के ये सभापति थे। कल्हण पण्डित का तो कहना है कि इनका प्रतिदिन का वेतन एक करोड़ दीनार (स्वर्णमुद्रा) था।[1] यदि यह बात बिलकुल सत्य हो तो उद्भट सच-

---

१— दीनारशतलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूद् उद्भटः तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥
—राजतरंगिणी ४।४९५

मुच बड़े भारी धनाढ्य और भाग्यशाली व्यक्ति होंगे। एक ही राजा के आश्रय में रहने पर भी वामन और उद्भट साहित्य के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धी प्रतीत होते हैं। वामन रीति-सम्प्रदाय के उन्नायक थे, तो उद्भट अलंकार-सम्प्रदाय के पृष्ठपोषक। दोनों ही अपने विषय के मौलिक सिद्धांतों के आविष्कर्ता आराधनीय आचार्य हैं। इन्होंने भामह के ग्रंथ पर 'भामह विवरण' नामक व्याख्याग्रंथ लिखा था जिसका निर्देश लोचन आदि प्रामाणिक ग्रंथों में उपलब्ध होता है, परंतु यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

उद्भट की कीर्ति 'काव्यालंकार सार संग्रह' नामक ग्रंथ के ऊपर ही अवलम्बित है। इस ग्रंथ में छ वर्ग हैं जिनमें ७६ कारिकाओं के द्वारा ४१ अलंकारों का वर्णन है। ग्रंथ का विषय अलंकार ही है। इसकी टीका मुकुल-भट्ट के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज (९५० ई०) ने की है। भामह के समान अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायी होने पर भी ये भामह से अनेक सिद्धांतों में भिन्नता रखते हैं। इसके कतिपय विशिष्ट सिद्धांत ये हैं—(क) अर्थभेद से शब्दभेद की कल्पना (अर्थभेदेन तावत् शब्दा भिद्यन्ते)। (ख) शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष भेद से श्लेष के दो प्रकार और दोनों का अर्थालंकार होना। इसका विशिष्ट खण्डन मम्मट ने नवम उल्लास में किया है। (ग) अन्य अलंकारों के योग में श्लेष की प्रबलता। (घ) वाक्य का तीन प्रकार से अभिधा व्यापार (ङ) अर्थ की द्विविध कल्पना—विचारित-सुस्थ तथा अविचारित-रमणीय। (च) गुणों को संघटना का धर्म मानना।

रुद्रट

ये काश्मीर के रहनेवाले थे। राजशेखर (९२० ई०) ने काव्यमीमांसा में इनके नाम का निर्देश 'काकु वक्रोक्ति' को शब्दालंकार मानने के अवसर पर किया है—काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालंकारोऽयमिति रुद्रटः। इससे स्पष्ट है कि ये ९०० ई० से प्राचीन हैं। इनका ग्रंथ काव्यालंकार विषय की दृष्टि से अतीव व्यापक है और इसमें अलंकारशास्त्र के समस्त सिद्धांतों की विस्तृत

समीक्षा की गई है। काव्य के प्रयोजन, उद्देश्य तथा कविसामग्री के अनन्तर अलंकार का विस्तृत तथा सुव्यवस्थित वर्णन इस ग्रंथ में किया गया है। भाषा, रीति, रस तथा वृत्ति की मीमांसा होने पर भी अलंकारों की समीक्षा ही ग्रंथ का मुख्य उद्देश्य है। पद्यों की संख्या ७३४ है। सब उदाहरण रुद्रट की निजी रचनायें हैं।

रुद्रट अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। अलंकारों की व्यवस्था करना ग्रंथ का उद्देश्य है। रुद्रट ने पहले-पहल अलंकारों का वैज्ञानिक विभाग किया। उन्होंने अलंकारों के लिए चार मूल-तत्त्व खोज निकाला:—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। भामह और उद्भट के द्वारा व्याख्यात अनेक अलंकारों को रुद्रट ने छोड़ दिया है और कहीं-कहीं उनके लिए नये नामों का निर्देश किया है। यथा रुद्रट का व्याजश्लेष (१०।११) भामह की 'व्याज-स्तुति' है। 'जाति' मम्मट की स्वाभावोक्ति है, 'पूर्व' अलंकार अतिशयोक्ति का चतुर्थ प्रकार है। कहीं कहीं इन्होंने नये अलंकारों की भी कल्पना की है। रसों का भी इन्होंने विस्तार के साथ वर्णन किया है; पर इनका आग्रह अलंकार के ऊपर ही है।

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन का नाम साहित्यशास्त्र के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से लिखने योग्य है। इन्होंने ध्वन्यालोक लिखकर इस शास्त्र के सिद्धान्त को सदा के लिए आलोकित कर दिया। 'ध्वन्यालोक' नवीनयुग का उत्पादक ग्रंथ है। अलंकारशास्त्र में इसका वही स्थान है जो वेदान्त में वेदान्त सूत्रों का है। इसके प्रत्येक पृष्ठ पर ग्रंथकार की मौलिकता, सूक्ष्म विवेचन शक्ति तथा गूढ़ विषय-ग्राहिता का परिचय मिलता है। रसगंगाधर का कथन बिलकुल ठीक है कि ध्वनिकार ने साहित्यशास्त्र के मार्ग को परिष्कृत बना दिया (ध्वनिकृताम् आलंकारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्)। आनन्दवर्धन काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई०) के सभापण्डित थे—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

ध्वन्यालोक में तीन अंश हैं—(१) कारिका=१२६ कारिकायें, (२) वृत्ति (कारिकाओं की गद्यात्मक विस्तृत व्याख्या), (३) उदाहरण। इनमें उदाहरण तो नाना प्राचीन ग्रंथों से उद्धृत किये गये हैं। प्रथम दो अंशों की रचना के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग आनन्द को वृत्तिकार ही मानते हैं। कारिकाकार उनसे पृथक् स्वीकार करते हैं। परन्तु वस्तुतः आनन्दवर्धन ने ही कारिका और वृत्ति दोनों की रचना की है। इस ग्रंथ में चार उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि विरोधी मतों की समीक्षा है। दूसरे और तीसरे में ध्वनि के प्रकारों का विवेचन है। चतुर्थ में ध्वनि की उपयोगिता का वर्णन है। आनन्द के लिखने की शैली बड़ी ही प्रौढ़, विद्वत्तापूर्ण तथा रोचक है। ये कवि भी थे जिन्होंने 'अर्जुन चरित' 'विषमबाण लीला' तथा 'देवी शतक' जैसे सरस काव्यों की रचना भी की है। परन्तु आनन्द की विपुल कीर्ति ध्वन्यालोक के ऊपर ही अवलम्बित रहेगी। राजशेखर का कथन बिलकुल ठीक है :—

ध्वनिनातिगभीरेण काव्य-तत्त्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥

आनन्दवर्धन की महती विशेषता ध्वनिविरोधियों के सिद्धान्तों का प्रबल खण्डन कर ध्वनि तथा व्यंजना की स्थापना है। इनके पहले ध्वनि के विषय में तीन मत थे—(क) अभाववाद (ख) भक्ति (लक्षणा) वाद (ग) अनिर्वचनीयतावाद। इन तीनों का मुँहतोड़ उत्तर देकर आनन्द ने व्यंजना की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध की और ध्वनि के प्रकारों का पहली बार विवेचन किया। इस ग्रंथ का प्रभाव अवान्तर ग्रंथकारों के ऊपर बहुत पड़ा। ध्वनि-सम्प्रदाय की उत्पत्ति यहीं से हुई।

अभिनवगुप्त

आनन्दवर्धन को एक बड़े ही विद्वान् टीकाकार उपलब्ध हुए जिन्होंने इनके सिद्धान्तों के मर्म को भलीभाँति समझा दिया। इनका नाम था **आचार्य अभिनवगुप्त**। ये भी काश्मीर के निवासी थे और लगभग दशवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। ये शैव दर्शन के मान्य आचार्य थे

जिनका एक ही ग्रन्थ **तन्त्रालोक** तन्त्रशास्त्र का विश्वकोश है। साहित्य-क्षेत्र में इनकी दो कृतियाँ हैं और ये दोनों ही टीकायें हैं। एक है लोचन (ध्वन्यालोक की टीका) और दूसरी है **अभिनवभारती** (जो भरतनाट्य-शास्त्र का एकमात्र उपलब्ध व्याख्याग्रन्थ है।) टीका ग्रंथ होने पर भी ये दोनों ग्रंथ नितांत मौलिक हैं। हम अभिनवगुप्त के अनेक रस-सिद्धांतों के लिए ऋणी हैं। रसविषयक जो इनकी समीक्षा है वह नितांत वैज्ञानिक तथा युक्तियुक्त है। अभिनवभारती न होती तो नाट्यशास्त्र के तथ्यों का पता आज भली-भाँति नहीं चलता।

ध्वनिविरोधी आचार्य

इन दोनों माननीय आचार्यों के द्वारा ध्वनि की स्थापना होने पर भी इसके दो बड़े विरोधी आचार्यों ने नवीन ग्रंथों की रचना की। दोनों प्रायः समकालीन ही थे। एक का नाम है कुन्तक तथा दूसरे का महिमभट्ट। दोनों काश्मीर के निवासी थे और दोनों ने एकादश शतक के आरम्भ में अपने ग्रंथ बनाये। कुन्तक के ग्रंथ का नाम है 'वक्रोक्ति-जीवित'। दुर्भाग्यवश यह ग्रंथ अधूरा ही प्राप्त हुआ है परन्तु इसके उपलब्ध अंशों से ही कुंतक की मौलिकता तथा सूक्ष्म विवेचनशैली का पर्याप्त परिचय मिलता है। ग्रंथ में चार उन्मेष हैं जिनमें वक्रोक्ति के विविध भेदों का बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। वक्रोक्ति का अर्थ है 'वैदग्ध्यभङ्गी-भणिति' अर्थात् सर्वसाधारण के द्वारा प्रयुक्त वाक्यों से विलक्षण कहने का ढंग। इसी काव्य-तत्त्व के अंतर्गत ध्वनि का भी समावेश किया गया है। वक्रोक्ति की मूल कल्पना भामह की है। परंतु उसे व्यापक साहित्यिक तत्त्व के रूप में विकसित करना कुन्तक की निजी विशेषता है। वक्रोक्ति के भीतर ही समस्त साहित्य तत्त्व को सम्मिलित कर कुन्तक ने जिस विदग्धता का परिचय दिया है उस पर साहित्य का मर्मज्ञ सदा रीझता रहेगा।

महिमभट्ट का ग्रंथ 'व्यक्तिविवेक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें तीन विमर्श हैं। ग्रंथ का मुख्य उद्देश्य ध्वनि को अनुमान का ही प्रकार बतलाना है। ध्वनि कोई पृथक् वस्तु नहीं है बल्कि अनुमान का भेद ही

है। महिमभट्ट का यही सिद्धान्त है जिसे प्रतिपादित करने के लिए उन्होंने अपने उत्कट पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। ग्रंथ के प्रथम विमर्श में ध्वनि का लक्षण तथा उसका अनुमान में अंतर्भाव दिखलाया गया है। दूसरे विमर्श में अर्थ-विषयक अनौचित्य का विवेचन है। अंतरंग अनौचित्य से अभिप्राय रस-दोष से है और बहिरंग अनौचित्य पाँच प्रकार का है। मम्मट ने महिमभट्ट का खण्डन किया है। पर अनौचित्य विषयक उनके समस्त सिद्धांत को अपने दोष-प्रकरण में भली भाँति अपनाया है।

धनञ्जय—धनञ्जय भी रस की निष्पत्ति के विषय में भावकत्ववादी हैं। व्यञ्जनावाद के खण्डन करने के कारण ये भी ध्वनि-विरोधियों में अन्यतम हैं। धनञ्जय और इनके भाई धनिक दोनों धारा के विद्याप्रेमी विद्वान् राजा मुञ्ज (९७४-९४ ई०) के दरबारी पण्डित थे। इसी समय धनञ्जय ने 'दशरूपक' की रचना की, जिस पर धनिक ने 'अवलोक' नामक टीका मुञ्जराज के उत्तराधिकारी सिंधुराज (ई० ९९४-१०१८) के शासन काल में लिखी। इसके पहले इन्होंने 'काव्यनिर्णय' नामक अलंकार-ग्रंथ की रचना की थी। दशरूपक नाट्य के आवश्यक सिद्धांतों का पतिपादक ग्रंथ है। इसमें चार प्रकाश हैं और लगभग ३०० कारिकायें हैं। प्रथम प्रकाश में वस्तुनिर्देश, द्वितीय में नायक वर्णन, तृतीय में रूपक-भेद, चतुर्थ में रस निरूपण है। रस-सिद्धांत में इनका अपना विशिष्ट मत है जो भट्टनायक के मत से अधिक साम्य रखता है।

भोजराज—भोजराज (१०१८–५६ ई०) रचित दो विशालकाय अलंकार ग्रन्थ हैं 'सरस्वती-कण्ठाभरण' तथा 'श्रृंगार-प्रकाश'। ये दोनों ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। पहले में अलंकार, गुण, दोष, का विस्तृत विवेचन है तो दूसरे में रस का निरूपण बड़े ही व्यापक तथा मार्मिक ढंग से किया गया है। भोजराज का मत है कि श्रृङ्गार रस ही सब रसों का मूलभूत आदिम प्रकृत रस है। अन्य रस इसी के विकारमात्र हैं। इस मत का निर्देश पिछले ग्रंथकारों ने भलीभाँति किया है। रसों के वैज्ञानिक प्रकार प्रस्तुत करने में भोज ने अपनी सूक्ष्म विवेचनशक्ति दिखलाई है। सरस्वती-

कण्ठाभरण तो बहुत दिनों से विद्वानों का कण्ठाभरण हो रहा है परंतु शृङ्गारप्रकाश आज भी पूरी तरह प्रकाश में नहीं आया।

ध्वनिमार्ग के आचार्य

ध्वनिविरोधियों के मत का खण्डन आचार्य मम्मट ने इतने सुचारुरूप से किया कि उनके अनंतर किसी को ध्वनि के विरोध करने का साहस न रहा। इसी कारण मम्मट को 'ध्वनि-प्रस्थापन-परमाचार्य' की उपाधि दी गई है। ये भी काश्मीर के ही निवासी थे। सुनते हैं कि 'महाभाष्य प्रदीप' रचयिता कैयट तथा वेदभाष्यकार उव्वट इनके अनुज थे। भोजराज की दानशीलता की इन्होंने प्रशंसा की है। अतः इनका समय एकादश शतक का उत्तरार्ध है। मम्मट बड़े भारी विद्वान् थे। ये बहुश्रुत वैयाकरण प्रतीत होते हैं। लेखन-शैली सूत्रात्मक है। तभी तो इनका ग्रंथ 'काव्य-प्रकाश' विपुल टीकाओं के होने पर भी यह आज भी वैसा ही दुर्गम बना हुआ है।

काव्य प्रकाश के तीन अंश हैं—कारिका (१४२ कारिकायें), वृत्ति (गद्यात्मक) तथा उदाहरण। कुछ कारिकायें भरत से भी ली गई हैं। कारिकायें भरत मुनि के द्वारा निर्मित हैं, यह प्रवादमात्र है। मम्मट ही दोनों (कारिका तथा वृत्ति) के रचयिता हैं। इनमें दस उल्लास हैं जिनमें क्रमशः काव्य स्वरूप, वृत्ति विचार, ध्वनि-भेद, गुणीभूत व्यङ्ग्य, चित्र-काव्य, दोष, गुण, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का विवेचन है। यह ग्रंथ नितांत प्रौढ़, सारगर्भित तथा पाण्डित्य-पूर्ण है। ध्वनिमार्ग का इससे सुंदर विवेचन अन्यत्र नहीं। इसके ऊपर टीका लिखना पाण्डित्य की कसौटी समझा जाता था। इसीलिये विश्वनाथ कविराज जैसे मौलिक ग्रंथों के रचयिता विद्वानों ने भी इस पर व्याख्या लिखना परम प्रतिष्ठा माना। दशम उल्लास के परिकर अलंकार तक ग्रंथ मम्मट की रचना है। अगला भाग अल्लट नामक किसी काश्मीरी विद्वान् ने लिखकर ग्रंथ पूरा किया है।

क्षेमेन्द्र—मम्मट के समकालीन आलंकारिक क्षेमेन्द्र के ग्रंथों में हमें अनेक मौलिक सिद्धांत उपलब्ध होते हैं। ये भी काश्मीर के ही निवासी थे और मम्मट के समान ही एकादश शतक के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। महा-

कवि होने के नाते इनका विस्तृत वर्णन महाकाव्य के प्रसंग में किया जा चुका है। इनका 'सुवृत्त तिलक' छंदः शास्त्र का अनुपम ग्रंथ है जिसमें छंद-विषयक अनेक मौलिक बातें प्रस्तुत की गई हैं। 'कविकण्ठाभरण' में काव्य के बाह्य साधनों की विशिष्ट चर्चा है, परंतु इनकी सब से मौलिक कृति है—'औचित्यविचारचर्चा' जिसमें औचित्य के महत्त्वपूर्ण सिद्धांत की विस्तृत समीक्षा की गई है। औचित्य रस का प्राणभूत है। वह अनेक प्रकार का है। औचित्य का संबंध पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, करण, लिङ्ग आदि के साथ भली भाँति दिखला कर क्षेमेन्द्र ने औचित्य की महत्ता अच्छे ढंग से दिखलाई है।

रुय्यक—ये भी काश्मीर के निवासी थे। ये काश्मीर के राजा जयसिंह (११२८–४९ ई०) के सान्धिविग्रहिक महाकवि मंखक के गुरु थे। इसलिये इनका समय बारहवीं शताब्दी का मध्यभाग है। उनकी प्रसिद्ध रचना 'अलंकार-सर्वस्व' है जिसमें ७५ अर्थालंकारों तथा ६ शब्दालंकारों का पांडित्यपूर्ण वर्णन है। इनकी समीक्षा मम्मट की समीक्षा से कहीं अधिक व्यापक तथा विस्तृत है। इसके ऊपर जयरथ तथा समुद्रबंध की पाण्डित्यपूर्ण टीकायें हैं।

हेमचन्द्र—(१०८८–११७२ ई०) इन्होंने अलंकार के ऊपर भी ग्रंथ लिखा है जिसका नाम है 'काव्यानुशासन'। इसके ऊपर इन्होंने वृत्ति भी लिखी है। इसमें आठ परिच्छेद हैं जिसमें अलंकार के तथ्यों का विस्तृत विवेचन है। ग्रंथ में मौलिकता बहुत ही कम है। प्राचीनग्रंथों से संकलन ही अधिक है।

विश्वनाथ कविराज—ये उत्कल के राजा के सान्धिविग्रहिक थे। इनका कुल पाण्डित्य के लिये नितांत प्रसिद्ध था। इनके पिता चन्द्रशेखर रचित 'पुष्पमाला' और 'भाषार्णव' उपलब्ध हैं। इनके पितामह के कनिष्ठ भ्राता चंडीदास ने काव्यप्रकाश पर दीपिका नामक विख्यात टीका लिखी। विश्वनाथ ने गीतगोविंद तथा नैषध से श्लोक उद्धृत किये हैं। देहली के सुल्तान

अलाउद्दीन खिलजी को एक श्लोक में निर्दिष्ट किया है[1]। अलाउद्दीन की मृत्यु १३१६ ई० में हुई। अतः इनका समय १४वीं शतक का मध्य भाग मानना (१३००–१३५० ई०) उचित है। इनका सुप्रसिद्ध ग्रंथ है–'साहित्य दर्पण' जिसमें दश परिच्छेदों में काव्य तथा नाट्य दोनों का विवेचन बड़े ही सरस तथा सरल ढंग से किया है। यह ग्रन्थ काव्यप्रकाश की शैली पर लिखा गया है, परन्तु उतनी प्रौढ़ता इस ग्रन्थ में नहीं है। विश्वनाथ आलंकारिक की अपेक्षा कवि अधिक थे। यह ग्रंथ अत्यंत लोकप्रिय है और अलंकार शास्त्र के मूल सिद्धांतों के जिज्ञासु छात्रों के लिये नितांत उपयोगी है।

पंडितराज जगन्नाथ—इनके जीवनचरित का परिचय गीतिकाव्य के प्रसंग में पहले दिया जा चुका है। इनका 'रस गंगाधर' साहित्य शास्त्र का मर्मप्रकाशक ग्रंथ है। पंडितराज जिस प्रकार प्रतिभाशाली कवि थे उसी प्रकार अलौकिक शेमुषी-सम्पन्न पण्डित भी थे। ग्रंथ तो केवल अधूरा ही है, परन्तु इन्होंने जो कुछ लिखा है उसे सोच विचार कर पांडित्य की कसौटी पर कस कर लिखा है। उदाहरण भी उन्होंने नये नये जमाये हैं। रसनिरूपण के अवसर पर इन्होंने नवीन समीक्षायें की हैं। सब प्रकार से यह ग्रन्थ उपादेय है। शैली प्रौढ़ तथा विचार मौलिक हैं।

अब तक प्रमुख आलंकारिकों का सामान्य परिचय दिया गया है। इतर आलंकारिकों का निर्देशमात्र अब किया जा रहा है। (क) **राजशेखर** (६१० ई०)—इनकी 'काव्यमीमांसा' में कवि-शिक्षा का ही विषय प्रधान है। (ख) **मुकुलभट्ट** (९२० ई०)—इनकी 'अभिधावृत्ति मातृका' में अभिधा और लक्षणा की विस्तृत समीक्षा है। इसका खंडन काव्य-प्रकाश में यत्र तत्र किया गया है। (ग) **वाग्भट्ट** (१५ शतक का पूर्वार्ध)—इसका 'वाग्भटालंकार' अलंकार का ग्रन्थ है जिसमें दोष, गुण, वृत्ति, रस तथा अलंकारों का सरल विवेचन है। (घ) **रामचंद्र** तथा **गुणचंद्र** की सम्मिलित रचना 'नाट्य दर्पण' है जिसमें नाटक के अंगों का उपादेय वर्णन है। (ङ) **शारदातनय** (१३ शतक) का 'भावप्रकाशन' नाट्यशास्त्र का ही ग्रंथ है। इसके

१—सन्धौ सर्वस्व-हरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अलावदीन नृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः॥ —४।१४

अधिकरणों में रस तथा भाव का बड़ा ही रोचक तथा पूर्ण वर्णन है। 'जयदेव' का चंद्रालोक, विद्याधर की एकावली, 'विद्यानाथ' का प्रतापरुद्र-यशोभूषण, 'कवि कर्णपूर' का अलंकार कौस्तुभ, 'अप्पय दीक्षित' का कुवलयानंद अलंकारशास्त्र के अन्य माननीय ग्रन्थ हैं। इस प्रकार अलंकार शास्त्र के विषय में ग्रंथ लिखने की प्रवृत्ति ईस्वी के आरम्भ से लेकर १८ वें शतक तक किसी न किसी रूप में जागरूक रही है।

३

अलंकारशास्त्र के सम्प्रदाय

अलंकारशास्त्र के ग्रंथों के अनुशीलन से जान पड़ता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। आलंकारिकों के सामने प्रधान विषय काव्य की आत्मा का विवेचन था। वह कौन वस्तु है जिसकी सत्ता रहने पर काव्यत्व विद्यमान रहता है? इस प्रश्न के उत्तर देने में नाना सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। कुछ लोग अलंकार को ही काव्य का प्राणभूत मानते हैं, कुछ गुण या रीति को, कुछ लोग ध्वनि को। इस प्रकार काव्य की आत्मा की समीक्षा में भेद होने के कारण भिन्न-भिन्न शताब्दियों में नवीन नये सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती गई। अलंकारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन सम्प्रदायों के उदय की जो बात लिखी है वह बहुत ही युक्तियुक्त है। उनका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ मिल कर ही काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से आ सकती है:—(१) धर्म से, (२) व्यापार से (३) व्यंग्य से। धर्ममूलक वैशिष्ट्य दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। अनित्य धर्म से अभिप्राय अलंकार से और नित्य धर्म का तात्पर्य गुण से है। इस प्रकार धर्ममूलक वैशिष्ट्य के प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय हुए:—(१) अलंकार सम्प्रदाय (२) गुण या रीति सम्प्रदाय। व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है—वक्रोक्ति तथा भोजकत्व। वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार मानने वाले आचार्य कुन्तक हैं। अतः उनका मत वक्रोक्ति सम्प्रदाय नाम से प्रसिद्ध है। भोजकत्व व्यापार की कल्पना भट्टनायक ने की है। परन्तु इसे अलग न मानकर भरत

के रस-मत के भीतर ही इसे अन्तर्भुक्त करना चाहिए क्योंकि भट्टनायक ने विभाव, अनुभाव, सञ्चारीभाव से रस की निष्पत्ति समझाने के लिए अपने इस नवीन व्यापार की कल्पना की। व्यंग्य मुख से वैशिष्ट्य मानने वाले आचार्य आनन्दवर्धन हैं जिन्होंने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है। समुद्रबन्ध के शब्दों में ही उनका मौलिक मत इस प्रकार उपन्यस्त है:—

इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापार-मुखेन व्यंग्य-मुखेन वेति त्रयः पक्षः। आद्येऽप्यलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्ति जीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनेन।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के विरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है अभाव-वाद, भक्तिवाद तथा अनिर्वचनीयतावाद। अभाववादियों में भी तीन छोटे-छोटे संप्रदाय हैं। नितान्त अभाव मानने के अतिरिक्त कुछ तो गुण, अलंकार आदि को काव्य का एकमात्र उपकरण मानकर ध्वनि की सत्ता को बिलकुल तिरस्कृत करते हैं। परन्तु कुछ लोग अलंकार के भीतर ही ध्वनि का भी समावेश करते हैं। भक्तिवादी लक्षणा के द्वारा ध्वनि की कार्यसिद्धि मानते हैं। अनिर्वचनीयतावादी ध्वनि के स्वरूप को शब्द से अगोचर बतला कर ध्वनि को अनिर्वचनीय बतलाता है। आनन्दवर्धन ने इन तीनों मतों का पर्याप्त खण्डन कर ध्वनि की स्वतंत्र सत्ता स्थापित की। मतों का पृथक् वर्णन न देकर हम अलंकारशास्त्र के प्रसिद्ध सम्प्रदायों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

अलंकारशास्त्र के सम्प्रदाय मुख्यतः छ हैं:—

(१) रस सम्प्रदाय—भरतमुनि।
(२) अलंकार सम्प्रदाय—भामह, उद्भट तथा रुद्रट।
(३) गुण सम्प्रदाय—दण्डी तथा वामन।
(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय—कुन्तक।
(५) ध्वनि सम्प्रदाय—आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त।
(६) औचित्य सम्प्रदाय—क्षेमेन्द्र।

(१) रस सम्प्रदाय

राजशेखर के कथनानुसार नन्दिकेश्वर ने ब्रह्माजी के उपदेश से सर्वप्रथम रस का निरूपण किया, परन्तु नन्दिकेश्वर के रस-विषयक मत का पता नहीं चलता। उपलब्ध रस-सिद्धान्त भरतमुनि के साथ सम्बद्ध है। भरत रस-सम्प्रदाय के प्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं। नाट्यशास्त्र के षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में रस और भाव का जो निरूपण प्रस्तुत किया गया है वह साहित्य संसार में एक अपूर्व वस्तु है। भरत के समय में नाट्य का ही बोलबाला था। इसलिये भरत ने नाट्यरस का ही विस्तृत, व्यापक तथा मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। रस सम्प्रदाय का मूलभूत सूत्र है—विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः'। अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। देखने में यह सूत्र जितना छोटा है विचार करने में यह उतना सार-गर्भित है। भरत ने इसका जो भाष्य लिखा है वह बड़ा ही सुगम है। भरत के टीकाकारों ने इस सूत्र की भिन्न-भिन्न व्याख्यायें की हैं जिनके चार मत प्रधान हैं। इन टीकाकारों के नाम हैं—भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त। भट्टलोल्लट उत्पत्ति-वादी हैं। वे रस को विभावादि का कार्य मानते हैं। शंकुक विभावादिकों के द्वारा रस की अनुमिति मानते हैं। उनकी सम्मति में विभावादिकों से तथा रस से अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध है। भट्ट नायक भुक्तिवादी हैं। उनकी सम्मति में विभावादि का रस से भोज्य-भोजक सम्बन्ध है जिसे सिद्ध करने के लिए इन्होंने अभिधा से अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो व्यापारों को भी स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त व्यक्तिवादी हैं। उन्हीं का मत अधिक मनोवैज्ञानिक है और इसलिए उनका मत समस्त आलंकारिकों के आदर तथा श्रद्धा का पात्र है। समग्र स्थायीभाव वासनारूप से सहृदयों के हृदय में विद्यमान रहते हैं। विभावादिकों के द्वारा ये ही सुप्त स्थायीभाव अभिव्यक्त होकर आनन्दमय रस का रूप प्राप्त कर लेते हैं।

रस की संख्या के विषय में आलंकारिकों में मतभेद दीख पड़ता है। भरत ने आठ रस माने हैं (१) शृंगार (२) हास्य (३) करुण (४) रौद्र (५) वीर (६) भयानक (७) बीभत्स (८) अद्भुत। शान्तरस के

विषय में बड़ा विवाद है। भरत तथा धनञ्जय ने नाटक में शांतरस की स्थिति अस्वीकार की है (शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य। दशरूपक ४।३५) नाटक अभिनय के द्वारा ही प्रदर्शित किया जाता है और शांत रस सब कार्यों का विरामरूप है। ऐसी दशा में शांत का प्रयोग नाटक में हो नहीं सकता। काव्यादिकों में उसकी सत्ता अवश्य विद्यमान रहती है। आनन्दवर्धन के अनुसार महाभारत का मूल रस शांत ही है। रुद्रट ने 'प्रेयान्' को भी रस माना है। विश्वनाथ 'वात्सल्य' को रस मानने के पक्षपाती हैं। गौड़ीय वैष्णवों की सम्मति में 'मधुर रस' सर्वश्रेष्ठ, सर्वप्रथम रस है। साहित्य में रस-मत की महत्ता है। लौकिक संस्कृत का प्रथम श्लोक—जो क्रौंचवध से मर्माहत होकर महर्षि वाल्मीकि को स्फुरित हुआ—रसमय ही था। इस रस को सब सम्प्रदायों ने अपनाया है परंतु अपने मतानुसार इसे ऊँचा नीचा स्थान दिया है।

(२) अलंकार सम्प्रदाय

अलंकार मत के प्रधान प्रवर्तक आचार्य भामह हैं तथा इसके पोषक हैं भामह के टीकाकार उद्भट तथा रुद्रट। दण्डी को भी अलंकार की प्रधानता किसी न किसी रूप में स्वीकृत थी। इस सम्प्रदाय के अनुसार अलंकार ही काव्य का जीवातु है। जिस प्रकार अग्नि को उष्णता-रहित मानना उपहास्यास्पद है, उसी प्रकार काव्य का अलंकारहीन मानना अस्वाभाविक है।[1] अलंकारों का विकास धीरे धीरे ही होता आया है। भरत के नाट्यशास्त्र में तो चार ही अलंकारों का नाम निर्देश मिलता है—यमक, उपमा, रूपक और दीपक। मूल अलंकार ये ही हैं जिनमें एक तो है शब्दालंकार और तीन हैं अर्थालंकार। इन्हीं चार अलंकारों का विकास होकर कुवलयानंद में १२५ अलंकार माने गये हैं। अलंकारों के इस विकास के लिए अलग अनुशीलन की आवश्यकता है। अलंकारों के स्वरूप में भी अंतर पड़ता गया। भामह की जो वक्रोक्ति है वह वामन में नये परिवर्तित रूप में दीख पड़ती है। अलं-

१—अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥ चन्द्रलोक १।८

कारों के विभाग के लिए कतिपय सिद्धांत भी निश्चित किये गये हैं। रुद्रट ने पहले पहल यह संकेत किया और औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेष को अलंकारों का मूल माना। इस विषय में एकावलीकार विद्याधर का निरूपण बड़ा युक्तियुक्त और वैज्ञानिक है। उन्होंने औपम्य, विरोध, तर्क, आदि को अलंकार का मूल विभेदक मानकर इस विषय की बड़ी सुंदर समीक्षा की है।

अलंकार मत को माननेवाले आचार्यों को रस का तत्त्व अज्ञात न था। परंतु उन्होंने इसे स्वतंत्र स्थान न देकर अलंकार का ही प्रकार माना। रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी और समाहित इन चारों अलंकारों के भीतर रस और भाव का समग्र विषय भामह के द्वारा अंतर्निविष्ट किया गया है। दण्डी भी 'रसवत्' अलंकार से परिचित हैं। उन्होंने आठ रस और आठ स्थायीभावों का निर्देश किया है। इस प्रकार अलंकार मत के ये आचार्य रसतत्त्व को भलीभाँति जानते हैं पर उसे अलंकार का ही एक प्रकार मानते हैं। वे प्रतीयमान अर्थ से भी परिचित हैं जिसे उन्होंने समासोक्ति, आक्षेप आदि अलंकारों के भीतर माना है। अलंकारों के विशिष्ट अनुशीलन तथा व्याख्या करने से वक्रोक्ति तथा ध्वनि की कल्पना प्रादुर्भूत हुई। इस प्रकार इस शास्त्र के इतिहास में अलंकार मत की बड़ी विशेषता है।

(३) रीति सम्प्रदाय

रीतिमत के प्रधान प्रतिपादक आचार्य वामन हैं। उनके मत में रीति ही काव्य की आत्मा है। रीति क्या है? पदों की विशिष्ट रचना ही है। रचना में यह विशिष्टता गुणों के कारण से उत्पन्न होती है। अतः रीति गुणों के ऊपर अवलम्बित रहती है। इसलिए रीतिमत गुण सम्प्रदाय के नाम से पुकारा जाता है। वैदर्भी और गौड़ी रीतियों के विभेद को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करने का श्रेय आचार्य दण्डी को है। गुण और अलङ्कार के भेद को वामन ने पहली बार स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। वामन ने गुणों को शब्दगत तथा अर्थगत मानकर उनकी संख्या द्विगुणित कर दी है। दश गुणों का नामनिर्देश तो भरत के नाट्यशास्त्र में ही किया गया है। उनके ये नाम हैं:— श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति,

उदारता, कांति। दंडी ने भी इनका निर्देश किया है जिन्हें वे वैदर्भ मार्ग का प्राण बतलाते हैं। वामन ने भी वैदर्भी रीति के लिए इन दश गुणों की आवश्यकता स्वीकार की है। गौड़ी के लिए ओज और कांति की, पाञ्चाली के लिए माधुर्य तथा प्रसाद की सत्ता रहना आवश्यक बतलाया है।

रीति सम्प्रदाय ने अलंकार और गुण का भेद स्पष्ट कर साहित्य का बड़ा उपकार किया है। वामन का कथन है कि काव्य-शोभा के करनेवाले धर्म 'गुण' हैं और अतिशय करने वाले धर्म 'अलंकार' हैं। (काव्य-शोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशय-हेतवोऽलंकाराः)। अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा इस सम्प्रदाय की आलोचना-दृष्टि गहरी तथा पैनी दीख पड़ती है। भामह आदि ने तो रस को अलंकार मानकर उसे काव्य का बहिरंग साधन ही स्वीकार किया है, परन्तु वामन ने कांति गुण के भीतर रस का अंतर्निर्देश कर काव्य में रस की महत्ता पर विशेष जोर दिया है। उन्होंने वक्रोक्ति के भीतर ध्वनि का अन्तर्भाव किया है। इस प्रकार रीति सम्प्रदाय का विवेचन कहीं अधिक हृदयंगम तथा व्यापक है।

(४) वक्रोक्ति संप्रदाय

वक्रोक्ति को काव्य का जीवन सिद्ध करने का श्रेय आचार्य कुंतक को ही है। उन्होंने इसीलिए अपने ग्रंथ का नाम ही 'वक्रोक्ति-जीवित' रखा है। 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ है—वक्र उक्ति अर्थात् सर्वसाधारण लोगों के कथन से भिन्न; अलौकिक चमत्कार से युक्त कथन। कुन्तक के शब्दों में वक्रोक्ति 'वैदग्ध्यभंगीभणिति' है। साधारण जन अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए साधारण ढंग से ही शब्दों का प्रयोग किया करते हैं; परन्तु उससे पृथक् चमत्कारी कथन का प्रकार 'वक्रोक्ति' के नाम से अभिहित होता है[1]। वक्रोक्ति की इस कल्पना के लिए कुन्तक भामह के ऋणी हैं। भामह

१—वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते।

वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा

वैदग्ध्यं कविकौशलं तस्य भंगी विच्छित्तिः।—वक्रोक्ति-जीवित १।११

अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति के नाम से पुकारते हैं और उसे अलंकारों का जीवनाधायक मानते हैं। उनका कथन स्पष्ट है—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

भामह की सम्मति में वक्र अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग काव्य में अलंकार उत्पन्न करता है—वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते (५।६६) हेतु को अलंकार न मानने का कारण वक्रोक्तिशून्यता ही है (२।८६)। भामह की इस कल्पना को पिछले आलङ्कारिकों ने स्वीकृत किया। लोचन ने भामह (१।३६) को उद्धृत कर स्पष्ट लिखा है—शब्द और अर्थ की वक्रता लोकोत्तर रूप से उनकी अवस्थिति है (शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्—पृ० २०८)। दण्डी ने भी वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति रूप से वाङ्मय को दो प्रकार का माना है तथा वक्रोक्ति में श्लेष के द्वारा सौंदर्य-उत्पत्ति की बात लिखी है[1]। कुन्तक ने इसी कल्पना को अपना कर वक्रोक्ति को काव्य का जीवित बनाया है। निःसन्देह वे बड़े भारी मौलिक विचारों के आचार्य हैं।

कुन्तक ध्वनिमत से खूब परिचित हैं। ध्वन्यालोक के पद्यों का भी उन्होंने अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है, परन्तु उनकी वक्रोक्ति की कल्पना इतनी उदात्त, व्यापक तथा बहुमुखी है कि उसके भीतर ध्वनि का समस्त प्रपंच सिमट कर विराजने लगता है। वक्रोक्ति पाँच प्रकार की मुख्य रूप से है—(१) वर्णवक्रता, (२) पदवक्रता, (३) वाक्यवक्रता, (४) अर्थवक्रता, (५) प्रबंधवक्रता। उपचार-वक्रता के भीतर ध्वनि के प्रचुर भेदों का समावेश किया गया है। कुन्तक की विश्लेषण तथा विवेचनशक्ति बड़ी मार्मिक है। उनका यह ग्रन्थ अलंकारशास्त्र के मौलिक विचारों का भंडार है। दुःख है कि उनके पीछे किसी आचार्य ने इस भावना को और अग्रसर नहीं

१—श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥ काव्यादर्श २।३६३

किया। वे लोग तो रुद्रट के द्वारा प्रदर्शित प्रकार को अपनाकर वक्रोक्ति को एक सामान्य शब्दालंकारमात्र ही मानने लगे। इस प्रकार 'वक्रोक्ति' की महनीय भावना को बीजरूप में सूचित करने का श्रेय आचार्य भामह को है और उस बीज को पूर्णरूप से अंकुरित तथा पल्लवित करने का सम्मान कुंतक को प्राप्त है।

(५) ध्वनि सम्प्रदाय

ध्वनिमत रस-मत का विस्तृतीकरण है। रस सिद्धान्त का अध्ययन मुख्यतः नाटक के सम्बन्ध में ही पहिले पहल किया गया। यह 'रस' कभी वाच्य नहीं होता, प्रत्युत व्यंग्य ही हुआ करता है। इस विचारधारा को अग्रसर कर आनन्दवर्धन ने व्यंग्य को ही काव्य में प्रधान माना है। 'ध्वनि' शब्द के लिए आलंकारिक वैयाकरणों का ऋणी है। वैयाकरण स्फोटरूप मुख्य अर्थ की अभिव्यक्ति करने वाले शब्द के लिए 'ध्वनि' का प्रयोग करता है। आलंकारिकों ने इसी साम्य पर ध्वनि शब्द को ग्रहण कर इसका अर्थ विस्तृत तथा व्यापक बना दिया। इस मत के आद्य आचार्य आनंदवर्धन ने युक्तियों के सहारे व्यंग्य की सत्ता वाच्य से पृथक् सिद्ध की और मम्मट ने तो इसकी बड़ी ही शास्त्रीय व्यवस्था कर दी। आनंद के पहले ध्वनि के विषय में तीन मत थे—अभाववादी, भक्तिवादी, अनिर्वचनीयतावादी। इनका समुचित खण्डन आनन्द की बुद्धि का चमत्कार है। ध्वनि के तीन मुख्य भेद हैं—रस, वस्तु तथा अलंकार और इनके भी अनेक प्रकार हैं।

अलंकार के इतिहास में 'ध्वनि' की कल्पना बड़ी सूक्ष्म बुद्धि की परिचायिका है। ध्वनि के चमत्कार को पाश्चात्य आलंकारिक भी मानते हैं। महाकवि ड्राइडन की उक्ति—more is meant than meets the ear—ध्वनि की ही प्रकारान्तर से सूचना है। ध्वनिवादी सिद्धांतों के व्यवस्थापक दीख पड़ते हैं क्योंकि उन्होंने अपनी पद्धति के अनुसार गुण, दोष, रस, रीति आदि समस्त काव्यतत्वों की सुन्दर संतुलित व्यवस्था कर दी है।

(६) औचित्य सम्प्रदाय

'औचित्य' की भावना रस ध्वनि आदि समस्त काव्यतत्त्वों की मूल भावना है। समस्त प्राचीन आलंकारिकों ने 'औचित्य' की रक्षा करने की ओर अपने ग्रंथों में संकेत किया है। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार-चर्चा' लिखकर इस काव्यतत्त्व का व्यापक रूप स्पष्ट दिखलाया है, उनका यह कथन ठीक है कि 'औचित्य ही रस का जीवनभूत प्राण है'[1]। जो जिसके सदृश हो, जिससे मेल मिले उसे 'उचित' कहते हैं और उचित का ही भाव 'औचित्य' है[2]। इस औचित्य' को पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिंग, वचन आदि अनेक स्थलों पर दिखलाकर तथा इसके अभाव को अन्यत्र दिखलाकर क्षेमेन्द्र ने साहित्य रसिकों का महान् उपकार किया है। परंतु इस तत्त्व की उद्भावना क्षेमेन्द्र से ही मानना भयंकर ऐतिहासिक भूल होगी। औचित्य का मूलतत्त्व आनंद ने ही उद्घाटित किया है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

अनौचित्य को छोड़कर रसभंग का दूसरा कारण नहीं है। रस का परम रहस्य—परा उपनिषद्—यही है औचित्य से उसका निबन्धन। परन्तु आनन्दवर्धन से बहुत पहले यह काव्य का मूलतत्त्व माना गया था। भरत ने अपने पात्रों के लिए देश और अवस्था के अनुरूप वेष-विन्यास की व्यवस्था कर इसी तत्त्व पर जोर दिया—

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥

नाट्यशास्त्र २३।६६

१—औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥ (का० ३)

२—उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥ (का० ७)

पिछले आलंकारिकों ने भी इस तत्त्व की महत्ता मानी है। इन्हीं सूचनाओं का विशद विवरण क्षेमेंद्र ने अपने मौलिक ग्रंथ में किया। क्षेमेंद्र का यह कथन भरत की पूर्वोक्त कारिका का भाष्य रूप ही है—

कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यतां,
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणः॥

त्रयोदश परिच्छेद

दर्शन-शास्त्र

भारतवर्ष स्वभाव से ही विचारप्रधान देश है। अन्य देशों में जीवन-संग्राम इतना भीषण है, प्रतिदिन व्यावहारिक जीवन की ही समस्यायें इतनी उलझी हुई हैं कि उन देशों के निवासियों का सारा समय इन्हीं के सुलझाने में व्यतीत हुआ करता है। जगत् के आध्यात्मिक तत्त्वों की छानबीन करना उनके जीवन की आकस्मिक घटनाएँ हैं। परन्तु इस भारतभूमि की जीवन की समग्र आवश्यक सामग्रियों से परिपूर्ण बनाकर प्रकृति ने यहाँ के निवासियों को ऐहिक चिन्ताओं से निर्मुक्त कर पारलौकिक चिन्तन की ओर स्वतः अग्रसर कर दिया है। भारतवासी निसर्गतः विचार-प्रधान हैं। यहाँ समग्र विद्याओं में अध्यात्मविद्या (दर्शनशास्त्र) को नितान्त सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। मुण्डक (१।१) उपनिषद् में ब्रह्मविद्या सब विद्याओं की प्रतिष्ठा (सर्वविद्याप्रतिष्ठा) बतलाई गई है। गीता (१०।३२) में भगवान् श्रीकृष्ण ने 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' कहकर दर्शन-शास्त्र को अपनी ही माननीय विभूति स्वीकार किया है। अर्थशास्त्र के भी कर्ता की दृष्टि में आन्वीक्षिकी विद्या सब विद्याओं के प्रकाशक होने से ही दीपकस्थानीय है; सब कर्मों के अनुष्ठान का उपाय है तथा सब धर्मों का आश्रय है—

प्रदीपः सर्व-विद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥

(अर्थशास्त्र १।२)

जो महत्ता तथा स्वतन्त्रता विचारशास्त्र को इस देश में प्राप्त है वैसी इसे किसी भी अन्य देश में प्राप्त नहीं हुई।

भारतवर्ष में दर्शन का महत्त्व बहुत ही अधिक है। उसका सम्बन्ध हमारे जीवन की प्रतिदिन की घटनाओं के साथ नितान्त घनिष्ठ है। पाश्चात्य देशों

में दर्शन (फिलासफी) विद्या का अनुराग मात्र है—विद्वज्जनों के मनोविनोद का साधनमात्र है, परंतु भारत में इसका मूल्य नितान्त व्यावहारिक है। त्रिविध—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—ताप से सन्तप्त जनता के क्लेशों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए ही दर्शन का उदय हुआ है—दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ (सांख्यकारिका १)। यह पण्डितजनों की रमणीय कल्पना का विजृम्भणमात्र नहीं है, अपितु दिन प्रतिदिन की जागरूक विपदाओं से सदा के लिए मुक्ति प्रदान करने के निमित्त ही आर्षचक्षु वाले ऋषियों की यह महती देन है। इसीलिए दर्शन का धर्म के साथ भारतभूमि पर इतना घनिष्ठ मेल-जोल है। दर्शनशास्त्र के द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की दृढ़ प्रतिष्ठा है। विचार तथा आचार में गहरा सम्बन्ध है। जैसा विचार होता है, वैसा ही आचार होता है। दार्शनिक विचार की आधारशिला के बिना धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है और धार्मिक आचार के रूप में कार्यान्वित बिना किये दर्शन की स्थिति निष्फल है। धर्म तथा दर्शन में जितना सामञ्जस्य यहाँ दृष्टिगोचर होता है, उतना अन्य किसी देश में नहीं होता।

उदय

सत्य के अन्वेषण के प्रति भारत के विद्वज्जनों का आग्रह अत्यंत प्राचीन काल से चला आ रहा है। दार्शनिक प्रवृत्ति का उदय संहिताकाल में ही हो गया था। ऋग्वेद के अत्यंत प्राचीन युग से ही भारतीय विचारधारा में द्विविध प्रवृत्ति तथा द्विविध लक्ष्य के दर्शन हमें होते हैं। प्रथम प्रवृत्ति प्रतिभामूलक अथवा **प्रज्ञामूलक** है जो प्रातिभ चक्षु के सहारे तत्त्वों के विवेचन करने में समर्थ होती है। द्वितीय प्रवृति **तर्कमूलक** है जो तार्किक बुद्धि का प्रयोग कर तत्त्वों की समीक्षा करने में कृतकार्य होती है। लक्ष्य भी दो प्रकार के हैं—धर्म का उपार्जन और ब्रह्म का साक्षात्कार। ऋग्वेद के एक महर्षि—प्रजापति परमेष्ठी—प्रातिभज्ञान के बलपर जगत् के मूल-तत्त्व की व्याख्या करते हुए अद्वैत-तत्त्व पर आ टिकते हैं। वे कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में एक ही वस्तु वायु के बिना ही अपनी शक्ति से श्वास लेती थी—आनीदवातं स्वधया तदेकम् (ऋ० १०।१२९।२), तो दूसरे 'संवनन आङ्गिरस' ऋषि वस्तुतत्त्व

को पहचानने के लिए तर्क की उपयोगिता बतला रहे हैं—संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् (ऋ० १०।१६१।२)=आपस में मिलो, विषय का विवेचन करो तथा एक दूसरे के मन को जानो। इन उभय प्रवृत्तियों के परस्पर सम्मेलन से उपनिषदों के तत्त्वज्ञान का जन्म हुआ। औपनिषद तत्त्वज्ञान का पर्यवसान आत्मा तथा परमात्मा के एकीकरण को सिद्ध करने वाले प्रज्ञामूलक वेदांत में हुआ। साथ ही साथ उस काल में तर्कमूलक तत्त्वज्ञान का भी ऊहापोह सुचारु रूप से होता था जिससे आगे चलकर कालांतर में अन्य दर्शनों की उत्पत्ति हुई। जगत् के मूल में प्रकृति तथा पुरुष के द्वैत को मानने वाला सांख्य, समाधि के द्वारा परम तत्त्व की प्राप्ति बतलानेवाला योग, परमाणु, जीव तथा ईश्वरादि मौलिक तत्त्वों को माननेवाला बहुत्ववादी वैशेषिक तथा प्रमाणशास्त्र की विशद व्याख्या करनेवाला न्याय—इसी तर्क मूलक प्रवृत्ति के उज्ज्वल दृष्टांत हैं। इन दर्शनों के बीज उपनिषदों में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। इन्हीं का उपयोग कर पीछे के आचार्यों ने अपने मत को प्रामाणिक रूप दिया। उपनिषद् ही भारतीय विचार-धारा के मूल स्रोत हैं। वे ऐसे आध्यात्मिक मान-सरोवर हैं जहाँ से भिन्न-भिन्न ज्ञानधारायें निकल कर इस भारत भूमि को उर्वर तथा आप्यायित करती आ रही हैं।

उपनिषत्कालीन तत्वज्ञान का संकेत 'तत्त्वमसि' महावाक्य में है। इस वाक्य के द्वारा ऋषि लोग डंके की चोट प्रतिपादित करते हैं कि त्वं=जीव तथा तत्=ब्रह्म पदार्थों में नितांत एकता है। इस तत्त्व का साक्षात्कार उपनिषद् के पश्चात् युगों के लिए एक विषम पहेली थी। इसकी समीक्षा के अवसर पर कुछ दार्शनिक लोग कहने लगे कि जीव तथा जगत्—पुरुष तथा प्रकृति—के परस्पर विभिन्न गुणों के न जानने से ही यह संसार है (अनात्म-ख्याति) और प्रकृति-पुरुष के स्वरूप को भली भाँति जानने पर ही तत् त्वं की एकता सिद्ध हो सकती है। इस ज्ञान का नाम हुआ सम्यक् ख्याति—विवेक ज्ञान अथवा सांख्य। यह तो हुआ अलौकिक साक्षात्कार। परंतु इससे काम चलता न देखकर अन्य दार्शनिकों को व्यावहारिक रूप से साक्षात्कार की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसकी पूर्ति 'योग' से की गई। इस प्रकार

'सांख्य-योग' एक ही तत्वज्ञान के दो रूप हैं—अलौकिक पक्ष का नाम है सांख्य तथा व्यवहार-पक्ष का योग। कुछ दार्शनिकों ने जीव-जगत् के गुणों (विशेष) की छानबीन करना आवश्यक समझा। इस प्रकार आत्मा तथा अनात्मा के गुण विवेचन से वैशेषिक की उत्पत्ति हुई तथा ज्ञानप्राप्ति की प्रणाली को निश्चित रूप से बतलाने के लिए न्याय का जन्म हुआ। तर्कमूलक प्रणाली का रूप 'न्याय' में इतनी उग्रता से दृष्टिगोचर होने लगा कि यह भावना बद्धमूल हो गई कि केवल शुष्क तर्क की सहायता से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो ही नहीं सकता। अतः विचारकों ने श्रुति की ओर अपनी दृष्टि फेरी तथा वैदिक कर्म-कांड की विवेचना आरंभ कर दी जिसका फल हुआ मीमांसा का उदय। परन्तु मानवों की आध्यात्मिक भावना केवल कर्म के अनुष्ठान से तृप्त नहीं हो सकी। अतः वेदों के ज्ञानकांड की मीमांसा होने लगी जिससे वेदांत का जन्म हुआ। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य की यथार्थ व्याख्या करने के लिए षड् दर्शनों की उत्पत्ति उक्त क्रम से हुई। इन सबकी अपनी विशेषताएँ हैं, परन्तु लक्ष्य एक ही है—तापत्रय से संतप्त जनता के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति। भिन्न-भिन्न मार्ग का अवलम्बन करने पर भी हम एक ही गन्तव्य स्थान पर किस प्रकार पहुँचते हैं? इसका पता इन दर्शनों के विकास की ओर दृष्टिपात करने से भली भाँति लग सकता है।

विकास का कालक्रम

वेद के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को प्रामाणिक तथा सर्वथा सत्य मानने वाले इन दर्शनों को 'आस्तिक' दर्शन कहते हैं। मुख्य दर्शन छः हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदांत। इसके उदय तथा अभ्युदय का इतिहास भारतीय विचारशास्त्र की विभिन्न प्रवृत्तियों का मार्मिक समीक्षण है। यह इतिहास तीन विभागों में बाँटा जा सकता है—सूत्रकाल, भाष्यकाल तथा वृत्तिकाल। सूत्रकाल में इन दर्शनों का उदय हुआ। प्रत्येक दर्शन का मूलग्रंथ सूत्ररूप में उपलब्ध होता है जो किसी एक महान् विचारक के नाम से सम्बद्ध है—न्यायसूत्र महर्षि गौतम की रचना है, वैशेषिक सूत्र कणाद की

सांख्य कपिल की, योग पतञ्जलि की, मीमांसा जैमिनि की तथा वेदांत बादरायण व्यास की। इन सूत्रों की रचना तो विक्रमादित्य से पहले ही हो चुकी थी, इनका विकास विक्रम की लगभग १५ वीं शताब्दी तक होता आया। इसी विकास-काल को हमने 'भाष्यकाल' का नाम दिया है। भाष्यकाल को अलंकृत करनेवाले दार्शनिकों की गणना संसार के महान् दार्शनिकों की श्रेणी में की जा सकती है। इन्होंने मूल अल्पाक्षर सूत्रों में निहित तथ्यों का विशदीकरण अपनी तार्किक बुद्धि से निष्पन्न कर एक महान् साहित्य का जन्म दिया है। हम भाष्यकाल के अनन्तर पिछली पाँच शताब्दियों को 'वृत्तिकाल' कह सकते हैं क्योंकि इस समय में भाष्यकाल की विशाल ग्रंथराशि तथा विचारधारा को बोधगम्य बनाने के लिए छोटे-मोटे वृत्ति-ग्रंथों की रचना की गई।

नास्तिक दर्शन

दर्शन के दो प्रधान भेद हैं—(१) आस्तिक और (२) नास्तिक। आस्तिक वह है जो वेद में श्रद्धा रक्खे और नास्तिक वह है जो वेद का निंदक हो। 'नास्तिको वेदनिंदकः'। वेद को प्रमाण न माननेवाले दर्शन 'नास्तिक' और वेद में श्रद्धा रखनेवाले दर्शन 'आस्तिक' कहलाते हैं। नास्तिक दर्शन में तीन मुख्य हैं—(१) चार्वाक (२) जैन (३) बौद्ध।

चार्वाक दर्शन

चार्वाक दर्शन नितांत भूतवादी है। खाओ-पीओ मौज उड़ाओ—इस सिद्धांत के प्रचार करने के कारण इसे 'चार्वाक' संज्ञा प्राप्त हुई है। परन्तु अधिक सम्भव है कि चारु वाक् से 'चार्वाक' शब्द बना। चार्वाक वह हुआ जो सांसारिक सुख को ही जीवन का अन्तिम ध्येय बतलाकर अपनी चारु वाक् से लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करे। इसके मूलसूत्र के रचयिता कोई आचार्य बृहस्पति हैं। ये सूत्र दर्शनग्रन्थों में उद्धृत किये गये मिलते हैं। चार्वाक लोग प्रत्यक्षवादी हैं। वे अनुमान तथा शब्द-प्रमाण की सत्ता नहीं मानते। पृथ्वी, जल, तेज, वायु—इन चार भूतों से ही यह जगत्

बना हुआ है। पृथ्वी आदि चार भूतों के सम्मिश्रण से इस शरीर की उत्पत्ति हुई है और चैतन्य-विशिष्ट शरीर ही आत्मा है। चैतन्य-विशिष्टः कायः पुरुषः। जिस प्रकार पान, सुपारी, खैर, चूना के संयोग से पान की लालिमा स्वयं उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार जड़ भूतों के मिलने से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। ये लोग ईश्वर नहीं मानते। ये पक्के स्वभाववादी हैं। स्वभाव से जगत् उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। मरण को ही मोक्ष मानते हैं। इस जगत् के बाद स्वर्ग नामक लोक में आस्था नहीं रखते। वे आधिभौतिक सुखवाद के अनुयायी हैं। चार्वाकों का यह सिद्धान्त सर्वत्र प्रसिद्ध है कि जब तक जीवो सुख से जीवो। ऋण लेकर भी घी पीओ; क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर भला जीव का पुनरागमन कभी होता है?—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?॥

जैन दर्शन

जैनमत बौद्धमत से भी प्राचीन है। जैनियों के अनुसार इनके धर्म के प्रथम प्रचारक (तीर्थङ्कर) ऋषभदेव थे। जैनी लोग चौबीस तीर्थङ्कर मानते हैं जिनमें अन्तिम दो तीर्थङ्कर **पार्श्वनाथ** और महावीर निःसन्देह ऐतिहासिक व्यक्ति थे। पार्श्वनाथ का जन्म ईस्वी पूर्व अष्टम शताब्दी में तथा महावीर का काल ई० पूर्व षष्ठ शताब्दी माना जाता है। जैनधर्म का मूल सिद्धान्त अर्धमागधी भाषा में निबद्ध है। सिद्धान्त ग्रंथों की संख्या ४५ है जिसमें ११ अङ्ग, १२ उपाङ्ग, १० प्रकीर्ण, ६ छंदसूत्र, ४ मूलसूत्र, तथा २ स्वतन्त्र ग्रंथ (नन्दीसूत्र तथा अनुयोग द्वार-सूत्र) हैं। जैनों का दार्शनिक साहित्य भी बड़ा विशाल तथा विद्वत्तापूर्ण है। आरम्भ काल के आचार्यों में 'तत्वार्थ-सूत्र' के रचयिता उमास्वाति, प्रपञ्चसार आदि के निर्माता 'कुन्दकुन्दाचार्य' तथा आप्तमीमांसा के कर्ता समन्तभद्र मुख्य हैं। इनका समय ईसा की तीसरी शताब्दी तक समाप्त हो जाता है। मध्ययुग के आचार्यों में सिद्धसेन दिवाकर (५ श०) हरिभद्र (८ श०); भट्ट अकलंक (८ श०) तथा विद्यानन्द हैं (९ श०)। हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) ने निखिल शास्त्र

में निपुणता तथा बहुज्ञता के कारण कलिकाल-सर्वज्ञ की उपाधि प्राप्त की थी। उनका 'प्रमाण-मीमांसा' नितान्त महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रंथ है।

जैन दर्शन में मोक्ष के तीन साधन हैं—(१) सम्यग् दर्शन (श्रद्धा) (२) सम्यग् ज्ञान (जीव, अजीव; आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष—इन सात पदार्थों का ठीक-ठीक ज्ञान)। (३) सम्यग् चरित्र। चरित्र की सिद्धि के लिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच व्रतों का पालन नितान्त आवश्यक है। जैन धर्म की आचार-मीमांसा बड़ी ही मार्मिक उपादेय है। प्रकारान्तर से जैन दर्शन ६ द्रव्यों को मानता है। एक देशव्यापी द्रव्य 'काल' है। बहुप्रदेशव्यापी द्रव्यों को 'अस्तिकाय' कहते हैं। सत्ता धारण करने के कारण वे 'अस्ति' तथा शरीर के समान विस्तार से समन्वित होने के कारण वे 'काय' कहलाते हैं। ऐसे द्रव्य पाँच हैं—जीव, पुदगल (भूत), आकाश, धर्म तथा अधर्म। स्याद्वाद तथा सप्तभङ्गी नय जैन न्याय की विशेषता है।

बौद्ध दर्शन

भगवान् बुद्ध के द्वारा प्रतिष्ठित धर्म 'बौद्ध' कहलाता है। उसका विशाल साहित्य है। बुद्ध ने अपने उपदेश उस समय की लोकभाषा पाली में दिया था। उनके मूल ग्रंथ त्रिपिटक के नाम से विख्यात हैं। महायान धर्म के ग्रंथ संस्कृत में लिखे गये। इस ग्रंथ के प्रधान चार सम्प्रदाय हैं—(१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) योगाचार और (४) माध्यमिक।

सत्ता के सिद्धांत के विषय में भिन्न-भिन्न मत रखने के कारण इन चार सम्प्रदायों का उदय हुआ है। वैभाषिक लोगों के अनुसार जगत् के समस्त पदार्थ—चाहे वे बाहरी जगत् से सम्बंध रखते हों या भीतरी जगत् से सम्बद्ध हों—सब सच्चे हैं और इस बात का पता प्रत्यक्ष के द्वारा लगता है। इसका दूसरा नाम है 'सर्वास्तिवाद'। सौत्रान्तिक मत भी बाहरी पदार्थों को सत्य मानता है। परन्तु प्रत्यक्ष रूप से नहीं, बल्कि अनुमान के द्वारा। योगाचार का दूसरा नाम 'विज्ञानवाद' है क्योंकि वह विज्ञान अथवा चित्त को ही एकमात्र सत्य मानता है। माध्यमिक का दूसरा नाम है 'शून्यवाद'

क्योंकि इस मत में जगत् के समस्त पदार्थ शून्यरूप हैं। चारों मतों के सिद्धान्तों को एकत्र जानने के लिए यह श्लोक बड़ा उपयोगी है—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते।

बौद्ध साहित्य

इन सम्प्रदायों का बड़ा विशाल साहित्य है और वह संस्कृत में ही निबद्ध है। कुछ ग्रन्थ तो मूल संस्कृत में उपलब्ध हैं; परंतु अधिकांश साहित्य संस्कृत में नष्ट हो गया है। उसका परिचय हमें चीन तथा तिब्बत की भाषाओं के किये गये अनुवादों से ही चलता है। वैभाषिक सिद्धान्तों का परिचय हमें वसुबन्धु के विख्यात ग्रंथ 'अभिधर्मकोष' से चलता है। वे पेशावर के कौशिकगोत्री ब्राह्मण के पुत्र थे। प्रौढ़ावस्था में अयोध्या में ही रहते थे। पहले वे सर्वास्तिवादी थे परन्तु अपने ज्येष्ठ भ्राता असंग के उपदेश मिलने पर ये अन्त में विज्ञानवादी हो गये। इस विज्ञानवाद के प्रवर्तक आर्य मैत्रेय या मैत्रेयनाथ थे जिनके पाँच ग्रन्थों में 'अभिसमयालंकार' तथा 'मध्यांत-विभाग' मूल संस्कृत में प्रकाशित हो गये हैं। परंतु विज्ञानवाद का प्रसार किया 'असंग' तथा 'वसुबंधु' ने। आचार्य वसुबंधु तृतीय शतक के बड़े भारी प्रौढ़ तथा प्रसिद्ध दार्शनिक थे। इनके सबसे प्रसिद्ध शिष्य दिङ्नाग' थे जिनका 'प्रमाण समुच्चय' बौद्धन्याय की प्रतिष्ठा करने वाला नितांत प्रौढ़ ग्रन्थ है। इसी सम्प्रदाय में सप्तम शताब्दी के प्रथमार्द्ध में 'धर्मकीर्ति' नामक विख्यात बौद्ध दार्शनिक हुए, जिनका 'प्रमाणवार्तिक' विज्ञानवाद के सिद्धांत जानने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

शून्यवादियों में आचार्य नागार्जुन (तृतीय शतक) आर्यदेव (तृतीय शतक), स्थविर बुद्धिपालित (पञ्चम शतक), भाव विवेक, चंद्रकीर्ति (सप्तम शतक) तथा शांतरक्षित (अष्टम शतक) प्रमुख हैं। ये आचार्य लोग बौद्ध दार्शनिक जगत् की बड़ी विभूति हैं जिनके ग्रंथ शून्यवाद

के गूढ़ सिद्धांतों को प्रतिपादन करनेवाले हैं। महायान संप्रदाय ही पिछली शताब्दियों में मंत्रशास्त्र के योग से मंत्र-यान, वज्रयान तथा कालचक्र यान के रूप में विकसित हो गया। इन संप्रदायों में मंत्र तथा तंत्र की बहुलता है इनका प्रचार तिब्बत तथा नैपाल में विशेष रूप से हुआ जहाँ वे आज भी विद्यमान हैं। इन संप्रदायों के आचार्यों के द्वारा लिखा गया महत्त्वपूर्ण साहित्य है। यह साहित्य नैपाल तथा तिब्बत में उपलब्ध है और धीरे-धीरे मूल संस्कृत में प्रकाशित हो रहा है।

आस्तिक दर्शनों का अभ्युदय

(१) न्याय दर्शन

न्याय दर्शन का अध्ययन विक्रम के जन्म के पूर्व से लेकर आज तक निरवच्छिन्न रूप से चला आ रहा है। इस दर्शन का साहित्य इतना विशाल है कि प्रकाशन के इस युग में भी उसका एक बड़ा भाग अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया है। इस दर्शन के अभ्युदय काल को उन मनीषियों ने अलंकृत किया था जिनकी तार्किक बुद्धि की तुलना करना नितांत दुरूह है। इसकी दो धारायें हैं—पहली धारा सूत्रकार गौतम से आरम्भ होती है जिसे प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदि सोलह पदार्थों के यथार्थ विवेचन होने के कारण 'पदार्थ-मीमांसात्मक' (कैटेगोरिस्टिक) प्रणाली कहते हैं। दूसरी प्रणाली को 'प्रमाणमीमांसात्मक' (एपिस्टोमोलाजिकल) कहते हैं जिसमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द प्रमाणों के अंग-प्रत्यंग का खूब सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस धारा का उदय पहले पहल मिथिला के गंगेश उपाध्याय (१२ शताब्दी विक्रमी) के युगप्रवर्तक ग्रंथ 'तत्त्व चिंतामणि' से होता है। पहली धारा को 'प्राचीन-न्याय' तथा दूसरी को 'नव्य न्याय' के नाम से पुकारते हैं।

न्यायसूत्रों की रचना विक्रम से पूर्व चतुर्थ शतक में हुई थी। **वात्स्यायन** (वि० द्वितीय शतक) न्याय के भाष्यकार हैं जिन्होंने अपना भाष्य लिखकर न्यायसूत्रों के दुरूह अर्थों को बोधगम्य बनाया। यह समय ब्राह्मण तथा

बौद्धन्याय के संघर्ष का युग था। उभय पक्ष के तार्किक अपने प्रतिपक्षियों की युक्तियों का खण्डन कर अपने सिद्धान्त के मण्डन में व्यस्त थे। भाष्य का खण्डन बौद्ध के नैयायिक दिङ्नाग ने अपने प्रमाणसमुच्चय आदि ग्रन्थों में किया जिसका खण्डन **उद्योतकर** (षष्ठ शतक) ने भाष्य के ऊपर 'वार्तिक' लिखकर दिङ्नागीय आक्रमणों से क्षीणप्रभ न्यायविद्या की विमल आभा का सर्वत्र विस्तार कर दिया। धर्म-कीर्ति ने 'न्याय-वार्तिक' की शैली पर 'प्रमाण वार्तिक' लिखा और उद्योतकर के मत का खण्डन किया। तब **वाचस्पति मिश्र** (नवम शतक) ने वार्तिककार की 'अति-जरती' वाणी के मर्म को समझाने के लिए 'तात्पर्य-टीका' का प्रणयन किया तथा जयन्त भट्ट ने चुने हुए सूत्रों के ऊपर 'न्याय-मंजरी' नामक प्रमेयबहुला वृत्ति लिखी जिसमें चार्वाक; बौद्ध, मीमांसा तथा वेदांत का खण्डन प्रबल तथा पाण्डित्यपूर्ण युक्तियों के द्वारा अत्यंत मनोरम तथा रोचक भाषा में किया गया है। दशम शतक में आचार्य उदयन ने 'तात्पर्य-परिशुद्धि' में वाचस्पति के तात्पर्य को व्यक्त करने का सफल उद्योग किया। वाचस्पति तथा उदयन दोनों मिथिला के निवासी थे तथा ये अपनी मौलिक चिंता तथा अलौकिक शेमुषी के लिए विद्वत्समाज में गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। 'नव्य न्याय' के जन्मदाता **गंगेश उपाध्याय** (१२ श०) भी मिथिला के निवासी थे। उनका 'तत्त्व चिंतामणि' वस्तुतः न्याय तत्वों के प्रकाश के लिए चिंतामणि ही है। गंगेश के ही हाथों में पुराना पदार्थ-शास्त्र अब सर्वाङ्गपूर्ण प्रमाणशास्त्र बन गया। अवच्छेदन-अवच्छिन्न, निरूपक निरूप्य आदि विचार-मापक शब्दावली की उद्भावना कर शास्त्रीय भाषा की वह शैली निर्धारित की गई जो सचमुच दार्शनिक जगत् में युगांतरकारिणी सिद्ध हुई। १५ वीं शताब्दी में बंगाल में नवद्वीप के विद्यापीठ की स्थापना हुई। तब से लेकर १७वीं तक का काल नव्यन्याय का सुवर्णयुग माना जाता है। इसी युग में **रघुनाथ शिरोमणि** (१६ श०) 'तत्त्वचिंतामणि' को 'दीधिति' से विभूषित किया, **मथुरानाथ तर्कवागीश** ने चिंतामणि तथा दीधिति पर 'रहस्य' नाम्नी टीकायें लिखीं; **जगदीश भट्टाचार्य** (१७ श०) ने 'जागदीशी' तथा **गदाधर भट्टाचार्य** ने (१७ श०) बृहत्काय 'गादाधरी' लिखकर दीधिति के अगूढ़ अर्थ का प्रकाशन भली भाँति किया। इस प्रकार

नव्य न्याय के अवांतर इतिहास में यदि रघुनाथ शिरोमणि तार्किक वादिवृषभों के मुकुटमणि हैं, तो गदाधर तार्किकों में वह सम्राट् हैं जिनके मस्तक को यह मणिमण्डित मुकुट सुशोभित कर रहा है।

न्याय दर्शन में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थान–इन षोडश पदार्थों के यथार्थ ज्ञान के द्वारा निःश्रेयस का अधिगम मानव जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"—ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती, यह सर्वमान्य सिद्धांत है, परंतु शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति का साधन कौन सा है? इन साधनों की यथार्थ मीमांसा न्यायदर्शन की दार्शनिक जगत् को महती देन है। न्याय ने प्रमाणों का तथा हेत्वाभासों का बड़ा ही प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया है जिसका उपयोग अन्य दर्शन भी पर्याप्तमात्रा में करते हैं। न्याय की दार्शनिक दृष्टि 'बहुत्व-संवलित यथार्थवाद' की है। इस विश्व के मूल में परमाणु, आत्मा, ईश्वर ऐसे नित्य पदार्थ विद्यमान हैं जिनके कारण ही इस जगत् की सत्ता होती है। हमारी इंद्रियों के सहारे जो जगत् दृष्टिगोचर होता है, वह वस्तुतः सत् है। परमाणु इसका समवायी कारण है तथा ईश्वर निमित्त कारण है। ईश्वर अनुमान के द्वारा गम्य है। उसकी इच्छा होने पर एक परमाणु दूसरे परमाणु से मिलकर 'द्व्यणुक' की सृष्टि करता है तथा तीन द्व्यणुकों के परस्पर योग से 'त्र्यणुक' या त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है और इसी प्रकार आकाशादि क्रम से पञ्चतत्त्व उत्पन्न होते हैं। न्यायमत में मुक्ति में सुख तथा दुःख उभय मनोवृत्तियों का नाश होने पर मन साम्यावस्था को प्राप्त कर लेता है। सुख के साथ राग का संबंध रहता है तथा यही राग बंधन का कारण बनता है। अतः मोक्ष में न दुःख विद्यमान रहता है, न सुख। जीवन्मुक्ति को अपर निःश्रेयस तथा विदेहमुक्ति को पर निःश्रेयस कहते हैं। मिथ्या ज्ञान के कारण ही दोष, प्रवृत्ति, जन्म तथा दुःख की उत्पत्ति होती है इस मिथ्याज्ञान का नाश तत्वज्ञान से होता है। आत्मा का साक्षात्कार नितरां आवश्यक है तथा इसके लिए यम नियम आदि योगप्रसिद्ध उपायों का अवलम्बन श्रेयस्कर है। ध्यान धारणादि उपायों के द्वारा आत्मा का

साक्षात्कार करना तथा चित्त की सुख-दुःख से विरहित साम्यावस्था को प्राप्त करना न्याय का चरम लक्ष्य है।

(२) वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन न्याय दर्शन के साथ अनेक सिद्धांतों में समानता रखने के कारण 'समान तन्त्र' स्वीकृत किया गया है। इसमें 'सत्य' की जो मीमांसा प्रस्तुत की है वह भौतिक विज्ञान की दृष्टि को सामने रखकर की गई है। न्याय का प्रधान लक्ष्य अन्तर्जगत् तथा ज्ञान की मीमांसा है, तो वैशेषिक का मुख्य तात्पर्य बाह्य जगत् की विस्तृत समीक्षा है। वैशेषिक के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव—ये सात पदार्थ होते हैं। आत्मा का यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है जब आत्मेतर पदार्थों का ज्ञान उत्पन्न हो। तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति आत्मा तथा आत्मेतर द्रव्यों के परस्पर साधर्म्य तथा वैधर्म्य के जानने पर ही हो सकती है। द्रव्य संख्या में नव हैं तथा इन नव द्रव्यों के आश्रित धर्म, गुण और कर्म हैं। द्रव्य, गुण तथा कर्म के समान धर्मों के योग का नाम 'सामान्य' है तथा वस्तुओं के पारस्परिक वैधर्म्य का ज्ञान 'विशेष' से होता है। सामान्य तथा विशेष जैसे नित्य पदार्थों का अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध दिखलाने के लिए 'समवाय' नामक नित्य सम्बन्ध की सत्ता मानी गई है। इस षड् भाव पदार्थों के समान ही 'अभाव' भी वास्तव, यथार्थ तथा महत्त्वशाली पदार्थ है। इस दर्शन के अनुसार निष्काम कर्मों का सम्पादन भी नितांत आवश्यक है, क्योंकि ऐसे कर्मों का अनुष्ठान तत्वज्ञान की उत्पत्ति करता हुआ मोक्ष की उपलब्धि में परम्परया कारण है।

वैशेषिक दर्शन बड़ा पुराना है। कणादसूत्र गौतमसूत्र से भी प्राचीन है। वैशेषिकों पर बौद्धों की बड़ी आस्था थी। प्राचीन वैशेषिक लोग किसी समय में प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण मानते थे। यही कारण है कि ये लोग आधे बौद्ध (अर्ध वैनाशिक) माने गये हैं। इस दर्शन की साहित्य-सम्पत्ति न्याय की अपेक्षा बहुत ही कम है। कणादसूत्र विक्रम से प्राचीन है। विक्रम से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व इनकी रचना हो चुकी थी परन्तु

विकाश विक्रम के अनन्तर ही सम्पन्न हुआ। प्रशस्तपाद ने अपने 'पदार्थ धर्म-संग्रह' में वैशेषिक तत्त्वों का नितान्त प्रामाणिक समीक्षण प्रस्तुत किया। इसे साधारण रीति से 'भाष्य' कहते हैं, परन्तु यह तत्त्वप्रतिपादक स्वतन्त्र ग्रंथ है। वसुवन्धु ने इनके सिद्धांतों का खंडन किया है तथा वात्स्यायन ने 'न्याय भाष्य' में इसका उपयोग किया है। अतः इन दोनों से प्राचीन होने से यह ग्रंथ द्वितीय शतक विक्रमी का प्रतीत होता है। चन्द्र (५ शतक) का 'दशपदार्थी शास्त्र' अपने समय में विशेष विख्यात था। इसका पता चीनी भाषा में ७०५ वि० (६०८ ई०) में किये गये अनुवाद से चलता है। अवांतर आचार्यों ने कणादसूत्र तथा प्रशस्तपादभाष्य के ऊपर सुंदर टीकायें लिखी हैं। व्योमशिवाचार्य (८ म शतक) की 'व्योमवती', उदयनाचार्य की 'किरणावली', श्रीधराचार्य की 'न्याय-कन्दली' (रचनाकाल ९१३ शक= ९९१ ई०), वल्लभाचार्य (१२ शतक) की 'न्यायलीलावती' पद्मनाभ मिश्र का 'सेतु' (केवल द्रव्य ग्रन्थ तक), जगदीश भट्टाचार्य की 'सूक्ति' (द्रव्यग्रन्थ तक)—प्रशस्तपादभाष्य की माननीय व्याख्यायें हैं। शङ्कर मिश्र (१५ श०) ने 'उपस्कार' लिखकर सूत्रों के रहस्य को भलीभाँति प्रकट किया है। जयनारायण की 'विवृति' तथा चन्द्रकांत तर्कालङ्कार का भाष्य गत शताब्दी में लिखे गये। इनके अतिरिक्त शिवादित्य मिश्र (१० श०) ने 'सप्तपदार्थी' में वैशेषिक सिद्धांतों का न्यायसिद्धांतों के साथ प्रथम मनोरम समन्वय उपस्थित किया। विश्वनाथ न्यायपञ्चानन (१७ श०) का 'मुक्तावली' से विभूषित 'भाषापरिच्छेद' तथा अन्नंभट्ट का 'तर्कसंग्रह' नितांत लोकप्रिय ग्रन्थ हैं। आरम्भ में न्याय तथा वैशेषिक स्वतन्त्र दर्शन थे, परन्तु दशम शतक के अनन्तर दोनों के सिद्धांतों का समन्वय कर दिया गया। पिछले ग्रंथों की परीक्षा से यह स्पष्ट है।

(३) सांख्य दर्शन

सांख्य इन दोनों पूर्ववर्णित दर्शनों की अपेक्षा कहीं अधिक प्राचीन है। उपनिषदों में सांख्य के सिद्धांत उपलब्ध होते हैं—विशेषतः कठ, छांदोग्य, श्वेताश्वतर तथा मैत्री में। यह दर्शन द्वैत मत का प्रतिपादक है। प्रकृति

और पुरुष दो मूलतत्त्व हैं जिनके परस्पर सम्बन्ध से इस जगत् का आविर्भाव होता है। प्रकृति जड़ है तथा एक है। परन्तु इसके विरुद्ध पुरुष चेतन है तथा अनेक हैं। सांख्य सत्कार्यवाद का समर्थक है। इसकी दृष्टि में कार्य कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। कारण-सामग्री के द्वारा कार्य अव्यक्त रूप से व्यक्त रूप में आता है। प्रकृति सत्त्व, रज तथा तम—इन तीनों गुणों की साम्यावस्था है। इन गुणों में जब वैषम्य उत्पन्न होता है, तभी सृष्टि का उदय होता है। प्रकृति पुरुष के परस्पर योग से उत्पन्न होता है—महत्तत्त्व (या बुद्धि)। उससे अहंकार उत्पन्न होता है। सत्वप्रधान अहंकार से एकादश इन्द्रियों का तथा तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्रा तथा उससे स्थूल महाभूतों का आविर्भाव होता है। सांख्य की दार्शनिक दृष्टि यथार्थवाद की है। मनस्तत्त्व का सूक्ष्म विवेचन कर तथा त्रिगुण की व्याप्ति दिखला कर सांख्य ने बड़ा काम किया।

सांख्य की अनेक धारायें थी। प्राचीन सांख्य ईश्वरवादी था। वेदांत से उसमें विशेष पार्थक्य न था, परन्तु पिछला सांख्य नितांत निरीश्वरवादी है। प्रकृति-पुरुष की कल्पना से विश्व की पहेली समझाई जा सकती है। अतः अनावश्यक होने से 'ईश्वर' की सत्ता सांख्य को मान्य नहीं है। बौद्धों के ऊपर सांख्य का बड़ा प्रभाव है। गौतमबुद्ध के मौलिक सिद्धांत सांख्य से ही लिये गये हैं, यह निर्विवाद सिद्ध है। दुःख की सत्ता, वैदिक कर्मकाण्ड की गौणता, ईश्वर की सत्ता पर अनास्था तथा जगत् की परिणामशीलता (परिणाम नित्यता) के सिद्धांत को बुद्ध ने सांख्यदर्शन से ग्रहण किया। सांख्यों की सबसे विलक्षण बात यह है कि वे ही पहले अहिंसावादी थे। जैन तथा बौद्ध लोगों ने यह सिद्धांत सांख्यों से ही सीख कर ग्रहण किया।

इसके उद्भावक 'कपिल' उपनिषत्कालीन ऋषि हैं। परन्तु उनके नाम से प्रचलित सांख्यसूत्र विक्रम के अनन्तर पंचम शतक का है। 'आसुरि' कपिल के साक्षात् शिष्य थे तथा आसुरि के शिष्य 'पंचशिख' ने आजकल अनुपलब्ध 'षष्टितन्त्र की रचना कर सांख्यतन्त्र को खूब व्यापक बनाया। इनके बाद तथा ईश्वरकृष्ण तक की आचार्य-परम्परा लुप्त सी हो गई है। आज कल सांख्य के सिद्धांतों का प्रतिपादक ग्रंथ 'सांख्यकारिका' है जिसे

'ईश्वर कृष्ण' ने विक्रम की प्रथम शताब्दी में लिखा। यह ग्रंथ इतना प्रसिद्ध था कि छठी शताब्दी में किसी वृत्ति के साथ पूरे ग्रंथ का अनुवाद परमार्थ ने चीनी भाषा में किया। यह अनुवाद आज भी उपलब्ध है। चीनी भाषा में इसका नाम 'हिरण्य सप्तति' या 'सुवर्ण सप्तति' है। कालांतर में इसकी अनेक व्याख्यायें लिखी गईं जिसमें आचार्य माठर (२ श०) की 'माठर वृत्ति', गौडपाद (५ श०) का 'भाष्य', 'युक्तिदीपिका', वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्वकौमुदी, शङ्कराचार्य के नाम से उपलब्ध 'जयमंगला' विख्यात टीकायें हैं। विंध्य के जंगल में रहने वाले आचार्य 'विंध्यवासी' भी प्रसिद्ध सांख्याचार्य हैं जिनके मत का उल्लेख कुमारिल ने अपने श्लोकवार्तिक (पृ० ३७३, ७०४) में किया है। विज्ञानभिक्षु (१६ श०) काशी के एक विद्वान् संन्यासी थे। इन्होंने सांख्यसूत्रों पर 'सांख्यप्रवचनभाष्य' लिखकर सांख्य का वेदांत के साथ हृदयङ्गम सामञ्जस्य दिखलाया। सांख्य के अनेक ग्रंथ इन्हीं की प्रेरणा से लिखे गये।

(४) योग दर्शन

योग हिंदू जाति की सबसे प्राचीन और सबसे समीचीन सम्पत्ति है। यह ऐसी विद्या है जिसके विषय में वादविवाद के लिए तनिक भी स्थान नहीं है। ऋषियों के प्रातिभ ज्ञान या अंतर्दृष्टि की उत्पत्ति में योग ही प्रधान कारण माना जाता है। योग के अभ्यास से नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, इस विषय में शायद ही किसी विवेचक को संशय होगा। योग भारतीयों की विशिष्ट सम्पत्ति है जिसे इन्होंने वैज्ञानिक दृष्टि से अनुशीलन कर उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। मोहनजोदड़ों की खुदाई में अनेक योगासन में बैठी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। प्राणविद्या की महत्ता श्रुति में स्पष्ट अक्षरों में प्रतिपादित की है—अद्वयतारक, अमृतनाद आदि २१ उपनिषदों में तो योग का ही सर्वाङ्गीण विवेचन किया गया है। जैन 'अंगों' तथा बौद्ध 'त्रिपिटक' में भी योग की महिमा गाई गई है। योग के प्रकार भी अनेक हैं। तंत्रयोग की पद्धति विलक्षण है। नाथपंथी सिद्धों ने 'हठयोग' का खूब अनुशीलन किया था। गोरखनाथ के नाथसंप्रदाय में योग का इतना आदर है कि इस संप्रदाय को ही 'योगी' नाम से पुकारते हैं।

योग के सिद्धान्त

महर्षि पतंजलि ने उपनिषत्प्रतिपादित योगविधियों का अनुशीलन कर 'राजयोग' का विस्तृत विवेचन अपने सूत्रों में किया है जिनकी रचना विक्रम से दो सौ वर्ष पूर्व की गई थी। पतंजलि के द्वारा प्रतिपादित योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन अंगों के अभ्यास से चित्तवृत्तियों के विलीन हो जाने पर एकाग्र हो जाता है। जहाँ ध्यान ध्येय वस्तु के आवेश से मानों अपने रूप से शून्य हो जाता है और ध्येय वस्तु के आकार को ग्रहण कर लेता है वहाँ 'समाधि' का उदय होता है। वह द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है और कैवल्य स्थिति का अनुभव करता है। सांख्य के पचीसों तत्त्व योगदर्शन को अभीष्ट हैं यहाँ ईश्वर छब्बीसवाँ तत्त्व माना जाता है। इसीलिए योग को 'सेश्वर सांख्य' कहते हैं। योग के शब्दों में जो पुरुष-विशेष क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) और आशय (विपाकानुरूप संस्कार) के सम्पर्क से शून्य रहता है वही 'ईश्वर' कहलाता है। मुक्त पुरुष पूर्वकाल में बंधन में रहता है तथा प्रकृतिलीन को भविष्यकाल में बंधन की सम्भावना बनी रहती है, परंतु ईश्वर तो सदा ही मुक्त रहता है और सदा ही ईश्वर रहता है। ऐश्वर्य और ज्ञान की जो पराकाष्ठा है वही ईश्वर है। इस ईश्वर के प्रणिधान से—चित्त के एकत्र लगाने से अथवा समग्र कर्मफलों के समर्पण से—समाधि की सिद्धि होती है। भगवान् में प्रेमपूर्वक चित्त लगाने से वे प्रसन्न होते हैं तथा क्लेशों को शीघ्र नष्ट कर समाधि की सिद्धि कर देते हैं। मन को अलौकिक तथा अज्ञात शक्तियों की सिद्धि दिखला कर भारतीय राजयोग ने पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों तथा डाक्टरों की दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट की है। इसी कारण योग का प्रचार पाश्चात्य जगत् में भी बड़ी शीघ्रता के साथ होता जा रहा है।

योगदर्शन के ग्रंथों की संख्या अत्यंत अल्प है। याज्ञवल्क्य स्मृति के कथन (हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः) के आधार पर 'हिरण्यगर्भ' योग के आद्य प्रकाशक माने जाते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने योग का केवल अनुशासन किया अर्थात् प्रतिपादित शास्त्र का उपदेशमात्र किया। विक्रम के अनंतर तृतीय शतक में व्यास ने इन सूत्रों पर 'भाष्य' लिखा। ये भाष्य-

कार पुराणकार व्यास से भिन्न प्रतीत होते हैं। बौद्ध सिद्धांतों के भाष्य में उल्लेख मिलने के कारण इन्हें ऐतिहासिक लोग तृतीय शतक विक्रमी का मानते हैं। योगभाष्य के निगूढ़ अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए वाचस्पति (नवम शतक) ने 'तत्त्व-वैशारदी' की रचना की जो ग्रंथकार की विद्वत्ता के अनुरूप ही गूढ़ार्थ-प्रकाशिनी है। राघवानंद सरस्वती ने इस ग्रंथ की 'पातंजल-रहस्य' नामक टीका लिखी है। १६ शतक में विज्ञानभिक्षु ने सांख्य-योग के पुनरुत्थान के लिए महान् यत्न किया। योगभाष्य की गुत्थियों को सुलझाने के लिए इन्होंने 'योगवार्तिक' की रचना की। यह 'योगवार्तिक' भाष्य के विवेचन के अतिरिक्त 'तत्ववैशारदी' के व्याख्याओं की भी पर्याप्त समालोचना करता है। आजकल के प्रसिद्ध सांख्ययोगाचार्य हरिहरानंद ने 'भास्वती' नामक टीका भाष्य पर लिखी है तथा बँगला भाषा में भाष्य का बड़ा ही प्रामाणिक तथा विस्तृत अनुवाद प्रस्तुत किया है। स्वामी बालराम उदासीन का भाष्य का हिंदी-अनुवाद भी बहुत ही सुंदर तथा उपादेय है। योगभाष्य के समान योगसूत्रों पर भी अनेक टीकायें लिखी गईं जिनमें भोजकृत 'राज-मार्तण्ड' (प्रसिद्ध नाम भोजवृत्ति), भावागणेश (१६ श०) की 'वृत्ति', रामानंद यति की 'मणिप्रभा', अनंत पंडित की 'योगचंद्रिका', सदाशिवेंद्र सरस्वती का 'योग सुधारक' तथा नागोजी भट्ट (१८ श०) की लघ्वी तथा बृहती टीकायें प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक हैं। पातंजल दर्शन पर इतना ही साहित्य विख्यात है।

(५) मीमांसा दर्शन

मीमांसा दर्शन का प्रधान उद्देश्य वैदिक कर्मकाण्ड के विधानों में दृश्यमान विरोधों का परिहार (एकवाक्यता) उत्पन्न करना है। श्रुतिकाल में ही इस प्रकार के विरोध के परिहार की ओर ऋषियों की दृष्टि गई थी। 'मीमांसते' आदि क्रियापद तथा 'मीमांसा' संज्ञापद का प्रयोग वैदिक संहितादिकों में किया गया मिलता है। तैत्तिरीयसंहिता (७-५।७।१) ताण्ड्य ब्राह्मण (६।५।६); छांदोग्य (५।११।१) में 'मीमांस्' धातु का विचार अर्थ में प्रयोग मिलता है। कौषीतकि ब्राह्मण (२।६) तो स्पष्टतः उदित होम

तथा अनुदित होम के विषय में समीक्षा का उल्लेख करता है (उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यमिति मीमांसन्ते)। इसी समीक्षण के कारण 'मीमांसा' का प्राचीन नाम 'न्याय' है। मीमांसक लोग ही हमारे प्रथम नैयायिक हैं। मीमांसा का विषय धर्म का विवेचन है (धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्—श्लोकवार्तिक श्लो० ११)। वेद के द्वारा विहित इष्टसाधन 'धर्म' है तथा अनिष्टसाधन 'अधर्म' है। वेद स्वयं नित्य है। किसी के द्वारा उसकी रचना नहीं हुई। अतः वह 'अपौरुषेय' है। इस विश्व में कर्म ही सबसे प्रधान वस्तु है। आचार्य बादरायण ईश्वर को कर्मफलों का दाता मानते हैं, परंतु जैमिनि की सम्मति में यज्ञ से ही तत् तत् फलों की उपलब्धि होती है। अनुष्ठान तथा फल के समयों में अंतर दिखलाई पड़ता है। कर्म का अनुष्ठान आज हो रहा है, परंतु उसका स्वर्गादि फल कालांतर में सम्पन्न होगा। इस वैषम्य को दूर करने के लिये मीमांसकों ने 'अपूर्व' का सिद्धांत स्थिर किया है। कर्मों से उत्पन्न होता है अपूर्व (पुण्यापुण्य) तथा अपूर्व से होता है फल। मीमांसकों ने 'शब्द' की नित्यता पर खूब मौलिक विचार किया है। कुमारिल का 'अभिहितान्वयवाद' तथा प्रभाकर का 'अन्विताभिधानवाद' शब्दार्थ के समझाने के लिए नितान्त माननीय है। 'बाल मनोविज्ञान' की जानकारी की भी बड़ी सामग्री मीमांसा ग्रंथों में भरी पड़ी है। विरोधी वाक्यों की एकवाक्यता दिखलाने के लिए मीमांसा ने जिस पद्धति को खोज निकाला है, वह बड़ी ही उपादेय है। जिस प्रकार पद का ज्ञान व्याकरण से होता है तथा प्रमाण का ज्ञान न्याय से होता है, उसी प्रकार वाक्य का ज्ञान मीमांसा के ही सहारे होता है। मीमांसा के तात्पर्यविषयक सिद्धान्तों का उपयोग धर्मशास्त्र में अर्थनिर्णय के लिए आज भी किया जाता है। बौद्ध धर्म के दार्शनिकों के द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड पर किये गये आक्षेपों को ध्वस्त करने का सारा श्रेय इन्हीं मीमांसकों को प्राप्त है। यदि ये अनूठे ग्रंथों के द्वारा कर्मकाण्ड की इतनी मार्मिक समीक्षा नहीं करते, तो वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति जो श्रद्धा और आस्था इस समय दीख पड़ती है वह न जाने कब की समाप्त हो चुकी होती।

मीमांसादर्शन की साहित्य-सम्पत्ति नितांत विशाल है। विक्रम से पाँच-छः सौ वर्ष पहले ही महर्षि जैमिनि ने मीमांसासूत्रों की रचना की थी। इस दर्शन के सूत्र अन्य सब दर्शनों के सूत्रों से संख्या में कहीं अधिक हैं। महाभाष्य में **काशकृत्स्न आचार्य** की लिखी मीमांसा का उल्लेख मिलता है, परंतु न तो इनके सूत्रों का ही पता चलता है, न इनके विशिष्ट मत का। आचार्य उपवर्ष तथा भवदास (२ शतक) के वृत्तिग्रंथों का उल्लेख ही मिलता है। विक्रम के तीन सौ वर्ष पीछे शबर स्वामी ने द्वादशलक्षणी मीमांसा पर विस्तृत तथा प्रामाणिक भाष्य लिखा। शाबरभाष्य के तीन टीकाकारों ने तीन विभिन्न सम्प्रदाय चलाये—

भाट्टमत, गुरुमत तथा मुरारिमत।

(१) भाट्टमत के उद्भावक आचार्य **कुमारिलभट्ट** हैं। (सप्तम शतक)। इनके समान प्रखर बुद्धिवाला तार्किक मिलना नितांत दुष्कर है। इन्होंने मीमांसा को बौद्धों के कर्कश तर्क प्रहारों से ही नहीं बचाया, परंतु अपने ग्रंथों में साम्प्रदायिक व्याख्या को स्थान देकर उसे नास्तिक होने से भी रक्षा की। 'श्लोकवार्तिक' (प्रथम अध्याय की व्याख्या) तथा 'तंत्रवार्तिक (प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से लेकर तृतीय अध्याय तक के शाबर-भाष्य की गद्यात्मक व्याख्या) इनके अलौकिक पाण्डित्य तथा तर्ककुशलता के ज्वलंत उदाहरण हैं। इन्हीं के शिष्य मण्डनमिश्र ने विधिविवेक, भावनाविवेक, विभ्रमविवेक आदि प्रामाणिक ग्रंथों को लिखकर भाट्टमत को खूब पुष्ट किया। वाचस्पति मिश्र ने विधिविवेक पर 'न्यायकणिका' नामक टीका लिखी तथा शब्दार्थ के विषय में 'तत्त्वबिंदु' बनाया। कुमारिल के दूसरे शिष्य 'उम्वेक' ने 'भावनाविवेक' तथा 'श्लोकवार्तिक' की तात्पर्य टीका लिखी। ये ही उम्वेक उत्तररामचरित आदि नाटकों के रचयिता भवभूति माने जाते हैं। भट्टकुमारिल ने अपने शिष्यों के साथ वैदिक धर्म के पुनरुत्थान तथा प्रतिष्ठा करने में जो अश्रांत परिश्रम कर विपुल सफलता प्राप्त की वह सुवर्णाक्षरों में लिखने लायक है।

भट्टमत आचार्यों में तीन प्रधान माने जाते हैं:—

(क) **पार्थसारथि मिश्र** (१२ श०) मिथिला के निवासी माने जाते हैं। इन्होंने टुप्टीका की व्याख्या 'तर्करत्न' तथा श्लोकवार्तिक की मान्य टीका 'न्यायरत्नाकर' लिखी। इनका मौलिक प्रकरणग्रंथ 'शास्त्रदीपिका' भाट्टमत का नितांत प्रामाणिक, उपादेय तथा प्रमेयबहुल ग्रन्थ माना जाता है। (ख) **माधवाचार्य**—विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक, वेदभाष्यकार श्री सायणाचार्य के ज्येष्ठ भ्राता थे। इनका 'न्यायमालाविस्तर' मीमांसासूत्रों के अधिकरणों की विशद व्याख्या है। (ग) **खंडदेव मिश्र** १८ वीं विक्रमी में काशीस्थ पंडितों के रत्न थे। अधिकरणप्रस्थान पर निर्मित इनकी 'भाट्टदीपिका' भाट्टसिद्धांतों के प्रकाशन के निमित्त वस्तुतः दीपिका ही है। इनके गुरु **विश्वेश्वरभट्ट** थे जो 'गागाभट्ट' के नाम से विशेष विख्यात हैं और जिन्होंने छत्रपति शिवाजी महाराज का राज्याभिषेक कराया था। इनका 'भाट्टचिंतामणि' मीमांसा सूत्रों की सरल टीका है। इन्हीं के समकालीन **अप्पय दीक्षित** ने 'विधिरसायन', उपक्रमपराक्रम' आदि ग्रन्थों की रचना कर मीमांसा-साहित्य की खूब श्रीवृद्धि की। इनके अतिरिक्त **आपदेव** का 'मीमांसान्यायप्रकाश' भी खूब लोकप्रिय मीमांसा-ग्रंथ है जिसकी विस्तृत व्याख्या ग्रंथकार के पुत्र सुप्रसिद्ध **अनन्तदेव** ने 'भाट्टालंकार' नाम से की। ये खंडदेव के ही समकालीन थे।

(२) **गुरुमत** के संस्थापक का नाम **प्रभाकर मिश्र** था। प्रसिद्धि है कि ये कुमारिल के ही शिष्य थे, जिन्होंने इनकी अलौकिक कल्पनाशक्ति से प्रसन्न होकर इन्हें 'गुरु' की उपाधि दी थी, परंतु नवीन खोज से इनका समय कुमारिल से भी पूर्व ठहरता है। इन्होंने 'बृहती' नामक टीका में शाबरभाष्य के सिद्धांतों को भलीभाँति समझाया है। इनका समय विक्रमी सप्तम शतक माना जा सकता है। आचार्य **शालिकनाथ** ने गुरु के ग्रन्थों पर प्रामाणिक व्याख्यायें लिखकर इस मत का खूब गौरव बढ़ाया। इन्होंने बृहती पर, 'ऋजुविमला' टीका तथा 'लघ्वी' पर 'दीपशिखा' टीका लिखी परन्तु इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है—प्रकरणपञ्चिका। ये उदयनाचार्य से पूर्ववर्ती थे। अतः दशम शतक के लगभग इनका समय पड़ता है।

(३) तृतीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक **मुरारि मिश्र** के विषय में हमारा ज्ञान बहुत ही कम है। ये मध्ययुग के एक माननीय मीमांसक थे। मीमांसा के प्रधान सिद्धांतों के विषय में भट्ट तथा गुरु से भिन्न इनका एक स्वतंत्र मत था। इसी से यह कहावत चल पड़ी—मुरारेस्तृतीयः पंथाः। गंगेश उपाध्याय ने 'तत्त्वचिंतामणि' में इनके मत का उल्लेख किया है। अतः इनका समय १२ वीं शताब्दी विक्रमी सिद्ध होता है। इन्हीं आचार्यों के अश्रांत परिश्रम के कारण मीमांसा का साहित्य इतना सम्पन्न तथा समृद्ध हो सका। अधिकांश आचार्य मध्ययुग की विभूति हैं।

(६) वेदांत दर्शन

वेदांत-दर्शन भारतीय अध्यात्मशास्त्र का मुकुटमणि माना जाता है। 'वेदांत' शब्द का अर्थ है उपनिषद्। इन उपनिषदों का वेदों के सिद्धांत के प्रतिपादक होने के कारण से 'वेदांत' (वेद का अंत=सिद्धांत) शब्द से अभिहित करना नितांत युक्तियुक्त है परन्तु उपनिषद् अनेक हैं और उनके सिद्धांतों में भी आपाततः विरोध प्रतीयमान होता है। इस विरोध के परिहार के लिए महर्षि बादरायण व्यास ने जिन सूत्रों की रचना की उन्हें ब्रह्मसूत्रों के नाम से पुकारते हैं। ब्रह्मसूत्र पाणिनि से भी प्राचीन हैं क्योंकि उन्होंने 'पाराशर्य-शिलालिभ्यां भिक्षु नटसूत्रयोः' (४।३।११०) सूत्र में पाराशर्य (पराशर के पुत्र=व्यास) निर्मित जिन भिक्षुसूत्रों का निर्देश किया है वे इन ब्रह्म-सूत्रों से भिन्न नहीं प्रतीत होते। श्रीधर स्वामी की सम्मति में "ब्रह्म-सूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" (१३।४) इस पद्यांश में गीता ब्रह्मसूत्रों का ही निर्देश करती है। अतः इन सूत्रों का निर्माण-काल विक्रमपूर्व षष्ठ शतक के लगभग है। इन ब्रह्मसूत्रों की ही व्याख्या करके कालांतर में वेदांत के नये-नये सम्प्रदाय खड़े हुए। जिनमें कतिपय प्रसिद्ध विद्वानों के नाम उनके भाष्य तथा सिद्धांतों के साथ दिये जाते हैं:—

आचार्य	समय	भाष्य	मत
१ शंकर	(७०० ई०)	शारीरक भाष्य	अद्वैत
२ भास्कर	(१००० ई०)	भास्करभाष्य	भेदाभेद

आचार्य	समय	भाष्य	मत
३ रामानुज	(११४० ई०)	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
४ मध्व	(१२३८ ई०)	पूर्णप्रज्ञ	द्वैत
५ निम्बार्क	(१२५० ई०)	वेदांतपारिजात	द्वैताद्वैत
६ श्रीकण्ठ	(१२७० ई०)	शैवभाष्य	शैवविशिष्टाद्वैत
७ श्रीपति	(१४०० ई०)	श्रीकरभाष्य	वीरशैवविशिष्टाद्वैत
८ वल्लभ	(१५०० ई०)	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
९ विज्ञानभिक्षु	(१६०० ई०)	विज्ञानामृत	अविभागाद्वैत
१० बलदेव	(१७२५ ई०)	गोविंदभाष्य	अचिंत्यभेदाभेद

मूल ब्रह्मसूत्र में लगभग ५५० सूत्र हैं। सूत्र इतने छोटे हैं कि बिना किसी व्याख्या या भाष्य के उनका अर्थ स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता। यही कारण है कि भिन्न भिन्न आचार्यों ने अपनी अपनी दार्शनिक दृष्टि के अनुकूल इन सूत्रों की विशद व्याख्यायें लिखी हैं। इन भाष्यकारों में सबसे अधिक भेद का विषय है जीव और ईश्वर का सम्बंध। शंकराचार्य की दृष्टि में जीव और ब्रह्म में नितांत अभिन्नता है। इसी कारण इनका मत अद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है। उनके सिद्धांत का प्रतिपादक यह श्लोक अत्यंत प्रसिद्ध है:—

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या
जीवो ब्रह्मैव नापरः"

आचार्य शंकर ने इस जगत् की सृष्टि माया के अनुसार सिद्ध मानी है; ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है; जगत् की सत्ता व्यावहारिक है। माया के द्वारा विरचित होने के कारण जगत् का स्वरूप अनिर्वचनीय है। यह सिद्धांत पीछे के वैष्णव आचार्यों को युक्तियुक्त नहीं प्रतीत हुआ। उनकी दृष्टि में भक्ति ही जीव को इस दुःखमय जगत् से उद्धार करने का महान् साधन है। इस भक्तिवाद की पुष्टि के निमित्त इन वैष्णव आचार्यों ने **मायावाद** का खण्डन बड़ी सतर्कता तथा ऊहापोह के साथ किया। अद्वैत के खण्डन करने वाले आचार्यों में सबसे पहले भास्कर हुए। इनकी दृष्टि में जीव और ईश्वर

संसारदशा में भिन्न हैं, परन्तु परमार्थ दशा में बिलकुल अभिन्न। इसी कारण इस मत को भेदाभेद के नाम से पुकारते हैं। भास्कर ने अपना कोई धार्मिक मत नहीं चलाया, अतः इस मत के पोषक विद्वानों की कमी है। रामानुजाचार्य ने इन सूत्रों की व्याख्या में विशिष्टाद्वैत को, निम्बार्क ने द्वैताद्वैत मत को, माध्व ने द्वैतमत को, वल्लभ ने शुद्धाद्वैत मत को तथा चैतन्य-मतानुयायी बलदेव विद्याभूषण ने अचिंत्यभेदाभेद मत को दिखलाने का भरसक उद्योग किया है। ये पाँचों मत वेदांत के ही हैं। इन मतों में जीव और ईश्वर के सम्बंध को लेकर महान् अंतर है। परन्तु अन्य सिद्धांतों में एकता है। ये सब वेदांत-सम्प्रदाय इन सिद्धांतों को समभावेन मानते हैं—

(१) ब्रह्म ही इस जगत् का मूल कारण है अर्थात् इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय एक चेतन तत्त्व के कारण हैं, किसी अचेतन तथा जड़ पदार्थ (जैसे सांख्यों की प्रकृति) से इनकी उत्पत्ति नहीं हुई।

(२) ब्रह्म सर्वत्र व्यापक तथा नित्य है।

(३) मुख्यतः उपनिषद् ही सिद्धांत ग्रंथ है तथा उपनिषद्-मूलक होने से भगवत्गीता तथा ब्रह्मसूत्र भी सिद्धांत के प्रतिपादक हैं। इन्हें **प्रस्थानत्रयी** के नाम से पुकारते हैं।

(४) ब्रह्म आदि जैसे इन्द्रियातीत आध्यात्मिक विषयों के निरूपण में वेद ही सबसे अधिक प्रमाण है। तर्क की प्रामाणिकता तभी तक ग्राह्य है जब तक वह श्रुति के अनुकूल रहता है। तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। इसलिए इन सूक्ष्म विषयों के विवेचन के निमित्त हमें श्रुति का आश्रय लेना नितांत श्रेयस्कर है।

(५) कर्म ज्ञान की अपेक्षा गौण है। कर्म की उपयोगिता इतनी ही है कि वह चित्त की शुद्धि करता है तथा मुक्तिमार्ग की तैयारी करने का प्रधान साधक है। व्यावहारिक जगत् के निमित्त कर्म की अपेक्षा है ही, परन्तु मुक्ति के निमित्त कर्म का संन्यास ही श्रेयस्कर है।

(६) इस अनादि संसार से मुक्ति पाना ही हमारा अंतिम उद्देश्य है।

शङ्करमत की विशेषता

अन्य मतों की अपेक्षा शङ्करमत में अनेक सिद्धांतों में विशिष्टता है—

(१) शङ्कर मायावाद को मानते हैं, परंतु अन्य सब आचार्यों ने मायावाद को भक्ति से नितांत विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य माना है। आचार्य शङ्कर को मायावाद का उद्भावक मानना कथमपि उचित नहीं है। माया का वर्णन संहिता में भी है। शङ्कर ने तो अपने परमगुरु गौडपादाचार्य के द्वारा 'माण्डूक्यकारिका' में निर्धारित इस सिद्धांत को ग्रहण तथा पुष्ट किया है। ब्रह्म सत्य है तथा जगत् मायिक है, मायाजन्य है। इस सिद्धांत को समझने में हमने बड़ी भूल की है। आचार्य की दृष्टि में 'सत्ता' के तीन प्रकार हैं—पारमार्थिक सत्ता (ब्रह्म ही एकमात्र सत्य पदार्थ है); व्यावहारिक सत्ता इस जगत् की। जगत् बिलकुल सत्ता है। विज्ञानवादी बौद्धों ने जगत् को असत्य बतलाया है, परंतु आचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में इसका युक्तियुक्त खण्डन कर जगत् की सत्यता प्रतिपादित की है, परंतु यह सत्यता व्यवहार के ही निमित्त है। प्रतिभासिक सत्ता शुक्ति में रजत की सत्ता है। मायाजन्य होने पर भी यह जगत् आकाश-सुमन की भाँति अलीक नहीं है। अलीक तथा मिथ्या एक ही वस्तु नहीं हैं।

(२) ब्रह्म के दो स्वरूप हैं—निर्गुण तथा सगुण। मायाविशिष्ट ब्रह्म को 'सगुण' कहते हैं। यही 'ईश्वर' है। वही इस जगत् का कर्ता-धर्ता है; परंतु निर्गुण ब्रह्म माया के सम्बन्ध से नितांत सत्य है। वह अखण्ड, सर्वत्र व्यापक, सच्चिदानंद स्वरूप है। निर्गुण ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ तथा सत्यरूप है। ईश्वर उससे न्यून है तथा मायिक है। अन्य दार्शनिक ब्रह्म तथा ईश्वर में इस प्रकार का पार्थक्य नहीं मानते।

(३) ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति होती है, कर्म का संन्यास करना ही पड़ता है। कर्म का उपयोग केवल चित्तशुद्धि के निमित्त है। वास्तव में क्लेशनाश ब्रह्म के साक्षात्कार करने से ही होता है।

इसके विरुद्ध वैष्णव आचार्यों के सिद्धांत हैं जिनमें सबसे प्राचीन आचार्य रामानुज (१२ शतक) का मत 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। उनकी

दृष्टि में ईश्वर अखिल सद्गुणों का निकेतन है। ब्रह्म सगुण ही होता है, निर्गुण नहीं। जीव तथा जगत् उसी के दो प्रकार हैं या विशेषण हैं। इन जीव तथा जगत् रूप विशेषणों से विशिष्ट ईश्वर एक है। इसलिए इस सिद्धांत को अद्वैत न कह कर **विशिष्टाद्वैत** कहते हैं। आचार्य निम्बार्क के मत में जीव और ईश्वर व्यवहार-काल में भिन्न भिन्न हैं। इसी कारण इस मत को **द्वैताद्वैत** कहते हैं। माध्व मत में (१) जीव और ईश्वर में कभी भी एकता नहीं है। वे सदा से भिन्न हैं, और सदा भिन्न रहेंगे। अन्य सिद्धांत वाले अनेकता तथा एकता का कथमपि समन्वय करने का उद्योग करते हैं, परंतु माध्वमत में यह समन्वय होता ही नहीं—सदा अविच्छिन्न द्वैत बना रहता है। (२) ईश्वर इस जगत् का केवल निमित्त कारण ही है, उपादान कारण नहीं। परंतु अन्य आचार्यों की दृष्टि में वह दोनों है—जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण वह स्वयं है। इस मत को इसी कारण **द्वैतमत** कहते हैं। वल्लभाचार्य मायावाद को न मानकर केवल अद्वैत को मानते हैं। अतः उनका मत **शुद्धाद्वैत** है, माया से मिश्रित अद्वैत नहीं। चैतन्य सम्प्रदाय माध्वमत की ही ऐतिहासिक दृष्टि से एक शाखा है; परंतु दार्शनिक मत में नितांत भिन्न है। इस मत में ईश्वर जीव का भेद तथा अभेद दोनों हैं परंतु वह अचिन्त्य है। अलौकिक शक्ति से उत्पन्न ईश्वर की यह अचिंतनीय लीला है।

इन वैष्णव मतों की इन तथ्यों में एकता है—

(क) भक्ति ही मोक्ष की साधिका है।

(ख) ब्रह्म ही ईश्वर है जो अनंत शुभ्र गुणों का निकेतन है।

(ग) चेतन जीव तथा जड़ जगत् उसी प्रकार सत्य हैं जिस प्रकार ईश्वर। इनकी सत्यता में किसी प्रकार का भेद नहीं।

(घ) जीव तथा ईश्वर का परस्पर भेद किसी भी अवस्था में बिलकुल नष्ट नहीं हो जाता। पृथक् व्यक्तित्व बना ही रहता है।

(ङ) जीव स्वरूपतः अणु है (विभु नहीं) तथा संख्या में अनंत है। वह ज्ञान तथा क्रिया की शक्ति से सर्वथा सम्पन्न है।

(च) विष्णु ही ईश्वर हैं। अतः विष्णु की भिन्न भिन्न अवतार मूर्तियों की उपासना इन मतों में प्रचलित है। रामानुज तथा माध्व लोग लक्ष्मी-नारायण के विशेषतः पूजक हैं। निम्बार्क, वल्लभ तथा चैतन्य राधा-कृष्ण के उपासक हैं।

वेदांत-साहित्य

ब्रह्मसूत्र की रचना विक्रम के छः सौ वर्ष पहले हुई थी, परंतु इसका विपुल विकाश विक्रम की सातवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ और वह आज तक किसी न किसी रूप में चल ही रहा है। वेदांत का साहित्य बड़ा ही विशाल तथा भव्य है। एक-एक सम्प्रदाय के साहित्य का इतिहास है; समूचे की तो कथा ही अलग है। हमारा धर्म ही **वेदांतधर्म** है। इस महान् ग्रंथराशि के वर्णन के लिए अलग ग्रंथ की आवश्यकता है।

अद्वैतवाद का आरम्भ आचार्य गौडपाद की मांडूक्य कारिकाओं से होता है। आचार्य शङ्कर (विक्रमीय सप्तम शतक) के भाष्यों ने अद्वैतमत को वह प्रतीष्ठा दी कि पीछे के आचार्यों के खंडन करने पर भी वह प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रूप से आज भी बनी हुई है। आजकल हमारा जनप्रिय मत यही शंकर का अद्वैतवाद है। आचार्य के शिष्यों में सुरेश्वराचार्य ने तैत्तिरीय-भाष्य तथा बृहदारण्यक-भाष्य पर वार्तिक लिखकर 'वार्तिककार' उपाधि प्राप्त की है। दूसरे शिष्य पद्मपादाचार्य ने ब्रह्मसूत्र की चतुःसूत्री पर पञ्चपादिका नाम की पांडित्यपूर्ण टीका लिखी जिस पर 'प्रकाशात्मयति' ने 'विवरण' नामक व्याख्या लिखी है जिससे 'विवरणप्रस्थान' का जन्म हुआ। इस विवरण पर दो टीकायें प्रसिद्ध हैं—अखंडानंदमुनिकृत 'तत्त्वदीपन' तथा विद्यारण्यकृत 'विवरण-प्रमेय-संग्रह'। सुरेश्वर के शिष्य सर्वज्ञात्ममुनि ने 'संक्षेपशारीरक' नामक ब्रह्मसूत्रों की पद्यात्मक व्याख्या लिखी है। वाचस्पति (नवम शतक) की भामती शांकरभाष्य पर एक भव्य टीका है जिसने पहले पहल समस्त ब्रह्मसूत्रों के गूढ़ अर्थ को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया। श्रीहर्ष (१२ शतक) का 'खंडनखंडखाद्य' आज पांडित्य का निकषग्रावा बना हुआ है। चित्सुखाचार्य (१३ शतक) अपनी श्रेष्ठ रचना 'तत्त्वदीपिका' से

नितांत विख्यात है। विद्यारण्य स्वामी (१४ शतक) की पञ्चदशी ने वेदांत को खूब ही लोकप्रिय बनाया तथा आनन्दगिरि ने (१३ शतक) शंकराचार्य के भाष्यों को सुबोध बनाने में बहुत परिश्रम किया। मधुसूदन सरस्वती (१६ शतक) की विद्वता अलौकिक थी जिसका पता इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रंथरत्न 'अद्वैतसिद्धि' से लगता है। नृसिंहाश्रम सरस्वती मधुसूदन के ही समकालीन थे। अप्पयदीक्षित (१७ शतक) ने 'कल्पतरु परिमल' लिखकर जिस प्रकार भामती के गूढ़ अर्थ को प्रकट किया उसी प्रकार उनका 'सिद्धांत-लेशसंग्रह' वेदांत के विभिन्न मतों की जानकारी के लिए नितान्त महत्त्वपूर्ण हैं।

वैष्णव दर्शनों में रामानुज (१२ शतक) ने ब्रह्मसूत्रों पर श्रीभाष्य तथा गीता-भाष्य लिखा। सुदर्शन सूरि (१४ शतक) की श्रीभाष्य पर श्रुत-प्रकाशिका नामक व्याख्या नितांत प्रसिद्ध है। वेङ्कटनाथ या वेदांत देशिक (१४ शतक) ने 'तत्त्व-टीका' 'तत्वमुक्ता कलाप' 'गीतार्थतात्पर्य-चन्द्रिका' आदि अलौकिक पांडित्य-पूर्ण ग्रन्थों की रचना कर इस श्रीवैष्णव मत का प्रचुर प्रचार किया। निम्बार्काचार्य का 'वेदांतपारिजात सौरभ' वेदांत सूत्रों का स्वल्पकाय भाष्य है। श्रीनिवासाचार्य ने इस सौरभ के ऊपर 'वेदांत-कौस्तुभ' नामक विस्तृत व्याख्या लिखकर इस मत का खूब प्रतिपादन किया। केशवभट्ट काश्मीरी (११ शतक) की कौस्तुभ-प्रभा 'कौस्तुभ' की व्याख्या है। पुरुषोत्तमाचार्य का 'श्रुत्यन्त-सुरद्रुम' तथा देवाचार्य का 'सिद्धांत जान्हवी' निम्बार्क मत के माननीय ग्रंथ हैं। मध्व मत (१३ शतक) में आचार्य ने ही प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे थे जिनकी विस्तृत व्याख्या जयतीर्थ ने की है। व्यासतीर्थ (१५ शतक) का 'न्यायामृत' नितांत मौलिक ग्रंथ है। जिसका खंडन मधुसूदन ने अद्वैतसिद्धि में किया है। वल्लभाचार्य का अणुभाष्य ब्रह्मसूत्र के लगभग ढाई अध्यायों की टीका है जिसकी पूर्ति उनके पुत्र विट्ठलनाथ ने की। आचार्य की सुबोधिनी टीका ने भागवत के अर्थ को खूब ही सुबोध बनाया। इसके अतिरिक्त विट्ठलनाथ का 'विद्वन्मण्डन', कृष्णचंद्र की 'भावप्रकाशिका', पुरुषोत्तम की 'अमृततरंगिणी' गीता-टीका तथा गिरिधर

महाराज का 'शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड' और बालकृष्णभट्ट का 'प्रमेयरत्नार्णव' शुद्धाद्वैत मत के प्रचार करनेवाले नितान्त उपादेय ग्रंथ हैं। चैतन्य सम्प्रदाय की प्रकृष्ट प्रतिष्ठा श्रीरूप गोस्वामी के 'लघुभागवतामृत' 'उज्ज्वल-नीलमणि' 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा सनातन गोस्वामी के बृहद् भागवतामृत' 'वैष्णव-तोषिणी' तथा 'हरिभक्ति विलास' ने की है। श्रीजीव गोस्वामी का 'षट्-सन्दर्भ' भागवत के सिद्धांत को समझाने के लिए नितांत उपादेय तथा प्रौढ़ ग्रंथ है। कृष्णदास कविराज का (बंगला) 'चैतन्य-चरितामृत' चरित-ग्रंथ के अतिरिक्त सिद्धांत-ग्रंथ भी है। बलदेव विद्याभूषण का गोविंद-भाष्य' चैतन्य सम्प्रदाय के अनुसार ब्रह्मसूत्र का भाष्य है।

वेदांत के विपुल साहित्य का यह दिग्दर्शनमात्र है।

समन्वय

वैदिक दर्शनों के उदय तथा अभ्युदय का यही संक्षिप्त विवरण है। स्थूल दृष्टि से देखने से मालूम होता है कि इनमें परस्पर विरोध है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से इनके सिद्धांतों में विरोध न होकर क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है। वह विकास सोपान-परम्परा न्याय के अनुकूल है। एक सीढ़ी पर खड़ा होकर जितना भूभाग दृष्टिगोचर होता है। उससे कहीं अधिक भूभाग उसके आगे का सीढ़ियों पर चढ़कर देखने में दृष्टिगोचर होता है। न्याय-वैशेषिक की दृष्टि में जिन तत्त्वों का विश्लेषण किया जाता है उससे कहीं अधिक तत्त्व सांख्य-योग की दृष्टि में आते हैं। वेदांत दृष्टि में सबसे अधिक तत्त्वों का विश्लेषण तथा विवरण प्रस्तुत मिलता है।

> आरुह्य भूमिमधरामितराधिरोढुं,
> शक्येति शास्त्रमपि कारणकार्यभावम्।
> उक्त्वा पुरा परिणतिप्रतिपादनेन,
> सम्प्रत्यपोहति विकारमृषात्व-सिद्धयै॥
>
> —संक्षेपशारीरक २।६०

कार्य-कारण की शृंखला पर दृष्टिपात करने से हम भारतीय दर्शन में तीन विभिन्न सिद्धांतों को मुख्यतया पाते हैं—आरम्भवाद, परिणामवाद और

विवर्त-वाद। आरम्भवाद की दृष्टि में यह विश्व विभिन्न परमाणुओं के पुञ्ज से उत्पन्न होता है। कारण में कार्य विद्यमान नहीं रहता, प्रत्युत कारण-सामग्री के द्वारा कार्य की उत्पत्ति होती है तथा यह एक नवीन घटना है। यह सिद्धांत न्याय वैशेषिक तथा कर्ममीमांसा को सम्मत है। परिणामवाद में कार्य और कारण में अंतर नहीं होता। कारण में कार्य सदा विद्यमान रहता है, परन्तु अव्यक्त रूप से ही। कारण-सामग्री के द्वारा अव्यक्त कार्य को ही व्यक्त रूप में लाने का प्रयत्न किया जाता है। यह दृष्टि सांख्य योग, अद्वैतवादी भर्तृप्रपञ्च की तथा वैष्णवमतावलंबी दार्शनिकों की है। विवर्तवाद इससे एक पग आगे बढ़कर है। इस मत के अनुसार कारण ही एकमात्र सत्ता है। कार्य तो सत् और असत् दोनों से विलक्षण एक अनिर्वचनीय व्यापार माना जाता है। शांकर वेदांतियों की यही दृष्टि है। इन तीनों दृष्टियों की परस्पर तुलना करने से स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि कार्य-कारण के स्थूल रूप से आरम्भ कर हम उसके सूक्ष्म रूप तक पहुँच जाते हैं। अतः परस्पर दर्शनों में क्रमिक विकास मानना नितान्त युक्तियुक्त है।

क्रमिक विकास

अद्वैत तत्त्व इतना सूक्ष्म तथा कुशल-बुद्धि-गम्य है कि उसका सद्यः प्रतिपादन हृदयङ्गम नहीं हो पाता। अतः स्थूल विषय को ग्रहण करने वाले मानवों के कल्याण के लिए मुनियों ने न्याय आदि शास्त्रों की रचना की जिससे मनुष्य स्थूल से आरम्भ कर सूक्ष्म वस्तु का ग्रहण क्रमपूर्वक सुभीते के साथ कर सके। 'प्रस्थानभेद' के अन्त में मधुसूदन सरस्वती का यह कथन बहुत ही युक्तियुक्त है कि मुनि लोग सर्वज्ञ थे, वे कथमपि भ्रान्त नहीं हो सकते। किंतु बाहरी विषयों में लगने वाले मनुष्यों के परम पुरुषार्थ में प्रवेश कराने के ही लिए उन लोगों ने नाना प्रस्थान भेद तैयार किये हैं। आरंभ-वाद का आश्रय लेकर न्याय-वैशेषिक ने इस स्थूल जगत का विश्लेषण किया है। लौकिक बुद्धि के द्वारा जितने पदार्थों की कल्पना मान्य हो सकती है उतने ही पदार्थों का विवरण इन दर्शनों में दिया गया है। सांख्य-योग की पदार्थ कल्पना न्याय-वैशेषिक से सूक्ष्म है क्योंकि इन दर्शनों में योगानुभव के द्वारा

भी पदार्थों का साक्षात्कार कर निरूपण किया गया है। अद्वैत वेदांत की कल्पना इससे भी कहीं अधिक सूक्ष्म है। भारतीय दर्शन का यही पर्यवसान है।

भारत के महर्षियों ने बाह्य अनेकता के भीतर विद्यमान रहने वाली एकता को भली भाँति पहचाना है। जितना धार्मिक झगड़ा है, जितना सामाजिक कलह है वह केवल बाहरी रूपों की ओर ध्यान देने का ही विषम परिणाम है। यदि अनेकता के भीतर एकता की ओर तनिक भी मानव समाज का ध्यान जाता, तो वह उस भीषण आग की लपट से बच जाता जो आज-कल समस्त विश्व को भस्मसात् कर रही है। अनेकता के भीतर इस एकता को खोज निकालना भारतीय तत्त्वज्ञान की महती विशेषता है। प्राचीन भारत में यह एकता केवल कल्पना के साम्राज्य में नहीं थी बल्कि व्यावहारिक जगत् की स्वयंसिद्ध वस्तु थी। सम्राट् शकारि विक्रमादित्य ने अपने शासन-काल में आज से दो सहस्र वर्ष पहले अपने अदम्य बाहुबल से तथा चतुर राजनीतिज्ञता से इसी राजनैतिक तथा सांस्कृतिक एकता का सम्पादन किया था। उन्हीं सम्राट् के नवरत्नों में सर्वश्रेष्ठ महाकवि कालिदास ने निम्नलिखित पंक्तियों में इसी दार्शनिक एकता की ओर संकेत किया है। इनका कथन नितांत स्पष्ट है कि भगवती भागीरथी के भिन्न-भिन्न प्रवाहों का अंतिम लक्ष्य समुद्र ही है जहाँ पहुँच कर वे चरितार्थ हो जाते हैं। उसी प्रकार शास्त्रों तथा दर्शनों द्वारा निर्दिष्ट साधन-मार्ग भले अनेक हों परन्तु उन सबका लक्ष्य एक ही परमेश्वर की प्राप्ति है :—

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥

चतुर्दश परिच्छेद

उपसंहार

संस्कृत साहित्य के विभिन्न रूपों का इतिहास प्रायः चतुर्दश शतक तक गत पृष्ठों में चित्रित किया गया है, परन्तु यह न समझ लेना चाहिए कि संस्कृत साहित्य की धारा वहीं आकर सूख जाती है और इसलिए आगे उसमें ग्रंथों का प्रणयन नहीं हुआ। तथ्य तो यह है कि संस्कृत की साहित्यधारा वैदिक युग से लेकर इस विंशति शताब्दी तक एक अविभाज्य रूप से प्रवाहित होती आई है। अवश्य ही परिस्थितियों की विलक्षणता के कारण कभी वह मन्द गति से और कभी वह तीव्र वेग से प्रवाहित होती रही है। मध्ययुग के राजपूत राजाओं ने संस्कृत के कवियों को आश्रय प्रदान कर उनके साहित्य को समृद्ध बनाने का गौरव प्राप्त किया। मुसलमान बादशाहों ने भी हिन्दू प्रजा में न्यायप्रियता की कीर्ति फैलाने के लिए संस्कृत के कवियों को आश्रय प्रदान किया था। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद भी संस्कृत के लेखक अपनी लेखनी के द्वारा देववाणी का भण्डार भरते आये हैं। इस काल में भारतीय संस्कृति के संरक्षण तथा परिवृंहण की पताका संस्कृत के कवियों तथा लेखकों के साहित्यिक प्रयत्नों से ही फहराती रही है। इस इतिहास का दिङ्मात्र निर्देश यहाँ किया जा रहा है।

मुगल बादशाहों की दृष्टि साहित्य की संवर्धना की ओर स्वतः आकृष्ट थी और इसीलिए उन्होंने हिन्दी के कवियों को अपने आश्रय में रखा था। संस्कृत कवियों की ओर भी उनकी दृष्टि पर्याप्त रूप से सहानुभूतिपूर्ण थी और इसी से हम मध्यकाल (१६ शती–१८ शती) में संस्कृत की काव्यधारा को बड़े सुन्दर ढंग से प्रवाहित होते पाते हैं। मुगल बादशाहों में अकबर तथा शाहजहाँ ने ललित कला की समृद्धि के लिए जो प्रयत्न किया, वही प्रयत्न, कम मात्रा में सही, संस्कृत के संरक्षण की ओर भी किया। इस काल के तीन महनीय कवि हैं—(१) भानुकर या भानुदत्त; (२) अकबरीय

कालिदास तथा (३) पण्डितराज जगन्नाथ। भानुदत्त (१६ श० का पूर्वार्ध) मिथिला के निवासी गणपति मिश्र के पुत्र थे और रसिकमञ्जरी, गीतागौरीश तथा रसतरङ्गिणी जैसे गीतिकाव्य तथा अलंकार-ग्रंथों की रचना कर कवि-गोष्ठी में विपुल कीर्ति प्राप्त की थी। उन्होंने शेरशाह तथा निजामशाह के विषय में प्रशंसापरक पद्यों का प्रणयन किया जिससे इनकी काव्यचमत्कृति का पूरा परिचय मिलता है। १७ शती के सुभाषित ग्रंथों में इनके लगभग डेढ़ सौ श्लोक उद्धृत मिलते हैं जिनसे इनकी लोकप्रियता तथा काव्यचातुरी का थोड़ा आभास मिल सकता है। **अकबरीय कालिदास** का असली नाम गोविंद भट्ट था और इनका काव्य **रामचन्द्र यशः प्रशस्ति** [रीवा नरेश रामचन्द्र (१५५२ ई०–१५६२ ई०) का स्तुतिपरक काव्य] अभी तक अधूरा ही मिला है, परन्तु सुभाषित-ग्रंथों में उनकी उद्धृत कविता की समीक्षा स्पष्टतः बतलाती है कि अपने युग के ये सर्वश्रेष्ठ कवि थे। अकबर का आश्रय मिलना इनकी महत्ता तथा गौरव का सूचक है। इनकी उच्चकोटि की कविता आवश्यक अलंकारों से सुसज्जित होकर विद्वानों का सचमुच मनोरंजन करती है। इनके स्फुट पद्यों की संख्या काफी है। अकबर के रणप्रयाण का वर्णन-परक पद्य इनकी कविता का निदर्शक माना जा सकता है।

गाजी जल्लालुदीन-क्षितिप-कुलमणेः द्राक् प्रयाणे प्रतीते
प्रेयस्यः प्रारभन्ते तरलतर-गति-व्याकुला मङ्गलानि।
नेत्राम्भः – पूर-पूर्ण-स्तनकलश-मुखन्यस्त-बाल-प्रवालाः
त्रुट्यन्मुक्ताकलाप च्युत कुच कुसुमच्छद्मना कीर्णलाजाः॥

पण्डितराज जगन्नाथ की काव्यचातुरी का परिचय पहिले ही दिया जा चुका है। इनके कतिपय ग्रंथों का परिचय भी हमें इधर चला है जिनमें **आसफविलास** आख्यायिका (शाहजहाँ के मंत्री तथा नूरजहाँ के भाई नवाब आसफ खाँ का वर्णन), **यमुना वर्णन** (रसगंगाधर में उद्धृत) गद्य ग्रंथ तथा **काव्यप्रकाश की टीका** मुख्य हैं।

शहाबुद्दीन बादशाह के सभाकवि **अमृतदत्त** द्वादश शती से प्राचीन कवि हैं, क्योंकि श्रीधरदास ने अपने 'सदुक्तिकर्णामृत' में इनका एक पद्य

उद्धृत किया है। मम्मट ने भी इनके एक पद्य 'भक्ति-प्रह्वविलोकन-प्रणयिनी' को श्लेषालंकार के उदाहरण में उद्धृत किया है। फलतः इनकी एकादश शतक से भी प्राचीनता सिद्ध होती है। रागमंजरी तथा रागमाला (१५७६ ई०) रचयिता **पुण्डरीक विट्ठल** खानदेश के नवाब बुरहान शाह की सभा के कलावन्त पण्डित थे। शाहजहाँ के समय में संस्कृत के विशेष कवियों का पता चलता है। पण्डितराज जगन्नाथ के अतिरिक्त हरनारायण मिश्र तथा वंशीधर मिश्र का सम्बन्ध शाहजहाँ के दरबार से था। **चतुर्भुज** ने औरंगजेब के मामा तथा सेनापति शाइस्ता खाँ की प्रसन्नता के लिए **'रसकल्पद्रुम'** नामक अलंकार ग्रंथ की रचना १७ वीं शती के उत्तरार्ध में की। इस विशाल ग्रंथ की रचना सं० १७४५ = १६८९ ई० में हुई थी। इसके कुछ वर्ष बाद **लक्ष्मीपति** ने **लिपिमालिका** नामक चम्पू-काव्य का प्रणयन किया जिसमें औरंगजेब के पुत्र मुहम्मद शाह के शासनाधिरूढ़ होने की आरंभिक घटनाओं का बड़ा ही सुंदर वर्णन मिलता है। इसमें मुहम्मदशाह के विरोध में उन्हीं के मन्त्री अब्दुल्ला ने जो आक्रमण किया था उसीका आँखों देखा वर्णन है। इस काव्य में अरबी तथा फारसी के शब्दों का प्रयोग संस्कृत कविता में बड़े धड़ल्ले के साथ किया गया है[1]। भाषा की दृष्टि से यह मिश्रण वर्जनीय भले हो, परंतु कवि के भाषाज्ञान का निःसंदेह परिचायक है।[2]

१—यह विचित्र ग्रंथ कलकत्ता संस्कृत कालेज के पुस्तकालय में हस्तलिखित रूप में है। उसी से मिश्रित भाषा के दो तीन उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं:—

माहताबकर-स्पृष्टमम्भोजमिव दृश्यते।
हिलालमन्तरा चन्द्रः आस्माने न विराजते।
फरामोशी न विधातव्यः बरदाश्तं विधीयताम्।

२—विशेष द्रष्टव्य डा० चौधरी कृत 'मुसलिम पेट्रोनेज टू संस्कृत लर्निङ्ग' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ, कलकत्ता, १९४२।

मुसलमानी काल में धर्मशास्त्रों के ऊपर अनेक मान्य निबंधों की रचना होती रही है जिनमें **मित्रमिश्र के वीरमित्रोदय** जैसे विपुलकाय निबंध का नाम अग्रगण्य है। मित्रमिश्र (१६ शती) ने **आनन्दकन्द** चम्पू की रचना कर अपने काव्य निर्माण-कौशल का भी पूरा परिचय दिया। इसी काल में वृंदावन में नाना वैष्णव सम्प्रदायों की श्रीवृद्धि हुई और इनके अनुयायियों ने अपने मत की संवर्धना के निमित्त अनेक मनोरम काव्य तथा नाटकों का प्रणयन कर संस्कृत भारती के भाण्डार को शोभा-सम्पन्न बनाया।

राधावल्लभीय मत के संस्थापक श्री हितहरिवंश का **राधासुधानिधि** श्रीराधा जी की प्रशस्त स्तुति में लिखा गया बड़ा ही कोमल तथा ललित गीतिकाव्य है। गौड़ीय वैष्णवों ने तो अपनी ललित लेखनी के द्वारा नाना प्रकार का साहित्य उत्पन्न कर संस्कृत साहित्य को सुन्दर कृतियों से पूर्ण कर दिया। ऐसे लेखकों में श्री रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी, जीव गोस्वामी तथा कवि कर्णपूर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनकी कविता का लालित्य तथा सौन्दर्य अप्रतिम है तथा उनकी प्रतिभा का गौरववर्धक है। श्रीरूप गोस्वामी के **'उद्धवदूत'** का यह पद्य वैष्णव कविता के माधुर्य का यत्किंचित् परिचायक माना जा सकता है—

या पूर्वं हरिणा प्रयाण-समये संरोपिताऽऽशालता
साऽभूत् पल्लविता चिरात् कुसुमिता नेत्राम्बुसेकैः सदा।
विज्ञातं फलितेति हन्त भवता तन्मूलमुन्मूलितं
रे रे माधव-दूत! जीवविहगः क्षीणः कमालम्बते॥

उत्तर भारत के समान सुदूर दक्षिण भारत—द्रविड देश—में भी मध्य युग में संस्कृत कवियों ने अपनी प्रतिभा के सहारे अनेक काव्य ग्रन्थ, नाटक, भाण, आदि की सुन्दर रचना की। इन कवियों में नीलकंठ दीक्षित तथा रामभद्र दीक्षित रचना की विपुलता तथा सौंदर्य की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ माने जा सकते हैं। नीलकण्ठ का वर्णन पीछे किया जा चुका है। रामभद्र दीक्षित चोक्कनाथ तथा इन्हीं नीलकण्ठ दीक्षित के सुयोग्य शिष्य थे तथा तंजोर के विख्यात विद्याप्रेमी महाराष्ट्र राजा शाहजी प्रथम (१६८४ ई०-१७११ ई०)

के शासन-काल में विद्यमान थे। इनके त्रयोदश ग्रन्थों में से जानकी परिणय (काव्य), शृंगारतिलक (भाण) तथा पतंजलिचरित (चरित-काव्य) विशेष प्रख्यात हैं। उस प्रांत के इस युग में विद्यमान कवियों की नामावली काफी लंबी है जिनमें कतिपय मुख्य कवियों के नाम ये हैं—(१) **वेङ्कट कृष्ण दीक्षित** ('नटेशविजय' तथा 'रामचन्द्रोदय' काव्यों के कर्ता); (२) **महादेव** कवि (अद्भुतदर्पण नाटक तथा शुक सन्देश के कर्ता); (३) **नल्ला दीक्षित** (रामभद्र के पितामह; 'सुभद्रा-परिणय' तथा शृंगार-सर्वस्व भाण के रचयिता); (४) **चोक्कनाथ दीक्षित** [कांतिमती परिणय (नाटक) तथा 'रसविलास' (भाण) के कर्त्ता]; (५) **यज्ञनारायण दीक्षित** ['साहित्य रत्नाकर' (रघुनाथ नायक का जीवन-वर्णन काव्य) तथा 'रघुनाथ विलास' (नाटक) के कर्ता]; (६) **उद्दण्ड कवि** ('मल्लिका मारुत' प्रकरण के कर्ता); (७) **शिंगभूपाल** ('रसार्णव सुधाकर' प्रख्यात अलंकार ग्रंथ के कर्ता); (८) राजा कृष्णराय (१५१०–१५२६ ई०) ['जाम्बवती-कल्याण' नाटक के कर्त्ता], (९) **शरभोजी** प्रथम [तंजोर के राजा; 'राघव चरित' के लेखक]; (१०) **वामन भट्ट** (शृंगार-भूषण भाण के कर्ता), (११) **भूमिनाथ कवि** (रामभद्र के शिष्य तथा 'धर्मविजयचम्पू' के रचयिता)। इन काव्य ग्रन्थों के अतिरिक्त व्याकरण, धर्मशास्त्र तथा दर्शन विशेषतः अद्वैत वेदांत के ऊपर टीका ग्रन्थों का प्रणयन इन शताब्दियों में होता रहा। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य का सर्जन इन (१६–१८) शतियों में प्रचुर मात्रा में सम्पन्न हुआ तथा साहित्य की धारा सूखने नहीं पाई।

महाराष्ट्र में छत्रपति शिवाजी तथा उनके पुत्र शम्भाजी के राज्यकाल में संस्कृत की बड़ी उन्नति हुई। छत्रपति शिवाजी के पुत्र शम्भुजी (१६८० ई०–१६८९ ई०) के तथा उनके गुरु कृष्ण पण्डित के आदेश से **हरिकवि** उपनाम भानुभट्ट ने 'शम्भुराज-चरित' (रचनाकाल १६८५ ई०) नामक महाकाव्य में अपने आश्रयदाता शम्भुजी का जीवन चरित ललित छन्दों में लिखा। **हैहयेन्द्र काव्य** तथा **सुभाषितहारावलि** इनकी अन्य उपलब्ध रचनायें हैं जिनमें पण्डितराज जगन्नाथ की स्तुति तथा पद्य पाये जाते

हैं। शम्भुजी स्वयं संस्कृत के बहुत ही सुयोग्य कवि थे जिनके अनेक श्लोक मिलते हैं। हरि कवि महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे और सूरत में रहते थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आरम्भिक काल में भी पण्डितों का समादर कम नहीं था। वारेन हेस्टिंग्स के समय में जब अंग्रेज न्यायाधीश को हिन्दू कानून जानने की जरूरत पड़ी तब बाणेश्वर भट्टाचार्य ने अनेक पण्डितों की सहायता से १७७५ ई० में 'विवादार्णवसेतु' निबन्ध लिखा जो हिन्दू लोगों के अभियोग के निर्णय के लिए प्रामाणिक तथा मान्य बना। बाणेश्वर विद्यालंकार उस समय के सर्वश्रेष्ठ पण्डित थे जिन्होंने सिराजुद्दौला के आदेश से उनके मातामह अलवर्दी खाँ के श्राद्ध के अवसर पर श्लोकबद्ध निमन्त्रण लिखा था। महाराज बर्दवान के पूर्वपुरुष चित्रसेन की आज्ञा से उन्होंने 'चित्रचम्पू' नामक रुचिर चम्पू की रचना की थी। इस प्रकार राजा के विदेशी तथा विधर्मी होने पर भी तथा राजमान्यता प्राप्त न होने पर भी १८वीं शती के पण्डितों ने संस्कृत विद्या के प्रसार में अध्ययन-अध्यापन के द्वारा खूब ही योगदान दिया। १६ शती में भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों में संस्कृत के कवि तथा लेखक विद्यमान थे और आज भी उनकी संख्या कम नहीं है। इस प्रकार गत शताब्दियों की ज्ञात रचनाओं पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जायगा कि संस्कृत की काव्यधारा सूखने नहीं पाई है और गति मन्द भले हो, परन्तु इस धारा ने अपने ललित बन्धों के द्वारा काव्य पिपासुजनों की पिपासा को शांत किया है। एक प्रकार से अनादृत तथा अंधकारपूर्ण काल में भी कवियों ने काव्य के आलोक को जगा कर लोगों में चेतनता का संचार किया है तथा देववाणी की महिमा को अक्षुण्ण बनाये रखा है; यह हमारे लिए सौभाग्य तथा आनंद का विषय है।

बृहत्तर भारत में संस्कृत

देववाणी के प्रभूत गौरव की जिज्ञासा हमें बृहत्तर भारत के देशों की ओर ले जा रही है जहाँ भारत की संस्कृति संस्कृत भाषा की कृपा से फूलती फलती रही है। यह तो सच्चा इतिहास है कि भारतवर्ष के निगमागम में प्रवीण ब्राह्मणों ने भारत की आध्यात्मिक संस्कृति के प्रचारार्थ मलयद्वीप

(मलाया प्रायद्वीप), वारुणद्वीप (बोरनियो) सुवर्णद्वीप (सुमात्रा), यवद्वीप (जावा), चम्पा तथा कम्बुज देश (कम्बोडिया) आदि नाना द्वीपों और देशों में अपने विशिष्ट उपनिवेश बसाये तथा वहाँ अपनी संस्कृति का प्रचुर प्रचार किया। हिंदू राज्य स्थापित किये। और ऐसे मान्य ब्राह्मणों में कौण्डिन्य का नाम अत्यंत श्रद्धा तथा भूयसी प्रतिष्ठा का भाजन है। यहाँ के हिंदू राजाओं ने संस्कृत भाषा का अपने देशों में खूब ही प्रचार किया और भारतीय राजाओं के समान इन महीपतियों ने संस्कृत को राजभाषा बनाया। इन राजाओं के शिलालेख तथा अभिलेख संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं। इन शिलालेखीय संस्कृत काव्यों के अध्ययन से हमें संस्कृत के महनीय गौरव का परिचय मिलता है। इन काव्यों की भाषा पाणिनि-व्याकरण के सूत्रों से नितांत विशुद्ध संस्कृत है। युद्धों के वर्णन में प्रौढ़ता है। राजाओं की प्रशस्तियाँ नितांत हृदयंगम हैं। देवताओं की स्तुति भक्तिरस से स्निग्ध है। ये काव्य भारत में लिखित संस्कृत काव्य के इतिहास में एक ललित लड़ी जोड़ते हैं।

चम्पादेश के भद्रवर्मा नामक राजा ८३१ श० (=९०९ ई०) की वर्णन-परिपाटी वीररस से ओत-प्रोत है। अनुप्रास की छटा सहृदयों के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर रही है तथा वीररस के अनुकूल ओजोव्यञ्जक पदों का प्रौढ़ प्रयोग अत्यंत आश्चर्यजनक है।

बृहत्तर भारत के नाना देशों में भगवान् शंकर की उपासना का प्रचार खूब था और इसलिए इन देशों के राजाओं के द्वारा अनेक शिवलिंग स्थापित किये गये हैं तथा उनकी भक्तिभाव-पूरित कमनीय स्तुतियाँ संस्कृत में शिलाओं पर खुदी हैं। शंकर की स्तुति की बोधिका यह मालिनी कितनी सरल तथा सरस है—

जयति जितमनोजो ब्रह्मविष्णवादि देव-
प्रणतपद-युगाब्जो निष्कलोऽप्यष्टमूर्तिः।
त्रिभुवनहितहेतुः सर्व-संकल्पहारी
परपुरुष इह श्रीशानदेवोऽयमाद्यः॥

महादेव का स्वरूप वाणी के अगोचर है। यह अपरिमेय होने से विद्वानों

की बुद्धि को सदैव चमत्कृत किया करता है। उसे यथार्थ रूप से जानने वाला व्यक्ति जगत् में कोई भी नहीं है। इसका वर्णन कितनी स्वच्छता से इस पद्य में किया गया है—

ऐश्वर्यातिशयप्रदो सुखभुजां यस्त्यमानस्तपः
कन्दर्पोत्तम-विग्रह-प्रदहनो हिमाद्रिजायाः पतिः।
लोकानां परमेश्वरत्वमसमं यातो नदद्वाहनो
याथातथ्य-विशारदास्तु जगतामीशस्य नो सन्ति ही।

इस पद्य में विद्यमान विरोध के चमत्कार को तो देखिये। शिव स्वयं तो किसी अर्थ के लिए तपस्या करते हैं, परंतु देवताओं को ऐश्वर्य का उत्कर्ष प्रदान करते हैं। हैं तो पार्वती के पति, परंतु कामदेव को भस्म कर डाला है!! सवारी तो है बैल की, परंतु धारण करते हैं संसार के परम पद को। शिव धन्य हैं जिनमें इन विरोधी गुणों का जमघट एक साथ वर्तमान रहता है। महाकवि कालिदास ने भी ठीक यही बात कही है—"न संति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः"=शिव के यथार्थ रूप तथा गुण को जानने वाला कोई भी प्राणी जगत् में नहीं है। ये दोनों श्लोक विक्रांतवर्मा के शिलालेख ६५३ शक (=७३१ ई०) के हैं।

शिवजी की आठ मूर्तियाँ हैं—पृथ्वी जल आदि जिनके द्वारा वे जगत् का मंगल साधन किया करते हैं। इस पद्य के अंतिम चरण में विद्यमान उपमा पर ध्यान दीजिए। वह कितनी सुंदर है। शब्दों का विन्यास कितना रुचिर और हृदयावर्जक है—

यस्यात्मानः सकलमरुतां मानिनां माननीया
अष्टौ पुण्या वरहितकृतः सर्वलोकान् वहन्ति।
अन्योन्यस्य स्वगुण विदयागाढ संवद्ध्यमाना
योग्या युग्या इव पथि पथि स्यन्दनान् स्यन्दमानान्॥

इस पद्य की दार्शनिकता पर दृष्टिपात कीजिए यह नाना रूपात्मक जगत् भगवान शंकर से उसी प्रकार उत्पन्न होता है जिस प्रकार सूर्य से रश्मियों का समुदाय। और प्रलय में उसी प्रकार यह शंकर में ही लीन हो जाता है:—

स्वाः शक्तीः प्रतियोग्यतामुपगता क्षित्यादयो मूर्तयो
लोकस्थित्युदयादिकार्यपरता ताभिर्विना नास्ति हि ।
इत्येवं विगणय्य शक्तिवशिना येनाधृयन्तेऽथ वा
का नामेह विभुः क्रिया न भजते याः स्युः परार्थोदये ॥

इन देशों में शिव के साथ शक्ति की भी विशिष्ट उपासना प्रचलित थी जिसकी यह प्रशस्त स्तुति भव्य कविता का नमूना है। कम्बुज देश में तंत्रशास्त्र का भी अध्ययन विशेष रूप से प्रचलित था। भगवती की स्तुति में यह अनुप्रास-बहुल श्लोक इस बात का प्रमाण है कि वहाँ के कवियों की प्रौढ़ि काव्य-रचना में बहुत दूर तक बढ़ी चढ़ी थी। नीचे के पद्य को पढ़िये इसमें भकार को छोड़कर किसी अन्य वर्ण का दर्शन नहीं होता। भारत के भी कविजन ऐसी रचना के शब्दसौष्ठव को तथा आलंकारिक योजना को विशेष पसन्द करते थे। भगवती की स्तुति का यह भव्य पद्य इस प्रकार है :—

भूताभूतेशभूता भुवि भवविभवोद्भावभावात्मभावा
भावाभावास्वभावा भवभवकभवाभावभावैकभाजा ।
भावाभावाग्रशक्तिः शशिमकुटतनोरर्धकाया सुकाया
काये कायेशकाया भगवति नमतो नो जयेव स्वसिद्धया ॥

बृहत्तर भारत के इन देशों में केवल संस्कृत काव्य का ही निर्माण विशेष रूप से नहीं होता था, प्रत्युत मीमांसा आदि छहों दर्शन तथा बौद्ध आगम का अध्ययन यहाँ कम नहीं था। काशिका के साथ व्याकरण में निपुणता पानेवाले विद्वानों का विशेष उल्लेख मिलता है। यहाँ तीन प्रकार के आश्रम थे—वैष्णव आश्रम, ब्राह्मण आश्रम तथा सौगत आश्रम। इनमें संस्कृत का अध्यापन कराया जाता था। और एक विशेष पुस्तकालय की स्थापना प्रत्येक आश्रम में की गई मिलती है जहाँ दो लेखक, दो पुस्तकों को रखने वाले (पुस्तक-स्थापक) तथा ६ पत्रकारक रहते थे। पत्रकारकों का काम था नये ग्रन्थों का हस्तलेख तैयार करना। पुस्तक संग्रह का नाम था 'पुस्तकाश्रम' जो आजकल के प्रचलित पुस्तकालय शब्द की

अपेक्षा विशेष सुन्दर तथा मनोरम है। मेरे कथन का सारांश यह है कि केवल भारतवर्ष में ही नहीं प्रत्युत इन बाहरी प्रदेशों तथा द्वीपों में संस्कृत भाषा के अध्यापन तथा संस्कृत साहित्य की समृद्धि के लिये वहाँ के शासकों का महनीय उद्योग आज भी हमारे श्लाघा तथा आदर का भाजन है। इन सुदूर देशों की जनता संस्कृत को अपनी राज-भाषा समझती थी तथा उसके संवर्धन के लिए सदा तैयार रहती थी।

संस्कृत काव्य का प्रभाव भारत के बाहर बृहत्तर भारत के साहित्य पर भी विशेष रूप से पड़ा। विशेषकर 'जावा' के साहित्य पर यह प्रभाव बहुत ही व्यापक, दूरगामी तथा आंतरिक है। जावा की प्राचीन 'कवि भाषा' में रामायण तथा महाभारत से सम्बद्ध अनेक महाकाव्य पाये जाते हैं जो कालिदास तथा भारवि के काव्यों से प्रेरणा ग्रहण कर निर्मित किये गये हैं। कवि भाषा में निबद्ध **सुमनसन्तक** तथा **स्मरदहन** ऐसे ही कालिदास के द्वारा प्रभावित महाकाव्य हैं। सुमनसंतक में जावा का महाकवि रघुवंश में वर्णित अज-इन्दुमती के कथानक को एक स्वतन्त्र महाकाव्य का रूप देता है। इसकी रचना का काल १२ वीं शती है। इस बृहत् काव्य में संस्कृत के अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है। इन्दुमती का स्वयंवर तो कालिदास के वर्णन को पूर्ण आधार मानकर लिखा गया है। **स्मरदहन** की स्फूर्ति कुमारसम्भव से कवि को मिली है। दोनों के वर्णन में अन्तर इतना ही है कि कालिदास के काव्य में कार्तिकेय के जन्म तथा वीरकार्यों का वर्णन है, वहाँ स्मरदहन में गणेश जी के जन्म तथा उनकी गुणावली का विस्तृत विवरण है। इसके आरम्भिक चार सर्ग कुमार के अनुकरण पर विरचित हैं। सप्तम सर्ग में काम-विजय का वर्णन बड़े विस्तार के साथ यहाँ किया गया है और इसी प्रकार रति-विलाप का प्रसंग भी इस जावा-काव्य में कुछ विस्तार से दिया गया है। इस प्रकार कालिदास का व्यापक प्रभाव स्पष्टतः यहाँ उपलब्ध होता है।

भारवि दूसरे संस्कृत कवि हैं जिनसे जावा के कवि लोगों ने व्यापक प्रेरणा काव्यरचना के लिए पाई है। 'किरातार्जुनीय' ने केवल काव्य रचना

के लिए विषय ही नहीं दिया, प्रत्युत अनेक विषयों के लिए उपयुक्त पद्धति का भी निर्वाचन किया। छत्तीस सर्गों में विरचित अर्जुनविवाह नामक महाकाव्य अर्जुन की तपस्या, उनका स्वर्ग में जाना, निवातकवच से युद्ध तथा अप्सराओं के साथ उनकी शृंगारिक केलि का बड़ा ही भव्य वर्णन प्रस्तुत करता है। यहाँ स्पष्ट ही किरात का प्रभाव है। शृंगारिक केलियों के वर्णन में जावा का कवि बड़ा ही अनुराग दिखलाता है और यहाँ भी भारवि के काव्य का ही एक विशिष्ट प्रभाव है। इस प्रकार जावा का कवि कालिदास के सुकुमार मार्ग का तथा भारवि के विचित्र मार्ग का अनुकरण अपनी रुचि के अनुसार करता है। संस्कृत काव्यों के कलापक्ष का भी पूर्ण अनुसरण हम जावा में पाते हैं। इन काव्यों की भाषा भी संस्कृत-मिश्रित है अर्थात् 'मणि प्रवाल' पद्धति में विरचित है। इस कवि-भाषा के पद्य को देखिये—

> समर दिवारात्रि नेकांग सुरालय
> देलिंग प्रकाशात्मक सर्व भास्वर।
> अनगिंग सेकर्निंग कुमुदा जरिंग कुल
> सुअंग चक्रवाकिन पपसह लवान प्रिया।

इस पद्य का आशय है कि स्वर्गलोक में सब वस्तुओं के प्रकाशशील होने के कारण रात्रि दिन के भेद का पता नहीं चलता। केवल कुमुद का खिलना तथा अपने प्रिया से वियुक्त चक्रवाक की स्थिति ही रात्रि के आगमन की सूचना देती थी।

इस प्रकार संस्कृत भाषा तथा साहित्य का प्रभाव केवल भारतीय भाषाओं तथा उनके साहित्यों पर ही नहीं उपलब्ध होता, प्रत्युत हिन्द एशिया की भाषा तथा साहित्य पर भी विशेष रूप से आज मिलता है।[1]

१—द्रष्टव्य डा० गोण्डा-संस्कृत इन इन्डोनेशिया (नागपुर, १९५५)। संस्कृत इन्फ्लूएंस आन जावानीज लिटरेचर (कलकत्ता, १९५८)

ग्रन्थकार सूची

(महत्त्वपूर्ण स्थानों का निर्देश)

ग्रन्थ सूची

टी. जी. मल्लाराध्य एवं,
स्व, वेदाराध्य जी के द्वारा
"ज्ञा" को अर्पण,
१५-७-७४